

स म य सार

मूल रचयिता
भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य

टीकाकार
संस्कृत टीका तात्पर्यवृत्ति-जयसेनाचार्य
हिन्दी टीका- आचार्य ज्ञानमूर्ति चारित्र विमूषण
श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज

प्रकाशक
श्री - दिगम्बर - जैन - समाज, अजमेर
द्वारा प्रदत्त द्रव्य से
छगनलाल पाटनी द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
वि० जैन समाज
अजमेर

प्रथमावृत्ति १९०१

मूल्य २५) रुपये

मुद्रक
पद्मकान्त जैन
सूरज प्रिण्टर्स
नया बाजार, अजमेर

आद्य वक्तव्य

आज के भौतिकता-प्रधान युग में भी हमारे पुण्योदय से हमें अध्यात्म की अजस्र धारा परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार ग्रन्थराज के रूप में उपलब्ध है। इस ग्रन्थराज को पढ़कर असंख्य जीवों ने अपना कल्याण किया है और भविष्य में करते रहेगे। श्री आचार्य चारित्र्य विभूषण ज्ञानमूर्ति १०८ ज्ञानसागर जी महाराज के अजमेर के विगत चातुर्मास में सिद्धकूट चैत्यालय नशिया में समयसार ग्रन्थराज का प्रवचन उनके द्वारा हुआ। पूज्य गुरुदेव ने एक विशेष दृष्टि समयसार को समझने की हमें दी। इस दृष्टि से कुछ मतभेद होते हुए भी उसका समादर हुआ। महाराज श्री ने समय प्राभूत के श्लोकों की आचार्य जयसेन स्वामी की टीका का हिन्दी रूपान्तर किया और अपने हिन्दी विशेषार्थों में यह नई दिशा स्वाध्याय प्रमियों को दी है। जयसेन स्वामी ने समयसार ग्रन्थ मुख्यतया बीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधुजनों के कल्याणार्थ रचा है, जब कि पूज्य अमृतचन्द्राचार्य ने गुणस्थान की परिपाटी के परिपेक्ष्य में उस घटित नहीं किया है।

श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज बाल ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने स्थापित महाविद्यालय वाराणसी में शिक्षा प्राप्त की और पंडित भूरावल जी शास्त्री के रूप में अनेक ग्रन्थों की पाठ्यपूर्ण रचना की है जिनकी साहित्यिक छटा देखते ही बनती है। इनमें से कृतिपय ग्रन्थ 'ज्योतिष', 'वीरोदय', 'सुदर्शनोदय', 'दयोदय', 'भद्रोदय', 'सम्बन्धसार', 'शतक', 'एव विवेकोदय' हैं। आचार्य श्री १०८ बीरसागरजी के सध में स्थित मुनिराजों एवं त्यागियों का आपने विधिपूर्वक पढाया है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के आप उद्भट विद्वान हैं। क्लिष्ट से क्लिष्ट धार्मिक विषय को आप बड़े सरल शब्दों से सुस्पष्ट करते हैं। आपने आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा ली और उनके प्रमुख शिष्य हुए। आप आगमानुक्कल मुनिचर्या का बड़ी कठोरता से पालन करते आ रहे हैं और इस वृद्धावस्था में भी उसमें कहीं शिथिलता का लवलश भी दिखाई नहीं देता। किंचित् विश्रामकाल के अतिरिक्त दिनरात आपका समय ध्यान अध्ययन, एवं अध्यापन में ही व्यतीत होता है। आचार्य समन्तभद्र द्वारा रत्नकरंड श्रावकाचार के निम्नलिखित श्लोक में साधु के जिस स्वरूप का वर्णन है वह हमें आचार्य ज्ञानसागरजी में पूर्णरूपण दृष्टिगम्य होता है

विषयाशावशान्तीनो निराग्भोऽपग्न्यह । ; } *man*
ज्ञानध्यानतपारक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

नवयुवक मनोज मुनि १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज की दीक्षा समारोह के अवसर पर ग्रन्थ प्रकाशन हेतु समाज से कुछ धनराशि एकत्रित हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य महानुभावों ने भी इस

शुभकार्य में अपना योगदान दिया। इस धनराशि से इस अनुपम ग्रन्थराज का प्रकाशन हो सका।
एतदर्थ सब दानी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

सबसे अधिक हम १०८ स्व. आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के आभारी हैं जिनके पास अजबैर से कतिपय व्यक्ति ग्रन्थ प्रकाशन के लिये आशीर्वाद लेने हेतु प्रतापगढ़ गये। तब आचार्य श्री ने स्वर्ण बड़ा उत्साह एवं हर्ष प्रकट कर तथा ॥ ० प० रतनचन्द्र जी मुख्तार सा० एवं बहुश्रुत विद्वान् मुनिराज श्री १०८ श्रुतसागर जी महाराज ने इस काय की अत्यंत सराहना करके हमारे उत्साह की अभिवृद्धि की। न मालूम भविष्य की किस अधिकारग्रस्त परिस्थिति का संकेत पाकर स्व० आचार्य श्री ने अपना आंतरिक हर्ष प्रकट कर तथा अपने ग्रन्थ का बेष्टन ही आशीर्वाद रूप में देकर इन व्यक्तियों को विदा किया और कहा कि इस कार्य को अविलंब सम्पन्न किया जावे। हमें क्या पता था कि उनके इस शाश्वत संकेत में क्या रहस्य छिपा था।

ब्रह्मचारी प्यारेलाल जी ने अथक परिश्रम करके ग्रन्थराज की प्रेस-कापी तैयार की एवं प्रूफ सशोधन का कठिन कार्य भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ। हमारे शब्द कोष में शब्द नहीं हैं कि जिनके द्वारा हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकें।

ग्रन्थराज की अनुक्रमणिका के तैयार करने में ॥ ० प० रतनचंदजी सा० मुख्तार सहारनपुर ने अपना अमूल्य समय दिया। हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

ग्रन्थ के सशोधन आदि कार्य में नगर के प्रतिष्ठित विद्वान् प० विद्याकुमार जी सेठी का सहयोग सदैव मिलता रहा। हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकते।

ग्रन्थराज के प्रकाशन के विभिन्न अंगों का समन्वय करने में मेरे मित्र श्री छगनलाल जी पाटनी ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। एतदर्थ वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। सृज प्रिण्टर्स के व्यवस्थापक श्री इन्द्रचंद जी पाटनी एवं पदमकान्त जैन के अथक परिश्रम एवं तत्परता को भी इस समय हम स्मरण करने का लोभ सबरण नहीं कर सकते। इनके सिवा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जिन जिन महानुभावों का ग्रन्थराज के प्रकाशन में हमें सहयोग प्राप्त हुआ है उन सबके प्रति अत्यंत विनम्रतापूर्वक हम अपना आभार प्रदर्शित करते हैं।

इन दो शब्दों के साथ पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सुदीर्घ जीवन के लिये परमप्रभु देवाधिदेव अरहन्तदेव से प्रार्थना करते हुये हम इस ग्रन्थराज को समाज एवं विद्वन्मंडली के समक्ष रखते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

मनोहरलाल जैन

श्रीनगर (अजमेर)

१-७-६६

एम. ए., एन.-एल. बी., बी. टी.

प्रधानाध्यापक

राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,

श्रीनगर (अजमेर)

विषय परिचय

१. श्री कन्दकुन्द आचार्य ने प्रथम गाथा में श्री सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके यह बतलाया है कि पञ्च परमेष्ठी की भक्ति से मात्र पुण्य बंध नहीं होता किन्तु जीव का उद्धार भी होता है।

२ इसी प्रथम गाथा में 'बोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय'। इस वाक्य द्वारा यह बतलाया है कि केवली व श्रुत केवली, पुद्गल रूप-द्रव्य-श्रुत के कर्ता हैं और मैं (कुंदकुंद आचार्य) भी उसी मोक्षपाहुड-द्रव्यश्रुत को पौद्गलिक वचनों द्वारा कहूँगा। अर्थात् जीवद्रव्य अपनी पर्याय द्वारा पुद्गलद्रव्य की पर्याय का निमित्त कर्ता है।

३ प्रथम गाथा की टीका में "समय पाहुड" शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है "प्राभृत सार सार शुद्धावस्था समयस्यात्मन प्राभृत समयप्राभृत" अर्थात् इस समयसार ग्रंथ में आत्मा की अवस्था का कथन है।

४ दूसरी गाथा में बतलाया है कि जो चारित्र्य, दर्शन, ज्ञान में स्थित है वह 'स्वसमय' है। यद्यपि यहाँ गुणस्थानों का संकेत नहीं तथापि रयणसार की निम्न गाथाओं द्वारा श्री कुंदकुंद आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा (अर्हंत और सिद्ध) तो स्वसमय है और क्षीणमोह गुणस्थान तक जीव 'परसमय' है। इससे स्पष्ट है कि असंयत सम्यग्दृष्टि 'स्वसमय' नहीं है, परसमय है।

बहिरतरप्पभेय परसमय भणये जिणिदेहि ।

परमप्पो सगसमय तब्भेय जाण गुण ठाणे ॥१४८॥

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अतरप्प जहण्णा ।

सतोत्ति मज्झिमतरे खीणुत्तमे परमजिणसिद्धा ॥१४९॥

५ गाथा ३ की उत्थानिका में कहा है "स्वसमय एव शुद्धात्मन स्वरूपन तु पर समय अर्थात् स्वसमयो शुद्धात्मा (परमात्मा) का स्वरूप है।

६ इस समयसार ग्रंथ में 'सम्यग्दृष्टि' शब्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण करना चाहिये जैसा कि गाथा २०३ की टीका में कहा गया है "अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहण ।

७ जो जीव वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं है उस जीव को इस ग्रंथ में अज्ञानी कहा है -

✓ "अज्ञानिनानिर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां"

(पृ० १६)

"त्रिगुणसमाधिलक्षणभेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रत नियमान् धारयत शीलानि तपश्चरन् च कुर्वाणः अपिमोक्षन लभते । कस्मादिति चेत् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवत्यज्ञानिन । अज्ञानिना तु कथं मोक्ष " (पृ० १३७)

तावत्काल परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीव कर्मणा कारको भवतीति ज्ञातव्य ।' (पृ २५६)

“व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिविकल्पसमाधिरूपेणानतवेवलज्ञानादिचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पाद केननिश्चय कारण समयसारेण विना खल्वज्ञानजीवो ह्यस्यति तुल्यति च ’ (पृ ३०६)

जो निविकल्प समाधि मे स्थित है उसको ही ज्ञानी कहा है

“निविकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणानभेदज्ञानेनसर्वरम्भापरिणतत्वाज् ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति । अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेद ज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थ ।’ (पृ० ११५)

८ गाथा ८६ मे बतलाया है कि जीव परिणाम के निमित्त से पुद्गल कम रूप परिणामित होता है और पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी विभाव रूप परिणमता है यदि ऐसा न माना जाय तो मुक्तात्मा के भी कर्मोदय के बिना भाव काषादिरूप विकारभाव हो जायगे ।

‘तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमतरेणापि भावक्रोधादिभि परिणमतु । तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यकर्मोदय निमित्ताभावेपि भावक्रोधादय प्राप्तुवति । (पृ० १०६)

“एते मिथ्यात्वादि भावप्रत्यया शुद्धनिश्चयेनाचेतना खलु स्फुट । कस्मात् पुद्गल कर्मोदय सभवादस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्या समुत्पन्न पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्ताया पुत्रोऽय केचन वदति । देवदत्तस्य पुत्रोऽय मिति केचन वदति-दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसयागनोत्पन्ना मिथ्यात्वरामादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनामुदोपादानरूपेण चेतना जीवसबद्धा । शुद्धनिश्चयेन शुद्धापादानरूपणाचेतना पोद्गलिका । परमार्थत पुनरेकातेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपा सुधाहारद्वयो सयाग परिणामवत् । ये केचन वदत्येकातेन रागादयो जीवसबधिन पुद्गलसबधिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या । कस्मादिति चेत् ? पूर्वोक्त स्त्रीपुरुषदृष्टातेन सयोगाद्भवत्वात् । (पृ० १०१) यहा यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार पुत्रा व हल्दी के सयोग से एक तीसरी पर्याय लाल वण रूप उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल के बध से रागादि रूप तीसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है । जिस प्रकार पुत्रोत्पत्ति न मात्र माता से है न मात्र पिता से है किन्तु दोनों के सयोग से पुत्र की उत्पत्ति हाता है उसी प्रकार रागादि विंगार भाव न मात्र जीव के हैं न पुद्गल के हैं दोनों के बध से रागादि की उत्पत्ति हाती है । जो मात्र जीव की भूल से रागादि की उत्पत्ति मानते हैं या मात्र कम से रागादि की उत्पत्ति मानते है उनके वचन मिथ्या है ।

दो शब्द

५

ग्रन्थ के प्रकाशन मण्डल की इच्छानुसार इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय मे दो शब्द लिखते हुऐ मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थराज की भाषा टीका श्री १०८ आचार्य पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा हुई है। उनकी ज्ञान गरिमा को विद्वत् समाज भली प्रकार जानता है। प्रस्तुत टीका उनके गहन अध्ययन, विशिष्ट विद्वत्ता एवं अग्राध अनुभव का सार है। ग्रन्थराज की विषय वस्तु विद्वानो एवं स्वाध्याय प्रेमियो के लिये मनन करने योग्य है। जिस सरल भाषा मे ऐसे कठिन विषय पर इस ग्रन्थ मे विवेचन हुआ है उसमे अनेको समाधान सहज ही हो जाते हैं। टीका के निर्माण मे आचार्य श्री ने लगातार कई वर्षों तक अथक परिश्रम किया है। उनकी इस ज्ञानाराधना के प्रति विनयपूर्वक शत शत वन्दन ! वे एक महान् योगी, साधु एवं विद्वान् है।

जिम लगेन और तत्परता से ब्र० प्यारेलाल जी सा० ने प्रारम्भ से ही इसको वर्तमान रूप देने मे योगदान दिया है वह श्लाघनीय है। उनके अथक परिश्रम मे ही इसका प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं समझी जानी चाहिये। अत वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वाध्याय प्रेमी इस ग्रन्थ का उचित समादर करग।

भागचन्द सोनी

॥ समयसार का विषय-क्रम ॥

१ जीवाजीवाधिकार

गाथा सं०

विषय

पृष्ठ सं०

	श्री जयमेन आचार्य कृत मंगलाचरण	१
	पीठकारूप १४ गाथाश्री की समुदाय पातनिका	१
१	निश्चय व व्यवहार नमस्कार का स्वरूप तथा सिद्धो का लक्षण	२
१	'समयसार' शब्द का अर्थ	२
२	स्वसमय और पर समय का लक्षण	३-४
२	जीव का लक्षण	४
२	निश्चय रत्नत्रय का लक्षण	४
३	स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है।	
३	शुद्धगुण-पर्यायो मे परिणमता हुआ एकता को प्राप्त हुआ आत्मा सुन्दर है। कमबोध से उत्पन्न हुई गुणस्थान आदि पर्यायो की कथा विसर्वाद पैदा करने वाली है। अन स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है।	५
४	कामभोगबोध की कथा तो अनन्तवार सुनी, परिचय तथा अनुभव मे आई किन्तु एकत्वविभक्त शुद्धात्मास्वरूप की प्राप्ति सुलभ नहीं है क्योंकि यह न सुनी, न परिचय व अनुभव मे आई।	५-६
५	एकत्वविभक्त अर्थात् परमात्माका स्वरूप आगम तर्क परमगुरु का उपदेश तथा स्वसर्वेदनप्रत्यक्ष के द्वारा बतलाऊंगा। यदि बतला सकू तो ग्रहण करना और यदि नूक जाऊ तो छल न ग्रहण करना।	६-७
६	शुद्धात्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त वह केवल जायक है।	७
७	सद्भूत व्यवहारनय ज्ञानी (जीव) के चारित्र्य दर्शन ज्ञान है, किन्तु न ज्ञान है न चारित्र्य है और न दर्शन है केवल जायक ही है।	८
८	व्यवहार के बिना परमार्थ (अभेद) का उपदेश नहीं हो सकता। मध्यदर्शन ज्ञान चारित्र्य जीवशब्द का अर्थ है	९
९,१०	निश्चयश्रुत केवली व व्यवहारश्रुत केवली का स्वरूप	१०
९,१०	भावश्रुत अर्थात् स्वगर्वेदन ज्ञान निर्विकल्प समाधि	१०
९,१०	वर्तमान काल मे श्रुत केवली नहीं हो सकते।	१०
११,१२	मध्यदर्शन ज्ञान-चारित्र्य अथवा इन तीन मयी शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये जिससे अल्पकाल मे ही मुक्त हो जाता है।	११
१३	व्यवहारनय अभूतार्थ भूतार्थ दो प्रकार की है। निश्चयनय भी भूतार्थ अभूतार्थ दो प्रकार की है।	
१४	उत्थानिका-निर्विकल्प समाधि रत वालो के लिये निश्चयनय	

- प्रयोजनवान है किन्तु निर्विकल्पसमाधि रहित के लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान है १२
- १४ शुभोपयोगी प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्मानो तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है १४
- १५ उत्थानिका—जीवादि पदार्थ सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार-सम्यक्त्व के निमित्त होने हैं । १५
- १५ निश्चयनय से निर्णय किये हुए जीवादि नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं । १५
- १५ तीर्थ वर्तना निमित्त तथा प्राथमिक शिक्षा अपेक्षा नव पदार्थ भूतार्थ हैं किन्तु निर्विकल्प समाधि काल में अभूतार्थ हैं । १६
- १५ 'प्रमाणनय निक्षेप' सविकल्प अवस्था में भूतार्थ, समाधि काल में अभूतार्थ १६
- १६ शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय में परिणत जीव को शुद्धनय समझना चाहिये क्योंकि वह आत्मा को बध रहित, अग्न्यस्वरहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है । १८
- १७ जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य, अविशेष आदि रूप से अनुभव करता है वह द्रव्य-श्रुत भावश्रुत मय द्वादशगणरूप सब जिन शासन का जानकार होता है १८ १९
- 'सूत्रार्थ' श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्र में नहीं कही गई बात भी प्रसंग से स्वीकार कर ली जाती है । १९
- 'अपदेश वा अर्थ द्रव्य श्रुत और सूत्र का अर्थ भाव श्रुत होता है । १९
- निर्विकल्प समाधि से अष्ट अज्ञानी है । उसको तेज पदार्थों के भेद में आत्मा खण्ड खण्ड ज्ञानरूप जानपड़ती है । १९
- १८ मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र्य में तथा प्रत्याख्यान, मन्त्र और याग (ध्यान) में मात्र आत्मा ही है ऐसा ज्ञानी का विचार है । २०
- 'योग' का अर्थ निर्विकल्प समाधि परम सामायिक परम ध्यान है । २०
- १९ प्रारम्भिक अवस्था में दर्शन ज्ञान चारित्र्य निम्न निम्न अनुभव में आते हैं किन्तु शुद्ध निश्चय नय से इन तीन मयी आत्मा अनुभव में आती है । २१
- निर्विकल्प समाधि में ही मध्यदर्शन ज्ञान चरित्र होने हैं । २१
- २०-२१ उदाहरण के द्वारा स्पष्टीकरण करके शुद्धात्मा ही जानने योग्य है, निश्चय करने योग्य है तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है । २१
- अगुचरण का अर्थ है निर्विकल्प समाधि द्वारा अनुभव करना २२
- २२ जब तक कम नोर्कर्म भाव कर्म में आत्म बुद्धि तथा समन्वय भाव रहता है तब तक अज्ञानी है २२
- शुद्धात्मानुभूति जिन को प्राप्त हानी है वे जीव शुभाशुभ पदार्थों में दपसा के समान निर्विकार होकर रहते हैं । २३
- २३ स्व शुद्ध जीव मे उपयुक्त अर्थात् तन्मय बुद्धि से परिणत होता है ता मोक्ष हानी है । देशादि अजीव में उपयुक्त होने से बध होता है २३
- २४ निश्चयनय से आत्मा अपने भावों का कर्ता है और व्यवहार नय में पुद्गल कर्मों का कर्ता है । शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध भावों का कर्ता है अशुद्ध निश्चयनय में अशुद्ध

गाथा सं०

विषय

पृष्ठ सं०

- भावो का कर्ता है अनुपचरित असद्वृत्त व्यवहारनय से पुद्गल द्रव्यकर्मोंका कर्ता है। २४
- अग्नि और इधन की तरह जो देह रागाधि रूप पर द्रव्यों को अपनी आत्मा मे जोड़ता है वह अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा है (उत्थानिका) २२
- २५-२७ सचित्त, अचित्त, मिथ पर द्रव्यों मे ग्रहकार व ममकार करने वाला जीव समूह है। २५
- भूतार्थ को जानने वाले जो ग्रहकार ममकार नहीं करता वह असमूह है। २५
- गृहस्थ व साधु आदि की प्रपेक्षा सचित्त आदि द्रव्यों का विशेष कथन। २५
- मिथ्यात्व व रागादि भाव रूप परिणामन करने वाला परमात्मा का भ्रातृत्व नहीं है। २६
- २८-३० अज्ञानी मोहमति वाला बुद्ध-अबुद्ध-पुद्गल द्रव्यों को और जीव के रागादि भावों को अपने करता है किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला कहा है। फिर ये पुद्गल द्रव्य तेरे कैसे हो सकते हैं ? २७
- जैसे जल नमक रूप और नमक जल रूप परिणाम जाता है वैसे जीव पुद्गल रूप या पुद्गल रूप जीव नहीं परिणमता। २८
- ३१ (शका) यदि जीव और शरीर एक नहीं हैं तो तीर्थंकर और आचार्य की स्तुति व्यर्थ है। २९
- ३२ (समाधान) व्यवहार नय से जीव और शरीर एक है, किन्तु निश्चयनय से जीव और शरीर एक नहीं है। ३२
- ३३ जीव से भिन्न इस शरीर की स्तुति करके व्यवहारनय से भुनि ऐसा मानते हैं कि केवली भगवान की स्तुति की हैं। ३०
- ३४ किन्तु निश्चयनय मे शरीर के गुण केवली के नहीं हो सकते। अत जानादि गुणों का स्तवन ही केवली की स्तुति है।
- ३५ जैसे नगर के बरतन से राजा का बरतन नहीं हो सकता वैसे शरीर के गुणों के बरतन से केवली के गुणों का बरतन नहीं हो सकता। ३१
- ३६ जो इन्द्रियो को वश मे करके जानादि गुणों पूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करता है वह जितेन्द्रिय है। ३२
- ३७ जो मोह का उपशम करके ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है वह जित मोह है। रागादि परिणत आत्मा भाव्य हैं और उदयागत वर्म भावक हैं। ३२-३४
- ३८ माह का क्षय होने से क्षीण माह यह तीसरी स्तुति है। ३३
- ३९-४० पर को पर जानकर उस को छोड़ देना प्रत्याख्यान है, निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ३५
- घोषी ने दृष्टान्त द्वारा बतलाया कि पर को पर जानकर छोड़ देता है। ३६
- ४१ मोह मेरा कुछ भी नहीं है मैं तो मात्र एक उपयोग स्वरूप हूँ ३६
- ४२ धर्मादिक ज्ञेय पदार्थ मेरे कुछ भी नहीं है मैं तो विबुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप हूँ। ३७
- आत्मा मे वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को स्थिर करना मो सम्प्रकृषारित्र है। ३८
- ✓ ४३ मैं एकाकी शुद्ध हूँ दर्शन-ज्ञान मयी हूँ धरूपी हूँ। परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। ३८

(२) अजीवाधिकार

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
४४-४८	आत्मा को नहीं जानने वाले भूढ़ पर को आत्मा कहते हैं ।	४०
४९	उपर्युक्त सब अवस्था पौद्गलिक द्रव्य कर्म के सबध से होने वाली हैं । अतः ये जीव नहीं हो सकते ।	४२
५०	घाटो कर्म पुद्गलमय है और इन का फल दुःख रूप है ।	४३
	पुद्गल का कार्य होने से रागादि भी पौद्गलिक हैं ।	४३
५१	रागादि भाव जीव है ऐसा व्यवहारनय से जिनेन्द्र का उपदेश है ।	४३
	यदि व्यवहार नय न होती तो शुद्ध निश्चय से तब स्थावर जीव है ही नहीं । निःशक होकर उन के मर्दन में प्रवृत्ति होने लगेगी, जिससे पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा ।	४४
	शुद्ध निश्चय नय से जो जीव राग द्वेष से रहित है ही । अत मोक्ष और मोक्ष मार्ग का अभाव हो जायगा । इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है ।	४४
५२-५३	राजा किकरो को साथ लेकर जाता है । इस सारे समुदाय को राजा की सवारी कही जाती है । उसी प्रकार रागादि भाव सहित जीव को जीव व्यवहारनय से आगम में कहा है ।	४५
५४	शुद्ध जीव का स्वरूप	४६
५५-६०	वर्णादि और रागादि जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु पुद्गल के परिणाम है ।	४७
	वर्ग वर्गगा स्पष्टक का लक्षण	४८
	सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायाधिक नय से रागादि भाव और वर्णादि भावों को जीव कहा है, किन्तु अध्यात्म शास्त्र में निश्चयनय की अपेक्षा ये जीव नहीं है ।	४९
६१	व्यवहार नय से वर्णादि भाव जीव के है ।	६१
६२	और नीर वत् रागदि वर्णादि का जीव के साथ सयोग सम्बन्ध है, किन्तु ये जीव के नहीं है, क्योंकि जीव स्वभाव तो उपयोगरूप है ।	५१
	यद्यपि रागादि का सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय में है किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय व्यवहार ही है ।	५१
६३	पथिक व मार्ग के दृष्टांत द्वारा यह बतलाया है कि वर्णादि व्यवहार से जीव के हैं । व्यवहार नय से समारी जीव के वर्णादि के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं (उत्पानिका) है ।	५२
६६	समारी जीवों के वर्णादि के सबध है मुक्त जीवों के साथ नहीं	५४
६७	यदि इन सब भावों को जीव मानोगे तो जीव और पुद्गल में कोई भेद नहीं रहता ।	५४
६८, ६९	समारी जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाय तो जीवरूपी हो जाने से पुद्गल रूप हो जावेगा । तब निर्वाण पुद्गल को होगी ।	५५
७०, ७१	१४ जीव समास नाम कर्म द्वारा निष्पन्न है, निश्चयनय से ये जीव नहीं हैं ।	५६

- ७३ पर्याप्त प्रपर्याप्त सुख वादर शरीराश्रित हैं, व्यवहार से जीव सज्ञा हैं। निश्चय से जाब का स्वरूप नहीं है। ५७
- ७४ मोक्षणीय कर्मोदय से जो ये गुणस्थान हैं वे सदा अचेतन हैं। जीव-स्वरूप नहीं है। ५७
- अशुद्ध निश्चय नय से रागादि चेतन हैं किंतु शुद्ध निश्चय नय से अचेतन हैं। ५८
- शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय व्यवहार है ऐसा सर्वत्र जानना। ५८
- जीव अधिकार में भी रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा कथन है वही कथन अजीव अधिकार में पुन कथो किया गया ? इस सका का समाधान अनेक प्रकार से किया गया ५८

(३) कर्तृ कर्माधिकार

- समुदाय-पातनिका ५६
- ७४-७५ आत्मभाव और आत्मत्व भाव में जो अन्तर नहीं जानता वह अज्ञानी है और श्रौवादि करने में प्रवृत्त होता है। ६०
- ७६ जिस समय आत्मत्व और आत्मा के अन्तर को जान लेता है ज्ञानी हो जाता है। उसके कर्म बंध नहीं होता। ६१
- ७७ आत्मत्व को अशुचि, जड, विपरीत और दुःख का कारण जानकर उससे दूर रहता है। ६२
- ७८ सहजानन्द समरसी भाव से तन्मय जीव विचारता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ ममता रहित हूँ ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ और श्रौवादि आत्मत्व भावों को नष्ट कर रहा हूँ। ६३
- ७९ आत्मत्व भाव अछुव है अनित्य है, अशरण है, दुःख रूप है, ज्ञानी जब ऐसा जानता है उसी समय उनसे दूर हा जाता है ६४
- जीव अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता हुआ भी व्यवहार नय से कर्मोदय वन राग-द्वेषरूप परिणमता है ६४
- मिथ्यादृष्टि पुण्य पाप का कर्ता है। निर्विकल्प समाधि परिणत जीव सवर निर्जरा मोक्ष का कर्ता है। समाधि से रहित सम्यग्दृष्टि भक्ति रूप शुभोपयोग का कर्ता होता है। समुदाय पातनिका-जीव उपादान से कर्म नोकर्म का कर्ता नहीं है और न मोक्ष है। ६५
- ८० यह आत्मा उपादान रूप से कर्म और नोकर्म के परिणाम के करने वाला नहीं है इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी है। ६८
- ८१ व्यवहारनय से आत्मा पुण्य पाप आदि परिणामो कर्ता है निश्चयनय से कर्ता नहीं है। इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी है। ६८
- ८२ ज्ञानी जीव पुद्गल की अनेक पर्यायों को जानता हुआ भी उन स्वरूप न तो तन्मयता से परिणमता है, न ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न होता है। ६८

- ८३ ज्ञानी अपने परिणामो को जानता हुआ भी परब्रह्म की पर्याय रूप न तो परिणमन करता है, न ग्रहण करता है, और न उस रूप उत्पन्न होता है । ६६
- ८४ ज्ञानी पुद्गल कर्मफल को जानता हुआ भी निश्चय से परब्रह्म की पर्याय रूप न तो परिणमन करता है, न ग्रहण करता है और न उत्पन्न होता है । ७०
ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर चिदानन्द का ध्यान करता है । ७०
- ८५ पुद्गल ब्रह्म भी परब्रह्म की पर्याय रूप न तो परिणमन करता है, न ग्रहण करता है और न उत्पन्न होता है । ७१
- ८६-८८ जीव के परिणामो का निमित्तपाकर पुद्गलब्रह्म कर्मरूप परिणमता है और कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव रागादिरूप परिणमन करता है तथापि जीव पुद्गल के गुणो को और पुद्गल जीव के गुणों को स्वीकार नहीं करता है । आत्मा उपादान से अपने मावो का कर्ता है, पुद्गल के द्वारा किये गये ज्ञानावरणादि कर्मो का कर्ता नहीं है । ७२
- ८९ निश्चयनय से जीव अपने परिणामो का ही कर्ता व मोक्ता है । ७४
कर्मोदय अशुद्धभावो में और कर्मोदय का अभाव शुद्ध परिणामो में निमिषा है । ७४
- ९० व्यवहार नय से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता व मोक्ता है । ७५
समुदाय पातनिका ७५
- ९१ उपादान रूपसे पुद्गल कर्मों का कर्ता व मोक्ता आत्मा है यह द्विक्रिया वाद दोष है । ७६
- ९२ द्विक्रिया वादी मिथ्यादृष्टि है । ७७
- ९३ कर्मोदय के निमित्त से होने वाले अपने मावो का जीव कर्ता व मोक्ता है ७८
- ९४ जीव मिथ्यात्व भाव अजीव मिथ्यात्व भाव मयूर और दर्पण में प्रतिबिम्ब के दृष्टात द्वारा मिथ्यात्व आदि दो प्रकार के है । ७९
- ९५ उपयोगात्मक मिथ्यात्वादि जीव है, कर्म वर्णना रूप अजीव है । ८०
- ९६ मिथ्यात्व अज्ञान अविरत ये तीनों भाव जीव के अनादि से है । ८०
- ९७ परमार्थ से उपयोग शुद्ध निविकार है । फिर भी कर्मोदय के कारण मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारित्र्य रूप तीन प्रकार का हो रहा है । शुद्धोपयोग निरजन भाव को कहने है । ८१
चैनन्यानुविधायी परिणाम का उपयोग कहते है ८१
- ९८ जिस भाव को आत्मा करता है उसी भाव का कर्ता होता है पुद्गल अपने उपादान से कर्म रूप परिणमता है । ८२
पुरुष के गृह आदि मन्त्ररूप परिणाम होने पर अन्य किसी व्यापार के बिना देशांतर में विषापहार बंध विध्वंस या स्त्री विडवना आदि कार्य होने लगते है । ८२
- ९९ अज्ञानी जीव पर को अपनता है और अपने को पर का वनाता है । अतः कर्मों का कर्ता होता है । ८३
जैसे शीतोष्ण पुद्गल का परिणाम और उस का अनुभव इन दोनों में एकत्व का अध्ययन है । ८३
- १०० जो पर को अपने रूप और अपने को पर रूप नहीं करता वह ज्ञानी है और ज्ञान कर्मों का कर्ता नहीं होता । ८४

- जैसे शीतोष्ण पुद्गल परिग्राम तथा शीतोष्ण का अनुभव में भेद करने वाला अपने
आप को शीतोष्ण रूप नहीं मानता । ८४
- १०१ जब आत्मा यह असत्य विकल्प करता है कि मे अशेष स्वरूप हूँ तब वह उस
विकल्प रूप उपयोग का कर्त्ता होता है । ८५
- भाव्य भावक भाव ८५
- १०२ जब आत्मा यह असत्य विकल्प करता है कि मे धर्मास्तिकाय हूँ तब वह
उस विकल्प रूप उपयोग का कर्त्ता होता है ८६
- यह धर्मास्तिकाय है ऐसा ज्ञान रूप जो विकल्प होता है उसको
ही उपचारसि धर्मास्तिकाय कहा गया है जैसे घटाकार परिणत ज्ञान को
घट कहा जाता है । ८६
- १०३ अज्ञानी जीव पर को अपना करता है और अपने आप को पर रूप करता है
भूताविष्ट व ध्यानाविष्ट दृष्टान्तों का कथन ८७
- निर्विकल्प समाधी में तत्त्वों का विकल्प निषेध है निम्नली अवस्था में ८८
- निषेध नहीं ।
- स्वसंवेदन ज्ञान साराग व वीतराग दो प्रकार का ८९
- १०४ 'अज्ञानी आत्मा कर्त्ता है । ऐसा जानने वाला कर्त्ता पने से दूर हो जाता है
वीतराग परमसामायिक स्वरूप समय भावात्मक अभेद रत्नत्रय का
प्रतिपक्षभूत अज्ञान भाव ८९
- १०५ व्यवहारनय में घटपटादि कर्म, नोकर्म व इन्द्रियों का कर्त्ता है यह व्यामोह है । ९१
- १०६ यदि आत्मा पर द्रव्यों को उपादान रूप से करे तो उनसे तन्मय हो जावे ।
तन्मय नहीं होता इसलिये कर्त्ता नहीं है ९१
- १०७ जीव घटादि का कर्त्ता नहीं है योग और उपयोग कर्त्ता है । जीव योग
उपयोग का कर्त्ता है ९२
- १०८ ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से कर्त्ता नहीं है । ९३
- १०९ आत्मा अपने शुभाशुभ भावों का कर्त्ता व भोक्ता है । ९४
- असदभूत व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय को निश्चय सज्ञा है
किन्तु शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार है । ९४
- ११० अन्त्य द्रव्य के गुण रूप नहीं परिणमता इसलिये अन्त्य द्रव्य का उपादान
रूप से कर्त्ता नहीं होता ९५
- १११ आत्मा तन्मय होकर पुद्गलमय कर्म को नहीं करता है
शुद्धनिश्चयनय व शक्ति रूप से आत्मा अमूर्त है तथापि व्यवहारनय से
मूर्त है ९६
- ११२ जीव के निमित्त भूत होने पर कर्म बंध की पर्याय होती है अतः उपचार
से जीव कर्मों का कर्त्ता है ९७
- ११३ योद्धाश्रो के द्वारा युद्ध व्यवहार से राजा का युद्ध कहा जाता है वैसे ही
व्यवहार से जीव ज्ञानावरण आदि कर्मों का कर्त्ता है ९८

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
११६	व्यवहारनय से जीव कर्मों को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणामाता है, ग्रहण करता है ।	६८
११५	जैसे व्यवहार से राजा अपनी प्रजा में दोष और गुण का उत्पादक होता है वैसे ही व्यवहार से जीव पुद्गल को कर्म रूप करने वाला है ।	६९
११६-११६	समुदाय पातनिका मिथ्यात्व आदि प्रत्यय पीद्गलिक कर्मोदय से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है और ये प्रत्यय ही कर्म बंध के कारण है । आत्मा कर्मों का भोक्ता नहीं है जैसे स्त्री पुरुष के सयोग से पुत्र उत्पन्न होता है वैसे ही जीव पुद्गल के सयोग से मिथ्यात्व रागादि होते हैं । विवक्षा वश कोई जीव के और कोई पुद्गल के कहता है एकांत से न जीव के है न पुद्गल के । हल्दी चूने के संध से लाल रंग की तरह अशुद्ध निश्चय नय से रागादि चेतन हैं, शुद्ध निश्चयनय से चेतन है । सूक्ष्म शुद्ध निश्चय नय से रागादि का अस्तित्व ही नहीं है । यदि व्यवहार नय से भी जीव रागादि का अकर्ता हो तो ससार का अभाव हो जायगा ।	१००-१०१ १०१ १०१ १०१ १०२
१२०-१२२	जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञान दर्शन की एकता है उस प्रकार क्रोध की एकता नहीं है, यदि एकता हो तो जीव अजीव एक हो जायेगे, कोई भेद नहीं रहेगा । शुद्धनिश्चय नय से जीव रागादि का अकर्ता अभोक्त तथा भिन्न है किन्तु व्यवहारनय से कर्ता भोक्ता व अभिन्न है । निश्चयनय व व्यवहारनय में परस्पर सापेक्षपना है । द्रव्य कर्म का कर्ता असद्भूत व्यवहार नय से है और रागादि का कर्ता अशुद्धनिश्चयनय से है यह भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार है ।	१०३ १०४ १०४ १०४
१२३-१२५	पुद्गल द्रव्य कथंचित् परिणामी है । सबया अपरिणामी मानने पर ससार का अभाव हो जायगा । यदि पुद्गल अपरिणामी है तो जीव उसको हठात् नहीं परिणामा सकता क्योंकि दूसरा द्रव्य शक्ति नहीं दे सकता । यदि वस्तु शक्ति दूसरे को अपेक्षा नहीं रखती ऐसा माना जाय तो घट पट आदि पुद्गल भी कर्म रूप परिणम जावेगे अतः कर्मों का उपादान कर्ता पुद्गल है और निमित्त कारण जीव है । भेद रत्नत्रय साधक होने उपादेय है ।	१०६ १०७ १०७ १०७
१२६-१३०	यदि जीव कर्मों से बद्ध नहीं है तथा क्रोध आदि रूप नहीं परिणमता तो ससार का अभाव हो जायगा । अपरिणामी जीव को पुद्गल कर्म क्रोध रूप कैसे परिणम सकता है । स्वयं आत्मा क्रोध आदि रूप परिणमता हुआ उस रूप हो जाता है	१०७ १०८

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
	यदि कहाजाय जीव परिणामी होने से द्रव्य क्रोध के निमित्त के बिना भाव क्रोध रूप परिणम जाता है, क्योंकि वस्तु शक्ति दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती तो मुक्तात्मा भी क्रोध रूप परिणम जायेगी	१०६
	पुण्य पाप आदि सात पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से उत्पन्न होते हैं	११०
	गाथा ७४ से १३० तक की समुदाय पातनिका	
१३१	बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित आत्मा को दर्शन ज्ञानोपयोग स्वरूप अनुभव करने वाला निर्ग्रन्थ साधु होता है	११३
१३२	जितमोह का लक्षण	
१३३	जो साधु शुभोपयोगरूप धर्म को छोड़कर शुद्ध उपयोग आत्मा को जानता है वह धर्म परिग्रह से रहित है ।	११४
१३४	जिन भावों को आत्मा करता है उन का वह कर्ता होता है ज्ञानी ज्ञानमय भावों का और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्ता है	११५
१३५	निर्विकल्प समाधि में परिणत वाला भेद ज्ञान	
१३५	अज्ञानी कर्मों को करता है ज्ञानी कर्मों को नहीं करता है	११६
१३६-१३६	तीनगुप्ति रूप भेदज्ञानवाले ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय होते हैं अज्ञानी के सब भाव अज्ञानमय होते हैं	११६-११७
	उपादान कारण सदृश कार्य होता है	११७
	देवों में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि के विचार तथा आगति	११८
	अनुवादक द्वारा शुद्धोपयोग का लक्षण	११९
१४०-१४४	मिथ्यात्व, असयम, अज्ञान, कषाय व योग के उदय से जो परिणाम होते हैं उनसे बंध होता है	१२०
	कर्मोदय होने पर यदि जीवरागादि रूप परिणमता है तो बंध होता है । उदय मात्र से बंध नहीं होता । यदि उदय मात्र से बंध होने लगे तो ससार का अभाव ही न हो, क्योंकि ससारी के सदा कर्मोदय रहता है	१२१
१४५-१४६	जीव के और कर्मों के दोनों के यदि रागादि भाव होते हैं तो दोनों को रागी होना चाहिये	१२२
	यदि अकेले जीव के रागादि परिणाम मान लिये जावे तो कर्मोदय के बिना भी होने चाहिये	
	कर्मोदय के बिना भी रागादि भाव हो जावे तो शुद्धजीवों के भी होने चाहिये	१२३
	द्रव्य कर्म अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से और जीव अशुद्ध निश्चयनय से रागादिका कर्ता है	१२३
	अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय को निश्चय-सज्ञा है किन्तु शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार ही है	१२३
१४७-१४८	जीव और पुद्गल दोनों कर्म रूप परिणमन करे ता दोनों एतद्वत् को प्राप्त	

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
	हो जावें यदि अकेले पुद्गल द्रव्य के ही कर्म रूप परिणाम हो तो जीव गत रागादि के बिना भी पुद्गल कर्मरूप परिणाम जावे।	१२४
१४६	व्यवहार नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बधा हैं शुद्धनय का पक्ष है कि जीव बधा नहीं है।	१२५
१५०	जीव बद्ध है या अबद्ध है यह नय पक्ष है समयसाररूप आत्मा नय पक्षों से दूर है	१२६
	नय श्रुतज्ञान का विकल्प है	१२६
	क्षायोपशमिक ज्ञान छद्मस्थ जीव का स्वरूप व्यवहारनय से है किन्तु केवल ज्ञान की अपेक्षा शुद्ध जीव स्वरूप नहीं है	१२६
१५१	समयसार का अनुभव करनेवाला वह दोनो नयों के कथन को जानता है किन्तु किसी एक नय का पक्ष स्वीकार नहीं करता	१२७
	केवली भगवान निश्चय व व्यवहारनय के विषय द्रव्य व पर्याय को जानते हैं उसी प्रकार समाधिकाल में श्रुत ज्ञानी भी जानता है किन्तु दोनो नयों के पक्ष से दूर है	१२७
१५२	सर्व नय पक्षों से रहित जो शुद्धात्मा बही समयसार कहा गया है उसी की केवल दर्शन-ज्ञान सज्ञा है।	१२८
	निर्विकल्प समाधि स्थित पुरुष ही समयसार का अनुभव करते हैं और वे ही आत्मा के ज्ञाता दृष्टा हैं	१२६
	कर्तृकर्म अधिकार की समुदाय पातनिका	१२६

(४) पुण्यपापाधिकार

	समुदाय पातनिका	१३०
	व्रत दान आदिक पुण्य बध के ही कारण है मुक्ति कारण नहीं है किन्तु सम्यक्त्व सहित परंपर्या के कारण होते हैं।	१३०
१५३	यद्यपि व्यवहारनय से शुभ अशुभ रूप से कर्म दो प्रकार का है किन्तु निश्चयनय से हेतु स्वभाव-अनुभव और बध की अपेक्षा कर्म एक है भेद नहीं है, क्योंकि जो ससार में प्रवेश करवे वह मुशील कैसे हो सकता है	१३१-१३५
१५४	मोने अथवा लोह की बेड़ो दोनो ही मनुष्य को बाधती हैं वैसे ही शुभ अशुभ कर्म दोनो ही जीव को बाधते हैं	१३२
	भोग निमित्त किये गये दान पूजादि व्यर्थ है किन्तु शुद्धात्म-भावना साधन के लिये किये गये व्रत आदि मोक्ष के कारण होते हैं	१३२
१५५	शुभ अशुभ कर्मरूप कुशील से राग व ससर्ग मत करो क्योंकि ये स्वाधीनता का नाश करने वाले हैं	१३३
१५६-१५७	कर्मका कुशील स्वभाव जानने वाला न तो उन से राग करता है और न सर्गित करता है	१३२

गाथा सं०

विषय

पृष्ठ सं०

१५८	रागी कर्म बाधता है और विरागी कर्मों से मुक्त होता है इसलिये कर्मों से राग मत कर	१३५
१५९	शुद्ध, केवली, मुनि व ज्ञानी ऐसी आत्मा के स्वभाव में जो स्थित होता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है ।	१३६
१६०	जो आत्मस्वभाव में स्थित नहीं है उस का तप व व्रत बालतप व बालव्रत है	१३६
१६१	त्रिगुप्त समाधि रूप भेद ज्ञान से रहित के शील तपश्चरण आदि मोक्ष को कारण नहीं है क्योंकि वह अज्ञानी है । व्रत व तप के बिना मोक्ष मानने वाले सांख्यमत वाले है	१३७-१३८
१६२	उपर्युक्त भेद विज्ञान से रहित जीव अज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को अच्छा मानते है क्योंकि वे ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते । गाथा १६३-१७१ तक की समुदाय पातनिका	१३८ १३९
१६३	जीवादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन उन का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और रागादि का परिहार चारित्र्य है यही मोक्षमार्ग है व्यवहार व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप	१४० १४०
१६४	ज्ञानी निश्चय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते, क्योंकि आत्म लीन यति ही कर्मों का क्षय करते हैं	१४१
१६५-१६७	जिस प्रकार वस्त्र का ध्वेत स्वभाव मेल के सम्बन्ध से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का सम्यक्त्व गुण, ज्ञान गुण और चारित्र्य गुण क्रमशः मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय रूप कर्मों से नष्ट हो जाता है ।	१४२
१६८	आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला तथा देखने वाला है फिर भी कर्म रूपी रज से आच्छादित है । अतः ससार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को नहीं जान रहा है	१४३
१६९-१७१	सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिस के उदय में जीव मिथ्या-दृष्टि हो जाता है, अज्ञान (ज्ञानावरण कर्म) ज्ञान गुण को रोकने वाला है उस के उदय में जीव अज्ञानी हो जाता है । चारित्र्य को रोकने वाला कषाय कर्म है जिस के उदय में चारित्र्य रहित हो जाता है यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रय का कारण होने से उपादेय है तथा परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण है तथापि बाह्य द्रव्यों के अवलम्बन के कारण पराधीन होने से मोक्ष से पूर्व ही विलय हो जाता है तथा व्यवहार के विकल्प निर्विकल्प समाधि से पतन का कारण होने से व्यवहार मोक्ष मार्ग पाप रूप है ।	१४४ १४५
	(५) आत्मव अधिकार	
१७२-१७३	मिथ्यात्व, प्रविरति, कषाय, योग, ये चार चेतन भी हैं अचेतन भी हैं चेतन रूप मिथ्यात्वादि जीव के अनन्य परिणाम है । पुद्गल के विकार ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध को कारण हैं उनको जीव के रागादि भाव कारण है	१४७

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१७२-३३	द्रव्य प्रत्ययो का उदय मात्र बध को कारण नहीं है यदि जीव शुद्धात्म- भावना छोड़कर रागरूप परिणमे तो बध होता है ।	१४७
१७४	निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट के कर्मोदय मोह सहित होता है जो व्यवहार से बध का निमित्त होता है	१४७
१७४	सम्यग्दृष्टि के आश्रय बध नहीं होता । पूर्व में बधे हुए को जानता है बध नहीं करता	१४८
१७५	सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के हैं अविरत सम्यग्दृष्टि के ७७ प्रकृतियों का अल्पस्थिति अनुभाग वाला बध होता है जो ससार स्थिति का छेदक होता है	१४९
१७५	सम्यग्दृष्टि के सर्वथा बध नहीं होता ऐसा नहीं कहना चाहिये	१४९
१७५	रागादि से युक्त जीव बधक होता है किन्तु रागादि से रहित जीव अवबधक तथा ज्ञायक होता है	१५०
१७६	फल पककर गिर जाने पर वह पुन वृक्ष से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी जीव के कर्म पककर झड़जाने पर पुन उदय नहीं होता	१५१
१७७	वीतरागो जीव के पूर्व बद्ध कर्म अकिञ्चित्कर है	१५१
१७८	मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय रागादि अज्ञान भाव रूप परिणत ज्ञान दर्शन गुण नाना प्रकार के कर्म बाधते हैं । ज्ञानी तो अवबधक है	१५२
१७९	जघन्य भाव को प्राप्त अर्थात् यथाख्यात चारित्र्य से पूर्व ज्ञान गुण नवीन बध करने वाला है	१५३
१८०	निर्विकल्प समाधि से पूर्व जघन्य भाव से परिणत रत्नत्रय, उससे युक्त ज्ञानी जीव अपने गुणस्थानानुसार कर्म बाधता है	१५४
१८१-१८४	बाला स्त्री के दृष्टान्त द्वारा बतलाया है कि सत्ता रूप कर्म से बध नहीं होता किन्तु उदयागत कर्म से बध होता है	१५५-१५६
१८५-१८६	सम्यग्दृष्टि के रागद्वेष मोह आश्रय भाव नहीं होते इसलिये प्रत्यय बध के कारण नहीं होते । चार प्रकार के प्रत्यय आठ प्रकार के कर्मों को बाधते हैं जिन को उनके भी रागादि कारण है । रागादि के अभाव में बध नहीं होता है	१५८
१८६-१८८	चौथे पाचवे छठे गुणस्थान का स्वरूप, सम्यक्त्व के आठ गुण २५ दोष प्रशमन सवेगादि लक्षण का कथन	१५९
१८६-१८८	छठे गुण स्थान तक सराग सम्यग्दर्शन सातवे से वीतराग सम्यग्दर्शन	१५९
१८७-१८८	जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार जठराग्नि से मास चरबी रुधिर आदि रूप परिणम जाता है उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि से युक्त सम्यग्दृष्टि के पूर्व बद्ध प्रत्यय कर्मों को बाधते हैं	१६१-१६२

(६) संबराधिकार

	१४ गाथाओं द्वारा वीतराग सम्यक्स्वरूप संवर का व्याख्यान है	१६३
	भेद ज्ञान का लक्षण निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान है	१६३
१८६-१८९	उपयोग उपयोग मे है क्रोधादि में उपयोग नहीं है। क्रोध क्रोध मे है उपयोग मे क्रोध नहीं है कर्म नोकर्म मे भी उपयोग नहीं है और उपयोग मे भी कर्म नोकर्म नहीं है। जब जीव के अविपरीत हो जाता है तो वह मिथ्यात्व राग भाव नहीं करता	
१८९-१९३	अग्नि मे तपाया हुआ सोना अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता वैसे ही कर्मोदय से पीड़ित ज्ञानी भी ज्ञानीपन का त्याग नहीं करता। अज्ञानी अपने आप को नहीं जानता हुआ राग को अपना स्वरूप समझता है	१६६
१९४	शुद्धात्मा को अनुभव करने वाला अपने आप शुद्ध बना लेता है किन्तु जो अपने को सर्वथा अशुद्ध समझे हुए है वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता।	१६७
१९५-१९७	संवर होने का प्रकार कौनसा है इस का विशेष स्पष्टीकरण	१६८
१९८	परोपदेश के द्वारा परोक्षात्मा का ज्ञान हो जाता है	१७०
१९९	छद्मस्थ के आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु परोक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जाता है	
२००-२०२	रागद्वेषादि भावास्त्र के कारण उदयागत मिथ्यात्व आदि हैं। ज्ञानी के कारण का अभाव होने से आस्त्र का निरोध हो जाता है। जिससे कर्म नोकर्म तथा संसार का निरोध हो जाता है	१७२
	भावकर्म दो प्रकार का है जीव गत और द्रव्यकर्मगत	१७३

(७) निर्जराधिकार

	निर्जराधिकार की समुदाय पातनिका	१७५
२०३	वीतराग सम्यग्दृष्टि के उपभोग निर्जरा के कारण हैं	१७६
	इस ग्रंथ मे वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है	१७६
	मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा साराग सम्यग्दृष्टि के निर्जरा कही गई है	
२०४	बाह्य द्रव्य को भोगने से नियम से सुख तथा दुःख होता है। सम्यग्दृष्टि के सुख दुःख को वेदते अर्थात् अनुभव करते हुए भी निर्जरा होती है	१७७
२०५	जैसे गारुड विद्यावाला पुरुष विष को खाकर भी अमोघमद्य की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी निर्विकल्पसमाधि रूप भेदविज्ञान के सामर्थ्य से बंध को प्राप्त नहीं होता	१७९
२०६	जैसे कोई मनुष्य व्याधिप्रतीकार निमित्त मद्य मे प्रतिपक्ष भूत औषध डालकर मद्य पी कर भी पागल नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष पंचेन्द्रिय विषय भोगता हुआ भी जितने अशो मे राग का अभाव है उतने अंश मे बद्ध नहीं होता	१७९

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
२०७	भोगी को सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता । दूसरा सेवन नहीं करता हुआ भी सेवन करने वाला होता है ।	१८०
२०८	सम्यग्दृष्टि विचारता है कि क्रोध कर्मोदय का फल है मै तो एक ज्ञायक हूँ	१८२
२०९	सम्यग्दृष्टि कहता है कि विकारी भाव जड़ कर्मोदय से उत्पन्न हुए हैं वे मेरे स्वरूप नहीं हैं । शरीर से भी भिन्न हूँ ।	
२१०	जो अपने आप को ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्मोदय विपाक को छोड़ता है वह सम्यग्दृष्टि है	१८३
२११	नाना कर्मोदय विपाक मेरा स्वरूप नहीं है मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ	१८४
	जिस में विवक्षा का अभाव हो वह सामान्य है	१८४
२१२-२१३	सर्वांगमधारी के भी यदि लेशमात्र राग है ता वह आत्मा को नहीं जानता और अनात्मा को भी नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है	१८५
	इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कवन है	१७६-१८५
२१४	वेद्य वेदक भाव अर्थ पर्याय की अपेक्षा प्रति समय नाशवान है, ज्ञानी उन की इच्छा नहीं करता	१८७
२१५	ज्ञानी जीव के बंध व उपभोग के निमित्त भूत ससार व देह विषयक अध्यवसान में राग नहीं करता है	१८८
२१६	यदि शरीर आदि परिग्रह मेरा हो जाय तो अजीव हो जाऊँगा किन्तु मैं तो ज्ञाता हूँ अतः परिग्रह मेरा नहीं है	१९०
२१७	आत्मा जो द्रव्य और भावकर्म है उन को अस्थिर जानकर छोड़दे और अपनी आत्मा को ग्रहण करे ।	१९०
२१८	ज्ञानी पर द्रव्य को अपना नहीं मानता अपने आप को अपना परिग्रह मानता है	१९१
२१९	छिद जावो, भिद जावो, कोई ले जावो, नष्ट हो जावो क्योंकि यह परिग्रह मेरा नहीं है	१९२
२२०	यदि मुख चाहता है तो आत्मानुभव में तल्लीन, सतोष धारण कर, तृप्त हो	१९२
२२१	मति श्रुत अवधि मन पर्यय केवल इनसे भिन्न जो परमार्थ ज्ञान उस को प्राप्त करके जीव निर्वाण को प्राप्त होता है	१९३
२२२	मोक्ष के इच्छुक को परमार्थ ज्ञान ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि उसके बिना मोक्ष नहीं मिलता	१९४
२२३	अपरिग्रही ज्ञानी इच्छा रहित होता है अतः वह पुण्य रूप धर्म की इच्छा नहीं करता क्योंकि पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानता है	१९५
२२४	ज्ञानी परिग्रह इच्छा रहित होता है वह धर्म की इच्छा नहीं करता	१९६
२२५	ज्ञानी धर्म अयमं, आकाशादि, ज्ञेय तथा देवादि पर्यायों को नहीं चाहता	१९७

गाथा नं०	विषय	पृष्ठ सं०
२२६	परिग्रह व इच्छा रहित ज्ञानी भोजन की इच्छा नहीं करता	१६७
२२७	परिग्रह व इच्छा रहित ज्ञानी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं करता	१६७
२२८	उपर्युक्त भावों की इच्छा ज्ञानी नहीं करता वह निरासंबंधी ज्ञायक है	१६६
२२९	ज्ञानी के प्राप्त वर्तमान कर्म के भोगने में वियोग बुद्धि है यथा आगामी कर्मोदय की निर्वाद्या है	२००
२३०-२३१	पूर्वबद्ध कर्म में स्थित ज्ञानी परद्रव्यों से राग को छोड़ देता है अतः कर्म से नहीं बधता। अज्ञानी राग करता है अतः कर्मों से बधता है	२०१
२३२	बृहर की जड़, हथनी का मूत्र, सिन्दूर और सीसा धातु इन को अग्नि में धोकने से यदि पुण्योदय हो तो सुवर्ण बन जाता है।	२०२
२३३-२३४	द्रव्य कर्म तो कीट है, रागादि कालिका है, रत्नत्रय परमौषधि है, ध्यान अग्नि है, तपश्चरण धौकनी है। इन के साथ जीव रूपी सोहे को परम-योगी धमते हैं	२०३
२३५-२३६	अनेक प्रकार के द्रव्यों को भक्षण करते हुए भी सख अग्नि श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं होता। वैसे ही ज्ञानी द्रव्यों को भोगता हुआ रागरूप नहीं हो जाता। सख श्वेत पने को छोड़कर कृष्ण रूप परिणमेतो उस के श्वेतपना नहीं रहता वैसे ही ज्ञानी ज्ञान स्वभाव छोड़कर अज्ञान रूप परिणमेतो अज्ञानी बन जाता है	२०४
२४०-२४३	राजा व सेवक दृष्टांत से यह बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि विषय सुख के लिये कर्म की सेवा नहीं करता तो कर्म भी सुखोत्पादक भोग नहीं देता	२०६
२४४	सम्यग्दृष्टि सप्त भय से रहित है अतः निश्चय है	२०६
२४५	शुद्धात्मस्वरूप से निष्कप होना ही निश्चय है	२०६
२४५	जो मिथ्यात्व अविरत कषाय योग इन को नाश कर देता है वह निश्चय है	२१०
२४६	जो कर्म के फलो में व सब धर्मों में इच्छा नहीं करता वह निश्चयित सम्यग्दृष्टि है	२११
२४७	सब वस्तुओं के धर्म में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा है	२११
२४८	कर्मोदय रूप भावों में मूढता धारण नहीं करना अमूढदृष्टि अंग है	२१२
२४९	जो सिद्ध भक्ति में युक्त है मिथ्यात्वादि विभाव धर्मों का नाश करने वाला है वह उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि है	२१३
२५०	जो उन्माद में जाने से बचाकर सुमाग में स्थापना करना है वह स्थितिकरण गुण वाला है	२१३
२५१	साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव रखना वात्सल्य गुण है	२१४
२५२	आत्मानुभूति रूप विद्यारूपी मन रूपी रथ के वेग को नष्ट करना प्रभावना अंग है।	२१४
	निश्चय व्यवहार में साध्य साधक भाव है	२१५

निश्चय रत्नत्रय निर्विकल्प समाधि मे होता है ।

२१५

बोधि की दुर्लभता ।

(८) बंधाधिकार

	समुदाय पातनिका	२१७
२५३-२५७	कर्म रज व नाना प्रकार की चेष्टा बंध को कारण नहीं है, बंध को कारण रागादि विकारी भाव हैं ।	२१८
२५८-२६८	वीतराग सम्यग्दृष्टि बहुत चेष्टा करता हुआ भी राग भाव न हाने से बंध को प्राप्त नहीं होता है ।	२२२
२६३	जो यह मानता है कि मैं पर को मारता हूँ या पर के द्वारा माराजाता हूँ वह अज्ञानी है जिस को शत्रु मित्र लाभ अलाभ मे राग द्वेष भाव नहीं है वह जानी है ।	२२३
२६४	मरण आयु क्षय से होता है पर की आयु की अपहरण नहीं किया जा सकता अतः न तू पर को मार सकता है और न पर तुझ को मार सकता है ।	२२४
२६५	आयु के उदय से जीव जीता है पर को आयु दी नहीं जा सकती तो यह मान्यता कि पर ने मुझ को जिलादिया या मैंने पर को जिलादिया मिथ्या है जानी इससे विपरीत मानना है ।	२२५
२६६	पर जीव को सुखी या दुखी करने का अहंकार भाव अज्ञानी के होते है जानी के इससे विपरीत होते है ।	२२६
२६७-२६९	जीव कर्मादय से सुखी दुखी होता है पर को कोई कर्म नहीं दे सकता अतः न तो तू दूसरे को सुखी दुखी कर सकता है और न पर तुझ को सुखी दुखी कर सकता है जानी जीव गर्वं नहीं करता ।	२२७
२७०-२७१	मरना जीना दुखी-सुखी होना कर्माधीन है अतः यह मान्यता में ने पर को मार दिया या मारने नहीं दिया, दुखी कर दिया या दुखी नहीं होने दिया यह सब मिथ्या है ।	२२९
२७२	मैं पर को सुखी दुखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है बंध का कारण है	२३०
२७३-२७४	पर ने मुझ को सुखी दुखी करदिया या मारदिया जीवदिया यह तेरी बुद्धि मिथ्या है बंध का कारण है ।	२३०-२३१

गाथा सं०

विषय

पृष्ठ सं०

- २७५ जीव को मारो या न मारो किन्तु अध्यवसान से बध होता है, निश्चयनय से यह बध तत्व का संक्षेप है । २३१
- २७६-२७७ इसी प्रकार जो भूठ चोरो कुशील और परिग्रह विषयक अध्यवसान तथा अचौर्य सत्य ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह विषयक अध्यवसाय बध का कारण है । २३३
- २७८ बाह्य वस्तु से राग होता है और राग से बध होता है बाह्य वस्तु बध का कारण नहीं है । २४४
रागादि अध्यवमान के परिहार के लिए बाह्य वस्तु का त्याग किया जाता है । २३४-२३५
- २७९ मैं जीवों को दुखी मुखी बाध या छुड़ा सकता हूँ यह मूढ़ बुद्धि निरर्थक व मिथ्या है । २३५
- २८० अध्यवसान से बध होता है मोक्ष मार्ग से छूटता है तो तूने क्या किया । २३६
- २८१-२८४ काय से वचन से मन से तथा शस्त्र से मैं जीवों को दुखी करता हूँ सो सब मिथ्या है जीव तो अपने कर्मों से दुखी होते हैं । २३७
- २८५ जीव अपने कर्मोदय से सुखी होते हैं काय वचन मन से मैं ने जीवों को सुखी किया सो मिथ्या है । २३८
- २८६-२८७ जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यक् नारक देव मनुष्य सब पर्यायों को पुण्य पाप को धर्म अधर्म को जीव अजीव द्रव्य को एव लोक अलोक इन सब भावों को अपना लेता है । २३९
- २८८ जिस के उपर्युक्त अध्यवसान भाव नहीं है यह कर्मों से नहीं बधता । २४०
जब तक निश्चय रत्नत्रय लक्षण वाला भेद विज्ञान नहीं होता तब तक निर्विकल्प शुद्धात्मा से अध्यवसाय को भ्रम नहीं जानता २४०
- २८९ शरीर पुत्र कलत्रादि मेरे हैं तथा हर्ष विषाद आदि ऐसे विकल्प जब तक करता हूँ तब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता और शुभा शुभ कर्म करता हूँ । २४१
- २९० बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब एकार्थ वाची हैं । २४१
ममभिरूढ नय से इन सब का अर्थ अध्यवसान होता है । २४३
गाथा २९० से २९५ की समुदाय पातनिका में कहा है अभेदरत्न त्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक व्यवहारनय दबा दिया जाता है । २४३

- २६१ निर्विकल्प रूप निश्चयनय के द्वारा सविकल्प रूप व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। निश्चयनय में तल्लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त होता है। २४३
- यद्यपि प्राथमिकापेक्षा प्रारम्भ में सविकल्प अवस्था में व्यवहारनय निश्चयनय का साधक होने से प्रयोजनवान है किन्तु शुद्धात्मा में स्थित के लिए निष्प्रयोजन है अभव्य भी व्यवहारनय का आश्रय लेते हैं इसलिए निष्प्रयोजन है। २४३
- २६२ व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप को करता हुआ भी अभव्य जीव भ्रजानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है। २४५
- २६३ मोक्ष का अद्वान नहीं करने से अभव्यजीव के शास्त्र ज्ञान भी गुणकारी नहीं होता है। २४५
- २६४ अभव्य जीव के धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि तथा धारण करना कर्मों को नष्ट करने के लिए नहीं हैं किन्तु भोगों की प्राप्ति के लिए है। २४६
- २६५-६६ आचार्यादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि पदार्थ सम्यग्दर्शन है और छ कार्यों की जीवों की रक्षा चारित्र्य है यह व्यवहार है आत्मा ही ज्ञानदर्शन चारित्र्य प्रत्याख्यान सवर और योग है यह निश्चयनय है। २४७
- निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित को मोक्ष होता ही है, व्यवहार मोक्षमार्गों को हो भी और न भी हो, क्योंकि यदि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम आदि हो गया तो मोक्ष हो जायगा यदि उपशमादि नहीं हुआ तो मोक्ष नहीं होगा। २४८
- निर्विकल्प समाधि में व्यवहार छोड़ा नहीं जाता किन्तु स्वयं छूट जाता है। २४८
- २६७-२६८ स्वयं अपने बनाने से सम्पन्न हुआ आहार अन्न कर्म कहा जाता है उस अन्न कर्म को आदि करके जो दोष है वे आहाररूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं अतः निश्चय से जानी उन्हें कैसे कर सकते हैं उन की अनुमोदना भी कैसे कर सकता है। क्योंकि ज्ञानी के तो निर्विकल्प समाधि होती है। २४९
- २६९-३०० अन्न कर्म रूप तथा औद्देशिक रूप आहार पुद्गल द्रव्य मय है सो यह मेरा किया हुआ और कराया हुआ कैसे हो सकता क्यों कि यह नित्य ही अचेतन है। २५०
- निश्चयरत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान के होने पर आहार के सम्बन्ध में मन वचन काय द्वारा कृत कारित अनुमोदना नहीं होती। २५०
- नव कोटि शुद्ध आहार के ग्रहण में बध नहीं होता है। २५०

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
३०१-३०२	जैसे स्फटिक बाहरी लगाव बिना अपने आप ही लालादि रूप परिणमन नहीं करता किन्तु जपा पुष्प आदि के द्वारा वह लालादि बनता है वैसे ज्ञानी भी कर्म उपाधि बिना अपने आप रागादि रूप नहीं परिणमता किन्तु कर्मोदय रूप उपाधि से रागद्वेष रूप परिणमता है ।	२५३-३२०
३०३	ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने आप में रागद्वेष और मोह भाव को तथा कषाय भाव को नहीं करता इसलिये वह राग द्वेषादि भावों का करने वाला नहीं है ।	२५२
३०४	रागद्वेष आदि कषाय कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते उन रूप परिणमता हुआ पुन रागादि कर्मों को बाध लेता है ।	२५३
३०५	रागद्वेष कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं वे मेरे हैं ऐसा परिणमन करने वाला आत्मा रागादि का बध करता है ।	२५४
३०६-३०८	द्रव्य और भाव के भेद से अप्रतिक्लमण और अप्रत्याख्यान दो दो प्रकार के हैं इस प्रागम के उपदेश से आत्मा कर्मों का प्रकर्ता है । जब तक द्रव्य भाव रूप अप्रतिक्लमण व अप्रत्याख्यान को आत्मा करता है तब तक वह कर्मों का करने वाला है ।	२५५
	परम समाधि के न होने से जीव अज्ञानी होता है ।	२५६
	ज्ञानी जीव कर्मों का करने वाला नहीं होता यदि वह कर्ता हो तो सदा ही कर्ता बना रहे, क्योंकि जीव तो सदा ही विद्यमान रहता है ।	२५६
	बधाधिकार का उपसंहार ।	२५६

मोक्षाधिकार (६)

	मोक्षाधिकार की समुदाय पातनिका	२५८
	विशिष्ट भेद ज्ञान के बल से बध और आत्मा को पृथक् करना ही मोक्ष है	२५८
३०९-३११	जैसे चिरकाल से बधन में बधा हुआ पुरुष बधन के तीव्र व मंद स्वभाव को और उस के काल को जानता हुआ भी यदि उस बधन का छेद नहीं करता है तो बधन से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्म बधन की बात है ।	२५९
	स्वरूपोपलब्धि रूप वीतराग चारित्र्य से रहित जीवों के बध-परिज्ञान मात्र से स्वर्गादिक मुख का निमित्तभूत पुण्य बध होता है ।	२५९-२६०

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
३१२	जैसे बघनों के विषय में विचार करने मात्र से मुक्त नहीं होता बीतराग धर्मध्यान का शुक्ल ध्यान से रहित जीव, बघ प्रपञ्च की रचना की चिता रूप सरागधर्म ध्यान स्वरूप शुभोपयोग से पुण्य बघ करता है मोक्ष नहीं पाता ।	२६० २६०
३१३	जैसे बन्धन को काट कर मुक्त होता है वैसे ही जीव कर्म बघ को काटकर ही मोक्ष पा सकता है ।	२६१
	शुद्धात्म-सवित्तिरूप बीतराग स्वसवेदन ज्ञान है वह स्वसवित्तिरूप एकाकार से तो सविकल्प होता है वहा पर बाह्य विषयो के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं किन्तु उनकी मुख्यता नहीं है इसलिये निर्विकल्प है	२६१
३१४	बघ के और आत्मा के स्वभाव को जानकर निर्विकल्प समाधि के बल पर जो बघ में राग नहीं करता वही कर्मों को काट सकता है ।	२६२
३१५	जीव और बघ इन दोनों का निश्चित अपने अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनी से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये कि ये नाना पन को प्राप्त हो जाय ।	२६३
३१६	जीव और बघ इन दोनों को निश्चित अपने अपने लक्षणों द्वारा इस प्रकार पृथक् करना कि बघ तो छिदकर भिन्न हो जाय और आत्म स्वभाव रह जाय ।	२६४
३१७	जिस प्रज्ञा के द्वारा आत्मा बघ से विभक्त किया जाता है उसी प्रज्ञा के द्वारा वह ग्रहण किया जाता है ।	२६४
३१८	मैं नियम से चेतनावान् हूँ अन्य भाव मेरे से भिन्न हैं इन विवेक बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये ।	२६५
३१९-३२०	जो दृष्टा और ज्ञाता है वह मैं हूँ अन्य सब भाव मुक्त से भिन्न है ऐसा विवेक बुद्धि के द्वारा ग्रहण करना चाहिये । जितने भी पदार्थ हैं वे सामान्य विशेषात्मक होने से द्विरूप का उल्लंघन नहीं करते । चेतना भी दर्शन ज्ञान द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती ।	२६६ २६६
३२१	आत्मा को शुद्ध जाननेवाला ऐसा कील ज्ञानी होगा जो पर के उदय से होने वाले भावों को अपने कहे ।	२६६
३२२-३२४	अपराधी जकाशील रहता है कि कहीं मैं बाधा न जाऊ । निरपराधी नि शक रहता है ।	२७०
३२५	ससिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाचक हैं जो आत्मा राध से रहित है वह अपराध होता है ।	२७२

निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निःशुद्धात्मा की धाराधना करना सेवन करना अपराध है ।

२७२

३२६-३२७ प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, वारण, निवृत्ति, निन्दा, बर्हा, शुद्धि वे आठ वीतराग चारित्र की अपेक्षा विषकु भ हैं किन्तु सराव चारित्र की अपेक्षा अभृतकु भ हैं । अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति, अनिन्दा, अबर्हा, अशुद्धि ये आठ तृतीय भूमि वीतराग चारित्र निर्विकल्प अवस्था में अमृत कु भ है ।

२७३

निचली अवस्था में अप्रतिक्रमण आदि विषकु भ हैं ।

२७४

सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार (१०)

(मोक्ष पदार्थ चूलिका)

३२८-३३१ सर्व विशुद्ध अधिकार की समुदाय पातनिका ।

जीव व अजीव द्रव्य अपने गुणो धर्मात् पर्यायो से अभिन्न हैं आत्म द्रव्य किसी से उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए कार्य नहीं है और न किसी को उत्पन्न करता है इसलिए कारण भी नहीं है । कर्म का आश्रय लेकर कर्ता और कर्ता के आश्रय से कर्म उत्पन्न होता अन्यथा कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं है । आत्मा उपादान रूप से कर्म नो कर्म को उत्पन्न नहीं करता है ।

२७७

शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा बध मोक्ष का कर्ता नहीं है ।

२७७

उपचार से जीव कर्म का कर्ता है ।

परस्पर निमित्त भाव को छोड़कर शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चय नय से जीव वे कर्ता कर्म पने की सिद्धि नहीं होती ।

२७८

३३२-३३३ आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उपजता है और नाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्मा के लिए उपजती है और नाश को प्राप्त होती है । इस प्रकार आत्मा व प्रकृति इन दोनों के परस्पर निमित्त से बध होता है और बध से ससार उत्पन्न होता है ।

२७८

३३४-३३५ जब तक जीव कर्मादय से होने वाले रागद्वेष को नहीं छोड़ता तब तक अज्ञायक है, मिथ्यादृष्टि तथा असयत है । जब कर्मफल को छोड़ देता है तब बध से रहित हुआ जाता दृष्टा संयमी होता है ।

२७९

३३६ अभेद रत्नत्रयात्मक भेद विज्ञान से रहित अज्ञानी जीव प्रकृति के स्वभाव से स्थित होता हुआ कर्मफल को भोगता है किन्तु ज्ञानी जीव उदय में आये हुए कर्मफल को जानता है, भोगता नहीं है ।

२८०

गाथा सं०	विषय	पृष्ठ सं०
३३७	निरपराधी नि शंक होता हुआ अपने आप को जानता हुआ निरन्तर आराधना में हो तत्पर होता है ।	२८१
३३८	शास्त्रो को भले प्रकार पढ़ कर भी अभिव्य जीव कर्मोदय स्वभाव को नहीं छोड़ता जैसे गुड़ सहित दूध पीते हुए भी सर्वं निविष नहीं होता ।	२८२
३३९	ज्ञानी जीव वैराग्य सहित होता हुआ मधुर कटुक आदि अनेक प्रकार कर्म फल को जानता तो है किन्तु भोक्ता नहीं होता ।	२८२
३४०	निर्विकल्प समाधि में स्थित ज्ञानी कर्मों को न तो करता है और न भोगता है किन्तु कर्म बध, कर्मफल, पुण्य और पाप को जानता ही है ।	२८४
३४१	जैसे चक्षु पदार्थ को देखता ही है उस का कर्ता भोक्ता नहीं होता वैसे ही ज्ञान भी बध, मोक्ष, कर्मोदय, निर्जरा, जानता ही है कर्ता भोक्ता नहीं होता ।	२८४
	मोक्षाधिकार चूलिका का उपसहार ।	२८५
	भव्यत्व अभव्यत्व और जीवत्व परिणामिक भाव ।	२८६
	मोहादि-कर्म सामान्य भव्यत्व भाव के आच्छादक हैं ।	२८६
	कालादि लब्धियों के वश भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है ।	२८६
	शक्ति रूप मोक्ष तो शुद्ध पारिणामिक रूप यदि पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु व्यक्ति रूप मोक्ष पहले से नहीं है ।	२८६
	परमार्थ दृष्टि से यह जीव न उपजता है, न मरता है, न बधता है, और न मुक्त होता है ।	२८६

समयसार चूलिका

	चूलिका शब्द का अर्थ ।	२८८
	चूलिका की समुदाय पातनिका ।	२८८-२८९
३४२-३४४	जैसे सुर नर आदि प्राणियों को विष्णु बनाता है यदि एकांत से छहकायके जीवों को आत्मा करता है तो फिर लोगों का और श्रमणों का एक ही सिद्धांत ठहरे इसलिये लोक और श्रमणों में से किसी को भी मोक्ष नहीं होगा ।	२९१
३४५-३४८	पदार्थ का स्वरूप जानने वाले भी व्यवहार में परब्रह्म को अपना कहते हैं किन्तु निश्चय में वे जानते हैं कि परमात्मा मात्र मेरा भी नहीं है यदि वे परब्रह्म को अपना बनाते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं ।	२९३
	व्यवहार नय प्राथमिक लोगों को सबाधन करने के लिये है ।	२९४

गाथा सं०

विषय

पृष्ठ सं०

असंख्यात असंख्यपिणी काल के बीच जाने पर हुंठासपिणी काल आता है।

२६४

३५६-३५२ जीव परिणमन शील है अतः बड़ी कर्ता है या भोक्ता है अथवा अन्य कर्ता है या भोक्ता है ऐसा एकांत नहीं है स्याद्वाच्य है। जो करता है वही भोक्ता है अथवा अन्य करता है अन्य भोक्ता है ऐसा एकान्त मिथ्यात्व है।

२६७

३५३-३५७ यदि एकांत से कर्म ही जीव को मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि करता है तो अचेतन कर्म को कर्तापन प्राप्त हो जाय पर ऐसा बनता नहीं। यदि जीव कर्म को मिथ्यादृष्टि बनाता है तो पुद्गल ही मिथ्यादृष्टि हुआ जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा सो भी ठीक नहीं है। यदि जीव और प्रकृति दोनों पुद्गल को मिथ्यादृष्टि बनाता है तो दोनों का फल होता चाहिए सो भी ठीक नहीं है। पुद्गल ब्रह्म स्वयं मिथ्यात्व रूप हुआ सो भी ठीक नहीं है। अतः सिद्ध हुआ मिथ्यात्व साव का अज्ञानी जीव कर्ता है उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल मिथ्यात्व कर्म रूप परिणमते हैं

२६६-३००

यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति कर्म विशेष है किन्तु निर्विषय किया हुआ विषय जैसे मारने वाला नहीं होता वैसे ही यत्र स्थानीय बिभ्रुद्धि विशेष शुद्धात्मा के अग्नि मुख परिणाम के द्वारा मिथ्यात्व कर्म की शक्ति नष्ट करदी गई है वह सम्यक्त्व प्रकृति है।

३०१

३५८-३७० एकांत से कर्मों द्वारा यह जीव अज्ञानी किया जाता है, सुलाया जाता है जागरण पाता है, सुखी दुखी होता है, मिथ्यात्व व असंयम को प्राप्त होता है, परिभ्रमण करता है। जो कुछ भी शुभ या अशुभ हो रहा वह कर्म कृत है कर्म ही करता है देता है, हरता है अतः जीव अकारक है। पुरुष से स्त्री की अभिलाषा होती है, स्त्री वेद से पुरुष की इच्छा होती है कर्म से दूसरों को मारता है अथवा मारा जाता है। किन्तु आत्मा तो अपने आपका कर्ता है। माध्यमतानुसारी अमणो का लडन

३०३-३०४

निश्चय व व्यवहारनय की परस्पर सापेक्षता से जैन मत सब घटित हो जाता है

३०६

व्यवहार नय से कार्यादि प्राणों के साथ जीव का अभेद है निश्चय से भेद है। एकांत से न भेद हैं न अभेद है। व्यवहारनय से ही हिंसा है और नरकादि यति है।

३०७

३७१-३७६ दर्शन ज्ञान चारित्र्य ये तीनों इन्द्रियों के अचेतन विषयों में नहीं है, अचेतन कर्म में नहीं है, अचेतन काय में नहीं है, इसलिये इन अचेतन ब्रह्म के घात से इन आत्म गुणों का घात नहीं होता है इसलिये सम्यग्दृष्टि के परब्रह्मों में राग नहीं होता। राग द्वेष मोह ये जीव के अनन्य भाव हैं इसलिये मनोज्ञ अमनोज्ञ पचेन्द्रिय के विषयों में राग नहीं है।

३१०-३११

	जब तक मन मे त्रिगुप्तिरूप स्वस्वेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक यह बहिरात्मा रागद्वेष करता है ।	३१२
	इन्द्रियो के विषय शब्द आदि अचेतन होने से चेतनरूप रागादि की उत्पत्ति मे निश्चय नय से कारण नहीं हो सकते ।	३१२
३७७	अन्य द्रव्यों के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का विधात नहीं किया जा सकता इसलिये सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव से ही उपजते हैं । परेन्द्रियो के विषय शब्दादि रागादि के बहिरंग निमित्त हैं किन्तु जीव स्वरूप चेतन नहीं हो जाते ।	३१३ ३१४
३७७-३८४	जिम प्रकार सुनार कुण्डलादि कर्म तथा हथोडा आदि उपकरणों तथा पारितोषिक आदि फल के साथ तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्म तथा मन वचन काय आदि करणों के साथ और सुख दुःख आदि कर्म फल के माथ तन्मय नहीं होता है यह व्यवहारनय का कथन है किन्तु निश्चयनय से सुनार अपनी चेष्टा से तथा चेष्टा के फल से तन्मय होता है उसी प्रकार जीव भी अपने परिणाम स्वरूप कर्मों से तथा दुःख रूप उनके फल से तन्मय होता है ।	३१५
३८५-३९४	अग्निन कर्ता कर्म निश्चय कथन को तथा भिन्न कर्ताकर्म रूप व्यवहार कथन को सेटिका (खडिया मिट्टी) के दृष्टान्त द्वारा समझाया है ज्ञान आत्मा निश्चयनय से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञायक व दर्शक नहीं हैं । ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं परिणमता यदि ज्ञान ज्ञेयरूप परिणम जावे तो ज्ञान का अभाव हो जायगा ।	३१८-३१९ ३२० ३२०-३२१
	व्यवहारनय मे पर द्रव्य को ज्ञान स्वभाव मे जानना तो है किन्तु तन्मय नहीं होता ।	३२१
	निर्विकल्प ममाधि के द्वारा व्यवहारनय मे पर द्रव्य को छोड़ता है ।	३२१
	व्यवहार मे सर्वज्ञ है निश्चय से सबज्ञ नहीं है ।	३२१
	व्यवहार निश्चय की अपेक्षा भ्रूषा है तथापि व्यवहार रूप से सत्य है ।	३२१
३९५-३९८	पूर्व किये हुए कार्यों से ममत्व रहित होना प्रतिक्रमण है मविष्य मे न करने का दृढ सकल्प करना प्रत्याख्यान है, वर्तमान मे कार्यों से दूर रहना आलोचना है । निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना का कथन शृद्धात्मस्वरूप चरण चरित्रम् ।	३२४ ३२५ ३२५
३९९-४०८	जीव पाच इन्द्रिय और मन के विषयो मे रागद्वेष करता है ।	३२७-३२८

	व्यवहार रत्नत्रयत्मक व्यवहार मोक्षमार्ग नामक व्यवहार कारण समयसार ।	३२६
	अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय कारण समयसार	३२६
	निश्चय कारण समयसार के हुए बिना जीव भ्रमानी है ।	३२६
	रागादि अज्ञान भाव है ।	३३०
४०६-४११	उदयागत कर्म फल को भोगता हुआ जीव कर्म व कर्मफल को अपना लेता है जिसमे वह पुनः घाट कर्मों को बाधता है ।	३३३
	कर्म व कर्मफल चेतना का लक्षण	३३४
	प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना के ४६ भेद	३३४-३४५
	१४८ कर्म प्रकृतियों का मोक्षता आत्मा नहीं है ।	३३५
४१२-४२६	शास्त्र, शब्द, रूप, बर्ण, गंध, रस, स्पर्श कर्म, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, आकाश द्रव्य, अध्वबसान ये सब अचेतन होने से ज्ञान नहीं हैं । जीव सदा जानने से जायक है जानी है । इसलिए ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि, सयम, अग पूर्व, धर्म अधर्म दोला है ।	३३८-३३९
	मिथ्यादृष्टि से क्षोण कषाय बारहवे गुणस्थान तक अपने अपने गुणस्थानों के योग्य शुभ अशुभ व शुद्धोपयोग है वह अशुद्ध निश्चय नय से ज्ञान है ।	३४२
	शुद्धात्मतत्त्व नव पदार्थों से मिश्र है ।	३४२
	निर्विकल्प निर्विकार मति श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण है।	३४२
४२७-४२९	निश्चय से आत्मा अमूर्त है अत आत्मा पर द्रव्य स्वरूप पुद्गलमय मूर्त आहार को ग्रहण नहीं कर सकती और न छोड़सकता है । आत्मा का यह वैलमिक या प्रायोगिक गुण है ।	३४५
	कर्म संयोग जनित को प्रायोगिक कहते है और स्वभाव जन्म को वैलमिक कहते हैं ।	३४६
	कर्म आहार, नोकर्म, आहार, कवलाहार, लेप्पाहार, ओज आहार मानस आहार छह प्रकार का आहार होता है ।	३४६
४३०-४३१	साधुओं के और गृहस्थ के जो शारीरिक अनेक प्रकार के भेषों से मूढ मुक्ति मानते हैं अत केवल बाह्य भेष मुक्ति का कारण नहीं है, रत्नत्रय मोक्षमार्ग है ।	३४८
४३३	सागर व अनगर लिंग का मोह छोड़कर रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिये ।	३४८-३४९
४३४	आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापन कर आत्मा का ध्यान कर अनुभव कर और आत्मा में निरन्तर विहार कर अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।	३५१

- ४३५ नाना प्रकार के पाण्डु लिंगो मे तथा शुद्धस्थ लिंगो मे समत्व करने वाले निश्चय कारण समयसार और कार्य समयसार को नहीं जानते । ३५२
- ४३६ व्यवहार मुनि व श्वावक लिंग को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चय नय इन दोनों लिंगो को मोक्ष माग नहीं मानता । ३५३
- उपर्युक्त ७ गाथाओ मे जो द्रव्यलिंग को हेय बतलाया है वह उपदेश भावलिंग से रहित साधुओ के लिए है । ३५३
- भावलिंग रहित द्रव्य लिंग का निषेध है भावलिंग सहित द्रव्यलिंग का निषेध नहीं है । ३५४
- शरीर के आश्रय से ध्यान व ज्ञान अनुष्ठान होता है ३५४
- चावल बहिरंग तुष रहते हुए अन्तरंग तुष का त्याग नहीं हो सकता ३५४
- ध्यानारूढ साधु पर दुष्टो द्वारा कपडा डाला जाने और आभूषण पहराये जाने पर भी वह साधु निर्बन्ध ही है । ३५४
- भावलिंग सहित द्रव्य लिंग मोक्षमार्ग मे सहकारी कारण है केवल ज्ञान की अपेक्षा छपस्थ का ज्ञान अशुद्ध है किन्तु मिथ्यात्व व रागादि से रहित होने से कथञ्चित् शुद्ध है । ३५४
- एक देश व्यक्ति रूप ज्ञान से सकलदेश व्यक्ति रूप केवलज्ञान उत्पन्न होता है । ३५४
- केवल ज्ञान से पूर्व पारिणामिक भाव व्यक्ति रूप से शुद्ध नहीं है शक्ति रूप से शुद्ध है । ३५४
- वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के होने पर जीवत्व और भव्यत्व पारिणामिक भाव शुद्ध होते हैं । ३५४
- शुद्ध पारिणामिक भाव न बध का कारण है और न मोक्ष का । ३५४
- वीतराग सम्यक्त्व व चारित्र का अविनाशूत भाव श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण है । ३५४
- शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय रूप है ध्यान रूप नहीं है । ३५५
- ४३७ समयमार ग्रथ के पढ़ने का फल । ३५७
- अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप । ३५७
- ममाधिर्य मुनि अतीन्द्रिय सुख को जानते हैं क्योंकि मुक्तात्मा का अतीन्द्रिय सुख अनुमान गम्य है । ३५१
- समयमार चूलिका का उपसंहार । ३५८

स्याद्वाद अधिकार

स्याद्वाद की सिद्धि के लिये वस्तु तत्त्व का विचार तथा उपाय (मोक्षमार्ग) उपेय मोक्ष) का विचार किया गया है ।	३६०
स्याद्वाद का अर्थ ।	३६१
अनेकान्त का अर्थ ।	३६१
स्याद्वाद का स्वरूप ।	३३१
प्राभृत का अर्थ ।	३६१
अध्यात्म का अर्थ ।	३६१
टीकाकार का अन्तिम लाघवप्रदर्शन	३६२

॥ इति ॥





नमः श्रीपरमात्मने ।

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

समयसार अधिकार को सेतु तुल्य उरधार ।

हो पाते हैं भव्यजन सब बारिधि से पार ॥

श्री जयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः (हिन्दी टीका सहित)

वीतराग जिनं नत्वा ज्ञानानन्दकसंपदम् ।

वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥

अर्थ—मैं (जयसेनाचार्य) ज्ञान और आनन्द के अद्वैत (अद्भुत) अपूर्व स्थान और वीतराग विजेन्द्र भगवान को नमस्कार करके समयसार परमागम की तात्पर्य नाम की वृत्ति (टीका) को कहना हूँ ।

तात्पर्यवृत्ति —अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररचिर्णिग्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव-निमित्ते समयसारप्राप्तप्रत्ये अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पाननिकामहतिव्याख्यानं त्रियते । तत्रापी बहिसु सव्वसिद्धे इति नमस्कारगाथायादि कृत्वा सूत्रपाठनमेण प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाघटकं भवति । तदनंतर द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्न-त्रयप्रतिपादनरूपेण बबहारेणुवदिसिद्धि इत्यादिगाथाद्वय । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहारभूतकेवलिव्याख्यानमुद्यत्त्वेन ओ हि सुवेश इत्यादिसूत्रद्वय । अतः पर चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनायै तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च पाणह्यभावरणा इत्यादिसूत्रद्वय । तदनंतर पंचमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण बबहारेणुवदिसिद्धि इत्यादिसूत्रद्वय । एव चतुर्दशगाथाभि स्थलपञ्चकेन समयसारपीठिकाव्याख्यानं समुदायपातनिका । तथा—अथ प्रथमनशावद्गाथाया पूर्वाद्धेन मगलायमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तराद्धेन तु समयनारायणव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

टीका —अथ शुद्ध परमात्म तत्त्व के प्रतिपादन को मुख्य लेकर विस्तार में रचि रखने वाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के वनाये हुये समयसार प्राप्त प्रत्ये अधिकार की शुद्धि-पूर्वक पातनिका (पीठिका) सहित व्याख्यान किया जा रहा है । वहा पर सबसे पहले “वदितुं सव्वसिद्धे” इस प्रकार नमस्कार गाथा को आरम्भ में लेकर सूत्रपाठ के क्रम से पहले स्थल में छह स्वतन्त्र गाथाये है । इसके आगे द्वितीय स्थल में भेदाभेदरत्नत्रय का प्रतिपादन करते हुए “बबहारेणुवदिसिद्धि”

इत्यादि दो गाथाये है । फिर तीसरे स्थल मे निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान की मुख्यता से “जा हि मुदेण” इत्यादि दो गाथाये है । इसके आगे चाये स्थल मे भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के लिये और उस भावना से फल को वणन करने के लिये “गागाम्हि भावणा” इत्यादि दो सूत्र है । इसके आगे पाचवे स्थल मे निश्चय व्यवहार नामक दोनो नयो का व्याख्यान करते हुए “व्यवहारो भूदत्थो” इत्यादि दो गाथाये है । इस प्रकार पाच स्थलो मे चाँदह गाथाओ के द्वारा समयसार ग्रन्थ की पीठिका का व्याख्यान करने मे समुदाय पातनिका है ।

अब सबसे प्रथम भगवान् कुन्दकुन्द गाथा के पूर्वार्द्ध मे मगल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करके उत्तरार्द्ध मे समयसार के व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय मनमे धरकर पहला सूत्र कहते हैं—

वदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवम गदि पत्ते ।

वोँच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

वदित्वा सर्वसिद्धान्, ध्रुवामलामनुपमा गतिं प्राप्ताम् ।

वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदमहो श्रुतकेवलिमणित् ॥१॥

अर्थ—प्रविनाशी निमन और उपमा रहित गति मे विराजमान सब विद्वो को नमस्कार करके, भगवन्जीवो ! मैं श्रुतकेवलियो द्वारा वणन किया हुये समयसार ग्रन्थ का कहूँगा ॥१॥

तात्पर्यवृत्ति वदित्तु इत्यादि पदमण्डनारूपेणा व्याख्यानं त्रियते । **वदित्तु** निश्चयनयेत् इति मन्नेयम् । आराधक-भावरूपेण निविकल्पगमाविलक्षणो भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्वयनमस्कारेण वैदश्यात् **सव्वसिद्धे** स्वस्मिन्निर्दिष्टसिद्धिप्रशङ्गात् । **विगिण्टात् पत्ते** प्राप्तात् का गतिं गिद्वगतिं सिद्धिपरिणति । कथंभूता **धुव** टकोटोत्तरोत्तारोऽस्वभावत्वेन ध्रुवामवित्तवती । **अमल** भावकमद्वयमनाकर्मसरहितत्वेन शुद्धस्वभावपरहितत्वेन च निमलः । प्रथमा **अमल** इति पाठान्तरे द्वयसेवादिपञ्चप्रकारमप्यभ्युपगम्यते । एव पूर्वार्द्धेन नमस्कारकृत्वा परार्द्धेन मन्त्राभिधेयप्रयोजनसूचनाय प्रतिज्ञा करोति । वक्ष्यामि किं **समयपाहुड** समयप्राभृत सम्यक् प्रय बोधो यस्य स भवति आत्मा । प्रथमा सम एकीभावेनायनगमन समयः । प्राभृत सार सार शुद्धावस्था । समयस्यायनं प्राभृत समयप्राभृत अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृत । इहा इदं प्रत्यक्षीभूत ओ अहो भव्या कथंभूत **सुवकेवली-भणिदं** प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्ददोषत्व । श्रुते परमागम केवलिमि सर्वज्ञमणि श्रुतकेवलिमणि । अथवा श्रुतकेवलिमणि गणधरेदेवकथितमिति । सव्वसिद्धेयप्रयोजनमिति कथ्यते । व्याख्यानं वृत्तिप्रथं व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति । तयोऽन्वयस्य व्याख्यानव्याख्येयसव्व । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयं तयोऽन्वयस्य व्याख्यानव्याख्येय-सव्व । निविकारस्वस्वेदमज्ञानेन शुद्धात्मपरिरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥१॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमय-परार्द्धेन परमसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि सप्रधार्यं सूत्रमिदं निरूपयति—

अब पदच्छेद करके अर्थ किया जाता है —

टीका—(वदित्तु) निश्चय नय से तो अपने आप मे ही आराध्य आराधक भाव को स्वीकार करने रूप निविकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव नमस्कार के द्वारा और व्यवहाररूप से वचनात्मक द्वय नमस्कार के द्वारा बदना करके किनको (सव्वसिद्धे) स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिसका

ऐसे सम्पूर्ण सिद्धो को (गदं पते) जो सिद्ध गति को प्राप्त हो गये हैं। (ध्रुवम्) जो सिद्धगति टको-त्कीर्ण एक शायक स्वभावस्वरूप से अद्विष्ट है या अधिनस्वर है (अमलम्) भावकर्म द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित होने के कारण तथा शुद्ध स्वभाव सहित होने से निर्मल है अथवा (अचलम्) द्रव्य क्षेत्र कालादि पञ्च प्रकार ससार परिभ्रमण से रहित होने तथा अपने स्वरूप में निश्चल होने से चलपने से रहित है। (अणोवम) ससार में कोई भी उपमा नहीं होने से वह उपमा रहित है, ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार गाथा के पूर्वाङ्क से सिद्धो को नमस्कार करके व उत्तराङ्क से सबधाभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिये प्रतिज्ञा करते हैं कि (वोच्छामि) कहूँगा (समय पाहुड) समय प्राभृत ग्रन्थ के—सम्यक्—समीचीन अय-बोध, ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा। अथवा समम्—एकीभावेना यनम्—गमन 'समय' अर्थात् एकमेकरूप से जो गमन उसका नाम समय, प्राभृत अर्थात् सार—शुद्धा-वस्था, इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुवा समय प्राभृत। अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समय प्राभृत। (इण ओ) अहो भव्यो! वह समय प्राभृत हमारे सामने है। (मुय केवली भणिय) प्राकृत भाषा के नियम अनुसार केवली शब्द दोष है। श्रुत में—परमागम में जो केवली है अर्थात् सर्वज्ञ है उनके द्वारा कहा गया है अथवा श्रुतकेवली जो गगधर देव उनसे कहा गया है।

अब सबध अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं—व्याख्यान तो वृत्ति ग्रन्थ (टीका) व्याख्येय—व्याख्यान के प्रतिपादक सूत्र, इन दोनों का सबध है वह व्याख्यान व्याख्येय सबध है। सूत्र तो वाचक हैं और सूत्र का अभिधेय-वाच्य है इन दोनों का सबध 'अभिधान अभिधेय' सबध है। निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना रूप जो प्राप्ति वही इसका प्रयोजन है ॥१॥

विशेषार्थ—इसमें आचार्य देव ने आराध्य आराधक भाव को उपयोगिता, वाणी की प्रामाणिकता और अपने आपका ग्रन्थकर्तृत्व ये तीन बात बताई है। आराधक तो हम लोग ससारी छद्मस्थ है और आराध्य श्री सिद्ध भगवान है। उनकी आराधना करके हम लोग अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं। आराधना दो प्रकार की है (१) व्यवहार आराधना (२) निश्चय आराधना। वचन विकल्पात्मक व्यवहार आराधना है और त्रिविकल्प समाधि में तन्मय होकर शुद्धात्मा का ध्यान करना निश्चय आराधना है। छद्मे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना होती है और सातवे से आगे निश्चय आराधना है। इन दोनों प्रकार की आराधनाओं के द्वारा छद्मस्थ आत्माये अपने पूर्वोपाजित कर्मों को क्रमशः डीला करते हुये नष्ट कर देते हैं।

वाणी की सार्थकता—भगवान अहंनन्देव की वाणी अथवा द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली गगधरादिक की वाणी प्रमाणभूत होती है जिसका संबंध इस ग्रन्थ से है और जिसके द्वारा हम सरीखे ससारी आत्माओं का भला होता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य देव हैं जिनकी प्रामाणिकता को लेकर हम लागो की इस ग्रन्थ के पढ़ने में अभिरुचि हाती है।

आगे गाथा के पूर्वाङ्क से स्वमय और उत्तराङ्क में परमय को कहता है ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्य देव आगे का सूत्र बहने है —

जीवो चरितदंसणणाणट्टिउ तं हि ससमयं जाण ।

पुगलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥

जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि ।

पुद्गलकर्मप्रवेशस्थितं च तं जानीहि परसमय ॥२॥

अर्थ—ममय शब्द का अर्थ ऊपर जीव बताया गया है वह मूल में दो प्रकार है एक स्वसमय और दूसरा पर समय । जो दशन, ज्ञान और चारित्र्य में स्थित होकर (तद्रूप बनकर) रहता है वह स्वसमय (मुक्त जीव) है व जो पौद्गलिक कम प्रदेशों में स्थित होकर रहता है वह पर समय (ससारी जीव) है ।

तात्पर्यवृत्ति—जीवों चरित इत्यादि—जीवों शुद्ध निश्चयने शुद्धबुद्धिकस्वभावनिश्चयप्राप्तेन तथैवाशुद्ध निश्चयने क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राप्तेरसद्भूतव्यवहारेण यथामभवद्रव्यप्राप्तेरुच जीवति जीगिष्यति जीवितपूर्वो वा जीव । **चरितदसराणाण्डिव त हि ससमय जाण** स च जीवश्चरितदशनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीव हि स्फुट स्वसमय जानीहि । तथा हि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मनि यद्रूपचिरूप सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसमवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूप बीतरागचारित्र्यमित्युक्तनख्येन निश्चयरत्नत्रयेण परिणत-जीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमय जानीहि । **पुगलकम्मपदेसट्ठिव च त जाण परसमय** पुद्गलकर्मोपदेशस्थित च तमेव जानीहि परसमय । तत्राथा—पुद्गलनकर्मदियेन जनिता ये नारकाद्युपदेशाव्यापदेशा सजा पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा त जीव परसमय जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञानव्य ॥२॥ **अथ स्वगुरुकस्व-** निश्चयनशुद्धार्थोपादेय नमवधेन सहैकत्वगतो हेय इति । अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मन स्वरूप न पुन परसमय इत्यभिप्राय मनसि धृत्वा । अथवाप्य भूयस्यानंतरभूतमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितभूय प्रतिपादयतीति पातनिका लक्षणं सर्वत्र जातव्य ।

टीका—(जीवों) जो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव रूप निश्चय प्राप्ते के द्वारा तथा अशुद्ध निश्चयनय से क्षयोपशमिकरूप अशुद्ध भाव प्राप्ते द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से यथा सभव द्रव्य प्राप्ते द्वारा जो जी रहा है, प्राप्ते जीता रहेगा और जो पूर्व में जीया था वह जीव है । (चरित दसराणाण्डिव त हि स समय जाण) वह जीव जब चारित्र्य दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस समय में उसे स्वसमय समझो । अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रहित रूप स्वसमदर्शन और उसी में रागादि रहित स्वसवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूतिरूप बीतराग चारित्र्य इस प्रकार कहे गये लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीव पदार्थ को हे शिष्य । त स्वसमय समझ । (पुगलकम्मपदेसट्ठिव च त जाण पर समय) पुद्गल प्रदेशों में स्थित उसी जीव को तू पर समय समझ । अर्थात् पुद्गल कर्मोदय के द्वारा उत्पन्न हुए जो नारकादि नामवाली सजायें हैं उनमें पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय न होने से जो स्थित है उसे उस काल में परसमय समझो । इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानने योग्य है ॥६॥

विशेषार्थ—यह उपर्युक्त लक्ष तो तात्पर्यवृत्तिकार का है, आत्मरूप्याति में भी यही लिखा है कि जब यह सर्व पदार्थों के स्वभाव के प्रकाश करने में समर्थ ऐसे केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेद ज्ञान ज्योति के उदय होने से सब पर द्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्म तत्त्व से एक रूप हाकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन ज्ञान चारित्र्य में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय है । और जब अनादि अविद्या रूप मूल वाले कद के समान मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्ति रूप आत्मस्वरूप से छूट पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह रागद्वेषादि भावों में एक रूप होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल के कार्माण प्रदेशों में स्थित होने से पर द्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा परिणमन करता है तब पर समय है ।

उत्थानिका—अब अपने गुणों के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त हुआ ऐसा शुद्धात्मा ही ^१स्वसमय है और कर्मवश के साथ एकमेक हुआ आत्मा हेय है । अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप

नहीं है इस प्रमिप्राय को मन में धरकर इस सूत्र के पश्चात् इसी सूत्र की आवश्यकता है ऐसा निश्चयकर विवक्षित सूत्र कहते हैं इस प्रकार की उत्पत्तिका सर्वत्र जानना चाहिये—

एयत्तजिच्छयगदो समग्रो सव्वत्थ सुंदरो लोए ।

बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके ।

बंधकर्षकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥३॥

अर्थ—जो जीव एकत्व के साथ निश्चितरूप से एक होकर रहता है वह इस ससार में सब ठीक सुन्दर है अर्थात् सबको सुहावना है । किन्तु इसीके साथ उस एकत्व में बंध की कथा विसंवाद करने वाली है (अर्थात् एकाकीपन में बंध कभी समझ ही नहीं है, बंध सदा दो में होता है) ॥३॥

सात्पर्यवृत्ति—एयत्तजिच्छयगदो स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्व निश्चयगत समग्रो समयगदोनात्मा, कस्माद्धेतो सम्यगयते गच्छति परिणमति कां स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्ते । सव्वत्थसुंदरो सर्वत्र समीचीन वच लोके भवता सर्वत्र केंद्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेत सुन्दर उपादेय इति । बंधकहा कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्याया । एयत्त एकत्वे तन्मयत्वे वा बंधकथा प्रवर्तते तेण तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा विसंवादिणी विसंवादिनी कोषं विसंवादिनी विसंवादिनीकथा प्राकृतलक्षणवलात् पुल्लिगे स्त्रीलिङ्गनिर्देशे ॥ विसंवादिनी भवत्या होदि भवति । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूप न भवतीत्यर्थ । तत स्थित स्वसमयएवात्मन स्वरूपमिति ॥३॥ अर्थकत्वपरिणत शुद्धात्मस्वरूप सुलभ न भवतीत्याख्याति—

टीका—(एयत्तजिच्छयगदो) अपने ही शुद्ध गुण और पर्यायो में परिणमता हुआ अथवा अभेद रत्नत्रय में परिणमता हुआ एकता के निश्चय में प्राप्त हुआ (समग्रो) यह आत्मा (समय शब्द से आत्मा लेना योग्य है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सम्यक् अयते गच्छति परिणमति कां स्वकीय गुण पर्यायान्' अर्थात् जो भले प्रकार अपने ही गुण और पर्यायो को परिणामन करे सो समय अर्थात् आत्मा) (सव्वत्थ सुन्दरो) सब ही ठिकाने सब को सुहावना है (लोके) इस ससार में—सब ही एकेंद्रियादि अवस्थाओं में—शुद्ध निश्चयनय से सुन्दर है उपादेय है । (बंध कहा) किन्तु कर्म बंध से होने वाली गुणस्थानादिरूप पर्यायो से (एयत्ते) तन्मय होकर रहने में बंध कथा प्रवर्तते है (तेण) पूर्वोक्त जीव पदार्थ के साथ (विसंवादिणी) विसंवाद पैदा करने वाली अर्थात् गड़बड़ पैदा करने वाली (होदि) होती है वह असत्य है अर्थात् प्रशंसा योग्य नहीं है क्योंकि वह शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकती इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है ॥३॥

विशेषार्थ—यहां आचार्यदेव ने बताया है कि सारी आत्मा के साथ कर्मों का बंध है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता । इसकी कथा यहाँ न करके यहां तो आत्मा के शुद्ध स्वरूपकी कथा की जा रही है ।

अथ एकाकीपन को प्राप्त हुये शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुलभ नहीं है ऐसा कहते हैं —

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वत्थ वि कामभोगबंधकहा ।

एयत्तस्सुवल्लभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ॥४॥

॥ एतन्मते 'विसंवादिनी' पुल्लिग एव पाठ ।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।

एकत्वस्थोपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

अर्थ—काम बंध और भोग की कथा तो सबही जीवों के सुनने में भी आई है, परिचय में भी आई है तथा अनुभव में भी आई है किन्तु सबसे पृथक् होकर केवल एकाकी होने की बात सुलभ नहीं है ॥४॥

तात्पर्यवृत्ति—सुदपरिचिदाणुभूता इत्यादि । सुदा श्रुता अनन्तशो भवति । परिचिदा परिचिता सा पूर्वमनन्तशो भवति । अणुभूदा अनुभूतानन्तशो भवति कस्य सव्वस्स वि सर्वस्यापि जीवलोकास्य । कासो कामभोगबंधकथा कामरूपभोगा कामभोगा अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रिय भोगशब्देन घ्राणचक्षु श्रोत्रत्रय तथा कामभोगाना बंध सबंधस्तस्य कथा । अथवा बंधशब्देन प्रकृतिमित्यनुभागप्रदेशबंधस्तत्फल च नरनारकादिरूप भण्यते । कामभोगबंधाना कथा कामभोगबंध कथा यत् पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किंतु सुलभैव । एयत्तस्स एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसवेष्टशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य उबलभो उपलभ प्राप्तिर्लभ एवमिदं केवल अथवा नवमि किंतु ए सुलभो नैव सुलभ कथंभूतस्यैकत्वस्य विभक्तस्य विभक्तस्य रागादिरहितस्य । कथं न सुलभ इति चेत् श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥४॥ अथ यस्मादेकत्व सुलभ न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते—

टीका—(सुदा) अनन्तवार सुनी गई (परिचिदा) अनन्तवार परिचय में आई है (अणुभूदा) अनन्त ही बार अनुभव में भी आई है (सव्वस्स वि) सब ही सारी जीवों के (काम भोग बंध कथा) काम शब्द से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत इन्द्रिय के विषय लिए गये हैं । उनके बंध या सबंध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिती, अनुभाग और प्रदेश बंध एवं उसका फल नरनारकादिरूप लिया जा सकता है, इस प्रकार काम भोग और बंध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत परिचित और अनुभूत है इसलिए दुर्लभ नहीं है किन्तु सुलभ है । (एयत्तस्स) परन्तु एकत्व का अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणामन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में अपने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उस एकत्व का (उपलभो) उपलब्ध संप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले आना (एवमि) वह केवल (ए सुलभो) सुलभ नहीं है (विहत्तस्स) कैसे एकत्व का ? रागादिसे रहित एकत्व का । क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया है ॥४॥

वह सुलभ नहीं है इसलिए उसका कथन आगे किया जा रहा है—

तं एयत्तविभक्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।

जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घित्तव्वं ॥५॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।

यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलितं छलं न गृहीतव्यं ॥५॥

अर्थ—(कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि) मैं अपने आपके ज्ञान ज्ञान से उस एकत्व विभक्त का वर्णन शुद्धात्मा का वर्णन कर बनलाऊंगा । यदि मैं बनला सऊ तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं कुछ फाट तो छल ग्रहण नहीं करना ॥५॥

तात्पर्यवृत्ति—सं तत्पूर्वोक्तं एतत्तद्विभक्त एकत्वविभक्त अभेदरत्नत्रयैकपरिणत मिथ्यात्वागादिरहित परमात्मस्वरूपमित्यर्थः । बाएहं दर्शयेह केन अप्पणो सविहवेष आत्मन स्वकीयमिति विभवेन आगमतर्कपरगुरु-पदेशस्वसवेदनप्रत्यक्षेणेति । जदि बाएज्ज यदि दर्शयेय तदा पमाणं स्वसवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं भवद्भि चुक्किज्ज यदि च्युतो भवामि छल न धित्तव्व तहि छल न ग्राह्य दुर्जनवदिति ॥५॥ अथ कांय शुद्धात्मेति प्रष्टुं प्रत्युक्तं ददाति—

टीका—(त एतत्त विहत्त) उस पूर्वोक्त एकत्व विभक्त शुद्धात्माका जो कि अभेद रत्नत्रय के साथ एकमेक होकर रहता है एव मिथ्यात्व तथा रागादिसे रहित है ऐसे परमात्मा के स्वरूपको (बाएह) दिखलाता हूँ (अप्पणो सविहवण) अपने आप को ब्रुद्धि के बन्धन से अर्थात् आगम तर्क और परम गुरुओं के उपदेश के साथ साथ हाने वाले स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा । (जदि बाएज्ज) यदि बतला सकू तो (पमाण) अपने स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा तोलकर हे भण्यो ! आप लोग उसे स्वीकार करना । (चुक्किज्ज) यदि भूल जाऊ तो (छल न धेत्तव्व) दुर्जन के समान उलटा अभिप्राय नहीं ग्रहण कर लेना ॥५॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इस गाथा में यह बात कही है कि भल आदमी को जो भी बात कहना हो वह आगम परम्परा, युक्ति का बल और परम गुरुओं के आदेश व उपदेश के साथ अपने भी विचार में अच्छी प्रकार तोलकर बहना चाहिए ।

अथ शुद्धात्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणमो दु जो भावो ।

एव भणति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।

एवं मर्याति शुद्धा जाता यः स तु स चैव ॥६॥

अर्थ—जो प्रमत्त और अप्रमत्त २० दोनो अवस्थाओं से ऊपर उठकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुये है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते हैं ॥६॥

तात्पर्यवृत्ति—णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्धाधिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्ता प्रमत्ताश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्याश्रद्धादिप्रमत्तानानि पदगुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्योग्य-तात्पर्यशुद्धगुणस्थानानि शुद्ध्यन्ते । स क कर्ता जाणमो दु जो भावो ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भाव पदार्थ शुद्धात्मा । एव भणति सुद्धा शुद्धनयावलम्बित, नहि किं नवति एणादा जो सो दु सो चेव जाता शुद्धात्मा य कथ्यते स तु स चैव जातवैत्यर्थः ॥६॥ इति स्वतन्त्रगाथापटकेन प्रथमस्थलं गत । अथानन्तर यथाप्रमत्तादिगुणस्थानविनष्टत्वा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यते शुद्धद्रव्याधिकनिश्चयेन न विद्यते तथा दशनज्ञानचारित्र्यविकल्पोपीत्युपदिशति—

टीका—(णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो) शुद्ध द्रव्याधिक नय से जिसमें शुभ और अशुभ रूप परिणामन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है । यहा पर प्रमत्त शब्द से मिथ्याश्रद्धादि गुणस्थान से लेकर प्रमत्त विरत शुणस्थान तक ६ गुणस्थान और अप्रमत्ता शब्द से अप्रमत्तादि अयोग केवली पर्यन्त ८ गुण स्थान समझने चाहिए इनसे जो अतीत है (जाणमो दु जो भावो) वह केवल ज्ञायक भाव को प्राप्त हुआ ही शुद्धात्मा है । (एव भणति सुद्धा) ऐसा शुद्ध नय के जानने वाले कहते हैं (एणादा जो सो दु सो चेव) कि उसे जाना कहो या शुद्धात्मा कहा एक बात है ॥६॥

आगे कहते हैं कि जीव के प्रमत्तादिगुणस्थानो का विकल्प व्यवहार से है, शुद्ध द्रव्याधिक निश्चयनय से नहीं उमो प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र का भी विकल्प जानना —

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चारित्रं दर्शनं ज्ञानं ।

नापि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

अर्थ—व्यवहार नाम अभेद में भेद कर बताने का है । इसके द्वारा ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान चारित्र पृथक् पृथक् बताये जाते हैं । किन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र कोई पृथक् २ न होकर उन सबसे समाविष्ट एक केवल ज्ञायक शुद्धात्मा ही है ॥७॥

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारेण सद्भूतव्यवहारनयन उवदिस्सदि उपदिश्यते कथ्यते । कस्य णाणिस्स ज्ञानिनो जीवस्य । किं चरित्तदसरा णाण चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूप । णवि णाणं ण चरित्तं ए दंसणं शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं । तर्हि किमस्तीति चेत् जाणगो ज्ञायक शुद्धचैतन्यस्वभाव । सुद्धो शुद्ध एव रागादिरहित इति । अयमन्वर्थ — यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणान्तरिक एव पञ्चाङ्गदेवरूपव्यवहारेण दहतीति दाहक पचतीति पाचक पकाणं करोतीति प्रसाणक इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते । तथा जीवोपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्य-रूपापि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥७॥ अथ यदि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न सति तर्हि परमायां वैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तत्र—

टीका—(व्यवहारेण) सद्भूत व्यवहारनय से (उवदिस्सदि) कहा जाता है (णाणिस्स) कि ज्ञानी जीव के (चरित्त दंसण णाण) चारित्र, दर्शन और ज्ञान है जो कि उसके स्वरूप में है । किन्तु (ए) वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं शुद्ध निश्चय नय से तो न ज्ञान है न चारित्र है और न दर्शन है । तो फिर क्या है ? कि (जाणगो) ज्ञायक मात्र है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव है (सुद्धो) जो कि रागादि रहित शुद्ध है सार यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहार के द्वारा जो दहती अर्थात् जलाती है वह दाहक, पचति अर्थात् पचाती है वह पाचक, जो प्रकाश करती है वह प्रकाशक इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वही अग्नि तीन प्रकार भिन्न भिन्न कर बतलाई जाती है, वैसे ही जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो आचरण करना है वह चारित्र इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा विषय भेद से वह जीव तीन प्रकार भिन्न भिन्न कहा जाता है ॥७॥

विशेषार्थ—यहां गाथा न २ में बताया गया था कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है अर्थात् शुद्ध आत्मा है एकत्व विभक्त है, इस कथन को लेकर शिष्य के मन में जिज्ञासा पैदा हुई कि आपके बताने में ही दर्शन ज्ञान चारित्र के द्वारा उसमें भेद है । इस शका के निवारण करने के लिए आचार्य देव ने यहां बतलाया है कि वास्तव में तो आत्मा अनतगुणो का अखण्ड पिंड एक ज्ञायक मात्र है । इसमें जो दर्शन ज्ञान और चारित्र को भिन्न भिन्न कर बतलाया गया है वह सद्भूत व्यवहारनय से बतलाया गया है । सद्भूत व्यवहारनय का काम है कि जो गुण गुणों के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न भिन्न कर बतलाये ।

अब निष्पत्ति कहता है कि जब शुद्ध निश्चय नय से दर्शन ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से मिश्र नहीं हो तो फिर उन्हें मिश्र २ कथो कहा जाता है एक परमार्थ रूप अलम्ब आत्मा का ही बलान करना चाहिए, व्यवहार की (भेद करने की) आवश्यकता ही क्या है इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेवुं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुं ।

तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यं ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी घनाय (घनाडी) पुरुष को उसकी भाषा में बोलें बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के बिना नहीं हो सकता अर्थात् परमार्थ को समझने समझाने के लिए व्यवहार नय का अवलंबन लिया जाता है ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति—जह णवि सक्क यथा न शक्य कोसो अणज्जो अनार्यो म्लेच्छ । किं कर्तुं गाहेवु अर्थ-ग्रहरूपेण संबोधयितु । कथं अणज्जभासं विणा अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा ता विना । दृष्टातो गत । इदानीं दाष्टीतमाह—तह तथा व्यवहारेण विणा व्यवहारनय विना परमत्थुवदेसणमसक्क परमार्थोपदेशन कर्तुं मशक्य इति । अयमत्राभिप्राय । यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपत्न्या गत तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति मणिते स्वरत्ययमविनश्वरत्वमज्ञानन्स्य निरीक्ष्यते मेघ इव । तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेतिमणिते सत्यात्मशब्दस्यायमज्ञानन्स्य आत्मा निरीक्ष्यत एव । यदा पुननिश्चयव्यवहारजपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यायं इति कथ्यते तदा सतुष्टो भूत्वा जानातीति । एव भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीय स्थल गत ॥८॥ अथ पूर्वगाथाया अणितव्यवहारेण परमार्थो जायते ततस्तमेवार्थं कथयति—

टीका.—(जहअणज्जो) जैसे कि अनार्य पुरुष को (अणज्जभासं विणा) अनार्य भाषा या म्लेच्छ भाषा में बोलें बिना (गाहेवु णविसक्क) अथ ग्रहण नहीं कराया जा सकता । यह तो दृष्टांत हुआ, अब दाष्टीत पर आते हैं । (तह व्यवहारेण विणा) उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना (परमत्थुवदेसणमसक्क) परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता । यहा यह अभिप्राय है कि कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छो को बस्ती में चला गया, वहा किसी म्लेच्छ ने जब उन्हें नमस्कार किया तब उस ब्राह्मण या यति ने उसे 'स्वस्ति' इस प्रकार आशीर्वाद दिया तो 'स्वस्ति' का अर्थ जो "नहीं नष्ट होना है" उसको नहीं जानने के कारण वह मेढे के समान इधर उधर देखता है कि ये क्या कह रहे हैं उसी प्रकार यह अज्ञानी (व्यवहारी) प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर आत्मा शब्द का क्या अर्थ है इसको न जानता हुआ भ्रम में पडकर इधर उधर देखने लगता है कि ये क्या कह रहे हैं । किन्तु जब किसी निश्चय और व्यवहार इन दोनों के अर्थ को जानने वाले पुरुष से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है ऐसा समझाया जाने पर वह सतुष्ट होकर समझ जाता है ॥८॥

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा भेद अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहा व्यवहार नय की उपयोगिता बतलाई है कि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन नहीं किया जा सकता और न उसे समझाया जा सकता है । अत निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है । इसके साथ यह भी बतलाया है कि उस व्यवहार नय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि है जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के तत्त्व को जानने वाले हैं ।

अब जैसा पूर्व गाथा से कहा गया है कि व्यवहार नय के बिना परमार्थ नहीं जाना जा सकता है उसी के अर्थ को हृद करने के लिए कहते हैं—

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्ध ।

तं सुदकेवलमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ ६ ॥

जो सुदणाण सव्व जाणदि सुदकेवलं तमाहु जिणा ।

णाण अप्पा सव्वं जह्या सुदकेवली तह्या ॥ १० ॥

यो हि श्रतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवल शुद्ध ।

तं श्रुतकेवलिनमूषयो भणति लोकप्रदीपकरा ॥ ६ ॥

यः श्रुतज्ञान सर्वजानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुजिना ।

ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अर्थ—जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा का अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं। और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान् द्रव्य श्रुतकेवली कहते हैं ॥६-१०॥

तात्पर्यवृत्ति—जो य कर्त्ता हि एकुट सुदेण भावश्रुतेन स्वसवेदनज्ञानेन निर्विकल्पममाधिना करणभूतेन अभिगच्छदि अस्मि समताज्ज्ञानात्यनुभवति क अप्पाण आत्मान इणं इम प्रत्यक्षीभूत तु पुन कि विणिट्ट केवल अगहाय सुद्ध रागादिरहित त पुरुष सुदकेवल निश्चयश्रुतकेवलिन इसिणो परम ऋषय भणति कथयति लोगप्पदीवयरा लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिनवत्तम् । अथ जो सुदणाण मित्थादि जो य कर्त्ता सुदणाण द्वादशांगद्रव्यश्रुत सव्व सर्वं परिपूर्ण जाणदि जानाति सुदकेवल व्यवहार-श्रुतकेवलिन तमाहुजिना त पुरुष आहु ब्रुवति के ते जिना सर्वज्ञा । यस्मादिनि चेत् जह्या यस्मात्कारणात् सुदणाण द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्न भावश्रुतज्ञान आद्या आत्मा भवति कथंभूत सव्व आत्मसवित्तिविषय परपरिच्छिन्ति विषय वा तह्या तस्मात्कारणात् सुदकेवली द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति । अयमनार्थ-यो भावश्रुतरूपेण स्वसवेदन ज्ञानेनगुद्धात्मान जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति । यस्तु स्वगुद्धात्मान न सवेदयति न भावयति बहिर्विषयद्रव्यश्रुतार्थ जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति । ननु तर्हि स्वसवेदनज्ञानवलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति तन्न यादृश पूर्वपुरुषाणा शुक्लध्यानरूपस्वसवेदनज्ञान तादृशमिदानी नास्ति त्रितु घम्भध्यान योग्यमस्तीत्यर्थ । एव निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिनव्याख्यानरूपण गाथाद्वयन तृतीयस्थल गतः ॥ ६-१०॥ अथ गाथाया पूर्वाद्धिन भेदरत्ननय-भावनामुत्तराद्धेनाभेदरत्नयभावना च प्रतियादयति—

टीका—(जोहि सुदेणहिगच्छदि) जो जीव (कर्त्ता) करणता को प्राप्त हुये निर्विकल्प समाधि रूप स्वसवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है (इण अप्पाण) इस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को (केवल) सहाय रहित (सुद्ध) रागादि से रहित अनुभव में लाता है (त सुद केवल) उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली (भणति) कहते हैं। कौन कहते हैं ? (लोगप्प-दीवयरा इसिणो) लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषि कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया । (जो सुदणाण) किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य श्रुत ज्ञान को (सव्व) परिपूर्ण रूप (जाणदि) जानता है (त) उमे (जिणा) जिन भगवान् (सुदकेवल आहु) द्रव्य श्रुतकेवली

कहते हैं । (जम्हा) क्योंकि (मुदणाण) द्रव्य श्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह (आदा) आत्मा ही है (सव्व) जो कि आत्मा की सच्चित्त को विषय करनेवाला और परकी परिच्छित्त को विषय करने वाला होता है (तम्हा) इसलिए (मुदकेवली) वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भाव भावश्रुत रूप स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली होता है किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है, केवल बहिर्विषयक द्रव्य श्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है ।

इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि फिर तो स्वसवेदनज्ञान के बस से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या ? इसका समाधान यह है कि नहीं हो सकता क्योंकि जैसा शुक्ल ध्यानात्मक स्वसवेदनज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वंसा इस समय नहीं होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्मध्यान होता है ।

इस पर प्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ ॥११०॥

अब पूर्वोद्धे से भेद रत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना का वर्णन करते हैं—

***णाणहि भावणा खलु कादब्बा दंसणे चरित्ते य ।**

ते पुण तिण्णिवि आदा तस्मा कुण भावणं आवे ॥११॥

ज्ञाने भावना खलु कर्त्तव्या दर्शने चारित्रे च ।

तानि पुनः त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावना आत्मनि ॥११॥

अर्थ—ज्ञान में दर्शन में और चारित्र में दृढ़ता से भावना करनी चाहिए किन्तु ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं इसलिए आत्मा की भावना बार बार करनी चाहिए ॥११॥

तात्पर्यवृत्ति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यभावना खलु स्फुट कर्त्तव्या भवति । पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यत कारणात् तस्मात् कुरु भावना शुद्धात्मनीति ॥११॥ अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफल दर्शयति—

टीका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का पुन २ अनुचिन्तन अवश्य स्पष्टरूप से करते रहना चाहिए । किन्तु निश्चयनय से ये तीनों आत्म स्वरूप ही हैं इसलिए फिर शुद्धात्मा की भावना भी है भव्य । अवश्य करना चाहिए ।

अब इस भेदाभेद रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं—

***जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।**

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥

यः आत्मभावनामिमां नित्योद्धतः मुनिः समाचरति ।

सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है ।

* यह गाथा आत्माध्यायति से नहीं है ।

तात्पर्यवृत्ति—य कर्ता प्राप्तमावनाभिमा नित्योद्यत सन् मुनि तपोधन समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वं तु लमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण स्तोकाकालेनेत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्याकरणेन गाथाद्वयेन चतुर्थस्थल गतः । अथ यथा कोपि ब्राह्मणादिविशिष्टोजनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषा ब्रूते न च शेषकाले तस्यैव ज्ञानिपुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले ॥१२॥ कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति—

टीका—इस तात्पर्यवृत्ति का अर्थ मूल गाथा में आचुका है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हुए दो गाथाओं के द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई ब्राह्मण आदि विशिष्ट पुरुष म्लेच्छों को समझाने के समय में ही म्लेच्छ भाषा को बोला करता है अन्य काल में नहीं उस प्रकार ज्ञानी (सयत) पुरुष भी अज्ञानी (असयत) पुरुषों को प्रतिबोध देने के समय में ही व्यवहार का आश्रय लेता है और काल में नहीं, क्योंकि व्यवहार अभूतार्थ होता है ऐसा बतलाते हैं—

व्यवहारोऽभूतस्यो भूतस्यो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूतस्यमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥१३॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दशितस्तु शुद्धनयः ।

भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ १३ ॥

अर्थ—व्यवहारऽनय अभूतार्थ है अर्थात् विवेकता को दृष्टि में रखकर विषमता को पंदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपना कर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है ।

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारो व्यवहारनय अभूतस्यो अभूतार्थ असत्यार्थो भवति । भूतस्यो भूतार्थ सत्यार्थ देसिदो देशित कथितं तु पुन कोसो सुद्धणओ शुद्धनय निश्चयनय । तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत् भूतस्य भूतार्थ सत्यार्थ निश्चयनय अस्सिदो आश्रितो गत स्थितः । खलु स्फुटं सम्मादिट्ठी हवइ जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यान । द्वितीयश्लाघ्यानेन पुन व्यवहारो अभूतस्यो व्यवहारोऽभूतार्थो भूतस्यो भूतार्थश्च देसिदो देशित कथितः । न केवल व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्धनिश्चयनयोपि तु शब्दादर्थं शुद्धनिश्चयनयोपीति व्याख्यानेन मूलाभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्धनिश्चयनाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नयवस्तुष्टयः । इदमत्र तात्पर्यं यथा कोपि ग्राम्यजनः सर्वदम नीर पिबति नागरिकः पुन विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति । तथा स्वसवेदनरूपभेदमावनाभूत्यजानो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणाममहितमाप्तमानमनुभवति सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीय निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥१३॥ अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पममाधिरहितानां प्रयोजनवाद् भवति । किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुन षोडशवर्णकामुवर्णनाभामात्रे अश्वत्थनवर्णिकासुखलानामवर्णकेषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविहृत्पावस्याया मिथ्यात्वविषयकषायदुष्ट्यानिवर्णनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवाद् भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(व्यवहारो) व्यवहारनय (अभूतस्यो) अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है (भूतस्यो देसिदो दु सुद्धणओ) किन्तु शुद्ध निश्चय नय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है । इन दोनों नयों में किसका आश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है ? इसका समाधान करते हैं कि (भूतस्य) भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ

जो निश्चयनय है उसको (अस्तिदो) आश्रय लेकर उसमे पूर्ण रूप से स्थित होकर (सम्माविट्ठी हवदि जीवो) यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है इस प्रकार टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) का एक व्याख्यान है। अब दूसरा व्याख्यान करते हैं। (वहहारी अभूतयो भूतयो देसिदो) व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है अब केवल व्यवहारनय ही दो प्रकार का नहीं किन्तु (मुदण्णो) निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार है ऐसा गाथा मे आये हुए 'दु' शब्द से प्रगट होता है।

यहा यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमे कतकफल निर्मली डालकर उसे निमल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसवेदन ज्ञानरूप भेदभावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (सयत) मनुष्य होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्माका अनुभव करता है ॥१३॥

विशेषार्थ—यहा तात्पर्यवृत्तिकार ने इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक तो यह कि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है किन्तु इन्ही आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरी प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहारनय भूतार्थ व अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार है उसी प्रकार निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार है उसमे भूतार्थ को आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

यहा पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है किन्तु यहा पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिये, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् लेकर व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान है ऐसा लेना चाहिये जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ मे बतलाया है।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के विश्वलोचन कोश मे जिस प्रकार सत्य बतलाया है उसी प्रकार उसका अर्थ 'सम' भी बतलाया है। अतः भूतार्थ का अर्थ जब कि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहने वाला अपने आप हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारनय अर्थात् पर्यायाधिकनय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्याधिक नय इस प्रकार का अर्थ अनायास ही निकल जाता है जो कि इतर आचार्यों के द्वारा सर्व सम्मत है, और फिर निश्चयनय को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है यह बात भी कुन्दकुन्दाचार्य को सर्वथा ठीक बैठती है क्योंकि जब तक यह जीव जिस पर्याय मे जाता है उस पर्यायरूप ही अपने आपको (पशु होने पर पशु मनुष्य होने पर मनुष्य इत्यादि) मानता रहता है किन्तु जब अपने आपको पशु या मनुष्य इत्यादि रूप ही न मानकर सदा शाश्वत रहने वाला ज्ञान का धारक आत्मा मानने लगता है तब ही सम्यग्दृष्टि होता है ॥१३॥

उत्थानिका—यहा इस पूर्वोक्त गाथा मे कहा गया है कि भूतार्थ नय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु इस गाथा मे स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि मे निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो ऐसा नहीं है परन्तु उन्हीं निर्विकल्प समाधिरतों को विन्द्ो २ को कभी सविकल्प अवस्था मे मिथ्यात्व विषय कषायरूप बुद्धि को दूर करने के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है जैसे किसी

को शुद्ध सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हा तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदह वानी का साना भी सम्मत समझा जाता है ऐसा कहने है —

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहि ।

ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे टिट्ठाभावे ॥१४॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शभिः ।

व्यवहार देशितः पुनः ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१४॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परमशुद्धात्मा की भावना में लगे हुये पुरुषों के द्वारा अङ्गीकार करने योग्य है । परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित ह उनके लिए व्यवहारनय ही कार्यकारी है ।

तात्पर्यवृत्ति —सुद्धो शुद्धनय निश्चयनय कथभूत **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेश कथन यत्र न भवति शुद्धा-
देश । **पादव्वो** ज्ञानव्य सावयितव्य के **परमभावदरसीहि** शुद्धात्मभावदर्शभिः । कस्मादिनि चेत् यत पोडशवर्ति-
काकार्तस्वरत्नाभावभेदरत्ननयस्वरूपममाधिकाले मप्रयोजनो भवति । नि प्रयोजनो न भवतीत्यर्थ । **ववहारदेसिदो**
व्यवहारंसा विकल्पे भेदेन परमिण दर्शित कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनय **पुण** पुन आग्ननयमिण मुवर्ग
लाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केया **जे ये** पुर्या **हु पुन अपरमे** अशुद्धे असयनसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा
सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तमयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा **टिट्ठा** स्थिता कस्मिन् स्थिता ?
भावे जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः ॥ एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयन पंचम स्थल गत ॥

टीका —(सुद्धोसुद्धादेसो) शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है (पादव्वो) परमभाव
दरसीहि वह शुद्धता का प्राप्त हुये आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है ।
क्योंकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान होता है ।
(ववहार देसिदो) किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जा व्यवहारनय
है वह (पुण) पन्द्रह चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान है
(जेदु) जो लोग (अपरमे टिट्ठा भावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग में, जो कि असयन सम्यग्दृष्टि अथवा
श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला है और प्रमत्त अप्रमत्त सयन लोगों की अपेक्षा भेद
रत्नत्रय लक्षणवाला है उसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है ॥१४॥

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान-प्रतिपादन करने हुये दो गाथाओं में पंचम
स्थल पूर्ण हुआ । यहां तक १४ गाथाओं द्वारा पांच स्थलों में पीठिका पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ—आचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि मयन मनुष्य जब अभेदात्मक परम समाधि में
तत्पनी होकर रहता है उस समय वह शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने वाला है किन्तु उससे नीची
अवस्था में क्या सयत क्या सयतामयत और क्या समयत सम्यग्दृष्टि ये सभी व्यवहारनय में प्रवृत्त रहते
है उसके बिना उनका निर्वाह नही हो सकता । एवं क्षयोपशम ज्ञानका धारी मयमी मनुष्य भी जब तक
समाधि में स्थिर है तब तक वह शुद्धोपयोगी है किन्तु इतर काल में वह शुभोपयोगी होता है पर सयता-
सयन और समयत सम्यग्दृष्टि तो शुभोपयोगी ही होते है क्योंकि उनकी तो शुद्धोपयोग तक पहुँच भी
नही है ।

इति चतुर्दशगाथाभि स्थलपञ्चकेन पीठिका समाप्ता ॥

(१) जीवाधिकार (प्रथमाधिकार)

अथ कश्चिदासन्नभय पीठिकाव्याख्यानभाष्येणैव हेयोपादेयत्वपरिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव निजस्वरूप भावयति । विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति तद्यथा—विस्तररुचिशिष्य प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकार समयसारव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ नवपदार्थाधिकारभाषाया आर्त्तरीडपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनं भवन्मनोभवमवलोकनमुपलक्ष्य सविस्ति प्रतीतिं क्वातिरनुभूतिस्तद्देव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं गण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्थां भूतार्थेन ज्ञाता सतस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद्धवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवति निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति ।

कोई आसन्न भय जीव इस पीठिका मात्र व्याख्यान से हेय उपादेय तत्वको जानकर विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसमे तल्लीन रहता है किन्तु विस्तार रुचि-वाला जीव नव अधिकारो से प्ररुत किये जाने वाले समयसार को जानकर फिर आत्म भावना करता है इसलिये विस्तार रुचि शिष्य को लक्ष्य मे रखकर जीवादि नव अधिकारो से समयसार का व्याख्यान किया जाता है । वहा पर सबसे पहले नव पदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है उस गाथा मे आर्त्त रीद्र का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकल्प समाधि मे स्थित रहने वाले जो जीव है उनको जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, सर्वाति है, प्रतीति है, क्वाति है, अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् उमे (वीतराग चारित्र को) साथ मे लिये हुये रहता है । और वही गुण गुणी मे अभेदरूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है इस प्रकार एक उत्थानिका हुई । अथवा जीवादि नव पदार्थ, जब भूतार्थनय से जाने जाते है तब ये ही अभेद उपचारनय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते है । निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है यह दूसरो पातनिका है । इस प्रकार दोनो पातनिकाओ को मनमे रखकर आगे का सूत्र कहते हैं—

भूतत्थेणाभिगता जीवाजीवा य पुण्यपापं च ।

आसव संवर णिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तां ॥१५॥

सूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।

आसव संवर निर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१५॥

अर्थ—निश्चयनय से निर्गुण विये हुये जीव, भजीव, पुण्य, पाप, आसव संवर निर्जरा बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं ॥१५॥

तात्पर्यवृत्ति — भूदत्तयेन भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन **अभिगदा** अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाता सत के ते जीवाजीवा य पुण्यपाव च आसवसवरणिज्जरबधो भोक्त्रो य जीवाजीवपुण्यपापासवसवरनिर्जरा-बधमोक्षस्वरूपा नव पदार्था सम्मत्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्व भवति । निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नव पदार्था भूतार्थेन ज्ञाता सत सम्यक्त्व भवतीत्युक्तं भवतिस्तुक्तीदृश भूतार्थपरि-जानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह । यद्यपि नव पदार्था तीर्थवर्त्तनानिमित्त प्राथमिकशिव्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्य-भेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अप्रभूतार्था असत्यायां शुद्धात्मस्वरूप न भवति । तस्मिन् परमसमाधिकाले नव-पदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति । या चानुभूति प्रतीति शुद्धात्मा-पलविध साचर्व निश्चयसम्यक्त्वमिति साचर्वानुभूतिगुणगुणिनोनिश्चयनयेनाभेदविवक्षाया शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यं । किं च ये च प्रमाणनयनिकाया परमात्मादितत्त्वविचारकाले सहाकारिकारणभूतास्तेषु निर्विकल्पावस्थायामेव भूतार्था । परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते इति नवपदार्थाधिकारागत्या गता ।

तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तदवष्टाविजनिगाथापर्यंत जीवाधिकार कथ्यते । तथा द्वि-सहजानन्दैकत्वभाव-शुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सवि अण्णाणमित्यादि** सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थलेगाथात्रय । तदनंतर हृष्टानदाष्टीनद्वारेण भेदभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रय । तत पर जीवस्याप्रतिबुद्धत्व-कथनेन प्रथमगाथा, बधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिर्षाणामाणभेव कर्त्तुं तृतीया चेत्येव **कम्मेशोकम्मो हिय** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसंबन्धनिरपेक्षस्वतन्त्रगाथात्रय । तदनंतरमिधनानिमित्तदृष्टान्तेना-प्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थं **अहमेदमित्यादि** चतुर्थस्थले सूत्रत्रय । अत पर शुद्धात्मत्वसम्यक्त्वश्चानुभूतिलक्षणा-भेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽनावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं **अण्णाणामोहिदमदी** इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रय । अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मत्वमजानन् देह एवास्मिन् योऽमी पूर्वपक्ष करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जिद जीधो** इत्यादि पूर्वपक्षक्षेपेण गाथैका । तदनंतर व्यवहारेण देहस्तत्र निश्चयेन शुद्धात्मत्वमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यतया **ववहारणमो भासवि** इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टय । अथ परमोपेक्षाक्षरशुद्धात्मववित्तिरूपि-ण यदगुति मुख्यत्वेन **जो इवि एणिता** इत्यादि सूत्रत्रय । एव गाथाष्टकसमुदायेन षट्स्थल । तत पर निर्विकारस्वसर्वेदज्ञानमेव विषयकथायादिपरब्रह्मगाथा प्रत्याख्यानमिति कथनेन, **राण सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टय । तदनंतर-मननज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्त्वश्चानुभूतिलक्षणभेदरत्नत्रयात्मकस्वसर्वदममेव भावितारमन स्वरूपमित्युपसहार-मुख्यतया **अहमेक्को खल्ल सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेक । एव दडकान्विहायाष्टाविजनिगुत्तं सप्तभिरन्तरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा-प्रथ प्रथमगाथायामबधस्तृष्टमन्यक नियतमविशेषमसयुक्त ससारवक्ष्यामपि शुद्धनयेन विमिनोपनृत्तिकावादिमुर्गोष्णरहितजलवत्यचविशेषविशिष्ट शुद्धात्मान कथयति —

टीका — (भूदत्तयेन) भूतार्थरूप निश्चयनय शुद्धनय के द्वारा (अभिगदा) निर्णय किये हुये, निश्चय किये हुये, जाने हुये (जीवाजीवा य पुण्य पाव च आसव सवर णिज्जर बधो भोक्त्रो य) जीव, अजीव, पुण्य, पाप आसव, सवर, निर्जरा, बध, और मोक्ष स्वरूप जो नव पदार्थ हैं वे ही (सम्मत्त) अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से सम्यक्त्व है, किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से देख तब तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है । अब शिष्य कहता है कि भूतार्थनय के द्वारा जाने हुये नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं ऐसा जो आपने कहा उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये प्रारम्भिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं । फिर अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में वे अभूतार्थ असत्यार्थ ठहरते हैं, प्रसूत वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते किन्तु इस परम समाधि काल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही भलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किगा जाता है, और जो वहा पर वह

अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे केवल प्रारम्भ में तत्त्व विचार काल में सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते हैं वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, परम समाधि काल में तो फिर वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं उन सब में भूतार्थरूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है ॥११॥

विशेषार्थ—प्राचार्य देव के कहने का यहाँ पर सार यह है कि जीव, अजीव, आसुव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष तथा पुण्य व पाप ये नव तत्त्व प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ लगे हुये हैं। ये सब आत्मा की ही भिन्न २ प्रकार की परिणतियाँ हैं जो कि प्रारम्भिक अवस्था में तो भिन्न २ जानकर स्वीकार की जाती हैं। किन्तु आगे चलकर निर्विकल्प अवस्था में ये सब ओझल होकर केवल एक शुद्धात्मा ही दृष्टि गोचर होता है, स्पष्ट प्रतीति में आता है जो कि उपादेय है।

इस प्रकार ये नव पदार्थों के अधिकार की गाथा हुई। जिन नव अधिकारों में सबसे पहले २८ गाथाओं से जीवाधिकार का वर्णन है वहाँ पर भी सहजानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से जो 'पस्सदि अप्पाण' इत्यादि सूत्र पाठ के क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथायें हैं, पश्चात् दृष्टात और दाष्टात से भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को मुख्य लेकर 'दसण राणा करित्ताणि' इत्यादि तीन गाथायें दूसरे स्थल में हैं, तत्पश्चात् जीव की अप्रतिबुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा है तथा बध मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली दूसरी गाथा है। और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामों का ही कर्त्ता है इस प्रकार का कथन करने वाली तीसरी गाथा है। इस प्रकार 'कम्मे णोकम्ममिह्य' इत्यादि तीसरे स्थल में परस्पर के सबध से निरपेक्ष तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर इधन और अग्नि के दृष्टात द्वारा अप्रतिबुद्ध के लक्षण का कथन करने के लिये 'अहमेद' इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पाचवे स्थल में शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् अद्वान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण अभेद रत्नत्रय की भावना के विषय में जो जीव अनभिज्ञ है उसको समझाने के लिये 'अण्णण मोहिदमदी' इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व को नहीं जानता हुआ जीव जो देह को ही आत्मा है देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है इस प्रकार का पक्ष रखता है उसके स्वरूप का कथन करने के लिये 'जदि जीवो' इत्यादि पूर्व पक्ष के रूप में एक गाथा है इसके अनन्तर व्यवहार से (पूज्य पुरुषों की) देहका स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, जो इस प्रकार दोनों नयों में भेद है उसके प्रतिपादन की मुख्यता से 'बवहारणो भासदि' इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथायें हैं। इसके आगे परम उपेक्षा है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सवेदन स्वरूप निश्चय स्तुतिकी मुख्यता से 'जो इन्दिये जिणित्ता' इत्यादि तीन गाथा हैं। इस प्रकार आठ गाथाओं में छठ्ठा स्थल है। इसके पश्चात् सातवे स्थल में निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान ही विषय कथायादि पर द्रव्यों का प्रत्याख्यान स्वरूप है ऐसा कथन करते हुये 'णाण सव्वेभावा' इत्यादि चार गाथायें हैं। तत्पश्चात् अन्त ज्ञानादि है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सम्यक् अद्वान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रयात्मक स्वसवेदन ही भावी शुद्धात्मा का स्वरूप है इस प्रकार उपसंहार की मुख्यता से 'अहमिक्को' इत्यादि एक सूत्र गाथा है इस प्रकार दण्डको के सिवाय २८ सूत्रों से उत्पन्न हुये सात स्थलों से जीवाधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

अब पहली गाथा में तो यह बतलाते हैं कि तत्तार अवस्था में भी शुद्ध नय से आत्मा अबद्ध स्पृष्ट अनन्य,

नियत अविशेष और असंयुक्त इन पाच विशेषणों से युक्त है जैसे कि कमल पत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित, जल होता है इस प्रकार का कथन किया गया है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णयं णियदं ।

अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं ।

अविशेषमसंयुक्तं, तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१६॥

अर्थ—जो आत्मा को बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यत्त्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के समयो रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है ॥१६॥

तात्पर्यवृत्ति—जो पस्सदि य कर्ता पश्यति जानाति । ॥१६॥ **अप्पाणं** शुद्धात्मा । कथंभूत । **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोक्तमप्यमसस्पृष्ट जले विसिनीपत्रवत् । **अण्णयं** अनन्यक नरनारकादिपर्यायिषु द्रव्यरूपेण तमेव यासकोशकु-शूलघटादिपर्यायिषु मृत्तिकाद्रव्यवत् **णियदं** नियतमवस्थित निस्तरगोचरगावस्थायु समुद्रवत् **अविसेसं** अविशेषमभिन्न ज्ञानदर्शनादिभेदरहित गुरुत्वस्निग्धत्वादी नरवादिष्वर्मेषु सुवर्णवत् **असंजुत्तं** असंयुक्तमसंबद्ध रागादिविकल्परूपभावकर्मरहित निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति **तं सुद्धणयं वियाणीहि** त पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविययत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्ध विजानीहीति भावाय । अथ द्वितीयाशयाया या पूर्वं अणिता शुद्धात्मानुभूति सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति—

टीका—(जो पस्सदि अप्पाणं) जो शुद्धात्मा को जानता है, किस प्रकार ? (अबद्धपुट्ठं) जलमे रहकर भी उससे अस्पृष्ट रहने वाले कमल के समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित (अण्णयं) स्थास, कोश, कुशूल, और घटादि पर्यायों में मृत्तिका बनी ही रहतो है वैसे ही नरनारकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से आत्मा ही बनी रहती है, (णियदं) निम्नरग और उत्तरग (ज्वारभाटा) अवस्था में परिणामता हुआ समुद्र समुद्र ही रहता है उसी प्रकार आत्मा सब अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला है (अविसेसं) जैसे शुद्धता, स्निग्धता और पीनतादि धर्मों को स्वीकार किये हुये होकर भी स्वर्ण अभिन्न है उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से अभिन्न है, (असंजुत्तं) जैसे जल वास्तविकता में उष्णता रहित होता है उसी प्रकार आत्मा रागादि विकल्परूपेण भावकर्मों से भी रहित है, इस प्रकार जो आत्मा को जानता है (तं शुद्धनय-विद्याणीहि) अभेदनय के द्वारा शुद्धनय का विषय होने से वह शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभि-प्राय में परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिये ॥१६॥

विशेषार्थ—आचार्य देव का कहना है कि जो जीव (सयमी) जिस समय अपने आप को अबद्ध स्पृष्ट आदि पाच भावात्मक अनुभव करना है उस समय वह स्वयं ही शुद्धनय स्वरूप है ।

अब आगे की गाथा में बतलाने है कि जो पहले हम शुद्धात्मा को अनुभूति का वर्णन कर आये हैं वह ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णमविसेसं ।

अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१७॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्

अपदेशसुत्रमध्यं पश्यति जिज्ञासासनं सर्वम् ॥१७॥

अर्थ—जो आत्मा को अवदस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदिरूप से अनुभव करता है वह द्रव्यभूत भावभूतमय द्वादशगणरूप सब जिन शासन का जानकार होता है ॥१७॥

तात्पर्यवृत्ति—जो पस्सिदि य कर्ता पश्यति जानात्यनुभवति । क अप्याहं शुद्धात्मान । किं विशिष्ट ? अवदस्पृष्टं अवदस्पृष्ट । अत्र बधशब्देन सत्त्वैरुपबधो ग्राह्य स्पृष्टशब्देन तु सयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मन्यामस-स्पृष्ट जले विसिनीपत्रवत् । अणव्या अनन्य मृत्तिकाद्रव्यवत् । अविसेसं अविशेषमभिन्न सुखं वत् नियतमवस्थित समुद्रवत् असंयुक्त परद्रव्यसयोगरहित निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति । नियतासंयुक्तविशेषणद्वय सूत्रे नास्ति । कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात् । तदपि कथं, श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थ इति वचनात् । स पुरुष पस्सिदि पश्यति जानाति किं तत् जिज्ञासासराणं जिनशासन अर्थसमयरूप जिनमत सच्च सर्वं द्वादशगणपरिपूर्णं । कथंभूत । अपदेसमुत्तमज्जं अपदेशसूत्रमध्य अपदिश्यतेयों येन स अवत्यपदेशशब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूप भावभूत ज्ञानसमर्थ इति तेन शब्दसमयेन वाच्य ज्ञानसमयेन परिच्छेदमपदेशसूत्रमध्य भण्यते इति । अयमत्र भाव—यथा लवण-खिल्य एकरसोपि फलशकपत्रशकादिपरद्रव्यसयोगेन मिश्रमिश्रास्वाद प्रतिमात्यज्ञानिनां । ज्ञानिनां पुनरेकरसएव तथात्माप्यखड्गज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगंधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खड्गखड्गज्ञानरूप प्रतिभाति ज्ञानिना पुनरखड्गकेवलज्ञानस्वरूपमेव इति हेतोरखड्गज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासन ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपिगृहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कसंय्येति । किं च मिथ्यात्व-शब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्य । अथ तृतीयगाथाया सम्यग्ज्ञानादिक सर्वशुद्धात्मभावना-मध्य लभ्यत इति निरूपयति ।

टीका—(जो पस्सिदि अप्यारा) जो शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है कि (अवदस्पृष्ट) आत्मा अवदस्पृष्ट है । यहा बध शब्द से सश्लेष रूप बध और स्पृष्ट शब्द से सयोग मात्र का ग्रहण है । जो आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मों से जल में रहने वाले कमल के समान अस्पृष्ट है, (अणव्या) घटादिक में मिट्टी के समान अपनी पर्यायों में अनन्य होकर रहता है (अविसेस) कुण्डलादिक में स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है अवस्थित है, निश्चयनय से परद्रव्य के सयोग से रहित है जैसे कि शीतल जल अग्नि के सयोग से रहित है । यहा पर गाथा में नियत और असंयुक्त शब्द यद्यपि नहीं है तो भी सामर्थ्य से ले लिये गये हैं क्योंकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्रमें नहीं कही हुई बात भी प्रसंग से स्वीकार करली जाती है ऐसी कहावत है । वह (पस्सिदि जिज्ञासासरासच्च) द्वादशगणरूप सम्पूर्ण अर्थत्मिक जिनशासन को जानता है । कैसे जानता है ? (अपदेस मुत्तमज्जं) “अपदिश्यते अर्थोयेन”—जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय वह अपदेश है इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है जिससे कि यहा पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्तिरूप भावभूत जो कि ज्ञानात्मक है उसे ग्रहण करना, इस प्रकार द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावभूत के द्वारा परिच्छेद हो वह अपदेश सूत्र मध्य कहा जाता है । इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है फिर भी वह अज्ञानियों को फल साग और पत्रसाग आदि परद्रव्य के सयोग से भिन्न भिन्न स्वाद वाली जान पड़ती है, पर ज्ञानियों को तो वह एक खारी रस वाली ही प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा भी जो कि एक अखण्ड ज्ञान स्वभाव वाली है वह निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियों को तो स्पर्श, रस गंध, शब्द और नील पीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड खण्ड ज्ञानरूप जान पड़ती है, किन्तु जो ज्ञानी (निर्विकल्प समाधि में स्थित) हैं उनको वही आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप प्रतीत होती है । इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के ज्ञान लेने पर समस्त जिनशासन ज्ञान लिया जाता है, ऐसा समझकर समस्त मिथ्यात्व और रागादि विभाव भावों को दूर

करके उस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिये। यहा मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह लिया गया है। ऐसा ही आगे भी जहा ये शब्द आये तो उनका यही अर्थ लेना ॥ १७॥

विशेषार्थ—लूण की डली जब साग इत्यादि में मिलाकर खाते है तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है उसी प्रकार जो बाहिरी विषय कषायोमें फसे हुये है व रागादि रूप परिणत है उनको केवल शुद्धात्मा का अनुभव कभी भी नहीं होकर रागादि मिश्रित अनुभव ही होता है। किन्तु जो बाहिरी पदार्थों से सर्वथा दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहते है उन्ही को शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यहा पर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प समाधि में स्थित लिया गया है। ऐसा ही अन्य स्थान में भी समझना चाहिये।

अब आगे की गाथा में यह कहा जाता है कि शुद्ध आत्मभावना में परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि में समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादि प्राप्त होते है—

ॐ आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१८॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्यान आत्मा मे संवरे योगे ॥१८॥

अर्थ—मेरे दर्शन ज्ञान और चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एव सबर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है ऐसा ज्ञानी का विचार होता है ॥

तात्पर्यवृत्ति—आदा शुद्धात्मा खलु मज्झ मम भवति इव विषये णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसवरयोगभावनाविषये। योगे कोऽर्थ निर्विकल्पसमाधी परमसामाधिके परमध्याने चेत्येको भाव भोगाकाशानिदानबधशल्यादिमावरहित शुद्धात्मनि ध्याते सर्व सम्यग्ज्ञानादिक लभ्यत इत्यर्थ एव शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रय गत। इत ऊर्ध्व भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रय कथ्यते—तद्यथा—प्रथम गाथाया पूर्वाद्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपराद्धेन चाभेदरत्नत्रयभावना कथयति—

टीका—(आदा खु मज्झ) स्पष्ट रूप से मेरी तो एक शुद्धात्मा है। (णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे) सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, सवर और योग इन सब ही भावनाओं में एक आत्मा ही है। योग का क्या अर्थ है? यहा योग से निर्विकल्प समाधि को लिया गया है जिसको परम सामायिक या परम ध्यान भी कहते है। जिस परम समाधि में भोगाकाश निदान, बध और शल्य आदि भाव से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल से तीन गाथा हुई ॥१८॥

अब भेदाभेदरूप रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथा कही जा रही है उसमें पहली गाथा के पूर्वाद्ध से भेद रत्नत्रय की भावना को और उत्तराद्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते है—

ॐ यह गाथा आत्मव्याप्ति में नहीं है ।

दसंजणानचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिण्णिवी अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं ।

तानि पुनर्जानीहि त्रीष्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥१६॥

अर्थ—साधु को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में दर्शन ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों को भिन्न २ रूप से भली प्रकार समझ कर स्वीकार करना चाहिए किन्तु निश्चयनय को समीकार करने पर तो ये तीनों आत्मस्वरूप होते हैं ॥१६॥

तात्पर्यवृत्ति—दसंजणानचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकाल ताणि पुण जाण तिण्णिवि तानि पुनर्जानीहि त्रीष्यपि अप्पाणं चेव शुद्धात्मानं चेव णिच्छयदो निश्चयत शुद्धनिश्चयत । अयमन्वयः—यच्चैन्द्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रत्रयमस्तीति । अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टातवाष्टाताम्या समर्थयति ।

टीका—(दसंजणानचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्च) साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों को भिन्न २ समझ कर नित्य सदा ही इनकी उपासना करना चाहिए अपने उपयोग में लाना चाहिए । (ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो) किन्तु शुद्ध निश्चय नय से वे तीनों एक शुद्धात्म स्वरूप ही हैं उससे भिन्न नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए । इसका अर्थ यह है कि पञ्चेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये तीनों होते हैं ॥ १६ ॥

अब उपर्युक्त भेदाभेद भावना को दृष्टात और वाष्टात से आगे दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं —

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सदहदि ।

तो तं अणुचरदि पुणो अत्यत्थीओ पयत्तेण ॥२०॥

एवं हि जीवराया णादब्बो तह य सदहेदब्बो ।

अणुचरितदब्बो य पुणो सो चेव दु मोक्षकामेण ॥२१॥ (युगलम्)

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धयति ।

ततस्तमनुचरति पुनरर्थीयिकः प्रयत्नेन ॥२०॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातम्यः ।

अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥२१॥

अर्थ—जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला जीव पहले राजा को राजा जानकर उस पर भरोसा करता है फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीव रूपी राजा को जानकर उस पर भरोसा करते हुये प्रयत्न पूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्ति—जह यथा णाम णो स्फुट वा कोवि कोपि कश्चिद् पुरिसो पुरुष रायाणं राजानं जाणिऊण खनचामरादिराजभिर्ह ज्ञात्वा सदहदि श्रद्धां अदत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति तो ततो ज्ञानवद्भानानतरं तं

त राजान् अणुचरन्ति अणुचरन्ति आश्रयस्थाराधयन्ति कथंभूतं सन् अत्यन्तधीमते प्रबोधिनीं जीवितार्थी पयलेण प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टातगाथा गता एव अनेन प्रकारेण हि स्फुट जीवराया शुद्धजीवराजा शाब्दो निर्विकार-स्वस्वेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । तह य तर्बेव सहहेदव्वो अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहित शुद्धात्मेति निश्चेतव्य अणुचरिदव्वो य अणुचरितव्यव्य निर्विकल्प समाधिनानुभवनीय । पुन सो चेव स एव शुद्धात्मा तु पुन मोक्ष-कामेण मोक्षाधिना पुरुषेणेति दाष्टात् । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपमा परमात्मचित्तयैव पूर्वतेज्माक कि विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति । एव भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रय द्वितीयस्थले गत । अथ स्वतन्त्र-व्याख्यानमुख्यतया गाथात्रय कथ्यते तत्राथा स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति पर किंतु कियत्कालपर्यंत इति न ज्ञायते एव पृष्ठे सति प्रथमगाथाया प्रत्युत्तर ददाति —

टीका—(जह नाम को वि पुरिसो) जैसे कोई भी पुरुष (रायाण जाणिऊण सहहृदि) छत्र चमर प्रादि राज चिह्नो से राजा जानकर यही राजा है ऐसा निश्चय करता है (तो त अणुचरदि) तदनंतर उसका आश्रय लेता है, उसकी आराधना करता है (अत्यन्तधीमो पयलेण) पूर्ण प्रयत्न से, क्योंकि वह धन का इच्छुक है । इस प्रकार दृष्टात हुआ । (एव हि) इसी प्रकार (जीवराया) शुद्ध जीवराजा (शाब्दो) निर्विकार स्वस्वेदन ज्ञान से जानने योग्य है (तह य) वैसे ही (सहहेदव्वो) यह नित्यानन्द स्वभाव वाला रागादि रहित ही शुद्धात्मा है ऐसा निर्णय करने योग्य है (अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव तु) तथा वही शुद्धात्मा आश्रय करने योग्य है—निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है (मोक्ष कामेण) मोक्ष के इच्छुक द्वारा, इस प्रकार यह दाष्टात हुआ । तात्पर्य यह है कि हम ससारी आत्माओं का भेदाभेद रत्नत्रयात्मक भावनारूप परमात्मचित्तन के द्वारा ही वाञ्छित सिद्ध हो जाता है तो फिर इधर उधर के शुभाशुभ विकल्प जाल से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मुमुक्षु हैं दु खो से दूर होकर रहना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि ससार की इतर सब बातों को भूल कर केवल एक शुद्धात्मा को जाने, पहचाने और उसी में तल्लीन होकर रहे बस यही एक कल्याण का मार्ग है ॥२०-२१॥

आगे स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कही जाती हैं ।

अब जिन जीव को आधा परके भेद का ज्ञान नहीं है वह अज्ञानी होता है यह तो हम समझें किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं —

कम्मे णोकम्मस्सि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।

जा एसो खलु बुद्धो अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥२२॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्मं ।

यावदेषो खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥२२॥

अर्थ—जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में मैं कर्म नोकर्म हूँ और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं ऐसी प्रतीति रहती है तब तक यह आत्मा अग्रप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है ॥२२॥

तात्पर्यवृत्ति—कम्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिविद्रव्यकर्मणि च णोकम्मस्सि य शरीरादिविनोकर्मणि च अहमिदि अहमित् प्रतीति अहकं च कम्म णोकम्म अहकं च कर्म नोकर्मैति प्रतीति यथा धटे बर्णाबयो मुसा घटाकारपरिणत-

पुद्गलस्कन्धाश्च बह्यादिभु च घट इत्यभेदेन जा यावत् काल एसा एषा प्रत्यक्षीभूता खलु स्फुटं बुद्धी तथा कर्मनो-
कर्मणा सह शुद्धबुद्धकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुन, ऐक्यबुद्धि अप्पडिबुद्धो अप्रतिबुद्ध स्वसवित्तियुक्त्यो बहिरात्मा
हृदयि भवति ताव तावत्कालमिति । अथ भेदविज्ञानमूलाद् शुद्धात्मानुभूतिश्च स्वत स्वयबुद्धापेक्षया परतो वा
बोधितबुद्धापेक्षया ये लभते ते पुरुषा शुभाशुभबहिर्द्व्येषु विद्यमानेष्वपि मुक्तुं बबदविकारा भवतीति भावार्थः । अथ
शुद्धजीवे यदा रागादिरहित परिणामस्तदा मोक्षो भवति । अजीवे देहादौ यदा रागादि परिणामस्तदा बधो
भवतीत्याख्याति—

टीका—(कम्मे) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भावकर्म (एगो कम्महिय) तथा शरीरादि
नोकर्म मे (अहमिदि) मैं हूँ ऐसी प्रतीति होती है (अहक च कम्म एगोकम्म) अथवा ये कर्म व नोकर्म
मेरे है इस प्रकार प्रतीति होती है, जैसे कि घड़े मे बरणादि गुण, और घटाकार परिणत पुद्गल स्कन्ध होते
हैं । अत बरणादिक मे जब तक घट इस प्रकार की अभेद प्रतीति होती है (जा एसा खलु बुद्धी) उसी
प्रकार कर्म नोकर्म के साथ शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती
है (अप्पडिबुद्धो हृदयि ताव) तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध स्वसवेदन से रहित बहिरात्मा (बाहिरी
बुद्धिवाला) होता है । यहा पर भेद विज्ञान मूलक जो शुद्धात्मानुभूति है वह स्वयबुद्धो को तो अपने
आप और बोधितबुद्धो को दूसरे के द्वारा प्राप्त होती है । जब यह शुद्धात्मानुभूति जिनको प्राप्त होती है
वे जीव ससार के विद्यमान शुभाशुभ बाहिरी पदार्थों मे अर्थात् आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों में दर्पण के
समान निविकार होकर रहते है ।

विशेषार्थ—जब तक ससार के शरीर आदि सभी पदार्थों मे अहकार या ममकार रूप बुद्धि बनी
रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है । किन्तु बाह्य पदार्थों मे अहकार ममकार
हटने पर जब यह आत्मा स्वय आत्म निमग्न हो जाता है तब यह प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) बनता है ।

जब इस जीव की शुद्ध जीवमे रागादि रहित परिणति होती है तब मोक्ष होता है और जब अजीवरूप देहादिक
मे रागादि सहित परिणति होती है तब बध होता है—

❀ जीवेव अजीवे वा संपदि समयहि जत्थ उवजुत्तो ।

तत्थेव बंध मोक्खो, होदि समासेण णिदिट्ठो ॥२३॥

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः

तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ॥२३॥

अर्थ—जीव तथा अजीव देहादिकमे जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है वही मोक्ष तथा बध होता है ऐसा
कथन सत्तेप से श्री सर्वज्ञदेव ने किया है ॥२३॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवेव स्वशुद्धजीवे वा अजीवे वा देहादौ वा संपदिसमयहि वर्तमानकाले जत्थ उवजुत्तो
यत्रोपयुक्त तम्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणत तत्थेव तत्रैव अजीवे जीवेवा बधमोक्खो अजीवदेहादौ बधो, जीवे शुद्धात्मनि
मोक्ष हृदयि भवति समासेण णिदिट्ठो सत्तेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति । अत्रैव ज्ञात्वा सहजानन्दकस्वभावनिजात्मनि
रति कर्त्तव्या । तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ॥ अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणा कर्त्ता अनुपच-
रितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति—

❀ यह गाथा आत्मख्याति मे नहीं है ।

टीका—(जीवे व) अपनी शुद्ध आत्मा मे (अजीवे वा) अथवा देहादिक इतर पदार्थों मे (सपदि समयभिन्ने) वर्तमान समय मे (जस्य उवजुत्तो) जहा पर उपयुक्त रहता है अर्थात् उपादेय बुद्धिसे तन्मय होकर रहता है (तत्पेव) वही पर अजीवे मे या जीवमे (बध मोक्षो) अजीवरूप देहादिक मे परिणत होने पर बध और शुद्ध जीव मे परिणत होने पर मोक्ष होता है (समासेण रिण्दिट्ठो) ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने संक्षेप से कहा है । ऐसा जानकर यहा सहजानन्द एक स्वभाव वाले निज आत्मा मे रमण करना चाहिये और उससे विलक्षण जो परद्रव्य है उनसे विरक्त होकर रहना चाहिये ऐसा आचार्यदेव का अभिप्राय है ॥२३॥

आगे कहते हैं कि अशुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मोंका कर्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता है ऐसा बतलाते हैं—

❖ जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

णिच्छयदो व्यवहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥२४॥

यः करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।

निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्ता ॥२४॥

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध भावो को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्ता होता है । और व्यवहारनय से वह पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है ॥२४॥

तात्पर्यवृत्ति—ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स य करोति रागादि भावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्ता भवति । **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति भावानां परिणामनमेव कर्तृत्वं । **व्यवहारा** अनुपचरितामद्भूतव्यवहारनयात् **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मणा **कत्तारं** कर्त्तेति । कत्तार इति कर्मपद कर्त्तेति कथं भवतीति चेत्, प्राकृते क्वार्ष कारकव्यभिचारानिगम्यभिचारश्च । अत्र रागादीनां जीव कर्त्तेति मणितं ते च ससारकारणं तत् ससारमयमीतेन मोक्षाधिना समस्तरागादि-विभावार्हते शुद्धद्रव्यगुणपर्यायि स्वरूपे निज परमात्मनि भावना कस्तव्यव्यभिप्राय । एव स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गायत्रयं यत् । अथ यथाकोप्यप्रतिबुद्धं अग्निनिर्घनं भवति इधनमग्निर्भवति अग्निनिर्घनमानीत् इधनमग्निरासीत् अग्निनिर्घनं भविष्यति इधनमग्निर्भवति इधनमग्निर्भवति इति वदति तथा यः कालत्रयेण देहरागदिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति.—

टीका—(ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) जिस रागादि भाव को आत्मा करता है उस समय उस भाव का अर्थात् परिणाम का करने वाला होता है । (णिच्छयदो) अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध भावो का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्धभावो का कर्ता होता है क्योंकि उन भावो के रूप मे परिणामन करना ही कर्तापना है । (व्यवहारा) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से (पोग्गल कम्माण) पुद्गलमयी द्रव्यकर्मदि का (कत्तारं) कर्ता होता है यहा 'कर्त्तार' यह कर्मपद कर्ता के अर्थ मे आया है सो प्राकृत मे कही कही कारक व्यभिचार और लिङ व्यभिचार देखा जाता है । यहा ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादि भावो का कर्ता जीव को कहा गया है वे भाव ससार के कारण हैं इसलिये ससार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुष को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावो से रहित और शुद्ध द्रव्य तथा गुण पर्याय स्वरूप निज परमात्मा मे भावना करनी चाहिये ॥२४॥

❖ यह गाथा आत्मव्याप्ति मे नहीं है

इस प्रकार स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में तीन गाथायें हुई ।

आगे कहते हैं कि कोई मोला प्राणी अग्नि है वह ईधन है इधन वही अग्नि है, अग्नि ही पहले ईधन था, और ईधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही ईधन होगा और ईधन ही अग्नि होगी इस प्रकार कहा करता है वैसे ही जो सदा देह रागादि रूप पर द्रव्यो को अपनी आत्मा में जोड़ता है वह अप्रतिबुद्धबहिष्तामा अर्थात् बाह्य दृष्टिवाला अतएव मिथ्या ज्ञानी होता है —

अहमेवं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एवं ।

अण्णं जं परदब्बं सचित्ताचित्त मिस्सं वा ॥२५॥

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालहि ।

होहिवि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥

एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि सम्मूढो ।

भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असम्मूढो ॥२७॥ (त्रिकलम्)

अहमिदं इदमहं अहमेतस्य एव भवामि मम इदम् ।

अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्त मिश्रं वा ॥२५॥

आसीन्मम पूर्वमेतत् अहमिदं चैव पूर्वकाले ।

अविष्यति पुनरपि मम अहमिदं चैव अविष्यामि ॥२६॥

एवंतवसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।

भूतार्थं जानन् न करोति पुनः तमसंमूढः ॥२७॥

अर्थ—आत्मा अपने आप से निम्न सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त मुकुट कुण्डलादिक, और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ, ये मेरे हैं मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा इस प्रकार का सयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ़ अर्थात् मोह माव का शरक होता है किन्तु जो मोह रहित अर्थात् सयत होता है वह भूतार्थ (निश्चयनयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुआ इन सब विकल्पों से दूर रहता है ॥२५-२६-२७॥

सात्पयंस्सुत्ति—अहमेद एवमहं अह इद, परद्रव्य इद अह भवामि । अहमेदस्सेव हि होमि ममएवं अहमस्य सबंधी भवामि मम सबंधीद । अण्णं जं परदब्बं देहादन्यद्भूत पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्य सचित्ताचित्तमिस्सं वा सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्त रूपादि, अचित्त सुनर्णादि, मिश्र सामरणाख्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्त छात्रादि, अचित्त पिच्छकमल्लपुस्तकादि मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्त रागादि, अचित्त द्रव्य कर्मादि, मिश्र द्रव्य भावकर्म द्रव्य । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाप्तिस्थ पुरुषापेक्षया सचित्त सिद्ध परमेष्ठि स्वरूप, अचित्त पुद्गलादि पञ्च द्रव्यरूप मिश्र गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादि परिणतसंसारजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता । आसीत्स्यावि आसि मम पुव्वमेदं आसीत् मम पूर्वमेतत् । अहमेदं चावि पुव्वकालहि अहमिदं चैव पूर्वकाले होहिवि पुणोवि मज्झं अविष्यति पुनरपि मम अहमेदं चावि होस्सामि अहमिदं चैव पुनर्मात्राविकल्पादि गता । एवमित्यादि एवं इमं तु पुन असंभूदं असद्भूत

कालत्रयपरद्रव्यसबधिमिथ्यारूप **आदिवियप्प** धात्मविकल्प अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणाम **करेदि** करोति **सम्भू** सम्यग्भूद भजानी बहिरात्मा । **भूतत्थं** भूतार्थं निश्चयनय **जाणतो** जानन् सन् **ए** **करेदि** न करोति **वु** पुन कालत्रय-परद्रव्यसबधिमिथ्याविकल्प **असम्भूदो** असम्भूद सम्यग्दृष्टिरतरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारत । किं च यथा कोप्यज्ञानी अग्निरिषस इक्षनमार्गन कालत्रये निश्चयेनैकातेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमास पुनश्चे भविष्यामीति यो वदति सोज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी गम्यगृष्टिरतरात्मेति । एव भजानी ज्ञानी जीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कर्त्तंति तामेव भावना दृढयति । यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजसभुमि सह ससर्गं कार्येति कुर्वाणं सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकपुरुष-स्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरगादिभिः परिणामभाण परमात्माऽराधको न भवतीति भावाथं । एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथावयव गत । अथाप्रतिबुद्धमनोवतार्थं वरवसाय क्रियते ।

टीका—(अहमेद एदमह) मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ (इस प्रकार अहंकार भाव) (अहमेदस्सेव होमि मम एद) यह मेरा है और मैं इसका हूँ (इस प्रकार ममकारभाव) (अण ज परदव्व) इसी प्रकार देह से भिन्न जो परद्रव्य है (सच्चित्ताचित्त मिस्सवा) वे सचित्त अचित्त और मिश्र तीन प्रकार हैं । उनमें गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त, साभरण स्त्री आदि मिश्र है । अथवा तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त, और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र है । अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त, द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र है । अथवा विषय कषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाच द्रव्य अचित्त, और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादि रूप परिणत जो ससारी जीव का स्वरूप वह मिश्र है । इस प्रकार वर्तमान काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई । **अव** (आसि मम पुव्वमेद) ये सब मेरे पहले थे (अहमेद चावि पुव्वकालहि) मैं भी इनका पहले था (होहिदि पुणोवि मज्झ) ये सब आगे भी मेरे होंगे (अहमेद चावि होस्सामि) और मैं भी आगे इनका होऊँगा । इस प्रकार भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा गाथा समाप्त हुई । (एदनु) इस प्रकार (असम्भूद) असद्भूत तीन काल सबधी परद्रव्यों से ससर्ग लिये हुये मिथ्यारूप (आद वियप्प) अपने आपके विचार को अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय से होने वाले जीव के (रागादिरूप) परिणाम को (करेदि) जो करता है (सम्भूदो) वह मोह को लिये हुये भजानी बहिरात्मा होता है । किन्तु (भूतत्थं) जो भूतार्थं निश्चयनय को (जाणतो) जानता हुआ (ण करेदि दु त) तीन काल में होने वाले उपयुक्त परद्रव्यसबधी मिथ्या विकल्प को नहीं करता है वह (असम्भूदो) मोह भाव रहित सम्यग्दृष्टि अतरात्मा ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय की भावना में निरत होता है । जैसे कि कोई भी भोला प्राणी कहे कि तीनो कालो में अग्नि ही ईंधन है और ईंधन ही अग्नि है ऐसा एकात अभेदरूप से कहता है वैसे ही देह रागादि परद्रव्य ही इस समय मैं हूँ, पहले भी मैं परद्रव्य रागादिरूप था और आगे भी परद्रव्य रागादिरूप होऊँगा ऐसा कहता है वह भजानी बहिरात्मा है किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अतरात्मा जीव इससे विपरीत विचार वाला है । इस प्रकार ज्ञानी और भजानी जीव का लक्षण जानकर निर्विकार स्वसवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिये । इसी बात को फिर दृढ करने है कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ ससर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादिभाव है उन रूप परिणामन करने वाला होता है तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता यह इसका निचोड़ है । ॥२५-२६-२७॥

इस प्रकार भ्रमप्रतिबुद्ध के लक्षण के कथन रूप में श्रुतं शब्दों से तीन भाषाओं पूर्ण हुई ।

विवेचार्थ—पाठक देख रहे हैं कि इन भाषाओं में जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में भ्रमकार रखने वाले को भ्रमप्रतिबुद्ध बतलाया है उसी प्रकार उन में ममकार रखने वाले को भी भ्रमप्रतिबुद्ध बताते हुए उन सब से दूर हट कर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही प्रतिबुद्ध, ज्ञानी एवं सम्मरुष्टि कहा है ।

भागे इस भ्रमप्रतिबुद्ध को समझने के लिए प्रयत्न किया जाता है—

अण्णाणमोहिदमदो मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दब्बं ।

बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२८॥

सवण्णुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणोणिच्चं ।

कह सो पुग्गलदब्बी भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२९॥

जदि सो पुग्गलदब्बी भूदो जीवत्तमागवं इवरं ।

तो सक्का वुत्तं जे मज्झमिणं पुग्गलं दब्बं ॥३०॥

अज्ञानमोहितमतिममेवं भणति पुग्गलं दब्बं ।

बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२८॥

सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव, उपयोगलक्षणो नित्यं ।

कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्गुणसि ममेवं ॥२९॥

यदि स पुद्गल द्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।

तच्छुक्तो वक्तुं यन्ममेवं पुद्गलं द्रव्यं ॥३०॥

अर्थ—अज्ञान से ठगी हुई बुद्धिवाला सतारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् रहने इत्यादि पुद्गल द्रव्य को अपना कहता है और नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जब कि सर्वज्ञ भगवान् ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? जिससे कि तू पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा मेरा कहता है । हाँ, यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाय तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाय, तब तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है । (पर ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता अतः तेरा यह कहना भूल भरा है)

तात्पर्यवृत्ति—अण्णाणमोहिदमदो मज्झमिणं अज्ञानमोहितमति मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दब्ब ममेद भणति पुद्गल द्रव्य । कथभूत ? बद्धमबद्धं च बद्ध सबबदेहरूप बद्ध च असबद्ध देहाद्भिन्न पुनकलत्रादि सहा तथा जीवे जीवद्रव्ये बहुभावसंजुत्तो मिथ्यात्वरामादि बहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुनकलत्रादिक परद्रव्य ममेद भणतीत्यर्थं । इति प्रथमभाषा गता । अथास्य बहिरात्मनः संबोधन क्रियते तेन दुरात्म्यम् । सवण्णु इत्यादि सव्वण्णुणाणदिट्ठो सर्वज्ञज्ञानदृष्ट जीवो जीवपदार्थं कथभूतो दृष्ट उवओगलक्खणो केवलज्ञान-वर्मानोपयोगमक्षरं शिञ्चं नित्य सर्वकाल । कह कथ सो स जीवः पुग्गलदब्बीभूतो पुद्गलद्रव्य जातः न कथमपि जं येन कथंहेन भणसि भणति त्व मज्झमिणं ममेव पुद्गलद्रव्यं । इति द्वितीया भाषा गता । जदि इत्यादि-वर्णि

यदि चेत् सो स जीवः पुगलदब्बीभूदो पुदगलद्रव्यजात जीवो जीव जीवत्त जीवत्व आगतं प्राप्य इवर्
इतरत् शरीरपुदगलद्रव्यं तो सक्का वुत्तु तत् शक्य वक्तु जे अहो अथवा यस्मात्कारणात् मज्झमिणां पुगलं दब्बं
मभेद पुदगलद्रव्यमिति । नचैव यथा वर्षासु लवणमुदकी भवति श्रोमकाले जल लवणीभवति । तथा यदि चैतन्य विहाय
जीवद्रव्य पुदगलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुदगलद्रव्यं च भूतत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा
भवदीयवचनं सत्यं भवति । रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाङ्गिममूर्तं शुद्धबुद्धैक-
स्वभाव सिद्धमिति । एव देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कार-
मात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावनां कर्तव्येति तात्पर्यम् । इत्यप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं पञ्चमस्थले गाथाप्रय गतः ।

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण
परिहारः । गाथात्रये निश्चयवस्तुतिरूपेण परिहारः इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—प्रथमतस्तथावत् यदि
जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्वृत्ता भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति—

टीका—(अण्णाराण मोहिदमदी) अज्ञानं से मोहित हो रही है—बिगड़ रही है बुद्धि जिसकी ऐसा
जीव (मज्झमिणा भगादि पुगल दब्ब) कहता है कि यह शरीरादि पुदगल द्रव्य मेरा है । कैसा है वह
पुदगल द्रव्य ? (बद्धमबद्ध च) कि बद्ध अर्थात् आत्मा से संबंधित देह और अबद्ध देह से भिन्न पुत्र कल-
त्रादि है । (तथा जीवो बहु भाव सजुत्तो) उनमें यह ससारी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप विकारी भावो
को लिये हुये है इसलिये उन देह पुत्र कलत्रादि पर द्रव्य को मेरा है इस प्रकार कहता है ।
यह पहली गाथा का अर्थ हुआ ॥२८॥ आगे की गाथा में उस अज्ञानी को समझाया जा रहा है कि हे
दुरात्मन् ! (सव्वण्णाराणादिट्ठो) सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान से देखा हुआ (जीवो) जीव नामा पदार्थ
(उवमोण लक्खणो णिच्च) सब ही काल में केवल मात्र ज्ञान और दर्शन उपयोग लक्षणा वाला है फिर
(कह सो पुगलदब्बी भूदो) वह पुदगल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता (ज भणसि
मज्झमिणा) जिससे कि तू पुदगलद्रव्य मेरा है ऐसा कहता है । इस प्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई ॥२९॥
(जदि सो पुगलदब्बी भूदो) यदि वह जीव पुदगल द्रव्यरूप हो जाय तो (जीवत्तमागदइदर)
शरीरादि पुदगलद्रव्यभी जीवपने को प्राप्त हो जाय (तो सक्का वुत्तु जे) तो तू फिर कह
सकता है कि (मज्झमिणा पुगलदब्ब) यह पुदगल द्रव्य मेरा है किन्तु ऐसा होता नहीं ॥३०॥
तात्पर्य यह है कि जैसे वर्षा काल में लवण पिघलकर जलरूप हो जाता है और शीतकाल में वही जल
घन होकर लवण हो जाता है वैसे ही कभी भी चेतनता को छोड़कर जीव यदि पुदगल द्रव्य रूप परिणत
हो जाय तो और पुदगल द्रव्य अपने भूतपने को व अचेतनपने को छोड़कर चेतनरूप और अमूर्त बन
जाय तो तैरा कहना सत्य हो सकता है । किन्तु हे दुरात्मन् ! ऐसा कभी होता नहीं क्योंकि ऐसा मानने
में प्रत्यक्ष विरोध आता है । फलस्वरूप हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जीव तो इस जडस्वरूप देह से भिन्न
है जो कि अमूर्त और शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है । इस प्रकार देह और आत्मा में परस्पर भेद जानकर
मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के (अहंकार और ममंकाररूप) विकल्प जाल को छोड़कर
निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्त्व में भावना करनी चाहिये । इस प्रकार अप्रतिबुद्ध
अज्ञानी को संबोधने के लिये पाचवें स्थल में तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥२८ २९ ३०॥

आगे पूर्वपक्ष (जीव व शरीर को एक मानना) के परिहार रूप में आठ गाथाये कही जाती हैं
वहा पहली गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप

से उसका परिहार है तथा तीन बाधाओं में निश्चय स्तुति रूप से पूर्व पक्ष का परिहार है इस प्रकार छद्म स्थल की समुदाय पास्तनिका है ।

अब सबसे प्रथम भ्रान्ति शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर में एकपना नहीं है तो तीर्थंकरों की ओर आचार्यों की ओर स्तुतिया शरीर को लेकर की गई हैं वह सब व्यर्थ ठहरती हैं (तो ही कहा जा रहा है) —

जदि जीवो ण शरीरं तित्थयरायरियसंयुदी चैव

सब्बावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।

सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥३१॥

अर्थ—हे भगवन् ! यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं है तो भक्त लोगों के द्वारा की गई तो तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है अत आत्मा और शरीर एक है ऐसा मानना ही चाहिए ॥३१॥

तात्पर्यवृत्तिः—जदि जीवो ण शरीरं हे भगवन् ! यदि जीव शरीर न भवति तित्थयरायरिय संयु-
दीचैव तर्हि “द्वौ कु देदुत्तुपारहारधवत्ताविरयादि” तीर्थंकरस्तुति “देसकुलजाइसुद्धा” इत्याचार्यस्तुतिश्च **सब्बावि**
हवदि मिच्छा सर्वापि भवति मिथ्या तेण **दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देह । इति मर्मकांतिकी
प्रतिपत्ति । एवं पूर्वपक्षगाथा गता । हे शिष्य ! यदुक्त त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावो
न जानासि त्वमिति ।

टीका—हे भगवन् (जदि जीवो ण शरीर) यदि जीव शरीररूप नहीं है (तित्थयरायरिय संयुदी चैव) तो “द्वौ कु देदुत्तुपारहारधवत्तौ” इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गई तीर्थंकर की स्तुति और “देस कुल जाइ सुद्धा” इत्यादि आचार्यों की स्तुति (सब्बावि हवदि मिच्छा) सब ही मिथ्या ठहरती है (तेण दु आदा हवदि देहो) इसलिये आत्मा ही शरीर है या शरीर ही आत्मा है ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है । इस प्रकार यह पूर्वपक्ष की गाथा हुई ॥३१॥

अब आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि हे माई ! तूने कहा सो ठीक नहीं बैठता क्योंकि तू निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर जो साध्य साधक भाव है उसको नहीं जानता —

ववहारणओ भासवि जीवो देवो य हवदि खलु इक्को ।

ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥३२॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।

न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥३२॥

अर्थ—व्यवहार नय (जो कि संयोग मात्र को लेकर चलता है) कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं किन्तु निश्चयनय (जो तादात्म्य संबंध को ही स्वीकार करता है) से जीव और देह किसी काल में भी एक नहीं है (किन्तु भिन्न भिन्न हैं) ॥३२॥

तात्पर्यवृत्ति—ववहारणयो भासवि व्यवहारनयो भाषते भूते कि भूते ? जीवो देहो य हवदि खलु इक्को जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च

कदाचित्काले एकार्यं एको भवति । यथा वनककलघौतयो समावर्तिततावस्थाया व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्व तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः । तत कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवन युक्तं भवतीति नास्ति दोषः । तथाहि—

टीका—(व्यवहारणयो भासदि) व्यवहारनय कहता है कि (जीवो देहो य हवदि खलु इक्को) जीव और देह अवश्य ही एक है (ए दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो) किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह दोनों परस्पर कभी किसी काल में भी एक नहीं होते हैं । जैसे चादी और सोना मिली हुई दशमे व्यवहारनय से परस्पर एक है फिर भी निश्चय से वे अपने रूप रंग को लिये हुये भिन्न भिन्न हैं वैसे ही जीव और देह का व्यवहार है । इसलिये व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोष कारक नहीं है ॥३२॥

इसी को फिर स्पष्ट करते हैं—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।

मण्णदि हु सयुदो वंदितो मए केवली भयवं ॥३३॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।

मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥३३॥

अर्थ—जीव से अन्य हम पुद्गलमयी देह की स्तुति गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति व वदना करली है ॥३३॥

तात्पर्यवृत्तिः—इणमण्ण जीवादो देह पुग्गलमय थुणित्तु मुणी इदमन्यदभिन जीवात्मकाशाद्देह पुद्गलमय स्तुत्वा मुनि । मण्णदि हु सयुदो वंदितो मए केवली भयवं परचादधवहारेण मन्यते संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवानिति । यथा सुवर्णरजतैकत्वे सति शुक्ल सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चय तथा शुक्लरक्तात्पलवर्ण, केवलपुरुष इत्यादिदेहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवन भवति न निश्चयनयेनति तात्पर्यार्थः । अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलस्तवन न भवतीति दृढयति ।

टीका—(इणमण्ण जीवादो देह पुग्गलमय थुणित्तु मुणी) जीव में भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्तवन करके मुनि (मण्णदि हु सयुदो वंदितो मए केवली भयवं) व्यवहार से ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति और वदना करली । तात्पर्य यह है कि जैसे चादी के साथ मिले हुये स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव में सोना सफेद नहीं होता उसी प्रकार अमुक केवली भगवान ध्वेन लाल, या कमल के रंगवाले हैं इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है किन्तु निश्चय से नहीं ॥३३॥

आगे इसी को दृढ़ करते हैं कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान का स्तवन नहीं होता—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण शरीर गुणा हि होति केवलिनो ।

केवलि गुणे थुणदि जो सो तच्च केवलं थुणदि ॥३४॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवति केवलिनः ।

केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥३४॥

वर्णः—किन्तु उपर्युक्त बात निश्चयनम मे घटित नहीं होती क्योंकि शरीर के पुनर्जननी गुण केवली के नहीं हो सकते । अतः निश्चयनय में तो जो केवली के ज्ञानादि गुणों का स्तवन करता है तभी केवली भगवान का स्तवन समझा जाता है ॥३४॥

तात्पर्यवृत्तिः—तं निष्छये ण जुज्जदि तत्पूर्वोक्तदेहेस्तवने सति केवलस्तवन निश्चयेन न युज्यते कथमिति चेत् ण सरीरगुणा हि होंति केवलितो यत् कारणाच्छरीरगुणा शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवति । तर्हि कथं केवलस्तवन भवति केवलिगुणो धुणदि जो सो तच्च केवलं धुणदि केवलिगुणात् भनतज्ञानादीन् स्तोति यः स तत्त्व वास्तव स्फुट वा केवलिन स्तोति । यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न गण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानवकस्वभाव केवलिपुरुषस्तवन निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः । अथ शरीरप्रभुत्वेपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवन न भवति निश्चयनयेन तत्र दृष्टान्ताह —

टीका — (त निष्छये ण जुज्जदि) पूर्वोक्त प्रकार देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नहीं है (ए सरीरगुणा हि होंति केवलिनो) शरीर के गुण जो शुक्ल कृष्णादि हैं वे केवली के धपने गुण नहीं हो सकते । तब केवली का स्तवन कैसा होता है ? (केवलिगुणो धुणदि जो सो तच्च केवलं धुणदि) कि जो जीव केवली के भनत ज्ञानादिक गुणों का वर्णन करता है वही वास्तव मे केवली भगवान का स्तवन करने वाला होता है । भावार्थ यह है कि जैसे शुक्ल वर्णवाली चादी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं बन सकता वैसे ही केवली के शरीर मे होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन से चिदानद एक स्वभाववाले केवली भगवानका स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता ॥३४॥

आगे आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय से नहीं माना जा सकता इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टांत देते हैं ।

अयरिम्म वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।

देहगुणे धुवन्ते ण केवलिगुणा धुदा होंति ॥३५॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।

देहगुणो स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवति ॥३५॥

तात्पर्यवृत्तिः—यथा प्राकारोपवनस्त्रातिकाविनगरवर्णने कृतेपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति तथा शुक्लादि-देहगुणस्तूयमानेयनतज्ञानादिकेवलिगुणा स्तुता न भवतीत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टय गत । अथानतर यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति इन्द्रियमात्रेन्द्रियपंचेन्द्रियविषयास्वसवेदनलक्षणज्ञानेन जित्वा धोसी शुद्धमात्मान सचेतयते स चित्त इति जितेन्द्रिय इति साचैव निश्चयस्तुतिपरिहार ददाति ।

टीका—जैसे प्राकार उपवन और खाई आदि के वर्णन से किसी राजा के नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं हो सकता है । वैसे ही केवली भगवान के श्वेतादि शरीर के गुणों का वर्णन करने पर केवली के भनतज्ञानादि गुणों का वर्णन नहीं हो जाता ॥३५॥ इस प्रकार निश्चय व्यवहार रूप से चार गाथा पूर्ण हुई ।

अब यदि देह के गुणों का वर्णन करने से निश्चय स्तुति नहीं होती है तो फिर वास्तविक स्तुति क्या है, ऐसा पूछने पर भावार्थ उत्तर देते हैं कि जो इन्द्रिय और मानेन्द्रिय रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों को स्वसवेदन

ज्ञान के बल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है वही जितेन्द्रिय है, इस प्रकार निश्चय स्तुति होती है । यही बात ध्याये कि गायामे कहते हैं —

**जो इदिए जिजित्ता, णाणसहावाधिंयं मुणदि आदं
तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३६॥**

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।

तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३६॥

अर्थ—निश्चयमे तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्माका अनुभव करनेवाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं जो इन्द्रियो को बशमे करके अपने ज्ञानादि गुणोसे परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है ॥३६॥

तात्पर्यवृत्ति—जो इदिये जिजित्ता णाणसहावाधिंयं मुणदि आदं य कर्ता द्रव्येन्द्रियमावेन्द्रियपञ्चैन्द्रियविषयात् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिक परिपूर्ण शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति सचेतयति तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू त पुरुष खलु स्फुट जितेन्द्रिय भणति ते साधव के ते ये निश्चिता निश्चयज्ञा इति । किंच ज्ञेया स्पर्शादिपञ्चैन्द्रियविषया ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियमावेन्द्रियाणि तेषां योसौ जीवेन सह सकर सयोग संबध स एव दोष त दोष परमसमाधिबलेन योसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थ । अथ तामेव स्तुति द्वितीय-प्रकारेण भाव्यभावकसकरदोषपरिहारेण कथयति । प्रथमा उपशमभ्येक्षया जितमोहरूपेणाह —

टीका—(जो इदिए जिजित्ता णाणसहावाधिंयं मुणदि आदं) जो जीव द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूप पञ्चेन्द्रियो के विषयो को जीतकर शुद्ध ज्ञानचेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, सचेतता है, अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है, (तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू) उस पुरुष को ही निश्चयनय के जाननेवाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं । भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पाचो इन्द्रियो के विषय तो ज्ञेय हैं और उनके जाननेवाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पाचो इन्द्रिया है और उनका जीव के साथ जो सकर है—सयोग संबध है वही दोष है, उस दोष को परम समाधि के बल से जीत लेता है वही जिन है । यह पहली निश्चय स्तुति हुई ॥३६॥

ध्याये उसी निश्चय स्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य (ससारी जीव) भावक (मोहकर्म) इन दोनों में जो सकर दोष है उसका परिहार करनेरूप अथवा उपशम अर्थात् अपेक्षा आत्मा जित मोह है ऐसा कथन करते हैं—

जो मोहं तु जिजित्ता, णाणसहावाधिंयं मुणदि आदं ।

तं जिव मोहं साहू, परमदुबियाणया विति ॥३७॥

यो मोहं तु जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।

तं जितमोहं साधु, परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

अर्थ—जो मोह को दबाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्माका अनुभव करता है परमार्थ के जानने वाले उस साधुको मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं ॥३७॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मोहं तु जिजित्ता णाणसहावाधिंयं मुणदि आदं य. पुरुष उदयागत मोह सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्र्यकात्म्यरूपनिरूपणविषयसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिक परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति

तं जिवमोहं साधुं परमदुर्वियाणया विति त साधुं जितमोहं रहितमोह परमार्थविज्ञायका ब्रूवंति कथयतीति । इय द्वितीया स्तुतिरिति । किंच भाव्यभावकसकरोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकाया जणितं प्रवद्विस्तत्कथं वदतेति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयो शुद्धजीवेन सह संकर संयोग सबध स एव दोष त दोष स्वसवेदनज्ञानबलेन योसो परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावानं । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोकर्मनोकर्ममनोवचनकामसूत्रार्थकादश पञ्चाना श्रोत्रचक्षुष्माण-रसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियमूर्धैरु पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनेनैव प्रकारेणान्यान्यन्यसख्येयलोकमात्रविभाव-परिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि । अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुति कथ्यते । अथवा तामेव क्षपक-श्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह—

टीका—(जो मोह तु जिरिण्ता रागसहावाधिय मुणदि आद) जो पुरुष उदयमें आये हुये मोहको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ग्यज्ञान, और सम्यक्चरित्र इन तीनों की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर शुद्ध ज्ञानगुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आरभाको मानता है, जानता है, और अनुभव करता है (त जिव मोह साधु परमदुर्वियाणया विति) उस साधुको परमार्थ के जाननेवाले 'जित मोह' अर्थात् मोहसे रहित जिन इस प्रकार कहते हैं । यह दूसरी निश्चय स्तुति है । भावार्थ—यहा कोई पृच्छता है कि आपने पातनिकामे बतलाया था कि भाव्य भावक मे परस्पर जो संकर दोष है उसका निराकरण करने से दूसरी स्तुति होती है सो यह बात यहा कैसे चटित होती है तो उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादिरूपमे परिणत आत्मा और भावक रागरूप करने वाला उदयमे आया हुआ मोह कर्म इन दोनों भाव्य भावको का जो शुद्ध जीव के साथ संकर अर्थात् संयोग सबध है वही हुआ दोष उसको जो साधु स्वसवेदन ज्ञान के बल से परास्त कर देता है वह जिन है । यह दूसरी स्तुति हुई ॥३७॥

इसी प्रकार यहा मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पांच इन्द्रिय सूत्रके द्वारा पृथक् २ लेकर व्याख्यान करना चाहिये । और इसी प्रकार और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासंगिक रूप से समझ लेना चाहिए ।

अब भाव्य भावक के अभावरूप तीसरी निश्चय स्तुति कही जाती है अथवा यो कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीण मोह है ऐसा कथन किया जाता है —

जितमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छयविद्वाहिं ॥३८॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।

तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्विः ॥३८॥

अर्थ—उपयुक्त प्रकार जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है उस साधु का जब मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय निश्चय के ज्ञाता गणघरादिक क्षीण मोह जिन कहते हैं ॥३८॥

तात्पर्यवृत्ति—जितमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वाभाषाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत् कस्य साधो शुद्धात्मभावकस्य सहिया हु क्षीणमोहो

भण्णवि सो णिच्छयविद्दीहि तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधु क्षीणमोहो भण्यते । कैनिश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकै-
र्गणधरदेवादिति । इय तृतीया निश्चयस्तुतिरिति । भाव्यभावक भावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्—भाष्यो-
रागाविपरिणत आत्मा, भावको रजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भाव स्वरूप तस्याभाव क्षयो विनाश सा
चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्राय । एव रागद्वेव इत्यादि दण्डको ज्ञातव्य । इति प्रथमगाथाया पूर्वपक्षस्तदनंतर
गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहार समर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथान्तरे निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्ष-
परिहारगाथाष्टक समुदायेन षष्ठस्थल गत । अथ रागादिविकल्पोपाधिरहित स्वसवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरण-
रूपेण गाथाचतुष्टय कथ्यते । तत्र स्वसवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्त-
रूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वय । तदनंतर मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वय एव
सप्तमस्थले समुदायपातनिका । तथाहि—तीर्थंकराचार्यस्तुतिनिर्वाहिका भवतीति पूर्वपक्षभलेन जीवदेहयोरैकत्व कर्तुं नाया-
तीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्ध सन् दे भगवन् 'रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छन् । इति पृच्छति कोर्थ इति पृष्टे
प्रत्युत्तर । एव प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्र तिष्ठान्दस्यार्थो ज्ञातव्य ।

टीका—(जिद मोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स) पूर्व गाथामे कहे हुये क्रमसे जिसने
मोहको परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा के अनुभव करनेवाले साधु के निर्विकल्प समाधिमे जब मोह
सर्वथा नष्ट हो जाता है (तइया हु खीणो मोहो भण्णवि सो णिच्छय विद्दीहि) उस समय (तीन) गुप्तिरूप
समाधिकालमे वह साधु 'क्षीणमोह जिन' होता है ऐसा परमार्थके जानेनेवाले गणधरादिक देव कहते हैं ।
इस प्रकार तीसरी निश्चय स्तुति हुई । भाव्यभावक भावके अभावरूप से यह स्तवन कैसे हुआ तिसका
समाधान आचार्य करते हैं कि भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा है और भावक राग उत्पन्न करने
वाला उदयमे आया हुआ मोह कम है । इन दोनों भाव्य भावको का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका
अभाव विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चय स्तुति हुई ॥३८॥

यहां पर भी उपर्युक्त गाथामे बताये हुए रागद्वेषादिरूप जो दण्डक हैं वे सब यहां भी लगाने ।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यमहाराज ने 'जिन' शब्द की तीन प्रकारसे निरुक्ति की है । (१) जो
समस्त परद्रव्यो से दूर होता हुआ इन्द्रियो को पूर्णरूप से जीतता है अतएव अपनी आत्मा मे निमग्न है
वह जिन है । (२) जो मोह को सर्वथा उपशम कर आत्मानुभवमे मग्न होता है वह जिन है । (३)
जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया वह साधु जिन है । इस प्रकार आचार्य देवने जिन शब्द का अर्थ
साधु अवस्थासे ही प्रारंभ किया है, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्थामे जिनपना
अभीष्ट नहीं है ।

इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथामे देह और आत्मा को एक माननेरूप पूर्वपक्ष किया । फिर
चार गाथाओ से निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया । फिर तीन गाथाओसे
निश्चय स्तुति के कथन से उसीका विशेष समाधान किया । इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसका परिहार रूप
आठ गाथाओ मे छटा स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे रागादि विकल्पो की उपाधिसे रहित जो स्वसवेदन ज्ञान है वही है लक्षण जिसका ऐसे
प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथाये कही जाती है तिनमे स्वसवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कथन
करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषयमे दृष्टान्तरूप दूसरी गाथा है । इस प्रकार दो गाथा
हैं । फिर मोह के त्यागरूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थके त्यागरूपसे दूसरी गाथा है । ऐसे दो
गाथा हैं । ऐसे सातवे स्थलकी चार गाथाओ मे समुदाय पातनिका हुई ।

यहां यदि जीव धीरे देह को एक नहीं माना जायगा तो तीर्थंकर व आचार्य की स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है इस प्रकार पूर्वपक्षके बलसे जीव धीरे देहमें एकपत्ता मानना ठीक नहीं है ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ मिथ्य पृच्छता है कि हे भगवन् ! रागादिको का प्रत्याख्यान किस प्रकार किया जाय ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं (नोट—इसी प्रकार धीरे स्थान पर भी प्रश्नोत्तररूप पातनिका जहां पर भावे बहो सभी स्थानों पर 'इति' शब्द का ऐसा ही ग्रथ लेना)

णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण ।

तम्हा पच्चक्खाणं णाणं नियमा मुणेयव्वं ॥३६॥

ज्ञानं सर्वान्मावात् प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।

तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् मन्तव्यम् ॥३६॥

अर्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है तब उन्हें उसी समय छोड़ देता है अतः वास्तवमें ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ।

तात्पर्यवृत्तिः—णाण सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसवेदनज्ञानमात्मेति ग्रन्थते त ज्ञान कर्तुं मिथ्यास्वरगादिभाव परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति निराकरोति तम्हा पच्चक्खसण एणस्य नियमा मुणेयव्व तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यान नियमाभिश्चवात् मन्तव्य ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति । इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मानमनुभवति तदेवानुभवन निश्चयप्रत्याख्यानमिति । अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्ताह ।

टीका—(णाण सव्वेभावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण) 'जानाति इति ज्ञान' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है । अतः स्वसवेदन ज्ञानही आत्मा नाम से कहा जाता है वह ज्ञान मिथ्यात्व और रागादि भावों को ये परस्वरूप है ऐसा जान लेता है तबही उन्हें छोड़ देता है उनसे दूर हो जाता है । (तम्हा पच्चक्खाण एण नियमा मुणेयव्व) इसलिये निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञानही नियमसे प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिये जानना चाहिये और अनुभव करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि परम समाधि कालमें स्वसवेदन ज्ञान के बलसे आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है वह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है ॥३६॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और प्रत्याख्यान दोनों एक ही वस्तु है । वास्तवमें इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि जब भेदज्ञान होता है कि ये सब परवस्तु मेरेसे भिन्न है तो उन्हें उसी समय छोड़ देता है । ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी वस्तु को पर जानते हुये अपने आपके लिए हानिकारक तो जानले फिर भी उसे छोड़े नहीं । यदि नहीं छोड़ता है तो समझो उसके जाननेमें ही कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है । इसी को आचार्यदेव स्वयं आगे की गाथामें स्पष्ट करते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।

तह सव्वे परभावे, णारुण विमुच्चदे णाणी ॥४०॥

यथानाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिवमिति ज्ञात्वा त्यजति ।

तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥४०॥

अर्थ—जैसे कोई भी पुरुष यह जान लेता है कि यह परद्रव्य है तो उसे वह छोड़ देता है । उसी प्रकार जो आत्मासे अनिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है तो उन्हें छोड़ ही देता है वह ज्ञानी कहलाता है ॥४०॥

तात्पर्यवृत्ति—जहणाम कोवि पुरिसो परद्रव्यमिवमिति जाणिहु चयदि यथा नाम ग्रहो स्फुट वा कश्चित्-पुरुषो वस्त्राभरणादिक परद्रव्यमिवमिति ज्ञात्वा त्यजति तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे राणी तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायात् स्वसर्वदेनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्धया विमुञ्चति त्यजति स्वसर्वदेनज्ञानीति । अयमत्र भावार्थ —यथा कश्चिद्देवदत्त परकीयचीवर आत्मा मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानं सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रावलमादायाच्छोषं नग्नीक्रियमाणं सन् वस्त्रलाञ्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुञ्चति तथाय ज्ञानी जीवोऽपि परमं निर्विण्णं गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवति, एकएव त्वमिति प्रतिबोध्यमानं गन् परकीयानि ज्ञात्वा मुञ्चति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एव गाथाद्वयं वन । अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टेमहि मोहादिपरित्यागप्रकारमाह ।

टीका (जहणाम कोवि पुरिसो परद्रव्यमिवमिति जाणिहु चयदि) जैसे कोई भी पुरुष वस्त्र आभरण आदि कोई भी वस्तुको यह परद्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूपसे जान लेता है तब उसे छोड़ देता है । (तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे राणी) उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सबही परभावो को अर्थात् पर्यायो को अपने स्वसर्वदेन ज्ञानके बलसे जानकर उन्हें विशेषरूपसे अर्थात् मन वचन कायरूप त्रिशुद्धि द्वारा छोड़ देता है तबही वह स्वसर्वदेन ज्ञानी होता है (अन्यथा नही) । भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रमसे दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे लेआया और पहनकर सो गया । पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकड़कर खींचता है और उतारना चाहता है तो उस वस्त्रके विशेष चिह्न को देखकर वह जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है । उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा 'यह सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक (शुद्ध आत्मा) ही है', ऐसा समझाया जाने पर उनको पर जान छोड़ देता है और शुद्धात्मा का अनुभव करने लगता है (वही ज्ञानी है) । इस प्रकार दो गाथाये पूर्ण हुई ॥४०॥

विशेषार्थ—आचार्य के सब कथन का सार यह है कि जो प्रत्याख्यानही है—सब पर वस्तुओं को त्यागकर पृथक् हो जाता है एव अपने शुद्धात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता है वही ज्ञानी होता है ।

आगे शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादिक के परित्याग का प्रकार बतलाते हैं—

णत्थि मम कोवि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।

तं मोहं णिममत्तं समयस्स वियाणया विति ॥४१॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः

तं मोहं निर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥४१॥

अर्थ—मोह (परको अपनाना) मेरा कोई भी सबधी नहीं है उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हूँ इस प्रकार के जाननेको सिद्धान्त के जानकर लोग निर्मोहपना कहते हैं ॥४१॥

तात्पर्यवृत्तिः—एतस्य मम कोवि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टकोत्कीर्णज्ञायकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तुं भूतेन भावयितुं रजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः । बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को बुध्यते जानाति स क कर्ता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव । किं बुध्यते यत् कारणादहमेकं ततो मोहप्रति निर्ममत्वोस्मि निर्मोहो भवामि । अथवा बुध्यते जानाति किं जानाति विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः । तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स विद्याणया विति त निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूप निर्ममत्वं ब्रूवति वदति जानति वा केते समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायका पुरुषा इति । किंच विशेष — यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तत्सर्व-वेद निर्मोहत्व विशेषव्याख्यानमिति । एवमेव मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोककर्मनोक्तकर्मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्ध्रांशरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयनोक्तमात्रप्रमितानि विभावपरिणाम-रूपाणि ज्ञानव्यानि । अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूप न भवतीतिप्रतिपादयति —

टीका —(एतस्य मम कोवि मोहो) शुद्ध निश्चयनयसे टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला जो मैं उसको राजायमान करने के लिये रागादि परभाव कभी समर्थ नहीं है, इसलिये द्रव्य और भावरूप कोई भी मोह मेरा नहीं है । (बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को) किन्तु ज्ञान दर्शन उपयोगरूप लक्षणवाला होने से मेरा आत्मा तो इस प्रकार जानता है कि मैं तो केवल उपयोग स्वरूप ही हूँ भूतएव मैं तो मोह से दूर हूँ निर्मम हूँ इस प्रकार जो अपने आपको केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी जानता है (तं मोहं निम्मम-मत्तं समयस्स विद्याणया विति) उसे ही शुद्धात्माके स्वरूपको जाननेवाले लोग मोहसे निर्ममत्व हूँ अहं (शुद्धात्म स्वरूप हूँ अहं) बतलाते हैं जानते हैं । सार यह है कि आचार्यदेवने स्वसंवेदन ज्ञान को ही प्रत्या-ख्यान बतलाया था उसी का यह निर्मोहरूप से विशेष व्याख्यान है । यहा जहा मोह पद लगाया है उसीके स्थानपर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोक्तकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलहसूत्र क्रमसे लगाकर व्याख्यान करना चाहिये । और इसी प्रकार अन्य भी असंख्यात लोक परिमिन जो विभाव भाव हैं उन्हें भी समझना चाहिये ॥४१॥

धामे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरा आत्मा का स्वरूप नहीं है —

एतस्य मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।

तं धम्मं निम्ममत्तं, समयस्स विद्याणया विति ॥४२॥

न सति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः

तं धर्मेनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विन्दन्ति ॥४२॥

धर्म—मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूँ धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीव द्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं है इस प्रकार जो जानता है उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि पर द्रव्यो से निर्ममत्व हूँ अहं कहते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति —एतस्य मम धम्म आदी न सति न विद्यते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति बुज्झदि बुध्यते ज्ञानी तर्हि किमहं उवओगएव अहमिक्को विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहं अथवा ज्ञान दर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभे-देनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण, यतोहं टकोत्कीर्णज्ञायकस्वभाव एक ततो दधिस्तदधिस्तिरिणीवत् व्यव-हारेणैकत्वेति शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूप न भवतीति परद्रव्य प्रति निर्ममत्वोस्मि तं धम्मं निम्ममत्तं समयस्स विद्याणया विति तं शुद्धात्मभावनास्वरूप परद्रव्य निर्ममत्व समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायका पुरुषा ब्रूवति कथयतीति ।

किञ्च इदमपि परब्रह्मनिर्ममत्व यत्पूर्वं मणित स्वस्ववेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यान तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्य इति गाथाद्वय गत । एव गाथाचतुष्टयसमुदायेन सतमस्थल समाप्त । अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धान् सम्यक्त्व तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वस्ववेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीनरागस्वस्ववेदननिश्चलरूप चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृश स्वरूपं भवतीत्यादिदयन्स्य जीवाधिकारमुपसहृति ।

टीका—(एतस्य मम धम्म आदी) धर्मास्तिकाय आदि जो समस्त ज्ञेय पदार्थ है वे सब मेरे नहीं है (बुद्धदि) ऐसा ज्ञानी जीव जानता है—वह जानता है कि (उपयोग एव अहमिक्को) मैं तो केवल विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमयी हूँ अथवा वह जानता है कि ज्ञान दर्शन उपयोगमय होने से मैं तो उपयोग के साथ अभिन्न हूँ, उपयोगमयी हूँ, क्योंकि मैं एक टकोत्कीर्णं जायक स्वभाव हूँ इसलिये व्यवहार नयसे परब्रह्मों के साथ दधि खाड़ आदि शिखरिणी के समान भले ही मेरे साथ एकता हो फिर भी शुद्ध निश्चयनय से यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये मैं तो इन सब पर ब्रह्मों से निर्मम हूँ (तं धम्मं शिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति) ऐसे शुद्धात्मा के स्वरूप के अनुभव करने वाले को सिद्धान्तके जानकार पुरुष परब्रह्म से निर्मम हुआ कहते हैं । यहाँ परब्रह्म से निर्ममपना बताया गया है वह भी उसी का विशेष व्याख्यान है जो पूर्व में कह आये हैं कि स्वस्ववेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा समझना चाहिये ॥४२॥

इस प्रकार दो गाथाये कही गई । और इस प्रकार समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवा स्थल पूर्ण हुआ ।

अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान् तो सम्यक्त्व, उसी शुद्ध आत्मा से स्वस्ववेदन रूप ज्ञान वही सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा से वीतराग स्वस्ववेदन ज्ञान को स्थिर करके रखना सो सम्यग्चारित्र्य इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी ।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तिं ॥४३॥

अहमेकः खलु सुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।

नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥४३॥

धर्म—(ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि) मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ अर्थात् पर ब्रह्म सबध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शनज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अतः इन सब बाह्य पर ब्रह्मों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है ।

तात्पर्यवृत्ति—अहं अनादिदेहात्मैक्यभ्रात्याज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोपि करतलविन्यस्तमुमिन्मृत पश्चाद्भिन्नाभिन्नाश-स्मृतचामीकरावलोकात्मन्यायेन परममुपसंज्ञेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो य सोह वीतरागश्चिन्मात्र ज्योति । पुनरपि कथं भूत इहको यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टकोत्कीर्णजायकैकस्वभावत्वा-देक । खलु स्फुट । पुनरपि किंरूपं सुद्धो व्यावहारिकनवपदोर्ध्वं शुद्धनिश्चयनयेन भिन्न । अथवा रागादिमावे-म्योभिन्नोहमिति शुद्ध । पुनरपि किंचिद्विदुः ससण्णाराणमइओ केवलदर्शनज्ञानमय । पुनरपि किंरूपं सदारूवी निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्त्त । एतस्य अस्ति मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्ति । इत्यभूतस्य सत नैवास्ति भवात्यन्तरमायुमात्रमपि पर ब्रह्म किमपि । यदेकत्वेन रजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति । कस्माद् परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वम् ।

इति समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणया तात्पर्यवृत्ती स्थलसतकेन जो पस्सदि अण्णाभित्यादि सतविशतिगाथा तदनंतरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविशतिगाथाभिर्जीवाधिकार समाप्तः । इति प्रथमरगः ।

टीका—(अह) अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप अमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था (सही बात को नहीं समझने वाला था) किन्तु जिस प्रकार हाथ में रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा में मग्न हो कर सो जाता है फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रमत्त हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में तल्लीन हो रहा हूँ एवं वीतराग चेतनामात्र ज्योति स्वरूप हूँ । (इक्को) यद्यपि व्यवहार नय से नरनारकादि रूप पर्यायो से अनेक रूप हूँ (खलु) ऐसा स्पष्ट है । (सुद्धो) शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यावहारिक जीवादि नव पदार्थों से मैं भिन्न हूँ अथवा रागादि विभाव भावों से भिन्न हूँ । (दसण्णाणमइमो) केवल मात्र दर्शन ज्ञान मय हूँ । (सदाख्खी) निश्चयनय से रूप रस गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ । (एवावि अत्थि मज्झ किञ्चि अण्ण परमाणुमित्तिपि) इस प्रकार इन परद्रव्यों में से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है जो कि एकत्व रूप से रजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके क्योंकि मैं तो परम विशुद्ध ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ । (अर्थात् परम समाधि में तत्पर होकर अपने आप में लीन हो रहा हूँ) ॥४३॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी तात्पर्य नामकी समयसार की व्याख्या में सात स्थलों से 'जो पस्सदि अण्णाण' इत्यादि २७ गाथा व उसके पीछे एक उपसंहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओं से प्रथम जीवाधिकार समाप्त हुआ ।

इस प्रकार प्रथम रग समाप्त हुआ

(२) अजीवाधिकार (दूसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्ति—अथानंतर शृ गारमहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूती प्रविशत । तत्र स्थलत्रयेण त्रिशदगाथा-पर्यंतमजीवाधिकार कथ्यते । तेषु प्रथममध्ये शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्य जीवस्वरूप न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन अण्णाणमयाणतो इत्यादिगाथाभिर्द्विधा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र गाथादशकमध्ये पर-द्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापञ्चक तदनंतर परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेक । अष्टाष्टविध कर्मपुद्गलद्रव्य भवतीति कथन-मुख्यत्वेन सूत्रमेक । ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रय कथ्यत इति समुदायपातनिका । तद्यथा । अथ देहरागादि-परद्रव्य निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्ष करोति ।

अब इसके आगे शृ गार किये हुए नाटक पात्र के समान जोव और अजीव दोनों एक रूप होकर आते हैं । वही तीन स्थलों से तीस गाथा पर्यंत अजीवाधिकार कहा गया है । उनमें से पहले स्थल में 'अण्णाण मयाणतो' इत्यादि दस गाथा पर्यंत तो मुख्यता से यह बतलाते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से देह और रागादि

पर द्रव्य जीवके स्वरूप नहीं हो सकते । उन दस गाथाओंमें से भी परद्रव्य को आत्मा माननेरूप पूर्व पक्ष की मुख्यतासे प्रथम पाच गाथा हैं, तत्पश्चात् एक गाथा से उसका निराकरण है, उसके आगे आठ प्रकार का कर्म भी पुद्गल द्रव्य है ऐसा एक गाथासे कथन किया गया है, फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा कही हैं । इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई ।

अब देह व रागादि जो परद्रव्य है, वह नियम से जीव है ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं —

अप्याणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।

जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥४४॥

अवरे अज्झवसाणे, सुतिव्व मंदाणुभागगं जीवं ।

मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४५॥

कम्मसुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।

तिव्वत्तणमवंत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४६॥

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।

अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४७॥

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।

तेण दु परप्पवादी णिच्छयवाईहिं णिदि द्ढा ॥४८॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।

जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ॥४४॥

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवं ।

मन्यन्ते तथाऽपरे नोकम्मं चापि जीव इति ॥४५॥

कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति ।

तीव्रत्वमंदत्वगुणाम्यां यः स भवति जीवः ॥४६॥

जीवकर्माभियं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति ।

अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥४७॥

एवविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मथसः ।

तेन तु परात्मवादिनः निश्चयवादिर्निष्पिडाः ॥४८॥

अर्थ — आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष परद्रव्य को ही आत्मा मानते हैं उनमें से कितने ही अध्यवसान (रागादि) को, कोई कर्मको ही जीव कहते हैं । तथा कोई अध्यवसानोमें भी तीव्रता, मन्दता को लिये हुये जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं । अन्य कोई नोकर्म को (बलते फिरते शरीर को) ही जीव मानते हैं । कोई कर्म के उदयको जीव मानते हैं । कोई कर्मके फलको जो तीव्र मंद रूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है वह जीव है ऐसा दृष्ट करतें हैं ।

कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग कर्मों के परस्पर संयोग से पैदा हुआ जीव को मानते हैं। इस प्रकार और भी अनेक प्रकार की आत्मा के विषयमें अज्ञानी लोग भिन्न भिन्न कल्पनायें करते हैं, वे वस्तु स्थितिके जानने वाले नहीं किन्तु मन्दबुद्धि हैं ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञ देव तथा गुणधरादि ऋषियों ने कहा है ॥४४-४८॥

सात्त्विकवृत्ति—अप्पाजमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो कोई आत्मानमजानत मूढास्तु परद्रव्यमात्मान बदतीत्येवशीला केचन परात्मवादिन जीव अज्झवसाणं कम्म च तथा परूवति यथागारात् काण्वं भिन्न मास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसान कर्म च जीव बदतीति। अथ अवरं अज्झवसाणेमुत्तिव्व मदानुभावं जीव मण्णति अवरं केचनैकांतवादिन रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमदतारतम्यानुभावस्वरूप शक्तिमाहात्म्य गच्छतीति तीव्रमदानुभावगस्त जीव मन्यते। तद्वा अवरं णोकम्म चावि जीवोस्ति तयैवापरं चार्वाकादय कर्मनोकर्म-रहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्या शरीरादिनोकर्म चापि जीव मन्यते। अथ—कम्मस्तु उदय जीव अवरं अवरं कर्मण उदय जीवमिच्छति कम्माणुभागमिच्छति अवरं च कर्मानुगाय सतादावस्थिपाषाणरूप जीवमिच्छति। कथंभूतः स चानुगाय तिष्ठत्तरप्पमदत्तगुणेहि जो सो हवदि जीवो तीव्रत्वमदत्तगुणाग्या वसंते य स जीवो भवतीति। अथ—जीवोकम्म उहय दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छति जीवकर्मोमय द्वे अपि जीवकर्माणि शिखरिणीवद्ध वज्जु स्फुट जीवमिच्छति। अवरं सज्जोगेण दु कम्माण जीवमिच्छति। अवरं केचन अष्टकाष्ठलद्वावदण्टकमणा सयोगेनापि जीवमिच्छति। कस्मात् अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः। अथ एवविहावहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा एवविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मान वदन्ति दुमंभो दुवुदय तेण दु परप्पवादी सिच्छयवादीहि णिहिट्ठा तेन कारणेन तु पुन देहरागादि परद्रव्यमात्मान बदतीत्येव शीला परात्मवादिनो निश्चयवादिभि सर्वज्ञै-निदिष्टा इति पञ्चाशामि पूर्वपक्ष कृत। अथ परिहार वदति।

टीका—(अप्पाजमयाणता मूढा दु परप्पवादिणो कोई) जो आत्माको तो जानते नहीं है किन्तु आत्मासे भिन्न शरीरादि पर द्रव्यको ही जीव नाम से कहते हैं ऐसे कितने ही परात्मवादी मोही जीव हैं उनमें से कोई (जीव अज्झवसाण कम्म च तथा परूवति) जैसे अगारसे कालापन कोई भिन्न नहीं है वैसे ही रागादिभावों से भिन्न जीव नहीं है किन्तु रागादिरूप अध्यवसान भाव या कर्मही जीव है ऐसा कहते हैं। (अवरं अज्झवसाणेमुत्तिव्वमदानुभाव्य जीव मण्णति) कुछ एकान्तवादी लोग रागादि अध्यवसान भावोंमें जो तीव्रता मन्दतारूप तारतम्य लिए हुए अनुभव होता है तत्स्वरूप शक्ति समूह को प्राप्त होने वाला ही जीव है ऐसा कहते हैं (तद्वा अवरं णोकम्म चावि जीवोस्ति) वैसे ही चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेद विज्ञान से शून्य हैं वे शरीरादि नोकर्मको ही जीव मानते हैं। (कम्मसुदय जीव अवरं) कुछ कर्मके उदय को ही जीव कहते हैं। (कम्माणुभागमिच्छति) व कुछ लता, दारु, अस्थि, और पाषाणादि रूप जो कर्मोंका फल होता है उसे जीव कहते हैं वह अनुभाग (तिष्ठत्तरप्प मदत्तगुणेहि जो सो हवदि जीवो) तीव्रता मदतारूप स्वभावसे अपना फल देता है वही जीव है। (जीवो कम्म उहय दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छति) जीव और कर्म इन दोनों को शिखरिणी के समान मिले हुए को ही कुछ लोग जीव कहते हैं। (अवरं सज्जोगेण दु कम्माण जीवमिच्छति) जैसे आठ काठोका परस्पर संयोग होकर एक खाट बन जाती है, वैसे ही आठ कर्मोंके संयोगसे जीव हो जाता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं क्योंकि आठ कर्मोंके संयोगसे भिन्न शुद्ध जीव की उपलब्धि नहीं है। (एवविहा बहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा) इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की कल्पना करनेवाले मन्दबुद्धि

वाले जीव हैं जो कि देह रागादिरूप परद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं (तेज दु परप्पवादी शिच्छयवादीहि णिहिट्ठु) इसलिये वास्तविक कथन करनेवाले सर्वज्ञ भगवानने ऐसा कहा है कि ये लोग इन देह रागादि पर द्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होनेसे परात्मवादी है इस प्रकार पूर्व पक्ष का कथन करने वाली पाच गाथाये हुई ॥४४-४८॥

अब उपर्युक्त जा जीवका स्वरूप बतलाया है उसका परिहार करते हैं—

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा ।

केवलजिणोहि भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चन्ति ॥४९॥

एते सर्वभावाः पुगलद्रव्यपरिणामनिष्पन्ना ।

केवलजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥४९॥

अर्थ—केवली भगवान ने बतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्य कर्म के सबध से होने वाली हैं । इसलिये ये सब जीव नहीं कही जा सकती ॥४९॥

तात्पर्यवृत्ति—एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा एते सर्व देहगादाय कर्मजनितपर्याया पुग्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्ना । केवलीजिणोहि भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चन्ति केवलजिनै सर्वज्ञ कर्मजनिता इति भणिता कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यन्ते न कथमपि । किञ्च विशेष अगारात् काष्ण्यबद्वागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यदभ्युक्तं तदयुक्तं । कथमिति चेत् । रागादिभ्यो भिन्न शुद्धजीवोस्तीति पक्ष परमसमाधिस्थ पुरुषं शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दकम्बमावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतु । किङ्कालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टात । किञ्च अगारदृष्टातोपि न घटते । कथमिति चेत् । यथा सुवर्णस्य पीतत्व अन्नेरूपत्वात् स्वभावस्तथागारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्व कर्तुं नायाति । रागादस्तु विभाव स्फटिकोपाधिवत् तत्तन्तेया निर्विकारशुद्धात्मानुभूति-बलेन पृथक्कर्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्टसयोगलट्वावदष्टकर्मसयोग एव जीवस्तदप्यनुचित अष्टकर्मसयोगात् भिन्न शुद्ध जीवो स्तीति पक्षवचन अष्टकाष्टसयोगलट्वावायिन पुरुषम्वेव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टातमहितहेतु । किञ्च देहात्मनोरप्यत भेद इति पक्ष भिन्नलक्षण-सक्षितत्वादिति हेतु जलानलवदिति दृष्टात । इति परिहारगाथा गता । अब बिद्वत्प्रतिभासेपि रागाद्यवसानादय कश्च पुग्गलस्वभावा भवतीति चेत्—

टीका—(एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा) ये सभी देह रागादि रूप कर्म जनित अवस्थार्थे पौद्गलिक द्रव्य कर्म के उदय रूप परिणाम से उत्पन्न हुई है । इसलिए (केवल जिणोहि भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चन्ति) सर्वज्ञ भगवान ने इन्हे कर्म जनित बतलाया है, अत निश्चयनय से इन्हे जीव कैसे कहा जा सकता है—कभी नहीं कहा जा सकता । देखो, अगारे से कालेपन के समान जीव भी रागादि से भिन्न नहीं है ऐसा जो कहागया है वह ठीक नहीं है यह बात हम अनुमान से सिद्ध कर दिलाते हैं । देखो, शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है—यह पक्ष हुआ, क्योंकि परम समाधि मे स्थित पुरुषों के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानन्द एक स्वभाव वाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है—यह हेतु हुआ । कीट कालिकादि से भिन्न स्वर्ण के समान यह दृष्टात हुआ । किञ्च पूर्व पक्षकारने जो अगार का दृष्टात दिया है यहा घटति नहीं होता क्योंकि जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि का उष्णपना स्वभाव है वैसे अगारे का भी कृष्णपना स्वभाव है उसे पृथक् नहीं कर सकते किन्तु रागादिक तो ढाक के द्वारा स्फटिक मे धाई हुई उपाधि के समान जीव के विभाव भाव हैं इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के बल से जीव से पृथक् किया जा सकता है—दूर हटाया जा सकता है । इसी प्रकार जो यह कहा गया है

कि आठ काठों के संयोग से खाट नाम की वस्तु बन जाती है, उसी प्रकार आठ कर्मों के संयोगसे जीव उत्पन्न हो जाता है सो भी ठीक नहीं है। इस बात को भी सिद्ध करने के लिए अनुमान देते हैं। देखो, शुद्ध जीव आठ कर्मों के संयोग से भिन्न वस्तु है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि परम समर्थ में स्थित रहने वाले महापुरुषों के द्वारा आठ कर्मों के संयोग से पृथग्भूत शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले जीव की उपलब्धि हुई देखी जाती है—यह हेतु हुआ। जैसे कि आठ काठ के संयोग से बनी हुई खटिया पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है—यह दृष्टांत हुआ। और सुनो, देह और आत्मा में परस्पर अत्यन्त भेद है—यह पक्ष हुआ। क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न भिन्न है जिससे वे दोनों भिन्न २ पहचाने जा सकते हैं—यह हेतु हुआ। जैसे कि अग्नि और पानी—यह दृष्टांत हुआ। इस प्रकार परिहार गाथा पूर्ण हुई ॥४६॥

जब कि रागादि ग्रन्थवसान भावों में विद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव कंसे कहा जा सकता है इस प्रश्न का उत्तर आगे देते हैं।

अट्टविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति ।

जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥५०॥

अष्टविधमपि च कम्मं सर्वं पुद्गलमयं जिना विन्वंति ।

यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥५०॥

अर्थ—ये आठ प्रकार के कर्म सभी पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। क्योंकि इन उदयमें आये हुए सभी कर्मों का फल दुःख स्वरूप होना है।

तात्पर्यवृत्ति.—अट्टविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमय भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा भुवनि कथयति। कथंभूत यत्कर्म जस्सफलं तं वुच्चइ दुक्खंति विपच्चमाणस्स यस्य कर्मण फल तत्प्रसिद्धमुच्यते कि व्याकुलत्वस्वभावात्पादु खमिति। कथंभूतस्य कर्मण। विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्य—अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमाथंमुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादक दुःख रागादयोप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणस्तत् कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पीद्गलिका इति। अष्टविध कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता। अथ यद्यध्यवसानादय पुद्गलस्वभावास्तहि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन प्रयातरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति।

टीका—(अट्टविहं पि य कम्म सव्वं पुग्गलमयं जिणा विति) कर्म आठ प्रकारके होते हैं वे सभी पुद्गलमय है ऐसा सर्वज्ञ जिन भगवान् बतलाते हैं क्योंकि (जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खंति विपच्चमाणस्स) उदयमें आये हुए इन कर्मों का फल आकुलता को लिये हुए दुःखरूप होता है। तात्पर्य यह है कि आठों प्रकारके कर्मोंका कार्य, अनाकुलता है लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक सुखसे, विलक्षण है, आकुलता का उत्पादक है अतः वह दुःखरूप है और रागादि भावभी आकुलताके उत्पादक होनेमें दुःख स्वरूपही है। इस कारणसे वे भी पुद्गलके कार्य ही है इसलिये शुद्ध निश्चयनय से पीद्गलिक हैं। इस प्रकार आठ कर्मों को पुद्गल मय बताने वाली यह गाथा हुई ॥५०॥

इस पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि ग्रन्थवसान भाव पुद्गलमय ही है तो फिर जीव रागी, द्वेषी, मोही होता है, इस प्रकार ग्रन्थ ग्रन्थों में इनको जीव स्वरूप क्यों कहा गया है इसका उत्तर आगे देते हैं—

ववहारस्स वरीसणमुवएसो वणिज्जो जिणवरेहं ।

जीवा एवे सव्वे अज्झवसानादओ भावा ॥५१॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।

जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥५१॥

अर्थ—ये सब रागादि अध्यवसानमई भाव जीव है ऐसा जिनवर भगवान ने जो उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है ॥ ५१ ॥

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारस्स दरीसरण व्यवहारनयस्य स्वरूप दशित यत्किं कृत उवएसो वर्णिगदो जिएवरेहि उपदेशो वर्णित कथितो जिनवरै । कथंभूत जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावा परिणामा भण्यत इति । किं च विशेष यद्यप्यय व्यवहारनयो बहिद्व्यवावनवत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादि-बहिद्व्यवावनवरहितविशुद्धज्ञानस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वादर्थमितुमुचितो भवति । यदा पुन-व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवतीति मत्वा नि शकोपमर्दनं कुर्वति जना । ततश्च पुण्यरूप धर्माभाव इत्येक दूषण तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तोजीवस्तिष्ठति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठान कोपि न करोति ततश्च मोक्षभाव इति द्वितीय च दूषण । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्राय । अथ केन दृष्टानेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति ।

टीका—(व्यवहारस्स दरीसरण) यह व्यवहार नय का दर्शन है—मत है—स्वरूप है—जो कि (उवएसो वर्णिगदो जिएवरेहि) जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है कि (जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा) ये सब अध्यवसानादि भाव भी, परिणाम भी जीव हैं । स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिद्व्य का आलंबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिद्व्य के आलंबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के आलंबन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है । क्योंकि यदि व्यवहारनय को सर्वथा भुला दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चयसे तो त्रस स्थावर जीव है ही नहीं अतः फिर लोग नि शक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा एक दूषण तो यह आवेगा । तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव रागद्वेषमोह से रहित पहले से ही है अतः मुक्त ही है ऐसा मान कर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान क्यों कोई करेगा, अतः मोक्षका भी अभाव हो जायगा, यह दूसरा दूषण आवेगा । इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निरर्थक नहीं है ॥५१॥

यहां पर प. अचचवजी का भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग, द्वेष, मोह से भिन्न कहता है यदि इसीका एकान्त किया जाय तब शरीर तथा रागद्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग द्वेष मोह से बंध नहीं हो सकता । इस प्रकार परमार्थ से ससार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा ऐसा एकारूप वस्तु का स्वरूप नहीं है । अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध भेदकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ।

अब कि व्यवहार का उपदेश आवश्यक है तो फिर वह कैसे प्रवृत्त होता है सो दृष्टान्त द्वारा बताते हैं—

राया हु जिगगदो तिय एसो बलसमुदयरस आदेसो ।

ववहारेण वु उच्चवि तत्थेको जिगगदो राया ॥५२॥

**एमेव य व्यवहारो अञ्जवसाणादि अण्णभावाणं
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥५३॥ (युगलं)**

राजा खलु निर्गत इत्येव बलसमुदयस्यादेशः ।

व्यवहारेण तूच्यते तत्र को निर्गतो राजा ॥५२॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्वभावानां ।

जीव इति कृतः सूत्रे तत्र को निश्चितो जीवः ॥५३॥

अर्थ—राजा जब कही जाता है तो अपने किकरो को साथ लेकर जाता है वहा उस सारे समुदाय को ही यह राजा जा रहा है इस प्रकार व्यवहारसे कहा जाता है । वैसे ही रागद्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं भ्रतएव कचचिन जीवसे भिन्न हैं उन भावो सहित जीवको ही व्यवहारनय से भागममे जीव कहा गया है ॥५२-५३॥

तात्पर्यवृत्तिः—राया हु णिग्गदो तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुट निर्गत एव बलसमुदयस्यादेश कथन व्यवहारेण तु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया बलसमूह दृष्टवा पञ्च योजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते । निश्चयनयेन तु तत्र को राजा निर्गत इति दृष्टातो गत । इदानीं दाष्टीतमाह—**एमेवयववहारो अञ्जवसाणादि अण्णभावाण** एवमेव राजदृष्टात प्रकारेण व्यवहार । केवा अध्यवसानादीना जीवाङ्गिभ-भावादीना रागादिपर्यायाणा **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथभूतो व्यवहार । रागादयो भावा व्यवहारेण जीव इति कृत मणित सूत्रे परमागमे तत्थेको णिच्छिदो जीवो तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्य कोसो जीव कथभूतः शुद्धनिश्चयनयेन को भावकर्मद्रव्यकर्मणो कर्मरहितशुद्धबुद्धकस्वभावो जीवपदार्थः । इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रय गत । एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्य जीवस्वरूप न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोत्तराधिकारो व्याख्यात ।

अथानतर बर्णरागादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽननज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणविकल्प-समाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखसमरसोभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरुच** इत्यादिसूत्रगाथैका । अथाभ्यन्तरे रागादयो बहिरंगे वणादियश्च शुद्धजीवस्वरूप न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवर्णार्थं **जीवस्स एण्णियवण्णो** इत्यादिसूत्रषट्क । तत पर त एव रागादयो वणादियश्च व्यवहारेण सति शुद्धनिश्चयनयेन न ततीति परस्परमापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **व्यवहारेण तु** इत्यादि सूत्रमेक । नवनतरेमेतेषा रागादीना व्यवहारनयनेन जीवेन सह क्षीरनीरवस्तबधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एवे हि य संबधो** इत्यादि सूत्रमेक । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्तार्थं दृष्टातदाष्टीतसमर्थनरूपेण **पथे मुस्सत** इत्यादि गाथात्रय । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तच्चथा—अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथभूत शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्येवाह ।

टीका—(राया हु णिग्गदो तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो) राजा के साथ जाती हुई सेना को देखकर सारी सेना को ही यह राजा जा रहा है (व्यवहारेण तु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया) जोकि पाञ्च योजना तक फैला हुआ है ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है किन्तु निश्चय से देखे तो राजा एक ही है (जोकि अधिक से अधिक दो फुट मे फैला हुआ है) यह दृष्टात हुआ । अब दाष्टीत बतलाते हैं—(एमेव य व्यवहारो अञ्जवसाणादि अण्णभावाण) इसी प्रकार राजा के दृष्टात से मिलता हुआ ही यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न है उनको (जीवो त्ति कदो सुत्ते) यह रागादि भाव जीव है

इस प्रकार परमागममे कहा गया है (तत्वेको गिच्छिदो जीवो) किन्तु वहा पर जीव तो निश्चित रूपसे एक ही है जो कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है । ॥५२-५३॥

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थनरूप तीन गाथाएं हुई ।

इस प्रकार अजीव अधिकारमे शुद्ध निश्चयनय से देह रागादि परद्रव्य है वे जीव स्वरूप नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिए हुए दस गाथाओं से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बताते हुए कि वर्ण, रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनत ज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है वही उपादेय है इस भावना की मुख्यतासे १२ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । उन १२ गाथाओं मे से 'अरसमरूब' ऐसी एक गाथा है जिसमे मुख्यता से यह बताया जाता है कि परम सामायिक भावना मे परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्दमय स्वरूप जो समग्री भाव उसमे परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय है । फिर अन्त्यतर रागादि और बाहिर वर्णादि ये सभी शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं है ऐसा जो एक गाथा से बताया था उसीका विरोध वर्णन करने के लिए "जीवस्स णत्थि वण्णो" इत्यादि छह गाथा सूत्र है । इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे दोनों भाव व्यवहारनय से जीव के है किन्तु शुद्ध निश्चय नय से जीव के नहीं है इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिए हुए दोनों नयों का व्याख्यान करने के लिए 'ववहारेणु' इत्यादि एक सूत्र है । उसके आगे इन रागादिकों का जीव के साथ दूष और जल के समान संबन्ध है वह व्यवहार से है किन्तु निश्चय से नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए 'एवेहि य सबधो' इस प्रकार एक सूत्र है । उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टांत दाष्टांत से स्पष्ट करते हुये 'पये मुस्सत इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं । इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई ।

अब यह निश्चय से जीव रागादिरूप नहीं है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो बताते हैं—

अरसमरूबमगंधं अव्वत्तं चेदनागुणमसहं ।

जाण अलिगगहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं ॥५४॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।

जानीहि अलिगग्रहणं जीवमनिद्विट्ठसंस्थानं ॥५४॥

प्रश्न—शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमे न रस है, न रूप है, न गंध ही है और न इन्द्रियों के गोचर है । केवल चेतना गुणवाला है । शब्दरूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चित्त द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, और जिसका कोई निश्चित प्रकार भी नहीं है ॥५४॥

तात्पर्यवृत्ति—अरसमरूबमगंधं अव्वत्तं चेतनागुणमसहं निश्चयनयेन रसरूपगंधस्पर्शशब्दरहित मनोगत-कामक्रोधादिबिकल्पविषयग्रहितत्वेनाव्यक्त सूक्ष्म । पुनरपि कि विशिष्ट शुद्धचेतनागुण पुनश्च कि रूप जाणमलिगगं गहण जीवमणिद्विट्ठसंठाण निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिगग्रहण समचतुरस्रादिपटुसंस्थानरहित च य पदार्थं तमेवगुणविशिष्ट शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि । इदमत्र तात्पर्यं । शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्य-सबधिवर्णादिगुणशब्दादिपदार्थरहित सर्वद्रव्येन्द्रियमार्बेन्द्रियमनोगत रागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यगेष जीवा-तरमिन्नोततज्ञानदर्शनसुखवीर्येश्वर य स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेहासर्वकालब्राह्मणअत्रियादिनातावशंभेदमिन्नजन-समस्त्वमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभ स एवापूर्वं सर्ववोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनियोहिरजनजशुद्धात्मसमाधि-संज्ञासुखामृतरसानुभूतिक्षणेषु गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एक सूत्रगाथा गता । अथ बहिर्ये वर्णाद्यन्त्यतर रागादिभावा पौद्गलिका शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूप न जवतीति प्रतिपादयति ।

टीका — (अरसमरुचमगध अश्वत् वेदनागुणमसहं) निश्चय नय से जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द से भी रहित है और मनोगत काम क्रोधादि विकल्पो के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है। फिर कैसा है—कि शुद्ध चेतना गुणवाला है तथा (जाण अलिगगहण जीवमणिद्वि सठाणं) निश्चय नय की अपेक्षा (केवल मात्र) स्वसवेदन ज्ञान का विषय होने के कारण किसी भी बाह्य लिंग से ग्रहण नहीं किया जा सकता, तथा समचतुस्त्रादि छह सस्थानो से भी रहित है। ऐसे उपयुक्त गुणों से विशिष्ट जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो। तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जीव पुद्गल द्रव्य सबधी वर्यादि गुण और शब्दादि पर्याय इन सबसे रहित है। सब प्रकार की द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन इनसे होने वाले रागादि विकल्पो का जो विषय नहीं है, तथा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य एवं इतर सब जीव द्रव्यों से भिन्न है। किन्तु अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन गुणों से युक्त है वही शुद्धात्मा है जो कि सम्पूर्ण पदार्थों में, सम्पूर्ण देशों में, सब ही कालों में, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेदों से विभक्त रहने वाले जन साधारण के समस्त मन, बचन और काय के व्यापारों में मिलना दुर्लभ है क्योंकि वह अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा मानकर पर्वत की गुफा दराड इत्यादि में बैठकर विकल्प रहित, मोह रहित, तथा सब प्रकार के भ्रमों से रहित जो निज शुद्धात्मा उसकी समाधि से उत्पन्न और सुखामृत रस उसकी अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध जीव का भले प्रकार से ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार सूत्र गाथा पूर्ण हुई ॥५४॥

आगे कहते हैं कि बाह्य में शरीर के वर्यादि और अन्तर में रागादि विभाव भाव जो कि पुद्गल सबध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।

णवि रूढं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५५॥

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जवे मोहो ।

णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई ।

णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५७॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।

णेव य उदयट्ठाणा ण मगणट्ठाणया केई ॥५८॥

णो ठिठिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।

णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।

जेण दु एदे सव्वे पुम्मलवक्खस्स परिणामा ॥६०॥ (षट्कम्)

जीवस्य नास्ति बरौ नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।

नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥५५॥

जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।

नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५६॥

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पष्टकानि कानिचित् ।

नो अध्यवसानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५७॥

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।

नैव चोदयस्थानानि न मार्गस्थास्थानानि कानिचित् ॥५८॥

नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संत्वेशस्थानानि वा ।

नैव विशुद्धस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५९॥

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।

येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ६०॥

अर्थ — बरौ, गंध, रस, स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीवके स्वभाव नहीं हैं । राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, तथा कर्म नोकर्म ये जीवके स्वभाव नहीं हैं । वर्ग, वर्गणा, स्पर्शक, अध्यवसायस्थान, अनुभागस्थान ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं । कोई भी योगस्थान बंधस्थान उदयस्थान, और मार्गस्थास्थान, ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं । स्थितिबंधस्थान, संत्वेशस्थान, विशुद्धिस्थान, और संयमलब्धिस्थान भी तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीवके स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सबही पुद्गल द्रव्य के संयोग से होनेवाले परिणाम हैं ॥५५-६०॥

तात्पर्यवृत्ति — वर्णगंधरसस्पर्शस्तु रूपशब्दवाच्या स्पर्शरसगंधवर्णवृत्ति भूतिश्च औदारिकादि पञ्च शरीराणि समञ्चतुरादिषट्संस्थानानि वज्रधर्मनाराचादिषट्सहनानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिण शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सतीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदयलक्षण पक्ष आस्थासंघाप्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मिषत्वादिति हेतु । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणागद्वयमनुमानं ज्ञातव्यं । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाययोगरूपपञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदमिषज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मोदारिकर्बुकिंयिकाहारकशरीरप्रयाहारादिषट्पयांति-रूपनोकर्मणि इत्यस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मि-न्तत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ण इत्युच्यते । वर्णानां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्णरासमूह-लक्षणानि स्पष्टकानि च कानिचिन्न सति । अध्यया कर्मशक्तं क्रमेण विशेषवृद्धि स्पष्टकलक्षण । तथा चोक्तं वर्णवर्गणा-स्पष्टकाना त्रयाणां लक्षणम् —

‘वर्णं शक्तिसमूहोऽणोर्बहुना वर्णोदिता । वर्णानां समूहस्तु स्पष्टकं स्पष्टकापहं । शुभाशुभरागादिविकल्परूपा-ध्यवसानानि भण्यते । तानि च न सति सत्तादावस्थिपाद्याणशक्तिरूपाणि चातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यते । गुह्यलक्षणं रसामृतसमानानि शुभाघातिकर्मनुभागस्थानानि भण्यते । निबकाजीरविषहालाहलसहसांशुशुभाघातिकर्मनुभाग-स्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मन्तत्वात् । अथ वीर्यतारायकस्योपशमजनितमनोवचनकायवर्णगावतवनकर्मदानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पद, लक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबंधस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाप्युदयस्थानानि

गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सति कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मिथत्वात् । अथ जीवेन सह कालांतरावस्थानरूपाणि स्थितिव्यवस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि सत्त्वैस-स्थानानि कषायमदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायकमहानिरूपाणि समयलम्बिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चय-नयेन जीवस्य न सति कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मिथत्वात् । अथ—जीवस्य शुद्धनिश्चय-नयेन “बादरसुहृदेद्वी वित्तिचउरिदी असप्पिणसप्पीण । पज्जसापज्जवा एव ते वउदसा होति” इति गाथाकथित-क्रमेण बादरैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्याहृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सति पुद्गलद्रव्यपरिणाम-मयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्मिथत्वात् । कुत इति चेत् ! यत कारणादेते वर्णादिगुणस्थानाता परिणामा शुद्धनिश्चय-नयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्रभावार्थ—सिद्धाताविज्ञास्त्रे अशुद्धपर्यायाधिकनयेनाभ्यतरे रागादयो बहिरगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोपि जीवा इत्युक्ता अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभाग-विवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रघटक गत । अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धातादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिता अत्र तु प्रभृतपक्षे निश्चयनयेन निषिद्धा तमेवार्थं दृढयति ।

टीका— रूप शब्दसे कहे जने वाले वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श तथा रस गन्ध वर्ण वाली मूर्ति व औदारिक आदि पाच शरीर, समचतुरस्रादि छह सास्थान, वज्रवृषभनाराच आदि छह सहनन, ये सभी वर्णादिक धर्मी हुए वे निश्चय नय से जीव के नहीं होते यह साध्य अथवा धर्म हुआ । धर्म और धर्मी दोनो मिलकर समुदाय रूप पक्ष हुआ जिसको आस्था, सधा या प्रतिज्ञा नाम से भी कहा जाता है । ये सब जीव के नहीं है क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय है एव शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले है यह हेतु हुआ । इस प्रकार इस व्याख्यान मे पक्ष तथा हेतु इन दो अगोवाला अनुमान हुआ ।

इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप पाचो प्रत्यय एव मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से विभक्त किये जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियक और आहाराकरूप तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं है, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय है एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है ।

परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्तिसमूह को वर्ग कहते हैं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते है तथा वर्गणा के समूह को स्पन्दक कहते हैं । ये सभी जीव के नहीं है । अथवा कर्म की शक्ति क्रम से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो उसे स्पर्धक कहते है सो ही इन तीनों का लक्षण आगम मे बतलाया है—अणु की शक्ति के समूह का नाम वर्ग, और बहुत से वर्गों के समूह का नाम वर्गणा, और वर्गणाओ के समूह का नाम स्पन्दक ऐसे स्पन्दको के नष्ट करने वालो द्वारा कहा गया है । इस प्रकार शुभ तथा अशुभ रूप रागादिक का विकल्प जहा हो वे अग्र्यवसान कहलाते है । वे भी जीव के नहीं है । लता, दारू, हड्डी और पाषाण जैसी शक्ति को लिये हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते है । गुड, खाड, शर्करा और अमृत समान जो शुभरूप प्रघातिया कर्म है उनके अनुभाग स्थान होते है । नीम, काजी, विष और हलाहल सरीखे अनुभाग स्थान अशुभ अघाती कर्मों के हाते है । ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं है क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है । और वीर्या तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा का आलम्बन से कर्म ग्रहण करने को हेतुभूत जो आत्म प्रवेशो का परिस्पन्दन वही है लक्षण जिसका ऐसे योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश रूप चार प्रकार का बधस्थान, सुख दुख का अनुभव रूप उदयस्थान, और गति आदि मार्गणास्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम-मय है एव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है ।

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिवधस्थान कषायो की उत्कटरूप सकलेशस्थान, कषायो के मद उदयरूप विशुद्धस्थान और कषायो को क्रम से हीन करने रूप समयलब्धस्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। जैसा कि गाथा में बताया है—“बादर सुहमे इ दी वित्तिचउरिदी असणिसण्णीण । पज्जतापज्जता एव ते चउदसा होति” अर्थात् बादर एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चीन्द्री असेनी पचेन्द्री, संती पचेन्द्री ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीवसमास हैं, तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। इसका भी कारण यह है कि ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यंत भाव शुद्ध निश्चयनय से (देखने पर) पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त आदि शास्त्रो में अशुद्ध पर्यायाधिकनय का आश्रय लेकर अन्तरंग में तो रागादिक भाव और बाह्य में शरीर के वर्णों की अपेक्षा वर्णादिक इन सब को जीव कहा है। किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहा पर शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है। इस प्रकार दोनों स्थानों पर नय विभाग की विवक्षा से कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप में छह गाथाये कही ॥ ५५-६० ॥

पूर्व में जो बताया था कि सिद्धान्तादि ग्रन्थों में वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और इस प्राभूत ग्रन्थ में निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी बात को हट करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं —

व्यवहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वर्णमादीया ।

गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।

गुणस्थानांताभावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥६१॥

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्या गुणस्थानाता भावा पर्याया न तु कोपि निश्चयनयेनेति । एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता । अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सतीति पृष्ठे प्रत्युत्तर ददाति ।

अर्थ व टीका—स्वामी कु बकुं ब कहते हैं कि यद्यपि वर्णों को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं हैं किन्तु व्यवहारनय से तो ये सब जीव के हैं। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के समर्थनरूप यह गाथा पूर्ण हुई ॥६१॥

विशेषार्थ—व्यवहारनय पर्यायार्थिक है अतएव जीव के साथ पुद्गल का संयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है उसका वर्णन करता है इसलिये वर्णादिक से गुणस्थान पर्यन्त भावों को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर स्वभाव का ही कथन करने वाला है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि में जीव के नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में ये नहीं होते । ये सब विवक्षाभेद हैं स्यादवाद में इसका कोई विरोध नहीं है ।

निश्चय से वर्णादिक जीव के रूपो नहीं हैं ऐसा पृच्छे पर उत्तर देते हैं —

एएहि य संबधो जहेव खीरोदयं मुणेदब्बो ।

ण य ह्मति तस्स ताणि दु उवओग गुणाधिगो जम्हा ॥६२॥

एतैवच संबधो यथैव खीरोदकं मतव्यः ।

न च भवति तस्य तानि सूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥६२॥

अर्थ—इन वर्णादिक भावों के साथ ससारी जीव का एक क्षेत्रावगाही सयोग (सम्बन्ध) सबध है जैसा कि दूध का जल के साथ होता है । ऐसा होने पर भी वास्तविकता में ये जीव के नहीं होजाते क्योंकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग गुण के कारण इनसे भिन्न ही भवकता है ॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति—एवहि य सबधो जहेव खीरोदयं मुणेदब्बो एतै वर्णादिगुणस्थानातै पूर्वोक्तपर्यायै सह सबधो यथैव खीरनीरसश्लेषस्तथा मतव्य । न चान्युच्छ्रित्वघोरिष तादात्म्यसबध । कुत इति चेत्, ण य ह्मति तस्स ताणि दु न च भवति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानाता भावा पर्याया कस्मान् उवओगगुणाधिगो जम्हा यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिक परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरगास्तत्र व्यवहारेण खीरनीरवत्-सश्लेषसबधो भवतु नचाम्यतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति । नैव, ब्रह्मकर्मबन्धापेक्षया योसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागदीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्च-योपि व्यवहार एवेति भावार्थः । अथ तर्हि कृष्णवर्णोय धवलवर्णोय पुरुष इति व्यवहारो विरोध प्राप्नोतीत्येव पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोध दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोध लोकप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारेण परिहरति ।

टीका—(एवहि य सबधो जहेव खीरोदयं मुणेदब्बो) इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुण-स्थान पर्यन्त भावों के साथ जीव का वैसा ही सयोगरूप (सश्लेषरूप) सबध है जैसा कि परस्पर में दूध और जल का होता है, किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य सबध है वैसा सबध इनका जीव के साथ नहीं है । इसलिये (ण य ह्मति तस्स ताणि दु) ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त भाव जीव के नहीं है किन्तु (उवओग गुणाधिगो जम्हा) जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है उसी प्रकार जीव तो केवल मात्र ज्ञान दर्शन गुण को लिये हुए है । यहां पर यह शंका हो सकती है कि वर्णादिक जो बाहर दिखते हैं उनका तो जीव का खीर नीर के समान सयोग सबध है उसको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है किन्तु अभ्यन्तर में होने वाले रागादि भावों का ऐसा सयोग सबध नहीं हो सकता । इन रागादिकों का सबध इस जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से कहना योग्य है । आचार्य इसका समाधान करते हैं कि हे भाई ! ठीक है, रागादिक का सबध जीव के साथ अशुद्ध निश्चयनय से है ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ ब्रह्मकर्म का सबध बतलाने वाले असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य भेद दिखलाने के लिए कहा गया है । वास्तव में अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है ऐसा समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

अब प्रश्न हो सकता है कि यह पुरुष काले वर्णवाला है और यह धवल वर्णवाला है ऐसा जो व्यवहार है वह फिर व्यर्थ ठहरेगा इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा में व्यवहार की सार्थकता विखलाने हैं अथवा दूसरे प्रकार में यो कहो कि इस प्रकार भाई हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा दूर करते हैं । —

पंथे मुस्तंतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
 मुस्तसि एसो पंथो ण य पंथो मुस्तसि कोई ॥६३॥
 तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्णं ।
 जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥६४॥
 एवं रसगंधफासा सठाणादीय जे समुदिट्ठा ।
 सव्वे ववहारस्स य णिच्छपदणू ववदिसंति ॥६५॥
 पयि मुख्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
 मुख्यते एषः पथा न च पंथा मुख्यते कश्चित् ॥६३॥
 तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वरणां ।
 जीवस्यैष वरणां जिनं व्यं वहारत उक्तः ॥६४॥
 एवं गंधरसस्पर्श संस्थानादयः ये समुद्दिष्टाः ।
 सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्वारो व्यपदिशंति ॥६५॥

धर्म— जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है । वहां वास्तव में देखा जाय तो कोई मार्ग नहीं लुटता किन्तु उस मार्ग में पथिक ही लुटते हैं । उसी प्रकार जीव में रहने वाले कर्मों के धीरे नोकर्मों के वरणों को देखकर यह वर्ण जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते हैं । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्शरूप शरीर के आकार इत्यादि सभी व्यवहार से है ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं ॥६३ से ६५॥

तात्पर्यवृत्ति—पंथे मुस्ततं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी पयि मार्गं मुख्यमाणं सार्यं दृष्ट्वा व्यवहारिलोका भणति किं भणति मुस्तसि एसो पंथो मुख्यत एव प्रत्यक्षीभूत पथाश्चौ कर्तुं भूत ए य पंथो मुस्तसि कोई न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षण पथा मुख्यते कश्चिदपि किन्तु पथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुख्यत इति दृष्टातगाथा गता सह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदु वण्णं तथा तेन पयि सार्यं दृष्टातेन जीवेधिकरणभूते कर्मनोकर्मणा शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो जीवस्य एव वरणां जिनं व्यं वहारतो भणित इति दाष्टीतगाथा गता । एवं रसगंधफासा सठाणादीय जे समुद्दिष्टा एवमनेनैव दृष्टातदाष्टी तन्यायेत रसगंधस्पर्श-संस्थानसहजनरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टा सव्वे ववहारस्स य णिच्छपदणू ववदिसंति ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशति कथयतीति नास्ति व्यवहारविरोध । इति दृष्टातदाष्टीतात्म्या व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रय गत । एव शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिद्धितीयातरा-धिकारो व्याख्यातः ।

अतः पर जीवस्य निश्चयेन वर्णादितादात्म्यसंबन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्याप्त व्याख्यान करोति । तत्रादौ सत्तादिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति मुक्तावस्थाया नास्तीति ज्ञापनार्थं तत्त्वभवे इत्यादिसूत्रमेक । ततः पर जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेगे सति जीवामात्रो रूपेण प्राप्नोतीति कथन-मुख्यत्वेन जीवो वेवहि इत्यादिगाथात्रय । नदनतरमेकद्विगावित्तुदंशजीवनामानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं ए एक च दोष्णि इत्यादिगाथात्रय । तदनुच मिथ्याह-व्यादिचतुर्दंशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यन्तरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं

च मोहणकम्म इत्यादिसूत्रमेक । एवमष्टागाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति वृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका :— (पथे मुस्संत पस्सिदूण लोगा भणति ववहारी) मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ देखकर सर्व साधारण लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि (मुस्सदि एसो पथो) यह सामने वाला मार्ग तो चोरों द्वारा लूट लिया जाता है, किन्तु (ए य पथो मुस्सदे कोई) मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है उसे कोई भी लूट नहीं सकता किन्तु उस मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं यह दृष्टांत हुआ । (तह जीवे कम्माण णोकम्माण च पस्सिदु वण्ण) उसीप्रकार अधिकरणभूत जीव में होने वाले कर्म नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर (जीवस्स एस वण्णो जिणोहि ववहारदो उत्तो) व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है यह दाष्टांत गाथा हुई । (एव रसगघफासा सठारादीय जे समुदिट्ठा) इसी प्रकार उपयुक्त दृष्टांत दाष्टांत के न्याय से रस, गंध, स्पर्श, सत्त्वान, संहनन और राग, द्वेष, मोहादिक जो पहले छह गाथा में बता आये हैं (सव्वे ववहारस्स य एण्छयदण्ह ववदिसाति) उन सब को निश्चय के जानने वाले (महापुरुष) व्यवहार नय के द्वारा जीव के कहते हैं । इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इस प्रकार दृष्टांत और दाष्टांत के द्वारा व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा पूर्ण हुई ॥ ६३-६४-६५ ॥

विशेषार्थ— बान यह है कि शुद्ध निश्चयनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है जहां गुणस्थानादि न भ्रलक कर वहां तो केवल मात्र ज्ञाता द्रष्टापन ही भ्रलकता है और उसीका अनुमन चित्तन होता है । किन्तु जहां ध्यानस्वरूप निश्चयनय का भ्रवलवन छूटा कि साधक को कर्तव्यशीलता पर आकर कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए ? मैं मुनि हूँ और छट्टे गुणस्थान की अवस्था में हूँ अतः मुझे स्तवन आदि षट् प्रावश्यक करना चाहिए इत्यादि विकल्पो को अपनाता होता है । किन्तु व्यवहार सम्पन्न कर फिर ध्यानस्वरूप निश्चय पर पहुँचता है । वहां थक जाने पर फिर व्यवहार में आता है । इस प्रकार अभ्यास दशा में साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर बार बार जाना आना होता है । इसी को लक्ष्य रखकर आचार्यदेव ने दोनों नयों का व्याख्यान किया है, और दोनों को अपने अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य है ।

शुद्ध जीव ही उपादेय है इस व्याख्यान को लेकर बारह गाथाओं द्वारा यह दूसरा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ ।

इसके आगे निश्चय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य संबन्ध नहीं है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आठ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । वहां पहले व्यवहार नय से सासारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं, इस प्रकार बतलाने के लिये 'तत्त्वभवे' इत्यादि रूप से एक सूत्र है । फिर 'जीवोवेवहि' इत्यादि तीन गाथाये हैं जिनमें यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिकका तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायगा तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायगा यह बड़ा भारी दूषण है । फिर 'एकं च दोण्णि' इत्यादि तीन गाथाये ऐसी हैं जिनमें बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीव समाप्तों का जीव के साथ शुद्ध निश्चय नय से तादात्म्य संबन्ध नहीं है । और वर्णादिकका भी तादात्म्य संबन्ध नहीं है । इसके आगे 'मोहण कम्म' इत्यादि एक गाथा सूत्र है जिसमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीवके साथ शुद्ध निश्चयनय से तादात्म्य संबन्ध नहीं है । वैसे ही अंतरंग में होनेवाले रागादि भावोंका भी तादात्म्य (अटल) संबन्ध नहीं है । इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है ।

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य सबध क्यों नहीं है इसका उत्तर देते हैं—

तत्त्वभवे जीवाणं संसारत्थाणं होति वर्णादी ।

संसारपमुक्काणं णत्थि हु वर्णादओ केई ॥६६॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः ।

संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णावयः केऽपि ॥६६॥

अर्थ—संसारमे स्थित जीवके साथ वर्णादिका सबध है परन्तु संसार से रहित मुक्त जीवके साथ वर्णादिक का कोई भी सबध नहीं है ॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति—तत्त्वभवे जीवाणं संसारत्थाणं होति वर्णादी तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थाना जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति संसारपमुक्काणं संसारप्रमुक्ताना णत्थि हु वर्णादओ केई पुद्गलस्य वर्णादि-तादात्म्यसबधामावात् कवलज्ञानादिगुणानिद्वत्वादिपर्याये सह यथा तादात्म्यसबधोस्ति तथा वा तादात्म्यसबधामावाद-शुद्धनयेनापि न सति पुनर्वर्णादयः केऽपि । इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता । अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्य-दुराग्रहे सति दोष दर्शयति ।

टीका—(तत्त्वभवे जीवाणं संसारत्थाणं होति वर्णादी) वहाँ विवक्षित (वर्तमान) और अविवक्षित (भूत या भावी) भवमे जो संसारमे स्थित है उन्हीं जीवके अशुद्धनय से वर्णादिका सबध है किन्तु (संसारपमुक्काणं णत्थि हु वर्णादओ केई) संसार से रहित मुक्त जीवके, वर्णादिक जो पुद्गलके गुण है, उनका तादात्म्य सबध नहीं है क्योंकि जैसा तादात्म्य सबध जीवके साथ केवलज्ञानादि गुणोंका और सिद्धत्वादि पर्यायोंका है वैसा तादात्म्य सबध वर्णादिकके साथ अशुद्धनयसे भी जीव का नहीं है । इस प्रकार जीवका वर्णादिक के साथ तादात्म्य सबध का निषेध करनेवाली गाथा पूर्ण हुई ॥६६॥

इस पर भी यदि जीवके साथ वर्णादिका दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है उसे दिखलाते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावन्ति मण्णसे जदि हि ।

जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हु दे कोई ॥६७॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।

जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कोऽपि ॥६७॥

अर्थ—(संसारी जीव को सर्वोपकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे नार्ही) यदि इन सबही भावोंमें जीवको माना जायगा तो कहनेमें जीव और अजीव (पुद्गल) में परस्पर कोई भेद नहीं रहता ॥६७॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवो चेव हि एदे सव्वे भावन्ति मण्णसे जदि हि यथाननज्ञानाध्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवन्ति वर्णादिगुणाएव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यमे यदि चेत् जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई तदा कि ह्येषा विगुहज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तत्सर्वमते कोपि विशेषो भेदो नास्ति । नतश्च जीवाभाबदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः । अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्य सबधोस्तीति दुरन्निवेशेपि जीवामाव एव दोष इत्युपदिशति ।

टीका—(जीवो चेव हि एदे सव्वे भावन्ति मण्णसे जदि हि) जैसे अनंत ज्ञान और अध्याबाध सुख आदि जीव में होते हैं वैसे ही वर्णादिगुण पुद्गलमें हैं ऐसा स्पष्ट है फिर भी यदि तू अपने मनमें ऐसा समझता है कि वर्णादिक भी जीवके गुण हैं तो (जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई) यह

बड़ा भारी दूषण घाता है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाला जीव और जडत्वादि स्वभाववाला अजीव इस प्रकार का जो भेद है, वह तेरे मतमें सर्वथा नहीं रहता एव फिर शुद्ध जीवका अभाव ही होजाता है ऐसा इस सूत्र का अर्थ है ॥६७॥

अब यदि जीव के साथ में सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल ससार अवस्था में ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभावरूप दूषण घाता है ऐसा कहते हैं—

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झं होति वण्णादी ।

तम्हा संसारत्था जीवा हवित्तमावण्णा ॥६८॥

एवं पोगलदब्बं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।

णिग्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोगलो पत्तो ॥६९॥ (युगलम्)

यदि संसारस्थानां जीवानां तव भवति वर्णादयः ।

तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६८॥

एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथा लक्षणो न मूढमते ।

निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६९॥

अर्थ—यदि ससार अवस्था में जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाय तो तेरे कहने में ससारी जीव रूपी ठहरे । अतः फिर हे भोलेभाई ! पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्गल का होगा, क्योंकि दोनो के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा ॥ ६८-६९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झं होति वण्णादी यदि चेतससारस्थजीवानां पुद्गलस्यैव वर्णादयो गुणस्तव भवेन तवामिप्रायेणं कातेन भवतीति **तम्हा संसारत्था जीवा हवित्तमावण्णा** तत किं दूषण, संसारस्थ जीवा अमूर्तमनतज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणेन त्वत्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणे रूपित्वमापन्ना भवति । अर्थ—**एवं पुगलदब्बं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीव नाम्न कोपि विशुद्धचैतन्य-चमत्कारमात्रस्तवलक्षणेन तवामिप्रायेण हे मूढमते ! न केवल ससारावस्थया पुद्गल एव जीवत्व प्राप्त **णिग्वाणमु-वगदो वि य जीवत्तं पुगलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोऽपि पुद्गल एव जीवत्व प्राप्त नाम्न कोपि चिद्रूप । कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्यैव निर्वाणमित्युक्तमव्यक्तादिति भवत्येव जीवामाव । किं च ससारावस्थायामेकातेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसम्य-सारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न भवतीति भावार्थः । एव जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवामाव-दूषणकारेण गत्यात्रय गत । अथैव त्वित बादरसूक्ष्मकेन्द्रियादिसन्निधौन्द्रियपर्यंतचतुर्दशजीवत्वानानि शुद्धनिश्चयेन जीव-स्वरूप न भवति तथा वेहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति —

टीका—(जदि संसारत्थाण जीवाणं तुज्झं होति वण्णादी) यदि ससार में स्थित जीवो के, तेरे कहने के अनुसार पुद्गल के समान, वर्णादिक गुण एकात से मान लिये जाय (तम्हा संसारत्था जीवा हवित्तमावण्णा) तो ससार में स्थित जो जीव हैं वे अमूर्तस्वरूप जो अनतज्ञानादि चतुष्टयमय लक्षण को छोड़कर शुक्ल कृष्णादि लक्षण वाले रूपीपन को प्राप्त हो जायेंगे यह दूषण आयागा । (एवं पुगलदब्ब जीवो तह लक्खणेण मूढमदी) हे भोले ! इस प्रकार जीव के रूपीपना आजाणे पर जीव भी पुद्गल ही ठहरा, उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य चमत्कार वाला जीव तेरे अभिप्राय में कोई नहीं रहा । इतना ही नहीं

कि सत्सार अवस्था मे ही जीव पुद्गल ठहरा, परन्तु (णिष्कारमुवगदो वि य जीवत्त पुगलो पत्तो) निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हुए भी यह पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त होगा न कि उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप जीव । कारण कि वहा पर भी पुद्गल द्रव्य के वर्णादिक गुणो का निषेध नहीं किया जा सकेगा इसलिये जीवका अभाव हो जायगा, और सत्सार अवस्था मे एकात से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी । क्योंकि केवलज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्य समयसार का ही नाम मोक्ष है जो कि जीव को पुद्गलपना प्राप्त होजाने पर किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है ऐसा आचार्य का तात्पर्य है ॥ ६८-६९ ॥

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लेने पर (जीव और पुद्गल इन दोनों का एक ही लक्षण हो जाने से) जीव का अभाव होजायगा इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथाये हुई ।

आगे कहते हैं कि बादर और सूक्ष्मके भेदसे एकेन्द्रिय जीव और द्विन्द्रिय आदि पचेन्द्रिय पर्यंत जो चोदह जीव समास हैं वे भी शुद्ध निश्चयनयमे जीव के स्वरूप नहीं है तो फिर वर्णादिक जा देहगत धर्म है वे जीवके कैसे हो सकते हैं —

एकं चं दोणिण तिणिण य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।

बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥७०॥

एदाहि य णिव्वता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहि ।

पयडीहि पुगलमईहि ताहि कंहं भण्णवे जीवो ॥७१॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः ।

बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥७०॥

एतामिदं निवृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।

प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीव ॥७१॥

तात्पर्यंति—एकद्वित्रिचतु पचेन्द्रियसंख्यसंज्ञिवादरपर्याप्तेतरामिधाना प्रकृतयो भवति । कस्य सबधिन्यो नामकर्मण इति । अथ—एतामिरभूतातीन्द्रियनिरजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणानिर्नामकमप्रकृतिभि पुद्गलमयीभि पूर्वोक्तामिनिर्बलितानि चतुदशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवति ? न कथमपि । तथाहि—यथा रुक्मेण करणभूतेन निवृत्तमसिकोशं तु रुक्मं भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाणोऽव भवति न च जीवस्वरूपाणि । तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टानेन तदाश्रिता वर्णादयोपि पुद्गलस्वरूपा भवति न च जीव-स्वरूपा इत्यभिप्राय । अथ—अथान्तरे पर्याप्तापर्याप्तवादरसूक्ष्मजीवा कथ्यते तत्कथं घटन इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति ।

अर्थ व टीका—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय असंज्ञी सज्ञी बादर और सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब नामकर्म सबधी प्रकृतिया हैं जो कि अभूतं, अतीन्द्रिय, और निरजन ऐसे परमात्मतत्त्व से विलक्षणाता लिए हुए हैं । इन पूर्वोक्त पुद्गलमयी नाम प्रकृतियों द्वारा निष्पन्न १४ जीव समास हैं । अतः वे निश्चय नय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं ? कभी नहीं कहे जा सकते । जैसे कर्ण-भूत सोने के द्वारा बनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है वैसे ही पुद्गलमय प्रकृतियों के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही हैं न कि जीव स्वरूप हैं । ऐसा कहने

से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवस्थान ही पुद्गल हैं तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्गलाश्रित हैं, अतः फिर वे तो जीव के स्वरूप किसी भी प्रकार न होकर पुद्गल स्वरूप ही हैं । ऐसा इन दोनों गाथाओं का अभिप्राय है ।

अग्रे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्म जीव होते हैं ऐसा ग्रन्थ ग्रन्थों में लिखा हुआ है वह क्यों ? इत पर आचार्य उत्तर देते हैं —

पज्जत्ता पज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चैव ।

देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।

देहस्य जीव संज्ञा सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥७२॥

अर्थ— पर्याप्त, अपर्याप्त, एवं सूक्ष्म और बादर ये सब देह की संज्ञायें हैं । उन्हीं को व्यवहार नय से परमाणु में (अभेद अपेक्षा से) जीव की बताई हैं ॥७२॥

तात्पर्यवृत्ति—पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चैव पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवा कथिता सूक्ष्म-बादराश्चैव ये कथिता देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता पर्याप्तापर्याप्तदेहं हृष्टवा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्म-विनक्षणेपरमविज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता । क्व ? सूत्रे परमाणवे । कस्मात् व्यवहारविरिति नास्ति दोष । एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादियश्च निश्चयेन जीवस्वरूप न भवतीति कथनरूपेण गाथात्रय गत । अथ न केवल बहिरगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूप न भवति अन्वयत-मिध्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवतीति स्थित ।

टीका— (पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चैव) जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर कहा गया है वह (देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता) वह पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर और सूक्ष्मपने से विलक्षण जो परम चैतन्य ज्योति लक्षण वाला शुद्धात्मा उससे पृथग्भूत जो यह देह है उसी की संज्ञा को परमाणु में व्यवहार से जीव संज्ञा कही गई है, इसमें कोई दोष नहीं है । इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये सभी निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है । इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥ ७२ ॥

अब बाहर में जो वर्णादिक है वे शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं । इतना ही नहीं, किन्तु अंतरण में होनेवाले मिध्यात्वादि गुणस्थानरूप रागादिक भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं इसीको बतलाते हैं —

मोहणकम्मस्सुदया दु वणिणदा जे इमे गुणट्ठाणा ।

ते कहं हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ७३ ॥

मोहन कर्मण उदयात्तु वरितानी यानीमानि गुणस्थानानि ।

तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥७३॥

अर्थ— मोहनीय कर्म के उदय से जो यह गुणस्थान कहे गए हैं वे किस प्रकार से जीव हो सकते हैं क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं (शुद्ध चेतना से भिन्न हैं) ॥७३॥

तात्पर्यवृत्ति—मोहणकम्मस्सुदया दु वणिणदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्माहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्म-तत्त्वप्रतिपक्षभूतानामविद्याकदलीकदायमानसतानामतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वरितानि कथितानि गुरु-

स्थानानि तथा चोक्त “गुणसंख्या सा च मोहजोगभवा” ते कह हवति जीवा तानि कथं भवति जीवा न कथमपि । कथंभूतानि ते गिण्चमचेदशा उक्ता यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्य सर्वकालमचेतनानि । अशुद्ध निश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मपिषयाभ्यन्तरागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसज्ञा समते तथापि शुद्धनिश्चय-भेदया व्यवहार एव । इति व्याख्यान निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्य । एवमभ्यन्ते यथा मिथ्याहृष्ट्यादि-गुणस्थानानि जीवस्वरूप न भवति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूप न भवतीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता । एवमष्टगाथाभिन्मृत्योपातराधिकारो व्याख्यात । ननु रागादयो जीवस्वरूप न भवतीति जीवाधिकारे व्याख्यात अस्मिन्-जीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं । तत्र, विस्तररुचिशिष्ये प्रणि नवाधिकारं समयसार एव व्याख्यायते न पुनरप्यदिति प्रतिज्ञावचन । अत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव । यदि पुन समयसार त्यक्त्वा-न्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञामग इति नास्ति पुनरुक्त । अथवा सावनाश्वे समाधिगतकूपरमात्मप्रकाशादिप्रथमवगाणिशा श्रु गारकथावत् वा पुनरुक्तदोषो नास्ति । अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता अत्राजीवस्य मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनात् । अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण । अथवा तत्र रागादिभ्यां भिन्नो जीवा भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यान, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूप न भवतीति निषेधमुख्यतया व्याख्यान । किन्तु, एकत्वान्यत्वानुपेक्षाप्रस्तावे विधिनियेधव्याख्यानवदिति परिहारपक्षक ज्ञातव्य ।

इति श्री जयसेनार्चायकृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ
स्थलत्रयसमुदायेन त्रिशदगाथाभिरजीवाधिकार-समाप्त ।

एव जीवाजीवाधिकारगभूमी श्रु गारसहितपाश्वद्वचवहारेणैकीभूती प्रविष्टौ निश्चयेन तु श्रु गाररहितपाश्वद्वच-स्थूत्वा निष्कृताविति ।

टीका— (मोहकर्मस्सुदया दु वणिगदा जे इमे गुणद्वारा) मोह रहित परम चैतन्य का प्रकाश वही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मतत्व से विपरीत स्वरूप वाले और अनादि अविद्या कदली के कदस्वरूप सतान से प्राप्त हुए मोह कर्म के उदय से होने वाले बताये गये हैं वे गुणस्थान हैं । जैसा कि गोमटसार में कहा गया है— ‘गुणसंख्या सा च मोहजोगभवा’ । (ते कह हवति जीवा) वे जीव कैसे हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते । वे गुणस्थान कैसे हैं ? (ते गिण्चमचेदशा उक्ता) यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं (क्योंकि चेतना के विकार हैं) तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वे सब सदा अचेतन हैं । अशुद्ध निश्चयनय यद्यपि द्रव्य कर्म आदि की अपेक्षा से अतएव में होने वाले रागादि भावों को चेतन मानकर निश्चय सज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव में वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है । इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के काल में सर्वत्र लगा लेना ॥ ७३ ॥

विशेषार्थ— यहा पर रागादि भावकर्म को भी अचेतन बताया गया है सो अचेतन शब्द का अर्थ चेतना रहित भी होता है और किंचित् चेतन अर्थात् चेतनता के विकार रूप भी होता है । वहा ज्ञानावरणारिरूप द्रव्य कर्म तो उपादान रूप में पुद्गलद्रव्य स्वरूप है अत स्पष्ट रूप से अचेतन है, किन्तु रागादिभावों का उपादान अशुद्ध जीव होता है, केवल उनके होने में निमित्त रूप से द्रव्य कर्म-रूप पुद्गल काम करता है, अत रागादिभाव अशुद्ध निश्चयनय से विकारी चेतन के परिणाम है । इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से चेतन के भाव है ऐसा टीकाकार का कहना है । किन्तु शुद्ध निश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामो को ही कहता है, अत इसके विचार में तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं ऐसा समझना चाहिए ।

इस प्रकार अन्तर मे जसे मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीव का स्वरूप नहीं है वैसे ही रागादिक भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा कथन करते हुए भाट गाथाये पूर्ण हुई ।

इस प्रकार भाट गाथाओं में तीसरे अन्तर अधिकार का व्याख्यान किया गया ।

यहाँ पर कोई शका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार मे बता चुके हैं वही बात इस अजीवाधिकार मे क्यों कही गई है यह पुनरुक्त दोष है । इसका आचार्य समाधान करते है कि पहले हम यही प्रतिज्ञा कर प्राये है कि यहा तक जो बात कही है उसी को विस्तार रहि बाले शिष्यों के लिए नव अधिकारो से उसी समयसार का व्याख्यान करके बतलायेगे । इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहा भी समयसार का व्याख्यान सखेप से किया वा वही समयसार का व्याख्यान कुछ विस्तार से है । यदि उस समयसार के व्याख्यान को छोडकर दूसरा व्याख्यान करे तो की हुई प्रतिज्ञा का भग होता है इसलिए यहा पर पुनरुक्त दोष नहीं है, (अपितु गुण ही है) प्रत्युत यह तो भावनात्मक ग्रंथ है इसलिए इसमे परमात्मप्रकाश, समाधिगतक प्राप्ति ग्रंथो की भाति पुनरुक्त दोष नहीं है किन्तु जैसे रागी जीवो को श्रु गार की कथा बार बार कही जाती है वैसे ही यहा पर भी एक ही बात बार बार शिष्य को कहा जाना ठीक है । अथवा यो समझो कि वहा पर तो जीवाधिकार मे जीवकी मुख्यता है और यहा अजीवाधिकार मे अजीव की मुख्यता है । जहा पर जिसकी विवसा होती है वह मुख्य समझा जाता है । अथवा वहा सामान्य कथन है और यहा पर उसीका विस्तार है । अथवा वहा रागादिक से जीव भिन्न होता है ऐसा निषेधात्मक व्याख्यान है । जैसे एकत्व भावना और अन्यत्व भावना मे विधि और निषेध रूप कथन है । इस प्रकार शका का पाच प्रकार से परिहार किया गया है ।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकार रूप रगभूमि में श्रु गार सहित पात्र के समान व्यवहार नय से एकरूपता को प्राप्त हुये प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से श्रु गार रहित पात्र के समान पृथक् २ होकर निकल गये ।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप लक्षण वाली तात्पर्य वृत्ति नामकी समयसार की व्याख्या मे तीन स्थलो के समुदाय से तीस गाथाओ द्वारा यह अजीवाधिकार समाप्त हुआ ।

अथ कर्तृ कर्माधिकारः (तीसरा अधिकार)

तात्पर्यवृत्ति.—अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन कर्तृ कर्मसावरहिती तथापि व्यवहारतयेन कर्तृ कर्मवेपेण श्रु गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दडकान्विहयाष्टाधिकसप्तनिगापापर्यंत नवमि स्थलेऽव्यभिचान करोतीति पुष्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका । अथवा जो सत्ससारस्थो जीवो इत्यादिगाथात्रयेण पुष्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसयोगपरिणामनिवृत्तान च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पञ्चास्तिकायाप्राभृते यत्पूर्वं सञ्ज्ञेण व्याख्यात तत्संज्ञेदानी व्यक्तपर्थं पुष्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकासमुदायकथन तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका । प्रथमतस्तावत् जाबरायेविधिसेततर इत्यादिगाथाभ्यादि कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र गाथाद्वयमज्ञानीजीवमुद्यत्त्वेन गाथाचतुष्टय सज्जानीजीवमुद्यत्त्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका । तच्छाया—अथ कोषाद्यासवशुद्धात्मनोर्पातकाल भेदविज्ञान न ज्ञानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति ।

अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रगभूमि में यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कर्ताकर्म भाव रहित जीव और अजीव हैं किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वही जीव और अजीव कर्ता और कर्म के भेष में मृगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं। इस प्रकार के दंडको को छोड़कर ७८ (अठतर) गाथा पर्यन्त नव स्थलो से व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार पुण्य पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका के रूप में तीसरे अधिकांश में यह समुदाय पातनिका हुई। अथवा यो कहो कि 'जो खलु ससारत्थो जीवो' इत्यादि तीन गाथाओं के द्वारा पुण्यपापादि रूप सप्त पदार्थ जो कि जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, वे शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार का व्याख्यान पचास्तिंकाय प्राभृत ग्रन्थ में जो पहले संक्षेप से कह आये हैं, उन्हीं पुण्य पापादि सप्त पदार्थों को स्पष्ट वर्णन करने के लिए वे पीठिका के समुदायरूप कथन किया जाता है यह दूसरी पातनिका हुई। वहाँ सबसे पहले 'जाव ए वेदि विसंस्तर' इत्यादि गाथा से प्रारंभ करके पाठ के क्रम में छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ दो गाथा तो अज्ञानी जीवकी मुख्यता से और चार गाथा ज्ञानी जीव की मुख्यता से कही गई हैं। इस प्रकार पहले स्थल में समुदाय पातनिका हुई।

वही आगे बतलाते हैं कि यह जीव क्रोधादि आस्रव भाव और शुद्धात्मा इन दोनों में जो भेद है उसको जब तक भली प्रकार नहीं जान लेता है तब तक यह जीव अज्ञानी बहिरात्मा रहता है—

जाव ण वेदि विसंस्तरं तु आदासवाण दोहं पि ।

अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्ठवे जीवो ॥७४॥

कोधादिसु वट्ठंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होवि ।

जीवस्सेवं बंधो भणितो खलु सव्वदरसीहिं ॥७५॥ (युग्मम्)

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मान्नयोर्द्वयोरपि ।

अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तन्ते जीवः ॥७४॥

क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।

जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७५॥

अर्थ—आत्मभाव और आस्रवभाव दोनों में परस्पर में होने वाली विशेषता को जब तक यह जीव अपने उपयोग में ठीक प्रकार नहीं जान लेता है तब तक अज्ञानी बना रहता है। और तभी तक क्रोधादिक करने में प्रवृत्त होता है। अतः (क्रोध आदि में प्रवृत्त होने वाले) इसके नवीन कर्मों का भी बंध होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन कर्म बंध होने का यही ढंग बतलाया है। ७४-७५।

तार्पयवृत्ति—जाव ण वेदि विसंस्तरं तु आदासवाण दोहं पि यावत्काल न वेत्ति न जानाति विशेषांतर भेदज्ञान शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः अण्णाणी तावदु सो तावत्कालपर्यंतमज्ञानी बहिरात्मा भवति। स जीव अज्ञानी सत्किं करोति, कोधादिसु वट्ठवे जीवो यथा ज्ञानमहं इत्यभेदेन वर्तन्ते तथा क्रोधाद्यास्रवहितनिर्मलात्मानुभूति-लक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधाहमित्यभेदेन वर्तन्ते परिणामतीति अर्थ—कोधादिसु वट्ठतस्स तस्स उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमावलिखणेषु क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य जीवस्य किं फल भवति कम्मस्स संचओ होवो परमात्मप्रच्छादकर्मणः सद्यः आस्रव आगमन भवति। जीवस्सेवं बंधो भणितो खलु सव्वदरसीहिं तैल-अक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो भलादितैलसंबन्धेन मलबन्धवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागाप्रदेशलक्षण स्वशुद्धात्मावति-

स्वरूपमोक्षविमलस्यो बंधो भवति । जीवस्यैव सत्तु स्फुटं मणितं सर्ववर्तिनि सर्वज्ञं । किं च यावत्क्रोधाद्यास्तरुवेभ्यो निम्न शुद्धात्मस्वरूप स्वस्ववेदनज्ञानबसेन न जानाति तावत्कालवज्जानी भवति । अज्ञानी सत् अज्ञानबा कर्तृ कर्मप्रवृत्ति न भवति तस्माद्बन्धो भवति । बंधात्ससार परिभ्रमतीत्यभिप्राय । एवमज्ञानी जीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वय गत । अथ कदा कालेऽप्या कर्तृ कर्मप्रवृत्तिनिवृत्तिरित्येव पृष्ठे प्रत्युत्तर ददाति ।

टीका — (जाव ए वेदि विसेसतर तु भ्रादासवाण दोण्हपि) शुद्धात्मा और क्रोधादि आत्मबोके स्वरूप मे जो विशेषता है उसको यह जीव जबतक नहीं जानलेता—समझलेता (अण्णाणी तावदु सो) तबतक यह अज्ञानी और बहिरात्मा बना रहता है । अज्ञानी होकर वह क्या करता है कि (क्रोधादिसु बहदे जीवो) जैसे मैं जान हूँ (अर्थात् ज्ञान मेरा स्वभाव है) इस प्रकार ज्ञानके साथ एकता को लिये हुए है वैसे ही क्रोधादिक आत्मबो भावो से रहित ऐसी निर्मल आत्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म स्वभावसे पृथक् भूत क्रोधादिक भाव हैं उनमे भी मैं क्रोध है (क्रोध करना मेरा स्वभाव है) इस प्रकार एकता को लिये हुये रहता है, परिणामन करता है । (क्रोधादिसु वट्ट तस्स तस्स) उत्तम क्षमादि स्वरूप जो परमात्मा उससे विलक्षण जो क्रोधादि भाव उनमे प्रवर्तन करनेवाले इस जीव के (कम्मस्स सच्चओ होदि) परमात्म स्वरूप का तिरोहित करनेवाले कर्मका सचय, आत्मब, आगमन होता रहता है । (जीवस्मेव बंधो भणियो सत्तु सव्वदरसीहि) जैसे तेल लगाये हुए जीवके शरीर मे घूलिका समागम हो जाता है, वैसे ही नूतन कर्मों का आत्मब होने पर फिर तेल के सबधसे मेलके चिपक जाने के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रवेश सलक्षण वाला जोकि अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति स्वरूप मोक्ष से विलक्षण है ऐसा बंध अवश्य ही होता है । सर्वज्ञ भगवानने नूतन बंधका ऐसा वर्णन किया है । और जबतक अपने शुद्धात्मके स्वरूपको स्वस्ववेदन ज्ञानके बलसे क्रोधादिक से पृथक् करके नहीं जानता है (अपने अनुभवमे नहीं लाता है) तबतक अज्ञानी रहता है । जबतक अज्ञानी रहता है तबतक अज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेवाली कर्त्ताकर्मरूप प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ता है इसलिए बंध होता रहता है । बंधसे ससारका परिभ्रमण होता रहता है ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार अज्ञानी जीवके स्वरूप का कथन करनेवाली दो गाथा हुई ॥७४-७५॥

विशेषार्थ — प्राचार्य महाराज कहते हैं कि वीतरागता तो आत्माका स्वभाव है और क्रोधादिक भाव आत्माके कर्मजन्य विकारी भाव हैं जो कि अनादि से आत्मामे होते आ रहे हैं । एव यह आत्मा इन बाह्य दृश्यमान वस्तुओ पर क्रोधादिक करना मेरा काम है ऐसा समझते हुए क्रोधादिक रूप परिणामन करता रहता है तबतक यह बाह्यपदार्थ मे प्रवृत्ति करनेवाला बहिरात्मा एव अज्ञानी होता हुआ नवीन बंध करता रहता है ।

इस कर्त्ता कर्म रूप प्रवृत्ति की निवृत्ति किस प्रकार होती है उसे कहते हैं —

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।

णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७६॥

यदानेन जीवेनात्मनः आत्मवाराणां च तथैव ।

ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥७६॥

अर्थ — जिस समय यह जीव आत्मभाव और आत्मवभावों में जो विलक्षणता है उसे अपने उपयोग मे मली प्रकार उतारता है (अर्थात् क्रोधादिक रूप परिणामन नहीं करता) उस समय नूतन बंध नहीं होता है ।

तात्पर्यवृत्ति — जइया यदा श्रीधर्मलब्धिकाले इमेण जीवेण धनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन अप्पणो आसवाण य

तदेव एवाव होवि विसेसतर तु यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणा च ज्ञात भवति विशेषातर भेदज्ञान तद्व्यापनाकाले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति, अहं कर्ता भावक्रोधादिरूपवतरग मम कर्मव्यज्ञानजा कर्तृकर्म-प्रवृत्ति मु चति । ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्या निर्विकल्पसमाधौ सति ण ब्रह्मो न बधो भवति से तस्य जीवस्येति । अथ कथं ज्ञानमाधादेव बधनिराध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं वदाति ।

टीका.—(जडया) जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्यात्मक रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति के कालमें (इमेण जीवेण) इस प्रत्यक्षीभूत जीवके द्वारा (अप्पणो आसवाण य तदेव एवाद होदि विसेसतर तु) जैसे शुद्धात्मा का तथा काम क्रोधादि आस्रव भावों का जो भेद है—परस्परमें विलक्षणपन है—वैसा ही जब जान लेता है अर्थात् अपने उपयोगमें उतारलेता है (एव पर स्वरूप जो क्रोधादिक भाव है उनको करने से रह जाता है) (तद्व्या) उस समय सम्यग्ज्ञानी होता है । सम्यग्ज्ञानी होकर क्या करता है कि मैं तो करनेवाला हूँ और भावक्रोधादिक जो अतरगमें होते हैं वे मेरे कर्म हैं इस प्रकार जो अज्ञानजन्य कर्ता कर्म की प्रवृत्ति उसे छोड़ देता है, और उस कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जानेपर निर्विकल्प समाधि होती है तब (७ बधो से) उस जीवके नूतन बध नहीं होता ॥७६॥

विशेषार्थ—यहां अज्ञानी से ज्ञानी कब होता है यह बतलाते हुए आचार्यदेव ने बतलाया है कि जब तक यह क्रोधादिक भाव किसी भी रूपमें करता रहता है तब तक अज्ञानी है किन्तु जब क्रोधादिरूप आर्त रौद्रभाव से रहित होकर निर्विकल्प समाधिमें लीन हो जाता है उस समय ज्ञानी बनता है तब उस समय उसके नूतन बध नहीं होता । सारांश यह है कि जब यह अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होता है तब ही ज्ञानी होता है यही बात गोमट्टसार जीवकाण्ड में बताई है—अट्टा मेस पमादो वयगुणसीलोत्तमिडिभो एणाणी, अणुवसमभो अखवभो भाएणिणीणोहो अपमत्तो ॥४६॥ अर्थात् जिस समय के सारे प्रमाद नष्ट होगये और जो समग्र ही महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, शरीर और आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, वह ज्ञानी है । और जबतक उपशमका क्षपक श्रेणीका आरोहण नहीं करता तबतक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है । यही बात परमात्म प्रकाशमें भी कही है—‘देह विभिण्णउ एणामउ जो परमप्पु णिएइ । परम समाहि परिट्टियउ पडिउ सो जि हवेइ’ ॥१४॥ अर्थात् जो जीव परम समाधिमें स्थित होकर देहसे रहित केवलमात्र ज्ञानमय परमात्मा का ही अनुभव करता है अर्थात् तन्मय होकर रहता है वही पण्डित अर्थात् ज्ञानी होता है ।

ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी हो जाने से निर्बन्ध कैसे होता है अर्थात् बध का निरोध कैसे करता है इसका उत्तर देते हैं—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च ।

दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियंति कुणदि जीवो ॥७७॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्तं च विपरीतभावं च ।

दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जब यह जीव आस्रवों के अशुचिपने को, जडत्वरूप विपरीतपने को और दुःख के कारणपने को जान लेता है तब अपने आप उनसे दूर रहता है ॥७७॥

सात्पर्यवृत्ति—क्रोधाद्यास्रवाणा सबधि कालुष्यरूपमशुचित्तं जडत्वरूप विपरीतभाव व्याकुलत्वलक्षणा दुःख-कारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः सबधि निर्मलात्मानुवृत्तिरूप शुचित्तं सहजशुद्धावबोधैक्यज्ञानरूप ज्ञातृत्वमनाकुलत्व-लक्षणावतमुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वदेनज्ञानांतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसाध्यायिके स्थित्वा

क्रोधाद्यात्मवशा निवृत्तिं करोति जीव । इति ज्ञानमात्रादेव बधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिसप्ततन्त्रेण । किं च यच्चात्मात्मवशो सवधि भेदज्ञान तद्वागाद्यात्मवेभ्यो निवृत्त न वेति, निवृत्त चेतिहि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्र वीतरागसम्यक्त्व च सम्पत् इति सम्यग्ज्ञानादेव बधनिरोधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्त न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः । अप्र केन भावनाप्रकारेण यमात्माक्रोधाद्यात्मवेभ्यो निवर्तते इति चेत्,—

टीका—क्रोधादि आत्मवो के कलुषतारूप अशुचिपने को, जडतारूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एव अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनन्त सुखरूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसवेदनज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य में एकाग्रतारूप परम सामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आत्मवो की निवृत्ति करता है अर्थात् अपने आप दूर रहता है । इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहा साख्यमत सरीखा ज्ञानमात्र से बधका निरोध नहीं माना गया है । (किन्तु वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बधका निरोध होता है) किं च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आत्मव सवधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आत्मवो से निवृत्त है या नहीं ? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान में पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र्य भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है ही, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बध का निरोध सिद्ध हो ही जाता है, और यदि वह भेदज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ—आचार्यदेवने यहा पर ज्ञान शब्द से उसी ज्ञान को लिया है जो कि वैराग्य पूर्ण हो, सासारिक विषय वासनादिरूप भ्रष्टो से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मस्वभाव में तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सत्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों की एकता को ही सम्यग्ज्ञान शब्द से लिया है जो कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था में होता है, एव इतर आचार्यों ने जो रतनत्रय को मोक्ष का मार्ग बताया है इससे पृथक् नहीं है ।

अब वह जानो आत्मा किस भावना के बल से क्रोधादि आत्मव भावो से निवृत्त होता है सो बताते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो निम्मममो पाणदंसणसमग्गो ।

तद्धि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७८॥

अहमेकः खलु शुद्धश्च निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।

तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७८॥

अर्थ—ज्ञानी जीव (समाधिस्थ जीव) विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ । परन्तु उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एव चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ मैं उन क्रोधादि सब आसुव भावों का क्षय करता हूँ । (ऐसा सोच वह उन क्रोधादि विकार रूप धातुंरोगिभावो से अपने आप दूर होकर समाधि में लग जाता है) ॥७८॥

तात्पर्यवृत्ति—अहं निश्चयनयेन स्वसवेदनज्ञानप्रत्यक्ष शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं इक्को अनाद्यतनतटकोत्कीर्णज्ञायक-कस्माच्चरत्वादेक खलु सुद्धो सुद्धो—कर्तृकर्मकरणसंप्रदानपादानाधिकरणपट्टकारकीय विकल्पचक्ररहितबुद्धश्च निम्ममो निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावात् ममत्वमहित । एणाणवसणसमग्गो प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्या सप्रथ परिपूर्ण एव गुणविशिष्टपदार्थविशेषोस्मि अयामि । तद्धि ठिदो तस्मिन्नुक्त-नक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित । तच्चित्तो तच्चित्त सहजानन्दलक्षणसुखमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा सव्वे एवे क्षयं-

येमि मयनितान्निरास्त्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतास्तान् कामक्रोधाद्यान्वन् शय विनाश नयामि प्रापयामीत्यर्थं । यय यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञान तस्मिन्नेव काले रागाद्यान्वनिवृत्तिरिति समानकालत्व दर्शयति ।

टीका— (ग्रहं) निश्चयनय से मैं स्वसंवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष शुद्ध चिन्मात्र ज्योति स्वरूप है, (इक्को) अनादि अनन्त टकोत्कीर्ण अर्थात् टाकी से उकेने हुए के समान अटल एक जायक स्वभाव वाला होने से एक है, (खलु सुद्धो) कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण रूप बटकारक के विकल्प समूह से रहित है इसलिये शुद्ध है, (गिम्ममओ) मोह रहित शुद्धात्मनत्व उससे विलक्षण मोह के उदय से होने वाले क्रोधादि कयायो का समूह उसका स्वामी (करने वाला) न होने से मैं ममत्व रहित है । (गाणदसणसमग्गो) प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण है । इस प्रकार मैं तो इन गुणों से विशिष्ट है इसलिये (नहिं ठिदो) इन उपर्युक्त लक्षण वाले शुद्धात्म स्वरूप में स्थित होता हुआ तथा (तच्चिन्तो) सहजानन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे स्वरूप समग्र भी भाव के साथ तन्मय होकर (सव्वे एदे खय गंमि) निरास्त्र रूप जो परमात्मनत्व उससे पृथक्भूत जो काम क्रोधादि आस्त्रव भाव है उन सब भावों को नष्ट कर रहा है— दूर हटा रहा है । (मै इन्को अब कभी नहीं होने दूंगा) ॥७८॥

अगे दिखलाते है कि जिस समय स्वसंवेदनज्ञान होता है उसी समय रागादि आस्त्रव भावों का अभाव हो जाता है अब इन दोनों का समकालपना है —

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।

दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७९॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।

दु खानि दु.खफलानि च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः ॥७९॥

अर्थ—जीव के साथ लगे हुए ये क्रोधादिक आस्त्रव भाव अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरणा हैं दु.खरूप हैं और जिनका फल दु.ख ही है ऐसा जानी जब जान लेता है तब उसी समय उनसे दूर हो जाता है ॥ ७९ ॥

तात्पर्यवृत्ति—एदे जीवणिबद्धा एते क्रोधाद्यास्त्रवा जीवेन सह निबद्धा मबद्धा अपोषिका । न पुन निरुपाधि-स्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावा । **अध्रुवा** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणाका । ध्रुव शुद्धजीव एव । **अणिच्चा** शीतोष्णवरावेशवदध्रुवापेक्षाया क्रमेण स्थिरत्व न गच्छतीत्यनित्या विनश्वरा नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । **तहा असरणा** य तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामाद्रेकवत् वातु धर्तु रक्षित न शक्यत इत्यशरणा शरणो निविकार-बाधस्वरूप शुद्धजीव एव । **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दु.खानि भवति कामक्रोधाद्यान्वन् अनाकुलत्ववक्षणा-त्वात्पारमाधिक्यमुक्त्वरूपशुद्धजीव एव । **दुक्खफलाणि य** अगामिनारकादिदु.यफलकारणत्वाद् दु.खफला स्वत्वाल्ला वास्तवमुल्लसकस्वरूपशुद्धजीव एव । **णादूण** **णिबत्तये तेसु** इति भेदविज्ञानानन्तरमेव श्रुत्वभूतान्मिथ्यात्वरागाद्यान्-वान् ज्ञात्वास्त्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे भेषपटवरहितारित्यवशिवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहस्र-वर्तिवृत्ते समानकालत्व सिद्धमिति । ननु पुण्यपापादिसत्पदार्थानां पीडिताव्याख्यानं किंयत् इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यानं पुन प्रज्ञानीमज्ञानीजीवस्वरूपमुल्लेखेन कृतं पुण्यपापादिमपदार्थानां पीडिकाव्याख्यानं कथं घटन इति । तत्र । जीवाजीवी यदि नित्यमेकतेनपरिणामिनी भवतस्तदा द्वावेव पदार्थो जीवाजीवादिति । यदि च एकातेन परिणामिनी भवतस्तर्देक एव पदार्थः । किंतु कथंचित्परिणामिनी भवतः । कथंचित्कोपः ? यद्यपि जीव शुद्धनिश्चयेन स्वरूप न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवनाशान्नाशुपाधिपरिणामं शृण्वति । यद्यपि रागाद्युपाधि-

परिणाम शुद्धति तथापि स्वरूप न त्यजति स्फटिकवत् । तत्रैव कथयित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणाम करोति । कदाचित्सुनृद्धिदानदैकस्वभाव शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकाशानिदानस्वरूप शुभोपयोगपरिणाम च करोति । तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापसंबन्धपदार्थानां कर्तृत्व घटते । तत्र ये भावरूपा पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा द्रव्यरूपास्ते बाजीवपरिणामा इति । य पुनः सम्यग्दृष्टि-रतरात्मा सज्जानीजीव स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगवलेन निश्चयधारिणाविनाभाववीतरागसम्यग्दृष्टि-भूत्वा निविकल्पसमाधिस्वरूपपरिणामपरिणति करोति तदा तेन परिणामेन सत्वरनिर्जाराभोक्षपदार्थानां द्रव्यभाव-रूपाणां कर्ता भवति । कदाचित्सुनृद्धिनिविकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायबन्धनार्थं शुद्धात्मभावनासाध-नार्थं बहिर्बुद्ध्या कृपानिपुजालाभभोगाकाशानिदानबधिरहितं सत् शुद्धात्मलक्षणार्हसिद्धशुद्धात्माराम्यकप्रतिपादकसाधका-चार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणरूप शुभोपयोगपरिणाम च करोति । अस्मिन्मर्थे दृष्टानमाहुः । यथा कश्चिद्देवदरा स्वकीयदेशांतरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सम्मानं करोति, वार्तां पृच्छति, तस्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकार स्नेहदानादिकं च करोति । तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराम्यकप्रतिपादकचार्योपाध्याय-साधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराम्यकनारहितं सत् करोति । एवमज्ञानीसज्जानीजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसत्पदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते । नास्ति विरोधः । एव सज्जानीजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन नाथाचतुष्टयं गतं इति पुण्यपापादिसत्पदार्थपीठिकाधिकारे नाथाचतुष्टयेन प्रथमातरा-धिकारो व्याख्यातः ।

अतः परं यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यंतं पुनरपि सज्जानीजीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीव कर्ता भूतिकाकलनमिमीषादानरूपेण निश्चयेन कर्म नो कर्म च न करोतीति ज्ञानं सत् शुद्धात्मानं स्व-संवेदनज्ञानेन जानाति यः स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण 'कम्मस्स य परिणाम' इत्यादिप्रथमगाथा । ततः परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अथ कर्मवत् स्वपरिणामत्व सुखदुःखादिकर्मफलं चारमा ज्ञानत्रयदुयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण 'एतुविपरिणममि' इत्यादिगाथात्रयं तदनंतरं पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण 'जविपरिणममि' इत्यादिसूत्रमेकं । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वे सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया 'जीवपरिणाम' इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्य-भावश्चेति प्रतिपादनरूपेण 'णिच्छयरायस्स' इत्यादिसूत्रमेकं । ततश्च व्यवहारेण जीव पुद्गलकर्मणा कर्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण 'ववहारस्स बु' इत्यादिसूत्रमेकं । एव ज्ञानी जीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिहितो-च्यते समुदायातनिका । तथार्था—अथ कर्मात्मा ज्ञानीभूतो लभ्य इति प्रत्ये प्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका — (एदे जीवरागवद्धा) ये क्रोधादिक आस्रवभाव जो जीवके साथ निबद्ध हैं श्रीपापक रूप हैं (पर संयोग से उत्पन्न हुए हैं) किन्तु उपाधिरहित शुद्ध स्फटिक सरीखे शुद्ध जीव के स्वभाव नहीं हैं । (प्रभुव) बिजली के चमत्कारके सामान चंचल हैं अत्यन्त क्षणिक है किन्तु शुद्ध जीव ही प्रभुव है—अटल है । (अणिच्चा) शीतोष्ण ज्वरके वेगके समान एकसे रहनेवाले नहीं हैं, कभी कम कभी अधिक होते हैं स्थिरता को प्राप्त नहीं होते हैं, विनश्वर हैं किन्तु चैतन्य चमत्कार मात्र एक शुद्ध जीव ही नित्य है । (तहा असरराय य) वैसे ही अशरराय है क्योंकि तीव्र कामवेग के समान इनको नियंत्रित करके रखा नहीं जा सकता, किन्तु शुद्ध जीव ही निर्विकार बोध स्वरूप शरणभूत है । (डुक्खा) आकुलता के उत्पादक होने से काम क्रोधादिक आस्रवभाव स्वयं दुःख स्वरूप हैं । किन्तु शुद्ध जीव ही अनाकुलत्व संशरण वाला होने से वास्तविक सुख स्वरूप ही है (दुख फलाणिय) भविष्य काल में होनेवाले नारकादि दुःखों के कारणभूत होनेसे क्रोधादिक आस्रवभाव दुःख फलरूप हैं किन्तु शुद्ध जीव ही वास्तवमेव सुख फलस्वरूप है ।

(साक्षात्प्राप्त एवम्) इस प्रकार के भेदज्ञान के अनन्तर समय में ही जब कि मिथ्यात्व रागादि आसुव भावों को उपयुक्त प्रकार जानकर जिस समय मेघपटल रहित सूर्यके समान इन सबसे दूर हो जाता है उस ही क्षणमें यह जीव ज्ञानी होता है। इस प्रकार भेदज्ञान के सासुव भावा की निवृत्तिका समान काल सिद्ध होता है ॥७६॥

विशेषार्थ — आचार्यदेव ने इस गाथा में यह स्पष्ट बतलाया है कि क्रोधादिक विकारी भावोंका न होना कहीं अथवा भेद विज्ञान का होना कहीं यह दोनों एक है और इन दोनों का काल समान है। ऐसा नहीं हो सकता कि भेदज्ञान तो हो जाय और क्रोधादिक विकारी भाव फिर भी वने ही रहें। एव जिसकी आत्मा में क्रोधादिक विकारी भाव नहीं है वही ज्ञानी है।

यहां शिष्य शका करता कि हे प्रभो ! इस प्रकरण के पूर्व में आपने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि अब पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान किया जाता है और यहां व्याख्यान में सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीव का स्वरूप मुख्यतासे कहा गया तब यहां पुण्यपापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि जीव और अजीव एकारूप से अपरिणामी ही हो परिणामन शील नहीं हो तब तो दो ही पदार्थ ठहरे और यदि सर्वथा परिणामन शील ही हो-एक दूसरे के साथ सर्वथा तन्मय होकर रहनेवाले हो तो एक ही पदार्थ ठहरे। इसलिए ये दोनों ही कथंचित् परिणामनशील हैं। कथंचित् का क्या अर्थ है ? इसको स्पष्ट कर वतलाते हैं कि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है तथापि व्यवहार से कर्मों के उदयके वश होकर रागद्वेषादि औपाधिक (विकारी) परिणामों को ग्रहण करता है। यद्यपि स्फटिकके समान यह जीव रागादि विकारी परिणामों को अंगीकार करता है फिर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है जबकि इसमें कथंचित् परिणामीपना सिद्ध है। इसलिये जबतक अज्ञानी बहिर्गता मिथ्यादृष्टि की अवस्था में रहता है तबतक प्रधानतासे विषय कषायरूप अशुभ परिणाम करता रहता है किन्तु कभी कभी चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त किये बिना उससे शून्य केवल भांग आकाक्षा के निदानबध स्वरूप शुभ परिणाम भी करता है। उस समय (इस अज्ञान दशामें) इसके द्रव्य और भावरूप पुण्य पापमय आसुव पदार्थका और बध पदार्थका कर्तापना घटित होता है। वहां पर जो भावरूप पुण्यपापादि होते हैं वे जीव के परिणाम होते हैं और द्रव्य रूप पुण्यपापादि हैं वे अजीव के अर्थात् पुद्गलके परिणाम होते हैं। किन्तु जा सम्यग्दृष्टि अर्थात् अन्तरात्मा या ज्ञानी होता है वह प्रधानता से निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धोद्योगके बलसे निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखनेवाले वीतराग सम्यग्दर्शन वाला हाता हुआ हुआ निर्विकल्प समाधि रूप परिणाममें परिणमन करता है तो उस परिणाम से द्रव्य भावरूप सवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थ का कर्ता होता है। किन्तु कभी कभी निर्विकल्प समाधि रूप परिणामों का अभाव होजाने पर विषय कषाय रूप परिणामों से बचने के लिये शुद्धात्मा की भावना को पुन प्राप्त करने के लिये बहिर्दृष्टि होते हुए भी ख्याति, लाभ, पूजा भोग आकाक्षा निदान बध से रहित होता हुआ वह शुद्धात्मा है लक्षण जिनका ऐसे अर्हत सिद्ध और शुद्धात्मा की आराधना करनेवाले और उसी का प्रतिपादन करनेवाले एव उसी शुद्धात्मा के साधक ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओंका गुण स्मरणार्थ रूप शुभ उपयोग रूप परिणाम को भी करता है। इसी बात को दृष्टांतसे समझाते हैं—जैसे कोई पुरुष जिसको श्री देशांतर में है उस स्त्री का समाचार जानने के लिये उसके पाससे आये हुए लोगोंका सम्मान करता है, उसकी बात पूछता है, और उनको अपनाकर व उनसे प्रेम दिखलाकर उनको दानादिक भी देता है यह उसका सारा बर्ताव केवल स्त्री का परिचय प्राप्त करने के निमित्त होता है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) जीवभी जिस

कालमे स्वयं शुद्धात्मा की आराधनासे रहित होता है उस समय शुद्धात्मा के स्वरूपकी उपलब्धि के लिये शुद्धात्माके आराधक व प्रतिपादक ऐसे आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं उनका गुरुस्मरण दान सन्मान आदि करता है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवके स्वरूपका व्याख्यान कर लेने पर पुण्यपापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गलके सयोगरूप परिणामसे संपन्न हुए हैं ऐसा ज्ञान हो जानेसे उपर्युक्त पीठिका का व्याख्यान अपने आप भाजाता है और इसमें कोई विरोध भी नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुईं। इस प्रकार पुण्य पाप आदि सप्त पदार्थों के अधिकारमें छह गाथाओं से प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ ॥७६॥

इसके आगे ग्यारह गाथाओं तक क्रम से उसी ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वही ग्यारह गाथाओं में भी 'कम्मस्स य परिणाम' इत्यादि प्रथम गाथा में यह बतलाया है कि जिस प्रकार कलश का उपादान रूप से कर्ता मिट्टी का लोदा है, उसी प्रकार निश्चय रूप से जीव कर्म और नोकर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा समझकर जो पुरुष अपने स्वसंवेदन (समाधिरूप) ज्ञान से जो अपने शुद्धात्मा को जानता है वही ज्ञानी होता है। इसके आगे प्रधानता से एक गाथा में यह बतलाया है कि यह जीव व्यवहार से पुण्य पापादिपरिणामों का कर्ता है निश्चयसे नहीं। इसके आगे कर्मपने को अर्थात् अपने आपके परिणामन स्वरूपता को और सुख दुखादि रूप कर्म के फल को जानता हुआ भी यह आत्मा उदय में आए हुए पर द्रव्य को नहीं करता है इस प्रकार का कथन करते हुए 'ए वि परिणमदि' इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इसके आगे 'ग वि परिणमदि' इत्यादि रूप से एक गाथा सूत्र है जिसमें बतलाया है कि पुद्गल भी वर्णादिरूप अपने परिणाम का ही कर्ता है, किन्तु ज्ञानादि रूप जीव के परिणाम का कर्ता नहीं है ऐसा कथन है। आगे 'जीव परिणाम' इत्यादि तीन गाथा हैं उसमें बतलाया है कि यद्यपि जीव और पुद्गल में परस्पर निमित्त कर्तापना तो है किन्तु परस्पर में उपादान कर्तापना तो किसी भी दशा में नहीं है उसके आगे 'एणच्छय गयस्स' इस प्रकार जिसमें यह बतलाया है कि निश्चय से इस जीव का कर्ता कर्म भाव और भोक्ता भोग्य भाव भी अपने परिणामों के साथ ही है। इसके आगे 'ववहारस्स दु' इत्यादि एक सूत्र है जिसमें कहा गया है कि व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता भी है। इस प्रकार ज्ञानी जीव की विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं में दूसरा स्थल पूर्ण होता है उसकी यह समुदाय पातनिका हुई।

अब यहाँ सबसे प्रथम यह बताते हैं कि यह आत्मा ज्ञानी है यह बात कैसे जानी जाती है—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।

ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

कर्मणइव परिणामं नोकर्मणइव तथेव परिणामं ।

न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥८०॥

यह आत्मा उपादान रूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है इस प्रकार जो जानता है (अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है) वही ज्ञानी होता है ॥८०॥

तात्पर्यवृत्ति—कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एवमादा जो जाणदि यथा मृत्तिकाकलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मण नोकर्मणइव परिणाम पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाण न करोत्यात्मेति यो जानाति सो हवदि ज्ञाणी स निश्चयशुद्धात्मान परमसमाधिबलेन भावयन्स्व ज्ञानी भवति । इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता । अब पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति ।

टीका—(कम्मस्स य परिणाम सोकम्मस्स य तहेव परिणाम ए करेदि एदमादा) जिस प्रकार कलश का उपादान कर्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम कर्ता भी पुद्गल द्रव्य हैं, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्ता नहीं है इस प्रकार (जो ज्ञाणदि सो ह्वदि गारणी) जो जानता है वह निश्चय शुद्ध आत्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है ॥८०॥

विशेषार्थ—यद्यपि उपयुक्त गाथा में 'जानाति' क्रिया पद आया है जिसका अर्थ केवल जानना मात्र होता है किन्तु आचार्य श्री ने उसे समाधि में स्थित रहने वाले के लिए प्रयुक्त किया है, जैसा कि टीकाकार स्पष्ट कर बतला रहे हैं, क्योंकि आर्त्त रौद्रभाव से रहित शुद्ध ज्ञान छद्मस्थ को उसी समय होता है। अन्य समय में तो इष्ट अनिष्ट कल्पनापूर्वक बाह्य वातावरण में लगकर वह रागद्वेष करता ही रहता है। इसी प्रकार 'जानाति' या 'वेत्ति' क्रियायें जहां आगे वहां सब ही स्थान पर आचार्य महाराज का यही अभिप्राय समझना चाहिये।

आगे व्यवहार में यह आत्मा पुण्य पापादि परिणामों का कर्ता है (निश्चय में नहीं) ऐसा कहते हैं—

कृत्ता आदा भणितो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।

धम्मादी परिणामो जो जाणदि सो ह्वदि गाणी ॥८१॥

कर्त्ता आत्मा भणितः न च कर्त्ता केन स उपायेन ।

धर्मादीन् परिणामान् यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥८१॥

अर्थ—किसी एक नयसे (व्यवहार नयसे) आत्मा पुण्य पापादि परिणामों का कर्ता है और किसी एक नयसे (निश्चयनय से) आत्मा इन परिणामों का कर्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है वह ज्ञानी होता है ॥८१॥

तात्पर्यवृत्ति—कृत्ता आदा भणितो ण य कत्ता सो न च कर्त्ता भवति स आत्मा केण उवायेण केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत् निश्चयनय अकर्त्ता व्यवहारनयसे कर्त्ता । कान् धम्मादी परिणामे पुण्यपापादिकमजनितापाधिपरिणामान् जो जाणदि सो ह्वदि गारणी क्वातिपूजानामादिममस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराम्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता । अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसंबन्धो नास्तीति निरूपयति ।

टीका —(कृत्ता आदा भणितो ण य कत्ता सो) आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, (केण उवाएण) किसी एक नय विभागसे अर्थात् निश्चयनयसे अकर्त्ता और व्यवहारनयसे कर्त्ता (धम्मादी परिणामे) पुण्य पापादि कर्म जनित विकारी भावों का है। इस प्रकार (जो ज्ञाणदि सो ह्वदि गारणी) क्वाति लाभ पूजादि समस्त रागादि विकल्पमय औपाधिक परिणामों से रहित समाधिमें स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। इस प्रकार निश्चयनयसे अकर्त्तापन और व्यवहारनय से कर्त्तापन का व्याख्यान करनेवाली गाथा हुई ॥८१॥

आगे कहते हैं कि पुद्गल कर्मों को जानते हुए इस जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।

णाणी जाणंतो वि हु पुगलकम्मं अणेयविहं ॥८२॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युपपद्यते न परद्रव्यपयायि ।

ज्ञानी जानन्नपि स्तु पुद्गल कमनिकविधं ॥८२॥

❀ यह गाथा आत्मव्याप्ति में नहीं है ।

अर्थ—ज्ञानी जीव अनेक प्रकार पुद्गल द्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को जानता हुआ भी तन्मयता के साथ परद्रव्य की पर्यायो मे उन स्वरूप न तो परिणमता है, न ग्रहण ही करता है और न उन रूप उत्पन्न ही होता है ॥८२॥

तात्पर्यवृत्ति—पुद्गलकर्ममं अणैर्यविहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाण पुद्गल-कर्मनिकषिध मुलोत्तरप्रकृतिभेदमिन्न जाणतो वि ह्व विगिहभेदज्ञानेन जानन्नपि ह्व स्फुट स' क कर्त्ता साणी सह-जानन्दकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यालवयोर्भेदज्ञानी एषि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ए परद्रव्यपज्जाये नत्पुर्वोक्त परद्रव्यपर्यायरूप कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणैव न परिणमति न तादात्म्यरूपनया ग्रह्णाति न च तदाका-रेणोत्पद्यते । कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसबधान्नाभात् । तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति । अथ स्वपरिणाम सकल्पविकल्परूप जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसबधो नास्तीति इमंयति ।

टीका—(पुद्गलकर्म अणैर्यविहं) उपादान कारणभूत कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य द्वारा किया हुआ है ऐसे मूल और उत्तर प्रकृतिके भेदसे अनेक प्रकार होने वाले पुद्गल कर्मको (जाणतो विह्व) विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जानता हुआ भी (णाणी) सहजानन्द स्वरूप एक स्वभाववाला निज शुद्धात्मा और रागादि आस्रव इन दोनों के भेद का ज्ञान रखने वाला जीव (एषि परिणमदि ए गिण्हदि उपज्जदि ण पर द्रव्य पज्जाए) न तो परद्रव्य पर्याय स्वरूप पूर्वोक्त कर्म के रूपमे निश्चयसे परि-णामन ही कर्त्ता है जैसे कि मिट्टी कलशरूप मे परिणामन कर जाती है, और न तादात्म्य सबधसे ग्रहण ही करता है और न उसके आकार होकर उत्पन्न ही होता है, क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी और कलश मे पर-स्पर तादात्म्य सबध है वैसा तादात्म्य सबध जीव का पुद्गल कर्म के साथ नहीं है । इसका अर्थ यह हुआ कि पुद्गल कर्म को जाननेवाले जीव का पुद्गल के साथ निश्चयसे कर्त्ता कर्म भाव नहीं है ॥८२॥

आगे कहते हैं कि अपने सकल्प विकल्प जावस्य परिणाम को जानते हुए इस जीव का उन परिणामो के निमित्त से उदय मे आए हुए कर्मों के साथ तादात्म्य सबध नहीं है —

एषि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परद्रव्यपज्जाए ।

णाणी जानंतो वि ह्व सगपरिणामं अणैर्यविहं ॥ ८३ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्पुत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥८३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अपने अनेक प्रकार के होने वाले परिणामो को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की अवस्थारूप न परिणामन करता है, न उसको ग्रहण करता है न उस रूप उत्पन्न ही होता है (इसलिए निश्चय से उसके साथ कर्त्ता कर्म भाव नहीं है) ॥ ८३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—सगपरिणाम अणैर्यविहं क्षायोपशमिक सकल्पविकल्परूप स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाण स्वपरिणाममनेकविध णारी जाणतो वि ह्व निबिकारस्वसंवेदनज्ञानीजीव स्वपरमात्मनोविगिहभेदज्ञानेन जानन्नपि ह्व स्फुट एषि परिणमदि ए गिण्हदि उपज्जदि ए परद्रव्यपज्जाये तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागत पुद्गलकर्मपर्यायरूप मृत्तिकाकलशरूपेणैव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणान्नाभादिति । एतावता किमुक्त भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागत कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृ-कर्मभावो नास्तीति । अथ पुद्गलकर्मफल जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्म-भावो नास्तीति कथयति ।

टीका— (सगपरिणाम अणोपबिह) क्षयोपशम भाव के कारण होने वाले सकल्प विकल्प रूप अपने परिणाम जिसको आत्मा ने स्वयं उपादानरूप होकर किया है और जो अनेक प्रकार है उनको (रागी जाणतो विहु) अपने परमात्मस्वरूप विशेष भेदज्ञान के बल से स्पष्ट जानता हुआ भी वह निर्विकार स्वसवेदन ज्ञानी जीव (ण वि परिणामदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदब्ब पज्जाये) उन पूर्वोक्त अपने परिणामो के निमित्त से उदय में आये हुए पुद्गल कर्म की पर्याय रूप में जैसे मिट्टी कलशरूप में परिणामन करती है वैसे शुद्ध निश्चयनय से न तो परिणमन ही करता है और न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मिट्टी और कलश में परस्पर जिस प्रकार उपादान और उपादेय भाव है। उस प्रकार उस पुद्गल कर्म के साथ आत्मा का उपादान उपादेय भाव नहीं है। इसलिये अपने क्षयोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदय में आए हुए कर्म को जानते हुए जीवका भी उस कर्म के साथ निश्चय से कर्ता कर्म भाव नहीं है ॥८३॥

आये पुद्गल कर्म के फल को जानते हुए ज्ञानी जीव के साथ पुद्गल कर्म के फल के कारण से फिर द्रव्य कर्म के साथ निश्चय में कर्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा वर्णन करते हैं—

एवमि परिणमदि ण गिण्हदि उपपज्जदि ण परदब्बपज्जाए ।

णाणी जाणतो वि हु पुगलकम्मफलमणंतं ॥८४॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपययि ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमणंतं ॥८४॥

अर्थ—ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों के अनन्त सुख दुःख फलो को जानता हुआ भी निश्चय से पर द्रव्य की पर्याय रूप में न तो परिणमन ही करता है और न उसे ग्रहण ही करता है और न उस रूप से उत्पन्न ही होता है ॥८४॥

तात्पर्यवृत्तिः—पुगलकम्मफलमणत उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदुःखरूपकस्य-पेक्षयानतकर्मफलं प्राणी जाणतो वि हु वीतरागशुद्धात्मसर्ववृत्तिमयमुत्पन्नसुखामृतसरसतृती भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेद-ज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं ए परिणमदि ण गिह्णदि उपपज्जदि ण परदब्बपज्जाये वर्तमानसुखदुःखरूप जन्तु-पेक्षानिमित्तमुदयागत परपर्यायरूप पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणैव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पययि-णोत्पद्यते च । कर्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोगिब तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धभावाद्यादिति । किं च विशेष-यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदागारेणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति ज्ञानी जीव मिथ्यात्वविषयकपाय-क्ष्यातिपूजालाभमोगाकाक्षारूपनिदानबधशल्यादिबिभावपरिणामकर्तृत्वमोक्तृत्वविकल्पशून्य पूणकलशवच्चिदानंदैकस्वभा-वेन भरितावस्य शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः । एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणामतीत्यादिव्याख्यानामुख्यत्वेन गाढात्रयं गतं । अथ जीवपरिणाम, स्वर्परिणाम स्वर्परिणामफलं च जडस्वभावत्वाद्-जानत पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति ।

टीका—(पुगलकम्मफलमणत) पौद्गलिक कर्मों का फल जो कि उपादान कारण रूप से उदयागत द्रव्य कर्म के द्वारा किया जाता है तथा सुख दुःख रूप शक्ति की अपेक्षा से अनंत प्रकार का होता है उसको (रागी जाणतो विहु) वीतरागरूप जो शुद्धात्मा उसके सवेदन से समुत्पन्न सुखामृत रस उसमें तृप्त होता हुआ भेदज्ञानी जीव अपने निर्मल विवेकरूप भेदज्ञान से स्पष्ट रूप जानता हुआ भी (ण वि परिणामदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण पर दब्ब पज्जाये) वर्तमान सुख दुःख रूप शक्ति की अपेक्षा का निमित्त (उपादान रूप में) उदय में आया हुआ पुद्गल कर्म जो कि पर द्रव्य पर्याय स्वरूप है उसके रूप में जैसे

मिट्टी कलश के रूप में परिणामन करती है वैसे शुद्धनयकी अपेक्षा से न तो परिणामन ही करता है, न तन्मयता के साथ उसे ग्रहण ही करता है और न उसकी पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मृत्तिका और कलश में परस्पर जैसा तादात्म्य लक्षण सबध है वैसे सबध ज्ञानी जीव का द्रव्य कर्म के साथ नहीं है ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानी जीव जब पुद्गल द्रव्य कर्म के रूप में न तो परिणामन ही करता है, न उसे ग्रहण ही करता है और न तदाकार रूप से उत्पन्न ही होता है तब वह ज्ञानी जीव क्या करता है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि वह तो मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ह्याति, पूजा, लाभ और भोगों की आकाशरूप निदान बध, शल्य आदि विभाव परिणामों का कतपिन और भोक्तापन के विकल्प से रहित अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप जो कि जल के भरे हुए कलश के समान केवलमात्र एक चिदानंद स्वभाव से परिपूर्ण है उसीका निविकल्प समाधि में स्थित होकर ध्यान करता है ॥८४॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहां पर इन तीन गाथाओं में यही बतलाया है कि ज्ञानी जीव जानने के स्वभाव वाला है । वह अपने परिणामों को ही जानता है और कर्म व कर्म के फल को भी जानता है, किन्तु अपने परिणामों को तो तन्मय होकर जानता है । पर कर्म व कर्म के फल को अपनेसे पृथक् रूप जानता है । अतः इनके रूप में किसी भी दशा में परिणामन नहीं करता, विकारी नहीं बनता, क्योंकि वह तो वीतराग स्वरूप निविकल्प समाधि में तल्लीन होकर रहता है इसीलिये वह ज्ञानी नाम पाता है ।

इस प्रकार निश्चयनय से आत्मा द्रव्यकर्मादि स्वरूप परद्रव्य के रूप में कभी नहीं परिणामता इस प्रकार की व्याख्यान करने वाली तीन गाथा हुई ॥८४॥

आगे जड़ स्वभाव होने से जो पुद्गलद्रव्य जीवके परिणाम को और अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को भी नहीं जानता उस पुद्गल का भी निश्चयनय से जीव के साथ कर्ता कर्म नाब नहीं है ऐसा बतलाते हैं —

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदब्बपज्जाए ।

पुगलदब्ब पि तहा परिणमदि सएहि भावेहि ॥८५॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपययि ।

पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकर्मैर्भावैः ॥८५॥

अर्थ—उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी पर द्रव्य की पर्यायरूप में न तो परिणामन ही करता है न कभी उसको ग्रहण ही करता है और न उस रूप में कभी उत्पन्न ही होता है किन्तु अपने आपके परिणामों से ही परिणामन करता है ॥ ८५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदब्बपज्जाए यथा जीवो निश्चयेनानत-मुखादिस्वरूप स्थक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पययिणीत्युत्पद्यते । **पुगलदब्ब पि तहा** तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमतव्यापक भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यस्य लक्षरूपेणैव चिदानंदकलशस्य जीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूप तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपययिणीत्युत्पद्यते । तर्हि किं करोति **परिणमदि सएहि भावेहि** परिणमति स्वकीयैर्बर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणैर्धर्मैर्गति । कस्मादिति चेत् मृत्तिकाकलशयोर्विव जीबेन सह तादात्म्य-लक्षणसबधभाववादिति । एव पुद्गलद्रव्यमपि जीबेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता । अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तुं कर्मभाव इत्यावेदयति ।

टीका—(णवि परिणमदि ण गिण्हदि उपज्जदि ण परदब्ब पज्जाए) जैसे निश्चयनय से जीव

अपने अन्तर्मुखी स्वरूप का छोड़कर पुद्गलद्रव्य के रूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता से ग्रहण ही करता है और न उसके आकाररूप उत्पन्न ही होता है (पुगलद्रव्य पि तद्वा) उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी स्वयं तादात्म्य स्वरूप से जिस प्रकार मिट्टी कलश रूप में परिणमन करती है उस प्रकार चिदानन्द है लक्षण जिसका ऐसे जीव स्वरूप में न तो परिणमन ही करता है, न तन्मयता के साथ ग्रहण ही करता है और न जीव के आकार ही बनता है, किन्तु (परिणमदि सएहि भावेहि) वह भी सदा अपने वर्णादि स्वभावरूप गुण धर्मों के द्वाग ही परिणमन करता है क्योंकि मृत्तिका और कलश में जैसा तादात्म्य सबध है वसा सबध पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ नहीं है ॥८५॥

विशेषार्थं—आचार्य महाराज कहते हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य परिणमन शील हैं, अतः परस्पर सयोगात्मक परिणमन को भी प्राप्त होते हैं परन्तु फिर भी अपनेपन को नहीं छाड़ते। जैसे जीव कार्माण पुद्गलों के सयोग में भी वर्णादिमान नहीं होता वैसे ही ससागी जीव के साथ सर्वाधत होकर भी पुद्गलद्रव्य कभी भी ज्ञानादिमान नहीं होता परन्तु जीव रागादिमान होकर भी चेतनावाला ही रहता है तो पुद्गल भी कर्मरूप से परिणमन करके भी जड़ स्वरूप ही रहता है।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य भी जीव के साथ उस रूप होकर परिणमन नहीं करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता करके गाथा पूर्ण हुई।

आगे जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सबध होने पर भी निश्चयनयसे इनका आपस में कर्ता कर्म भाव नहीं है ऐसा कहते हैं—

जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुगला परिणमंति ।

पुगलकम्मणिमित्तं तथैव जीवो वि परिणमइ ॥८६॥

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तथैव जीवगुणे ।

अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हपि ॥८७॥

एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।

पुगलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाण ॥८८॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति ।

पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८६॥

नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्मं तथैव जीवगुणान् ।

अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानोहि द्वयोरपि ॥८७॥

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।

पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावाना ॥८८॥

अर्थः—यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पीद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता उमी भाति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु केवल-

मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपपुंक्त विकारी परिणामन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्ता होता है किन्तु पुद्गल कर्मों के द्वारा किये गए सर्व भावों का कर्ता नहीं है।

तात्पर्यवृत्ति — जीवपरिणामहेतुं कम्मस पुगला परिणमति यथा कुभकारनिमित्तेन मृत्तिकाषट्कक्षेण परिणमति तथा जीवसवधिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतु लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमति पुगलकम्मणिमित्तं तद्देव जीवो वि परिणामइ यथैव च घटनिमित्तेन एव घट करोमीति कुभकार परिणमति तथैवोदयानपुद्गलकर्महेतु लब्ध्वा जीवोऽपि निविकारचिच्चमत्कारपरिणामितमनभमान सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणामीति । अथ—**एवि कुब्बवि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्यादिपुद्गलकर्मगुणाश्च करोति । **कम्म तद्देव जीवगुणे** कम् च तथैवानतज्ञानादिजीवगुणाश्च करोति **अण्णोष्णसि-मित्तेन तु परिणाम जाण दोण्हपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्वयनिमित्तेन घटकुभकारयारिच परिणाम जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति । अथ—**एदेण कारणेण तु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वं-सूत्रद्रव्यव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाभ्याधानतमुखादिशुद्धभावानां कर्ता । तद्विलक्षणानुशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यारम्भा । कथं । यथा मृत्तिकाकलशस्येति पुगलकम्मकदाणं एव तु कत्ता सव्वभावाणं पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्म-पर्यायरागामिति । एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गद्यानय गत । अथ तत् एतदायाति—जीवस्य स्वपरिणाममेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृमोक्षभावश्च भवति ।

टीका — (जीवपरिणामहेतु कम्मस पुगला परिणमति) जैसे कुभकारके निमित्त से मिट्टी घड़े के रूप में परिणामन करती है उसी प्रकार जीव सवधी मिथ्यात्व व रागादि परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य भी कर्मरूप में परिणामन करता है । (पुगलकम्म णिमित्तं तद्देव जीवो वि परिणामइ) जिस प्रकार घट का निमित्त पाकर कुम्हार 'मैं घड़े को बनाता हूँ' इस प्रकार भावरूप परिणामन करता है वैसे ही उदय में आये हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर अपने विकार रहित चेतनामात्र परिणति को प्राप्त नहीं होता हुआ जीव भी मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव परिणाम रूप परिणामन करता है । (एवि कुब्बवि कम्मगुणे जीवो) यद्यपि परस्पर एक दूसरे के निमित्त से इन दोनों का परिणामन होता है तो भी निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म के वर्यादि गुणों को पैदा नहीं करता है (कम्म तद्देव जीवगुणे) वैसे कर्म भी जीव के अनन्त ज्ञानादि गुणों को उत्पन्न नहीं करता है । (अण्णोष्णसिमित्तेन तु परिणाम जाण दोण्हपि) यद्यपि उपादान रूप से नहीं करता फिर भी घट और कुम्हार की भांति इन दोनों जीव और पुद्गलोका परस्पर में एक दूसरे के निमित्त से परिणामन होता है (एदेण कारणेण तु कत्ता आदा सएण भावेण) इस प्रकार पूर्वोक्त दो सूत्रों में जैसा बतलाया गया है उस रूप जीव जब निर्मल आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा शुद्ध उपादान ही है कारण भूत जिसमें श्रयवा शुद्ध उपादान का कारणभूत जो परिणाम उससे यह जीव अव्याबाध और अनल सुखादिरूप शुद्धभावों का कर्ता होता है और इससे विलक्षण एव अशुद्ध उपादान ही है कारण जिसमें या अशुद्ध उपादान का कारणभूत ऐसे विकारी परिणामन के द्वारा रागादि अशुद्ध भावों का कर्ता होता है जैसे मिट्टी कलश का कर्ता होती है । (पुगल कम्मकदाणं एव तु कत्ता सव्वभावाणं) किन्तु पुद्गलकर्म के किये हुए जो ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म पर्यायरूप जो सब भाव है उन सबका कर्ता आत्मा नहीं है ।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इस व्याख्यान की मुख्यता से से तीन गाथाएँ पूर्ण हुई ॥ ८६-८७-८८ ॥

विशेषार्थ—यह आचार्य देव ने स्पष्ट कर बतलाया है कि वस्तु परिणमन स्वभाववाला है, अतः साधारण परिणमन तो इसका अपने आप समयानुसार सहजतया होता ही रहना है किन्तु परिणमन विशेष के लिए उपादान के साथ साथ निमित्त विशेष की भी आवश्यकता होती है। जैसे कि पुद्गल का जो कर्मरूप में परिणमन होता है वह जीव के रागादिक भावों के बिना नहीं होता। रागादि भावों से सब ही पुद्गलों का परिणमन न होकर कामिण्य वर्गंगाग्रो का ही कर्मरूप परिणमन होता है। इसी प्रकार जीव का भी जो रागादिरूप परिणमन होता है वह भी पूर्व कर्म के उदय से ही होता है। किन्तु कर्मादय से भी रागादिरूप परिणमन उसी जीव का होता है जो शुद्धात्मा के अनुभव में अर्थात् समाधि में विमुखता रूप अज्ञानभाव को अपने बाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक जीव और पुद्गल का व्यजन पर्यायरूप विशेष परिणमन उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों के सहयोग से सम्पन्न होता है किसी एक से नहीं।

इमलिये यह बात सिद्ध हुई कि निश्चयनय से जीव का कर्ता कम और मोक्ष भाग्य भाव अपर परिणामों के साथ ही है—तो ही कहते हैं—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।

वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८६॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।

वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मान ॥८६॥

अर्थ—हे शिष्य, तू ऐसा समझ कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा अपने आपका ही कर्ता है और अपने आपका ही मोक्ष है (किन्तु दूसरे का नहीं) ।

तात्पर्यवृत्ति—णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्त भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलात् करोति परिणमति च । एवं यद्यपि द्रव्यकर्मादयमद्भावामाद्भावात् शुद्धाशुद्ध-भावयोनिमित्त भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वतत्वेन ज्ञानपरिणत केवलज्ञानादिशुद्धभावात् तथैवाशुद्धपरिण-तस्तु सासारिकमुखदुःखाद्यशुद्धभावाद्भोपादानरूपेणात्मैव करोति । अत्र परिणामाना परिणामनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्य-मिति न केवल करोति वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं वेदयत्यनुभवति भुक्ते परिणमति पुनश्च स्व-शुद्धात्मभावोत्पत्त्यसुखरूपेण शुद्धोपादानेन नदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च । न क कर्ता ? आत्ममति जानीहि एव निश्चयकर्तृत्वमोक्षत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता । अथ लाकव्यवहार दर्शयति ।

टीका—(णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि) जैसे समुद्र की तरंगों के उत्पन्न होने में पवन निमित्त कारण है फिर भी निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार द्रव्य कर्मों के उदय का सद्भाव आत्मा के अशुद्धभावों में निमित्त होता है और द्रव्यकर्म के उदय का न होना आत्मा के शुद्ध भावों में निमित्त होता है । फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा उपादानरूप से तो स्वयं आत्मा ही जब निर्विकार परम स्वतत्वेन ज्ञानरूप परिणत होता है तब केवलज्ञान आदि शुद्ध भावों को उत्पन्न करता है और अशुद्ध रूप में परिणत हुआ आत्मा ही उपादान रूप से सासारिक मुख दुःख आदि रूप अशुद्ध भावों को उत्पन्न करता है । यहाँ पर उन परिणामों के रूप में परिणमन करना ही कर्तापन से विवक्षित है । आत्मा केवल अपने भावों का कर्ता ही हो इतना ही नहीं है किन्तु (वेदयदि पुणो तं

चेव जाण भत्ता दु अत्ताए) अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूप शुद्ध उपादान के द्वारा अनुभव भी आत्मा अपने शुद्धात्मा का ही करता है, उसीको भोगता है, और उसीका सवेदन करता है, और उसी रूप में परिणमन करता है, किन्तु अशुद्ध उपादान से अपनी अशुद्ध आत्मा का ही अनुभवन या सवेदन करता हुआ उसी रूप परिणमन करता है ऐसा है शिष्य ! तुम सभको । इस प्रकार निश्चय कर्तृत्व भोक्तृत्व का व्याख्यान करने वाली गाथा हुई ॥८६॥

अब आगे लोक व्यवहार जैसा होता है वैसा बतलाते हैं —

ववहारस्स दु आदा पुगलकम्मं करेदि अणेयविहं ।

तं चेव य वेदयदे पुगलकम्मं अणेयविहं ॥ ८७ ॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।

तत्त्वं च पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मनिकविधं ॥ ८७ ॥

अर्थ — व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा अनेक प्रकार के अपने पुद्गल कर्मों का करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के कर्मों को भोगता भी है ।

तात्पर्यवृत्ति — ववहारस्स दु आदा पुगलकम्मं करेदि अणेयविहं यथा लोके यद्यपि श्रुतिपद उपादान-कारण तथापि कु भकारो घट करोति तत्फल च जलधारणमूल्यादिकं भुक्त इति लोकानामनादिहोस्ति व्यवहार । तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादनकारणभूत तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मनिकविधं भूतोत्तरप्रकृतिभेदमिन्न करोति तं चेव य वेदयदे पुगलकम्मं अणेयविहं तथैव च तदेवोदयागत पुद्गलकर्मनिकविधं इष्टानिष्टपक्षेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिना निर्विषयशुद्धात्मीयसमसजातमुत्तमसुखाद्विरतामनामनादिहोस्ति व्यवहार । एव व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुच्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिषीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणोपादशगाथाभिद्वितीयांतराधिकारो व्याख्यात ।

अतः पर पञ्चविंशतिगाथापर्यंत द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यान करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानवर्तुत्व द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य सत्तेष्वव्याख्यानरूपेण जडिपुगलकम्ममिस्स इत्यादि गाथाद्वयं भवति । तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये पुगलकम्ममिस्स इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथापट्क स्वतः । तदनंतरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुच्यतया परमप्याणं कुब्बी इत्यादिद्वितीयपट्क । अतः पर तस्यैव द्विक्रियावादिन पुनरपि विशेष-व्याख्यानाद्युपसंहाररूपेणोपादशगाथा भवति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुच्यत्वेन ववहारस्स दु इत्यादि गाथात्रय । तदनंतर निश्चयनयमुच्यतया जो पुगलसव्वहार इत्यादिसूत्रचतुष्टय । ततश्च इत्यकमणायुपचारकर्तृत्वमुच्यत्वेन जीव हि हेवुप्पूवे इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायप्राप्तिका । तद्यथा — अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकातेन सम्मतमप्येकातनयेन मन्यते । किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन इत्यकमपि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात् तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति ।

टीका.—(ववहारस्स दु आदा पुगलकम्मं करेदि अणेयविहं) जैसे देखने में आता है कि घड़े का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है उसीका घड़ा बनता है तथापि घड़े को बनाने वाला कुम्हार है और जल धारण करना उसका मूल्य लेना आदि फल का भोक्ता भी वही कुम्हार है यह अनादिकाल से लोगो का व्यवहार चला आ रहा है । वैसे ही उपादान रूप से कर्मों का पैदा करने वाला भी कार्माण वर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य है, जो अनेक प्रकार के मूल उत्तर प्रकृति भेद लिए हुए नाना प्रकार

ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म है उसका करने वाला व्यवहार नय से आत्मा है (ऐसा समझा जाता है) । (त चेव य वेदयदे पुग्गलकम्म अण्येयविह) और उदय मे आये हुए उसी अनेक प्रकार के पीद्गलिक कर्मों को छुट व अनिष्ट जो पचेन्द्रिय के विषय उनके रूप मे आत्मा अनुभवन करने वाला होता है ऐसा अन्य विषय से रहित शुद्धात्मा के उपलभ से समुत्पन्न जो सुखामृत रस उसके आस्वाद से रहित रहने वाले अज्ञानी लोगों का अनादि काल का व्यवहार चला आता है ॥६०॥

इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से सुख दुःख के कर्ता और भोक्तापन के कथन करने वाली गाथा पूर्ण हुई ।

विशेषार्थ — निश्चयनय अभिन्न तादात्म्य सबध या उपादान उपेय भावको ही ग्रहण करता है । उसकी दृष्टि सयोग सबध पर नहीं होती किन्तु व्यवहारनय सयोग सबध, और निमित्त नैमित्तिक भावको बतलाने वाला है । इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा निश्चयनयसे तो अपने भावोंका ही कर्ता भोक्ता है किन्तु व्यवहारनयसे वह द्रव्य कर्मों का करनेवाला व भोगनेवाला भी है । यह व्यवहारनय समाधि अवस्थासे च्युत अज्ञान दशामे स्वीकार किया जाता है किन्तु समाधि दशामे निश्चयनय का अवलंबन रहता है ।

ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करनेके रूपमे ग्यारह गाथाओं द्वारा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

इसके पश्चात् २५ गाथा पर्यंत चेतन और अचेतन इन दोनों का एक ही उपादान कर्ता है ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादियोंका निराकरण करते हुए सक्षेप से व्याख्यान करनेरूप मे “जदि पुग्गल कम्म-मिण” इत्यादि दो गाथाएं हैं । फिर उसका विवरण करनेवाली १२ गाथाओं मे से “पोग्गल कम्म-णिमित्त” इत्यादि कमसे प्रथम ६ स्वतंत्र गाथाएं हैं । इसके आगे अज्ञानी जीव पर द्रव्यका कर्ता है किन्तु ज्ञानी जीव अकर्ता है इस प्रकार की मुख्यता से “परमप्पण कुव्वदि” इत्यादि दूसरी ६ गाथाएं हैं । इसके आगे उसी द्विक्रियावादी का विशेष व्याख्यान करने के लिये उपसंहार रूपसे ११ ग्यारह गाथाएं हैं । उन ११ गाथाओं मे व्यवहारनय की मुख्यतासे “ववहारस्स दु” इत्यादि तीन गाथाएं हैं । उसके आगे निश्चयनय की मुख्यतासे “जो पुग्गल दब्बाण” इत्यादि चार सूत्र हैं । उसके आगे द्रव्य कर्मों का उपचार से जीव कर्ता है इस मुख्यतासे “जीवहि हेदुभूदे” इत्यादि चार गाथाएं हैं । इस प्रकार समुदाय पातनिका रूपसे २५ गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल है ।

पहले जो कर्म का कर्तापन और भोक्तापन के बारे मे जो नय विभाग कहा गया है वह अनेकात सम्मत है । किन्तु एकान्त नयसे जो ऐसा मानता है कि यह जीव भावकर्म रागद्वेषादि को जैसे करता है वैसे ही निश्चयमे द्रव्यकर्मों को भी करता है । इस प्रकार चेतन और अचेतन कार्यों का एक ही उपादान कारण है ऐसी द्विक्रियावादियों की मान्यता को दूषित बनाने है —

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।

दो किरियावादितं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥६१॥

यदि पुद्गलकर्मदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।

द्विक्रियावादित्वं प्रसजति सम्यक् जिनावमतं ॥६१॥

अर्थ—पुद्गल कर्मों का कर्ता भी उपादान रूप से आत्मा ही है और मोक्षा भी आत्मा ही है, इस प्रकार की मान्यता का नाम द्विक्रियावाद है जो कि किसी भी प्रकार से जिन भगवान के मत से सम्मत नहीं है ॥६१॥

तात्पर्यवृत्ति—जदि पुगलकम्ममिण कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि चेतुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदैव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा **दोकिरियावादित् पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति । अथवा **दो किरियावदिरित्तो पसजदि** सो तत्र पाठातरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाम्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नं प्रसजति प्राप्नोति स पुरुष । **सम्मं जिणवामद** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसमत । यश्चेद व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिररूपं निर्विकारचिच्छमस्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलममानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति । अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छन्तस्तेवार्थं प्रकारातरेण हृदयति ।

टीका—(जदि पुगलकम्ममिण कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा) यदि पुद्गल कर्मों का भी उपादान रूप से करने वाला और भोगने वाला—अनुभव करने वाला भी आत्मा ही है तब (दो किरियावादित् पसजदि) चेतन और अचेतन इन दोनों क्रियाओं का एक उपादान कर्ता रूप से द्विक्रियावादीपने का प्रसंग आता है अथवा पाठातर से (दो किरियावदिरित्तो पसजदि सो) इसका अर्थ ऐसा होता है कि चेतन क्रिया और अचेतन क्रिया इन दोनों से आत्मा अभिन्न छहरता है । (सम्म जिणवामद) यह व्याख्यान जिन भगवान के द्वारा सम्मत नहीं है (प्रत्युत जिन भगवान द्वारा इसका निराकरण किया गया है) । किन्तु जो उपर्युक्त द्विक्रियावादी के व्याख्यान को मानता है वह जीव निश्चय सम्यक्त्व जो कि निज शुद्धात्मा मे ही उपादेय रूप से रुचि स्वरूप है और विकार रहित चित् चमत्कार लक्षणवाला है एव शुद्ध उपादान रूप कारण से उत्पन्न है ऐसे निश्चय सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है ॥६१॥

द्विक्रियावादी जीव मिथ्यादृष्टि क्यो होता है प्रकारान्तर से इसको स्पष्ट करते हैं—

जम्हा दु अत्तभावं पुगलभावं च दोवि कुव्वंति ।

तेण दु मिच्छादिट्ठो दो किरियावादिणो होति ॥६२॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति ।

तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥६२॥

अर्थ—क्योकि द्विक्रियावादी जन आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनों को आत्मा करता है ऐसा कहते हैं इसलिये द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं ॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति—जम्हा दु अत्तभावं पुगलभावं च दोवि कुव्वन्ति यस्मादात्माव चिद्रूप पुद्गलभाव चाचेतन जडस्वरूप द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वन्ति तेण दु मिच्छादिट्ठो दोकिरियावादिणो हुति ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिन पुरुषा मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति । तथाहि—यथा कु मकार स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कु मकारस्याचेतनत्व घटकृत्यत्वं प्राप्नोति । चटस्य वा चेतनकु मकाररूपत्व प्राप्नोतीति । तथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्व प्राप्नोति । पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूप जीवत्व प्राप्नोति । किं च शुभाशुभ कर्म कुर्वेहमिति महाकारक्य तमो मिथ्याज्ञानिना न मन्यति तर्हि कैसा मन्यतीति चेत् विषयमुक्तानुभवानदवजिते वीतरागस्वसंवेदनवैधौ भूतार्थनयनेकत्वव्यवस्थापिते चिदा-नन्दकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितनामेव समस्तशुभाशुभपरमावशून्येन निर्विकल्पसमाधिसंलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाभेन

सञ्ज्ञानामेव विषय विनाश गच्छति । तस्मिन्महाहकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बधो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्य-विषये इदं करोमि इदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजानशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानन्दस्वभावेन भरिता-वस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरन्तर भावना कर्तव्येति भावार्थः । इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुक्त्यन्ते गाथाद्वयं गत । अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं कर्तामि ।

टीका—(जम्हा दु अन्तभाव पुगलभाव च दोवि कुव्वति) जबकि आत्मा के भाव चेतनपन को और पुद्गल के भाव अचेतनपन रूपादिस्वरूप जडभाव को इन दोनों को आत्मा ही उपादानरूप से करने वाला एक ही है (तेरा दु मिच्छादिद्वी दो किरियावादिणो होति) ऐसा मानता है वह चेतन और अचेतन क्रियाओं का एक आधार मानने वाला जीव मिथ्याहर्षित होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे कुम्हार अपने ही आत्मभाव को उपादान रूप से करता है वैसे ही उपादान रूप से घड़े का भी करनेवाला मान लिया जाय तब कुम्हार को घटपना या अचेतनपना प्राप्त हो जायगा अथवा घड़े को चेतनपना कुम्हारपना प्राप्त हो जायगा । इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से कर्मों का कर्ता हो जाय तो जीव को अचेतन पुद्गलद्रव्यपना प्राप्त हो जायगा अथवा पुद्गल कर्म को जीवपना चेतनपना मानना पड़ेगा । प्रयोजन यह है कि शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला मैं ही हूँ इस प्रकार का अहंकार रूप अन्धकार अज्ञानियों का नष्ट नहीं होता । तब किनका नष्ट होता है ? सो सुनो, जो जीव पचेन्द्रिय विषयमुख के अनुभवरूप आनन्द से रहित किन्तु वीतराग स्वसवेदन के द्वारा अनुभव करने योग्य तथा निश्चयनय से अपने एक स्वरूप में लवलीन चिदानन्दमई एक स्वभावमय शुद्ध परमात्म द्रव्य में तिष्ठे हुए हैं उन्हीं सम्यग्ज्ञानियों का वह अज्ञान अन्धकार या अहंकार रूप भाव दूर होता है जो कि समस्त प्रकार के शुभा-शुभभावों से शून्य और निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले एवं शुद्धोपयोग की भावना के बलवाले होते हैं उनके निर्मल भाव के द्वारा वह नष्ट होता है । उस अज्ञानरूप या अहंकाररूप विकल्प जाल के नाट होजाने पर फिर कर्म का नया वध भी नहीं होता है । ऐसा जानकर इन दृश्यमान बाह्य द्रव्यों के सबध में मैं करता हूँ मैं नहीं करता हूँ इस प्रकार के दुराग्रह को छोड़कर रागादि विकल्प जालों से सर्वथा रहित किन्तु पूर्ण कलश के समान चिदानन्दरूप शुद्धभाव से परिपूर्ण अपने परमात्म द्रव्य में (ज्ञानियों को) निरन्तर भावना करनी चाहिये ॥६२॥

इस प्रकार द्विक्रियावादी का संक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएँ पूर्ण हुई ।

अब उमी द्विक्रियावादि का विशेष व्याख्यान करते हैं —

पोगलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भाव ।

पोगलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भाव ॥६३॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं ।

पुद्गलकर्म निमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥६३॥

अर्थ—जैसे यह आत्मा पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयके निमित्त से होनेवाले अपने भावों को करता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होनेवाले अपने भावों को भोगता भी है ॥६३॥

तात्पर्यवृत्ति—पुगलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भाव उदयगत द्रव्यकर्मनिमित्त कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वस्वित्तिपरिणामशून्य सत्करोत्यात्मनः सबधिन सुखदुःखदिभाव परिणाम पुगलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भाव तथैवाद्यागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वबुद्ध्यात्मभावनोत्पत्त्यवास्तवमुखास्वदमवेदयन्सं तमेव

कर्मादयजन्तस्वकीयराभादिभाव वैद्यत्यनुभवति । न च द्रव्यकर्म रूपपरभावमित्यभिप्रायः । अथ विद्रूपानात्प्रभावनात्मा करोति तथैवाचिद्रूपात् द्रव्यकर्मादिपरभावात् पर पुद्गल करोतीत्याख्याति ।

टीका:—(पोगलकर्मणिमित्त जह भावा कुराणि अण्णोभाव) उदयमें ध्राये हुए द्रव्य कर्मोंका निमित्त पाकर निर्विकार स्वसवेदन परिणामसे रहित होता हुआ यह आत्मा सुख दुखादि रूप अपने भावोंको करता है, (पोगलकर्मनिमित्त तह वेददि अण्णो भाव) उसी प्रकार उदयमे ध्राये हुए द्रव्यकर्म के निमित्त को पाकर अपने स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो वास्तविक सुख उसका आस्वाद नहीं लेता हुआ उसी कर्म उदय जन्त अपने रागादि भावों को सवेदन करनेवाला या अनुभवन करने वाला भी होता है । किन्तु द्रव्य कर्मरूप जो परभाव हैं उसका कर्ता आत्मा नहीं होता ऐसा समझना चाहिये ॥६३॥

अब यह बतलाने हैं कि चेतनरूप आत्मभावों का कर्ता आत्मा होता है उसी प्रकार अचेतन रूप द्रव्य कर्मादिमय पर भावों का कर्ता पुद्गल होता है—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।

अवरिदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा ॥६४॥

मिध्यात्वं पुनद्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।

अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ६४ ॥

अर्थ— मिध्यात्वभाव दो प्रकार का है । एक जीव मिध्यात्व दूसरा अजीव मिध्यात्व । उसी प्रकार अज्ञान, अविरति मोह और क्रोधादिक कषायभाव ये सब भी जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार होते हैं ॥ ६४ ॥

तात्पर्यवृत्ति:—मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीव मिध्यात्व पुनद्विविध जीवस्वभावमजीवस्वभाव च तहेव अण्णाण अवरिदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा तथैव आज्ञानमविरतियोगो मोह क्रोधादयोमीभावा पर्याया जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवति मयूरमुकुरदवत् । तद्यथा—यथा मय रेण माव्यमाना अनुभूयमानानीलपीताद्या-हारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव । तथा निर्मलात्मनानुभूतिच्युतजीवेन माव्यमाना अनुभूयमाना सुखदुःखादिविकल्पा जीव एवाशुदन्निश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरदेन स्वच्छतारूपेण भाव्यमाना प्रकाशमानमुख-प्रतिबिम्बादिविकारा मुकुरद एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोव्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मपर्याया पुद्गल एव अचेतना एवैति । अथ कतिविधो जीवाजीवाविति पृष्ठे प्रत्युत्तरमाह ।

टीका —(मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीव) जीव स्वभाव और अजीव स्वभाव के भेद से मिध्यात्व दो प्रकार का है (तहेव अण्णाणा अवरिदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा) उसी प्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि ये सब ही भाव अर्थात् पर्याय मयूर और दर्पण के समान जीव स्वरूप और अजीवस्वरूप भी होते हैं । जैसे मयूर और दर्पण में मयूर के द्वारा पैदा किये हुए अनुभव में आने वाले नील पीतादि आकार विशेष जो कि मयूर के शरीर के आकार परिणत हो रहे हैं वे मयूर ही हैं चेतनमय हैं, वैसे ही निर्मल आत्मानुभूति से च्युत हुए जीव के द्वारा उत्पन्न किये हुए अनुभव में आने वाले सुख दुखादि विकल्प रूप भाव हैं, वे अशुद्ध निश्चयनयसे जीवरूप ही हैं चेतनामय हैं । और जैसे स्वच्छतारूप दर्पण के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रकाशमान मुख का प्रतिबिम्ब आदि रूप विकार हैं वे सब दर्पणमयी हैं अतएव अचेतन है उसी प्रकार उपादान भूत कर्म वर्गणारूप पुद्गल कर्म के द्वारा किये हुए ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्याय तो पुद्गलमय ही हैं अतएव अचेतन ही हैं ॥ ६४ ॥

विशेषार्थः—कर्म के उदय के निमित्त से जो विभाव भाव होते हैं वे चेतना के विकार होने से जीव रूप ही होते हैं किन्तु इन विकारी भावों के निमित्त से जो पुद्गल परमाणु मिथ्यात्व आदि कर्म रूप परिणाम होते हैं वे सब अजीव हैं ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव और अजीव के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं ।
प्रब जीव और अजीव कितने प्रकार के हैं इसे बताते हैं—

पोगलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।

उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छस्त जीवो दु ॥६५॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीव ।

उपयोगोऽज्ञानमविरति मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥६५॥

अर्थ—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान कर्मवगणारूप हैं वे ता अजीव हैं किन्तु जा अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोगात्मक है वे जीव हैं ॥ ६५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—पुगलकम्मं मच्छ जोग अविरदि अण्णाणमज्जीवं पुद्गलकर्मरूप मिथ्यात्व योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीव । **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छस्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूप शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छत्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञान । निविकारस्वसवित्तिविपरीतावपरिणामविकारोऽविरति । विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूप शुद्धजीवादपदार्थविषये विपरीतश्रद्धान मिथ्यात्वमिति जीव जीव इति कोर्यं । जीवरूपा भावप्रत्यया इति । प्रय शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनोऽविकारो जात इति चेत् ।

टीका—(पोगलकम्म मिच्छ जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं) पुद्गल कर्मरूप जो मिथ्यात्व योग, अविरति और अज्ञान है वह तो अजीव है किन्तु (उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छस्त जीवो दु) उपयोग रूप भाव जो कि शुद्धात्मादि तत्त्वों के विषयमें विपरीत जानकारीमय रूप विकार भाव है वह जीव का अज्ञान भाव है और निविकार स्वसवेदनसे विपरीतात्मकरूप अविरतिरूप विकारी परिणाम है वह जीवका अविरति भाव है, और शुद्ध जीवादि पदार्थके विषयमें विपरीत अभिप्राय लिये हुए उपयोगात्मक विकारमय विपरीत श्रद्धानरूप भाव है वह जीवका मिथ्यात्व भाव है । अर्थात् ये सब जीवके विकार रूप परिणाम हैं ॥६५॥

प्रब जो जीव शुद्ध चैतन्य स्वभाववाना है उसमें मिथ्यादर्शन आदि विकारी भाव कैसे उत्पन्न हुए सो बतलाते हैं—

उवओगस्स अण्णो परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स

मिच्छंत अण्णाणं अविरदि भावो य णादब्बो ॥६६॥

उपयोगस्त्वानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।

मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्चेति ज्ञातव्य ॥६६॥

अर्थ—अनादिकाल से ही मोह सहित उपयोगवान आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरति ये तीनो भाव भी अनादिसे ही बने आ रहे हैं ऐसा ज्ञानना चाहिये ॥६६॥

तात्पर्यवृत्तिः—उवओगस्स अण्णो परिणामा तिण्णि उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य सबधित्वेनादिसत्तानापेक्षया त्रय परिणामा ज्ञातव्या । कथंभूतस्य तस्य मोहजुत्तस्स मोहयुक्तस्य । के ते परिणामा । मिच्छस्त अण्णाणं अविरदिभावो य णादब्बो मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि—यद्यपि शुद्धनिश्चय-

नयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्त्वभावाविधोहनीयादिकर्मबन्धवशात्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः समवन्ति । तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेतुः इति भावार्थः । अथात्मनो मिथ्यात्वाविनिवृत्तिपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं युपदिशति ।

टीका— (उपभोगस्स अणाई परिणामा तिणिण मोहजुत्तस्स) उपयोग लक्षणवाला होनेसे यहा पर उपयोग शब्दसे आत्मा को लिया गया है । एव जो आत्मा मोह से युक्त है उसके सतान परम्परासे ये तीन परिणाम अनादिसे चले आ रहे हैं (मिच्छन्त अण्णाण अवरिदि भावो य एणाद्वो) वे परिणाम मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति भाव हैं ऐसा जानना चाहिये । इसीको स्पष्टतया समझते हैं कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालीन मोहनीय आदि कर्मबन्ध के वशसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप तीन विकारी परिणाम जीव के हो रहे हैं, वहा पर शुद्ध जीव का स्वरूप तो उपादेय है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और मिथ्यात्वादि विकारी भाव छोड़ने योग्य है ऐसा तात्पर्य है ।

अब आत्माके उपयुक्त तीन विकारी परिणामो का कर्तापि न है ऐसा बतलाते हैं—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो निरंजणो भावो ।

जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥६७॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः ।

यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥६७॥

अर्थ—यद्यपि शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का उपयोग शुद्ध है, निर्विकार है तो भी अनादिकाल से इन उपयुक्त तीन भावरूप परिणामो मे से आत्मा जिस भाव को करता है उसका उस समय कर्ता होता है ॥६७॥

सात्पर्यवृत्ति—एवेसु य एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेष्टूदयापेतेषु निमित्तभूतेषु तस्य उवओगो ज्ञानदर्शनोपयो गलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तिविहो कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवस्त्रिविधो भवति । परमार्थेन तु सुद्धो शुद्धो रागादिभावकर्मरहित निरंजणो निरंजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरहित । पुनश्च कथंभूत भावो भावपदार्थः । अलङ्कप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा जं सो करेदि भावं परिणाम करोति स आत्मा उवओगो चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तत्तलक्षणत्वादुपयोगरूपः । तस्स सो कत्ता निर्विकारस्वसवेदनज्ञानपरिणाममच्युत सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्ता भवति । न च द्रव्यकर्मण इति भावः । अथात्मनो मिथ्यात्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गस्यायोग्यपदगलद्रव्य स्वतः एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति ।

टीका—(एदेसुय) उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के होने पर उनके निमित्त से (उवओगो) यहा उपयोग शब्द से आत्मा ही लिया है । क्योंकि ज्ञान दर्शनमय जो उपयोग है वह आत्मा से अभिन्न होते हुए उसका लक्षण स्वरूप है । आत्मा (तिविहो) जिस प्रकार कृष्ण, नील, पीत उपाधि के द्वारा स्फटिक कृष्ण, नील, पीतरूप हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी तीन प्रकार का हो रहा है । किन्तु वस्तुतः तो वह (सुद्धो) रागादि भाव कर्मों से रहित शुद्ध है, (निरंजणो) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूपी अज्ञान से रहित है । (भावो) वह आत्म पदार्थ एक अलङ्क प्रतिभासरूप होने वाला ज्ञान स्वभावमय होने के कारण एक प्रकार का होने पर भी पूर्व कथित मिथ्यादर्शन, मिथ्या-

ज्ञान और मिथ्याचारित्र्यरूप परिणाम विकार से तीन प्रकार का होकर (जैसे सो करेदि भाव) उनमें से जिस किसी परिणाम को करता है, वह (उपभोगो) चेतन्य परिणामन रूप उपयोग का धारक आत्मा (तस्स सो कत्ता) निर्विकार स्वसवेदन ज्ञानरूप परिणाम से च्युत होता हुआ उसी मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के विकारी परिणाम का कर्त्ता होता है, किन्तु द्रव्यकर्म का कर्त्ता नहीं होता ॥६७॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यहाँ पर बतलाया है कि आत्मा जब परमार्थरूप होता है अर्थात् समाधिस्थ होता है तब वह रागादि भावों से रहित व नवीन ज्ञानवरणादि कर्म के बंध से भी रहित होता है । किन्तु समाधि से च्युत होने की दशा में उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणामों में से जिस किसी परिणाम को करता है उसी परिणाम का कर्त्ता रहता है । समाधि दशा में ज्ञान का कर्त्ता होकर जानी होता है पर समाधि से च्युत अवस्था में इससे विपरीत हो जाता है ।

अब आत्मा के मिथ्यादर्शनादि रूप तीन प्रकार विकारमय परिणाम का कर्त्तापना होने पर कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गल द्रव्य है वह अपने आप ही उपादान रूप में कर्म के रूप में परिणत हो जाता है ऐसा कथन करते हैं—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स भावस्स ।

कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोम्मलं दव्वं ॥६८॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।

कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥६८॥

अर्थ—(१) विपरीताभिनिवेश रूप मिथ्यात्व (२) क्लृप्तारूप अज्ञान (३) और पर पदार्थों में प्रवृत्तिरूप अचिरति इन तीन प्रकार के भावों में से आत्मा जिस भाव को करता है तब उसी भाव का कर्त्ता होता है । किन्तु उसके इस प्रकार विकारी होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्म रूप में परिणमन कर जाता है ॥६८॥

तात्पर्यवृत्तिः—ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स भावस्स य भाव मिथ्यात्वादिविकारपरिणाम शुद्धस्वभावच्युत सत् आत्मा कर्त्ता तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति कम्मत्त परिणमदे तम्हि सयं पुग्गल दव्व तस्मिन्नेव विधिर्वाविकारपरिणामकतृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति । गारुडविमत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशातरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमतरेणापि विषाणहारवधविध्वंसञ्जीविडवनादि-परिणामवत् । तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयस्तत्रयस्वरूपशुद्धाभ्योगपरिणामे सति गारुडमत्र-सामर्थ्येन निर्बीजविधवत् । स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म जीवासृषभूत्वा निजरा गच्छतीति भावार्थः । एव स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापदक गतः । अथ निश्चयेन बीतरागस्वसत्त्वेनज्ञानव्यापार एवाज्ञान भ्रम्यते । तस्मादज्ञाना-देव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह ।

टीका—(ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स भावस्स) जब यह आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता है उस समय मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के विकारी परिणामों में से जिस विकाररूप परिणाम को करता है उस समय वह उसी विकारी भाव का कर्त्ता होजाता है । (कम्मत्त परिणमदे तम्हि सयं पोम्मलं दव्वं) और जब यह आत्मा उपर्युक्त तीन प्रकार के परिणाम का कर्त्ता होता है तब कर्म वर्गणा योग्य जो पुद्गलद्रव्य वह अपने आप उपादान रूप से द्रव्य कर्म रूप में परिणमन कर जाता है । जैसे गारुड प्रावि मत्र को सिद्ध करने वाला पुरुष एकाग्रचित्त होकर उस मत्र को सिद्ध करता है तब उसके सिद्ध हो जाने पर विषाणहार, वध विध्वंस या ञ्जीविडवना आदि जिस उद्देश्य को लेकर वह उस मत्र

को सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशांतर में उस मंत्र साधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव के विनाश के काल में निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म नीरस होकर अपने प्राप्त जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि गारुडी मंत्र के सामर्थ्य से विष निविषरूप में परिणत हो जाता है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है ॥ ६८ ॥

विशेषार्थः— उपर्युक्त गाथा में जो 'स्वयं' शब्द आया है, वह पुद्गल के कर्म रूप परिणमन करने के विषय में जीव के विकारी परिणाम की साधकतमता बताने के लिए आया है। और इसीलिए टीकाकारने उसे मंत्र साधक का दृष्टांत देकर स्पष्ट बतलाया है कि कोई भी मंत्र साधक जिस किसी उद्देश्य को लेकर मंत्र जपता है तब उस मंत्र के सिद्ध हो जाने मात्र से वह उसका अभीष्ट कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाता है वैसे ही जीव के रागीद्वेषी होने पर कर्मवर्गणाये अवश्यमेव कर्मरूप में परिणत होकर उसके साथ बंध जाती हैं। इस प्रकार कर्मवर्गणाओ के कर्मरूप परिणमन करने में जीव का विकारी भाव साधकतम है। हा, जीव का विकारी भाव भी पूर्वकृत कर्म के उदय से होता है, कर्मों के उदय के बिना जीव का भाव विकाररूप नहीं होता है। किन्तु कर्म का उदय होने पर भी समाधि में परिणत जीव का भाव विकार रूप नहीं होता अपितु समाधि विपरिणत जीव का भाव कर्मोदय के निमित्त से विकार रूप होता है। इस प्रकार जीव को विकारी बनाने में कर्म उदासीन निमित्त है किन्तु जीव का विकारी भाव पुद्गल को कर्म रूप करने में प्रसाधारण निमित्त है।

इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुईं।

आगे आचार्यदेव यह बतानाते हैं कि वास्तव में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का न होना ही अज्ञान नाम से कहा गया है और उस अज्ञान से ही नूतन कर्म बधते हैं—

परमप्याणं कुब्जवि अप्याणं पि य परं करंतो सो ।

अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होवि ॥६९॥

परमात्मानं करोति आत्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।

अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥६९॥

अर्थ—अज्ञानमय यह ससारी जीव पर को अपनाता है और अपने आपको परका बनाता है अतः, यह कर्मों का कर्ता होता है ॥६९॥

तात्पर्यवृत्ति—परं परद्रव्य भावकर्मद्रव्यकर्मरूप अप्याणं कुब्जवि परद्रव्यात्मनोर्मदज्ञानाभावादात्मानं करोति अप्याणं पि य परं करंतो शुद्धात्मानं च परं करोति य सो अण्णाणसमो जीवो कम्माणं कारगो होवि स आज्ञानमयो जीवः कर्मणा कर्ता भवति । तद्यथा—यथा कोपि पुरुष शीतोष्णरूपाया, पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथा-विधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोहमुष्णोहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणते कर्ता भवति । तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेति भावा उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तमुल्लङ्घ्यमानुभवस्य चैकत्वाद्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनो समस्तरागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन् सुखीदुःखीति प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः । अथ शीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह ।

टीका—(पर) भावकर्म रूप व द्रव्यकर्म रूप पर द्रव्य को (अप्याण कुब्बदि) पर द्रव्य और आत्मा के परस्पर का भेदज्ञान न होने के कारण अप्यारूप किये हुए रहता है। (अप्याण पि य पर करतो) तथा अपनी शुद्धात्मा को भी पररूप (विकारी) करता है (सो अप्याणमओ जीवो कम्माण कारगो होदि) वह अज्ञानी जीव नूतन कर्मों का करने वाला अर्थात् बाधने वाला होता है। जैसे कोई पुरुष शीत या उष्ण पुद्गलो के परिणामों की अवस्था में और उसी प्रकार शीतोष्ण रूप अनुभव में जो भेद है उसको एकता के अग्रास के कारण नहीं जानता हुआ “मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूँ (मुझे ठंड लगती है या गर्मी लगती है) इस प्रकार शीतोष्ण रूप परिणति का कर्ता बन जाता है, वैसे ही यह ससारी जीव भी अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न जो उदयागत पुद्गल कर्म की अवस्था और उसके निमित्त से होने वाले सुख दुःख रूप अनुभव में एकता का आरोप कर लेने से उसको समस्त प्रकार के रागादि विकल्प से रहित स्व-सवेदन ज्ञान के न होने पर परद्रव्य में और आत्मा में जो भेद है उसे नहीं जानता है। इसलिये मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रकार से परिणामन करता हुआ कर्मों का कर्ता बनता है ॥६६॥

आगे कहते हैं कि वीतराग स्वसवेदनज्ञान के प्रभाव से कर्मों का बन्ध नहीं होता —

परमप्याणमकुब्बं अप्याणं पि य परं अकुब्बंतो ।

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥१००॥

परमात्मनमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।

स ज्ञानमयो जीवः कर्माणमकारको भवति ॥१००॥

अर्थ—जो जीव किसी प्रकार भी परको अपने रूप और अपने आप को पररूप नहीं करता वह जीव ज्ञानी होता है वह नूतन कर्मों का करने वाला नहीं होता ॥१००॥

तात्पर्यवृत्ति—परं पर परद्रव्य बहिविषये देहादिकमम्यंतरे रागादिक भावकर्मद्रव्यकर्मरूप वा अप्याणम-कुब्बो भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसंबधमकुर्वन् अप्याणं पि य पर अकुब्बंतो शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभाव निजात्मानं च परमकुर्वन् सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि स निमंलात्मानुभूतिलक्षणाभेदज्ञानी जीव कर्मणा-मकर्ता भवतीति । तथाहि—यथा कश्चित् पुद्गल शीतोष्णरूपाया पुद्गलपरिणामावस्थावास्तथाविधधीनोपानुभवस्य चात्मन सकाशाद्भेदज्ञानात् जीतोहमुष्णोहमिति परिणते कर्ता न भवति । तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणा पुद्गलपरिणामावस्थावास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्पत्त्यनुभवभिन्यस्य भेदज्ञानाग्राह्यासात्पर्यात्म-नोभेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वण कर्मणा कर्ता न भवति । तत्र स्थित ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः । अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह ।

टीका—(पर) बाह्य में देहादिक और अम्यन्तर में रागादिक रूप जो परद्रव्य है अथवा द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप जो पर द्रव्य है उनको (अप्याणमकुब्बी) अपने भेद विज्ञान के बल से नहीं अपनाता है—उन्से किसी भी प्रकार का संबध नहीं रखता है (अप्याण पि य पर अकुब्बंतो) और शुद्ध द्रव्य, गुरु, और पर्याय स्वरूप आत्मा को पर रूप (विकारी) नहीं करता है, (सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि) निर्मल आत्मा की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेद विज्ञानवाला जीव कर्मों का उत्पन्न करने वाला नहीं होता । जैसे कोई पुरुष शीत उष्ण रूप पुद्गल परिणामकी अवस्था का तथा उससे होने वाले शीतोष्ण रूप अनुभव का और आत्मा का भेदज्ञान रखने के कारण से मैं शीतरूप हूँ या उष्णरूप हूँ इस

परिणति का कर्ता नहीं होता है। वैसे ही निज शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न स्वरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था तथा उसके निमित्त से होने वाले सुख या दुःख के अनुभव का और अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख के अनुभव का भेद ज्ञान का अभ्यास रखने के कारण पर और आत्मा का भेद ज्ञान होने पर रागद्वेष मोहरूप परिणाम को नहीं करता है वह (नूतन) कर्मों का कर्ता नहीं होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान से कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने ६६ न की गाथा में अज्ञानी जीव और इस गाथा में ज्ञानी जीवका स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो कोई आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से संबन्ध रखते हुए सकल्प विकल्प रूप परिणाम का धारक होता है वह नूतन कर्म का बन्ध करने वाला अज्ञानी जीव कहलाता है किन्तु जो बाह्य पदार्थ के विषय में किसी भी प्रकार के सकल्प विकल्प से रहित होकर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप समाधि में लग जाता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है जो कि नूतन कर्म बन्ध करने वाला नहीं होता है।

अब अज्ञान से ही नूतन कर्मों का बन्ध क्यों होता है इसका उत्तर देते हैं।—

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि कोधोहं ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्ताभावस्स ॥१०१॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति क्रोधोहं ।

कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०२॥

अर्थ—पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति रूप विकार भाव को धारण करने वाला आत्मा ऐसा असत्य विकल्प करता है कि मैं क्रोध स्वरूप हूँ इत्यादि, उस समय वह अपने उस भाव रूप उपयोग का करने वाला होता है। १०१॥

तात्पर्यवृत्ति—तिविहो एसुवओगो त्रिविधस्त्रिकार एष प्रत्यक्षभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा अस्स-वियप्पं करेदि स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्प मिथ्याविकल्प करोति। केन रूपेण कोधोहं क्रोधोहमित्यादि कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो स जीव तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। कथंभूतस्य अस्तभावस्स आत्म-भावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र-रूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भावभावकमावापन्नयो। भाव्यभावकमावापन्नयो, कोऽर्थः ? भाव्य क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रजकश्चातरात्मभावनाविषक्षणो भावक्रोध इत्यभूतयोर्द्वयोर्मैदज्ञानाभावाद्भेद भजानन्निविकल्पस्वरूपाद् अष्ट सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्त्तनेन मानयायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोभवनोपचनकायश्रोत्रचक्षु-ध्रांशरसनस्पर्शनसूत्राणि बोधस्य व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षितचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असद्व्येयलोकमात्र-प्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति। अथ —

टीका—(तिविहो एसुवओगो) उपर्युक्त मिथ्यादर्शन आदि रूप तीन प्रकार का उपयोग है लक्षण जिसका ऐसी आत्मा (अस्सवियप्पं करेदि) स्वस्थभाव के न होने के कारण असत् मिथ्या विकल्प करता है कि (कोधोहं) मैं क्रोध रूप हूँ इत्यादि (कत्ता तस्सुव ओगस्स होदि सो) तब उस समय वह जीव क्रोधादि विकल्प रूप उपयोग का कर्ता होता है। वह उपयोग कैसा है कि (अस्तभावस्स) अशुद्ध निश्चय नय से वह उस जीव का अपना ही परिणाम है। स्पष्ट यह है कि सामान्य रूप में जिसे अज्ञान नाम से

कहा जाता है ऐसा एक प्रकार का उपयोग भी विशेष विवक्षा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्र रूप से तीन प्रकार का होता है वह अपने को और क्रोधादि भावों को भाव्य भावक भाव से प्राप्त करता है । भाव्य भावक को प्राप्त करता है इसका क्या अर्थ है ? इन दोनों में भाव्य शब्द से क्रोधादि परिणत आत्मा और भावक शब्द से अन्तरात्मन से विलक्षण रूप जो भाव क्रोध है उसको लेना । इस प्रकार इन दोनों में जो भेद है उस भेदज्ञान के न होने से अर्थात् उस भेदज्ञान को नहीं जानता हुआ निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ (ससारी आत्मा) में क्रोध है इत्यादि रूप से अपने आपमें विकल्प उत्पन्न करता है, उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उसी क्रोधादि रूप अपने आत्म परिणाम का करने वाला होता है ।

इस गाथा में जो क्रोध शब्द आया है उसके स्थान में मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कम, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इनको भी क्रम से लगाकर उसी प्रकार का व्याख्यान करना । इसी प्रकार से अविक्षिप्त (अज्ञात) चित्त स्वभाव वाला जो शुद्ध आत्म तत्त्व से विलक्षण ऐसे असंख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव होते हैं उनको लगा लेना ।

विशेषार्थ—यहा आचार्यदेव क्रोधादि सभी प्रकार के विकारी भावों को विकल्प कारक बताकर कर्म बंध करने वाला बता रहे हैं । और जो कर्म बंध करने से दूर रहना चाहता है उसे इन सभी विकल्पो से दूर रहने की शिक्षा वे रहे हैं । क्योंकि इन सबसे दूर होने पर ही वह नूतन बंधकारकपने से रहित होकर ज्ञानी कहलाने का अधिकारी है ।

तिविहो एसुवओगो अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥

त्रिविध एष उपयोग असद्विकल्पं करोति धर्मादिकं ।

कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥१०२॥

अर्थ—उपर्युक्त मिथ्यात्वादि रूप तीन प्रकार के विकारी परिणामवाला आत्मा, जिनके साथ में केवल मात्र ज्ञेय ज्ञायक रूप सबंध है ऐसे धर्मादिक द्रव्यों के विषयो में भी, अपनेपन का (मिथ्या) विकल्प करना है, उस समय वह उस विकल्प रूप आत्मभाव का कर्ता होता है ॥१०२॥

तात्पर्यवृत्तिः—तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविध तन्मेष उपयोग आत्मा अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी परद्रव्यात्मनोज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्परूपमुत्पादयति कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स निर्मलात्मानुत्तिरहितस्त्वस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धमिश्रचयेन कर्ता भवति । ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति ? अत्र परिहारा । धर्मास्तिकायोमिति योसौ परिद्धितिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते । यथा घटाकारविकल्परिणतज्ञानं घट इति । तथा तद्वर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पं यथा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव तदा शुद्धात्मास्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्माहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः । तत स्थित शुद्धात्मसवित्तरभावरूपमज्ञान कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ।

टीका— (तिविहो एसुवओगो) सामान्यतया अज्ञान नाम से कहा जाने वाला एक प्रकार का विकारी भाव भी विशेष अपेक्षा में मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचारित्ररूप तीन प्रकार का हो जाता है,

ऐसे उस विकारी परिणाम वाला आत्मा (ध्वंष विषय्य करेदि धम्मादी) जिन धर्मादि पर द्रव्यो के साथ में आत्मा का ज्ञेय ज्ञायक मात्र संबध है उनके भी विशेष को न जानने से, न देखने से और न विशेषरूप परिणमन करने से प्राप्त हुए भेद ज्ञान के अभाव के कारण भेद को नहीं जानता हुआ यह छद्मस्व आत्मा 'मै धर्मास्तिकाय हूँ' इस प्रकार का व्यर्थ का विकल्प करता है (कला तस्सुवधोगस्स होदि सो अत्तभावस्स) उस समय वह अशुद्ध निश्चयनय से उस निर्मल आत्मानुभूति से रहित होने वाले मिथ्या विकल्परूप अपने परिणाम का कर्ता होता है। यहा ऐसी शका हो सकती है कि 'मै धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता तब ऐसा कहना कैसे घटित हो सकता है ? उसका समाधान यह है कि यह धर्मास्तिकाय है, ऐसा ज्ञानरूप जो विकल्प मन मे उठता है उसको ही उपचार से यहा धर्मास्तिकाय कहा गया है। जैसे कि घटाकर परिणत ज्ञान को घट कहा जाता है एव जब ज्ञेय तत्व के विचार काल मे यह जीव 'यह धर्मास्तिकाय है' इस प्रकार का विकल्प करता है उस समय शुद्धात्म स्वरूप को विस्मरण कर देता है। इस प्रकार से इस विकल्प के उत्पन्न होने पर 'मै धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा विकल्प उपचार से घटित हो जाता है। सब वर्णन से यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा के अनुभव का न होना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही कर्ता कर्म भाव का कारण होता है ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज का कहना है कि छद्मस्व आत्मा जिस प्रकार इन दृश्यमान पदार्थों मे इष्ट अनिष्ट कल्पना करते हुए क्रोधादिरूप विकल्प उत्पन्न करता है उसी प्रकार धर्मादिरूप ज्ञेय पदार्थों मे भी 'यह धर्मास्तिकाय है' जो मेरे चलने मे सहायक होता है इस प्रकार का विकल्प लेकर उसको जानने के समय शुद्धात्मा के अनुभव से च्युत होता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से च्युत होता है और विकल्प कारक बनकर नूतन कर्म का बध करने वाला होता है।

एवं पराणिदब्बाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धोओ ।

अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥ १०३ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।

आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ १०३ ॥

अर्थ— इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव से पर पदार्थों को अपना करता है और इसी प्रकार अपने आप को पररूप कर लेता है ॥ १०३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—एवं एव पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण पराणि दब्बाणि अप्पयं कुणदि कोधोहमित्यादिव-
धर्मास्तिकायोहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं करोति । स. क कर्ता **मंदबुद्धीओ** मदबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहित **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धिक्लेशभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपादग्निं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः । केन **अण्णाणभावेण** अज्ञान-
भावेनेति । तत स्थित क्रोधादिविषये भूताविष्टहृष्टांतेन धर्मादिज्ञेयविषये व्याप्ताविष्टहृष्टांतेनैव शुद्धात्मसवित्यमाव-
रूपमज्ञान कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति । तच्चा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्मेघमजानन् सन्नमानु-
षोचितशिलास्तम्बचालनादिकमदभ्युतव्यापार कुर्वन्तस्व व्यापारस्य कर्ता भवति । तथा जीवोपि वीतरागपरमसामा-
यिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोऽहं योर्मंदबजानन् कोधोहं कामोहमित्यादिविकल्पं
कुर्वन्तस्व कर्मण कर्ता भवति । एव क्रोधादिविषये भूताविष्टहृष्टातीति मत । तथैव च यथा कश्चिद् महामहिषादि-

ध्यानाविष्टो महिषाक्षात्मनोर्धर्मोदयजानन्महामहिषोह गच्छोह कामदेवोहममिरह दुष्कधारासमानामृतराशिर्हमित्याद्या-
त्मविकल्पं कुर्वन् सत् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । तथा च जीवोपि सुखदुःखादिप्रसङ्गाभावनापरिणतशुद्धोपयोग-
लक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव
विकल्पस्य कर्ता भवति । तस्मिन् विकल्पकृतृत्वे सति द्रव्यकर्मबन्धो भवतीति । एव धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये
ध्यानदृष्टातो गत । हे भगवन् ! धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादिज्ञेयत्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति
तर्हि ज्ञेयत्वविचारो वृथेति न कर्तव्यं नैव वक्तव्यं । त्रिगुतिपरिणतनविकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि
तस्य त्रिगुतिध्यानस्याभावो शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा आगममाध्याया तु मोक्षमुपादेय कृत्वा मरागमम्यक्त्वकाले विषय-
कषायवचनार्थं कर्तव्यं । तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः
किन्तु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंभवनज्ञानपरिणत शुद्धात्मा साक्षादुपादेय कर्तव्य इति ज्ञातव्यं । ननु वीत-
रागस्वसंभवनविचारकाले वीतरागविशेषणं विभितिं क्रियते प्रचुरेण सर्वाङ्गं, किं सरागमपि स्वमवेदनज्ञानमस्तीति ?
अत्रोत्तरं । विषयसुखानुभवनदरूपं स्वमवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं 'रागमप्यस्मिन्' शुद्धात्ममुखादिभूतिरूपं स्वसंभवन-
ज्ञानं वीतरागमिति । इदं व्याख्यानं स्वमवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः । तत्र स्थितमनन्
शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकतृत्वम् ।

टीका:—(एव) जैसा कि पहले दो गायाम्रो मे कहा जा चुका है उस प्रकार से (पराणि दृष्ट्वादि
अप्ययं कुर्यादिति) मैं क्रोध हूँ इत्यादि, अथवा मैं धर्मास्तिकाय हूँ इत्यादि, क्रोधादिक अपने परिणामरूप अथवा
धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय रूप पर द्रव्य है उनको अपना लेता है । (मद बुद्धीश्रो) वह निर्विकल्प समाधि है
लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान से रहित मद बुद्धि जीव (अप्याणं अवि य परकरेदि) शुद्ध बुद्धि स्वरूप एक
स्वभाव वाले अपने आत्मा को भी पर बना देता है अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर लेता है गगादिक मयुक्त
कर लेता है (अप्याणभावेण) अपने अज्ञान भाव से पराधीन होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि भूताविष्ट
दृष्टात के द्वारा जिस प्रकार क्रोधादिक के विषय में उसी प्रकार ध्यानाविष्ट दृष्टात के द्वारा धर्मादि ज्ञेय
पदार्थ के विषय में जो इस जीव का अपने शुद्धात्मा के संवेदन से पृथक् भावरूप अज्ञान होता है वही कर्ता
कर्म भाव का कारण होता है । जैसे किसी पुरुष के भूत आदि ग्रह लग गया हो तो वह भूत में और अपने
आप में भेद को नहीं जानता हुआ मनुष्य से न करने योग्य ऐसी बड़ी भारी शिला उठाना आदि आश्चर्य-
जनक व्यापार को करता हुआ दोष पड़ता है उसी प्रकार यह जीव भी वीतरागमय परम सामायिक भाव
में परिणत होने वाला शुद्धोपयोग है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के न होने से काम क्रोधादि भावों में और
शुद्धात्मा में जो भेद है उसको न जानता हुआ "मैं क्रोध रूप हूँ, मैं काम रूप हूँ" इत्यादि विकल्पो को करता
हुआ कर्मों का करने वाला बनता है । यह तो क्रोधादिक के विषय में भूताविष्ट का दृष्टान्त हुआ । अथवा
जैसे भंसा आदि का ध्यान करनेवाला जीव भंसा आदि में और अपने आप में भेद को नहीं जानता हुआ (उसे
भुलाकर) मैं भंसा हूँ, मैं गारुड हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, या दूध की धारा के समान अमृत की राशि
हूँ" इत्यादि आत्म विकल्पो को करता हुआ वह इन विकल्पो का करने वाला बनता है । वैसे ही छद्मस्थ
जीव भी सुख दुःखादि में समता भावना को लिये हुए जो शुद्धोपयोग वही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान
के न होने से धर्मादिक ज्ञेय पदार्थों में और अपने आप की शुद्धात्मा में भेद है उसको नहीं जानता हुआ
"मैं धर्मास्तिकाय हूँ" इत्यादि रूप आत्म विकल्प करता है तो वह उस विकल्प का कर्ता होता है, और
उस विकल्प के करने पर उस जीव के नूतन द्रव्य कर्मों का बंध भी अवश्य होता है । इस प्रकार धर्मास्तिकाय
आदि ज्ञेय पदार्थों में ध्यान का दृष्टान्त हुआ । इस पर यदि कोई ऐसा कहे कि 'हे भगवन् ! यह

धर्मास्तिकाय है, यह जीव है, इत्यादि ज्ञेय तत्व का विचार रूप विकल्प करने पर भी यदि कर्मों का बंध होता है तो फिर ज्ञेय तत्वों का विचार करना बूझा है अतः वह नहीं करना चाहिये। इस पर आचार्य देव उत्तर देते हैं कि नहीं भाई ! ऐसा नहीं है अपितु बात ऐसी है कि त्रिगुप्ति रूप निविकल्प समाधिकाल में तो ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये किन्तु उस त्रिगुप्ति रूप ध्यान के अभाव में (अध्यात्म भाषा में) शुद्धात्मा को ही उपादेय मान कर व आगम भाषा में भोक्त को उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्व के काल में विषय कषायों से दूर होने के लिए ऐसा विकल्प करना ही चाहिये, क्योंकि उस उपर्युक्त तत्व विचार के द्वारा मुख्यता से पुण्य बंध होता है और परपरा से निर्वाण लाभ होता है, इसलिये वैसा विचार करने में कोई दोष नहीं है। हा, उस तत्व विचार के काल में भी वीतराग स्वसवेदन ज्ञान परिणत साक्षात् शुद्धात्मा ही उपादेय होता है ऐसा समझना चाहिये। यहाँ कोई शका करे कि हे भगवन् ! वीतराग स्वसवेदन के विचार काल में आपने जो बार २ वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे हैं, क्या कोई सराग स्वसवेदन ज्ञान भी होता है ? इसके उत्तर में आचार्य देव उत्तर देते हैं कि हा भाई ! विषय सुखानुभव के आनन्द रूप स्वसवेदन ज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है (अर्थात् यह सब लोगों के अनुभव में आया करता है) वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रूप स्वसवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है ऐसा स्वसवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सब ही स्थान पर समझना चाहिये ॥१०३॥

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाने पर कर्ता कर्म भाव नष्ट हो जाता है यही आगे की गाथा में बतलाते हैं —

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।

एवं खलु जो जाणदि सो मुंचवि सब्बकत्तित्तं ॥१०४॥

एतेन तु स कर्त्तात्मा निश्चयविद्विः परिकथितः ।

एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्तृत्वं ॥१०४॥

अर्थ — निश्चयमय के जानने वालों ने उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को कर्ता बतलाया है इस प्रकार जो दृढ़ता से जान लेता है वह सब कर्तापन से दूर हो जाता है ।

तात्पर्यवृत्ति — एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स धर्मात्मा कर्त्ता मणित । केन निश्चयविद्विः निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः । तथाहि—वीतरागपरमसामाधिक्यसम-परिणतमेवदन्तत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता भवति । ततश्च द्व्यकर्मबंधो भवति । यदा तु विद्वानदैकत्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति, तदा सम्याज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता न भवति । तत्कर्तृत्वाभावेऽपि द्व्यकर्मबंधापि न भवति । **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचवि सब्बकत्तित्तं** एवं गाथापूर्वाद्ध-व्याख्यानप्रकारेण मनसि योमौ वस्तुस्वरूप जानाति स सरागसम्यग्दृष्टि सन्नसुखकर्मकर्तृत्व मुंचति । निश्चयचारित्राविनाभाववीतरागसम्यग्दृष्टिभूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्व च मुंचति । एवमज्ञानात्मकं प्रभवति मज्ञानान्नश्यतीति स्थित । इत्यज्ञानसंज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गत । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेष-व्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गता । अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंत द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेष-व्याख्यान करोति । तथा—परमाशानात्मा करोतीति यद्वचनहरिणो वदति स व्याधोह इत्युपनिषति ।

टीका—(ऐसेए दु सो कत्ता भ्रादा णिच्छयविद्वहि परिकहिदो) पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जैसा कहा है उस अज्ञान भाव से यह आत्मा कर्ता बनता है ऐसा निश्चय के जानने वाले सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा वीतराग परम सामायिक स्वरूप समय भावात्मक अभेद रत्न-त्रय का प्रतिपक्षीभूत जो अज्ञानभाव जिसका उपयुक्त तीन गाथाओं में व्याख्यान किया गया है उस रूप परिणत होता है तब उसी मिथ्यात्व और रागादि भाव का कर्ता होता है जिससे इसके द्रव्यकर्म का बंध हुआ करता है। किन्तु जब यह आत्मा चिदानन्दमय एक स्वभाववाले शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप परिणाम से परिणत होता है उस समय यह सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व और रागाद्यात्मक भावकर्मरूप अज्ञान भाव का करने वाला नहीं होता है। तब इस कर्तापन के अभाव होने पर उसके द्रव्यकर्मों का भी बंध नहीं होता है। (एव खलु जो जाणदि सो मुचदि सव्व कत्तित्त) गाथा के पूर्वार्द्ध में कहे अनुसार मनमें जो वस्तु स्वरूप जानता है वह सारा सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तापन को छोड़ता है (उससे दूर हो जाता है) किन्तु जब वही निश्चय चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन का भारक होता है तब शुभ अशुभ सभी प्रकार के कर्म के कर्तापन को छोड़ देता है (और नूतन कर्म बंध नहीं होता है)। इस प्रकार जीवके रागादि रूप अज्ञान भाव से तो कर्मबंध होता है और वीतरागभाव रूप सम्यग्ज्ञान से कर्म बंध का अभाव होता है। यह बात निश्चित हुई ॥१०४॥

विशेषार्थ—आचार्यदेव बताते हैं कि सब प्रकार के कर्तापन से दूर होने पर ही ज्ञानी होता है। वह कर्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है—(१) शरीरात्मक (२) अविरतात्मक (३) विरतात्मक। (१) शरीरात्मक—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ अतः मेरे जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को अपने परिश्रम से संपादन करके सुखी बनूँ ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप पाखण्ड में लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्तापन है। (२) अविरतात्मक—जब यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियो में जन्म मरण करते हुए अनन्त काल बीत गया जिसमें यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है अतः अब ऐसा करूँ कि कमसे कम कुयोनियो में तो जन्म धारण न करना पड़े। ऐसा सोच कर अन्याय अमर्शसे बचकर न्यायोपाजित कर्तव्य करने में लग रहता है, दान पूजादिक षट् कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्तापन है। (३) विरतात्मक—जब यह जान लेता है कि यह ससार का दृश्यमान ठाठ क्षण भंगुर है और जो यह मानव पर्याय मिली है उसका भी कोई भरोसा नहीं है अतः अब शेष जीवन को भगवान भजन में बिताऊँ ऐसा सोच कर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु सेवा में लगा रहता है तब वहा पर शुद्धोपयोग के साधन स्वरूप आवश्यक कर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्तापन है। इससे भी उच्छ्रान्त होकर जब अपनी शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप निर्विकल्प परम समाधि में लगता है, तल्लीन हो जाता है उस समय तीनों प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तब उस अवस्था में उसे नूतन कर्म बंध भी नहीं होता है।

इस प्रकार अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप का प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल में छह गाथाये पूर्ण हुई। इस प्रकार द्विक्रियावादी का निराकरण करते हुए विशेष व्याख्यान के रूप में कही हुई बारह गाथाये पूर्ण हुई। अब फिर भी ११ गाथाओं से उपसंहार रूप में आचार्यदेव इसी द्विक्रियावादी का निराकरण के विषय में और भी विशेष व्याख्यान करते हैं ॥१०४॥

अब सबसे पहले यह बताते हैं कि परमात्मा को भी आत्मा करता है ऐसा जो व्यवहारी लोग कहा करते हैं वह सब उनके साथ लगे हुए मोह की महिमा ही है—

व्यवहारेण तु आदा करेदि घडपडरयाणि दब्बाणि ।

करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि ॥१०५॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरयादि द्रव्याणि ।

करणाणि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥१०५॥

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से घट पट और रथ आदि वस्तुओं को करता है और इन्द्रियादिक को करता है तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म एवं शरीरादिक नोकर्म व क्रोधादिक भावकर्मों को भी करता है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारेण तु एव करेदि घडपडरयाणि दब्बाणि यतो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैव तु पुन घटपटरयादिबहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि तथाम्यतरेपि करणानीन्द्रियाणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेणविशेषेण करोतीति मन्यते, ततोस्ति व्यामोहो मूढत्व व्यवहारिणा । अथ स व्यामोह सत्यो न भवतीति कथयति ।

टीका—(व्यवहारेण तु आदा करेदि घडपडरयाणिदब्बाणि) यह आत्मा आपस के व्यवहार से घट पट रयादि बाह्य वस्तुओं को नाना प्रकार की इच्छा पूर्वक जैसे करता रहता है (करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि) उसी प्रकार भीतर में नाना प्रकार की स्पष्ट और इन्द्रियों को और बाह्य में नोकर्म शरीरादिक को तथा क्रोधादि रूप भावकर्मों को और नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को निरन्तर इच्छापूर्वक करता रहता है । ऐसा जो व्यवहारी लोग मानते है वह उन व्यवहारियों का व्यामोह अर्थात् मूढपना है ।

यह मूढता क्यों है सो आचार्य आगे बताते हैं—

जदि सो परदब्बाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।

जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसि हवदि कत्ता ॥१०६॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।

यस्मात्प्र तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥१०६॥

अर्थ—यदि आत्मा पर द्रव्यों को भी करे तो वह उन पर द्रव्यों के साथ नियम से तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नहीं है । इसलिये वह उनका कर्ता नहीं है ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्तिः—जदि सो परदब्बाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनकातरूपेण करोति तदा तन्मय स्यात् जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसि हवदि कत्ता यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानतमुत्सृजितस्वरूप त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति । तत स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्राय । अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किन्तु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति ।

टीका—(जदि सो पर दब्बाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज) यदि आत्मा घट, पट आदि पर द्रव्यों को भी नियमपूर्वक अवश्य ही करने वाला हो तो वह उनसे तन्मय हो जाय (जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसि हवदि कत्ता) क्योंकि यह आत्मा शुद्ध स्वाभाविक ऐसे अपने अन्तः सुख और

ध्यानादि को छोड़कर पर द्रव्य के साथ तन्मय तो होता नहीं है । इसलिए आत्मा पर द्रव्यो का उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता है ॥ १०६ ॥

विशेषार्थः—कर्त्ता दो प्रकार के हैं । (१) उपादान कर्त्ता (२) निमित्त कर्त्ता । जो उस पदार्थरूप परिणामन करे वह उपादान कर्त्ता है । किन्तु उस पदार्थरूप स्वयं परिणामन तो न करे पर उसको तद्रूप परिणामा देवे वह निमित्त कर्त्ता कहलाता है । जिसका कथन करना व्यवहार है । प्राचार्य देव उपादान कर्त्ता को दृष्टि में रखकर कहते हैं कि आत्मा घट, पटादि को भी बनाने वाला हो तो उसे रूप में परिणामन करना चाहिए किन्तु वह उस रूप परिणामन नहीं करता है, अतः वास्तव में उपादान रूप से वह उनका कर्त्ता नहीं होता ।

अग्रे कहते हैं कि केवल उपादान रूप से कर्त्ता नहीं होता यह बात नहीं है किन्तु निमित्त रूप से भी आत्मा घटपटादि का कर्त्ता नहीं होता —

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे ।

जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसि हवदि कत्ता ॥१०७॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।

योगोपयोगाद्गुत्पादको च तयोर्भवति कर्त्ता ॥१०७॥

अर्थ—जीव कभी भी घट को नहीं करता, न पटको ही करता और न शेष द्रव्यो को ही करता है । जीव के योग और उपयोग दोनों घटपटादि के उत्पत्ति करने में निमित्त होते हैं । इन दोनों योग उपयोग का यह आत्मा करने वाला होता है ॥१०७॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घट न पट नैव शेषद्रव्याणि । कुत इति चेत् ? नित्य सर्वकाल कर्मकर्तृत्वाननुवगात् । कस्तर्हि करोति **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपी विनश्वरो योगोपयोगावेव तत्रोत्पादको भवत । **सो तेसि हवदि कत्ता** सुखदुःखजीवितभरणादिसमताभावनापरिणता भेदरत्नत्रयसंज्ञाभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तथा स जीवस्त्वयोर्योगोपयोगयो कदाचित्कर्त्ता भवति । न सर्वदा । अत्र योगशब्देन बहिरंग-हस्तादिव्यापार उपयोगशब्देन चातरंगविकल्पो गृह्यते । इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्व स्यात् यदि पुन मुख्यबुद्ध्या निमित्तकर्तृत्व भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदेव कर्मकर्तृत्वप्रसगात् मोक्षभाव । इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गत । अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्थैव कर्त्ता न च परभावस्येति कथयति ।

टीकाः—(जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे) उपादान रूप से ही क्या किन्तु निमित्त रूप से भी जीव घट, पटादि शेष द्रव्यो का कर्त्ता नहीं होता । यदि वह उनका कर्त्ता हो तो हर समय अविच्छिन्न रूप से उन्हे करता ही रहे । तब उनका कर्त्ता कौन है कि (जोगुवओगा उप्पादगा) आत्मा का विकल्प और व्यापार रूप जो योग और उपयोग है जो कि स्वयं विनश्वर है वे उनके उत्पादक होते हैं । (सो तेसि हवदि कत्ता) सुख और दुःख, जीवन और मरण इत्यादि परस्पर विरुद्ध बातों में समभाव धारण रूप अभेद रत्नत्रय ही है संज्ञा जिसका ऐसे भेद विज्ञान के न होने पर जिस काल में यह आत्मा अपने

शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्म स्वरूप से भ्रष्ट होता है, उस समय यह जीव उपर्युक्त योग और उपयोग का किसी समय कर्ता होता है, सर्वदा नहीं। यहाँ पर योग शब्द से बाह्य अवयव हस्तादिक का हिसाना बुलाना और उपयोग शब्द से भ्रन्तरंग के विकल्प को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार घटाधिक के विषय में जीव का निमित्त रूप में कर्तापिना परंपरा से है (साक्षात् नहीं) क्योंकि यदि मुख्यरूप से साक्षात् निमित्त कर्तापिना जीव के मान लिया जाय तब फिर जीव तो नित्य शाश्वत है, अतः वह कर्म करता ही रहेगा तब मोक्ष का अभाव हो जायगा। इस प्रकार व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाये समाप्त हुई ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ—आत्मा के योग और उपयोग घटादिक के बनने में निमित्त होते हैं। अतः उन्हें निमित्त कर्ता कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा को उनका निमित्त कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा जब समाधि दशा से व्युत्तरूप अज्ञान दशा में होता है, तब किसी समय उनके करने रूप योग उपयोग का कर्ता होता है इसलिए व्यवहार से भी आत्मा को जो घटादिक का साक्षात् कर्ता कहा जाता है वह भी सही नहीं है। ऐसा आचार्यदेव के कहने का तात्पर्य है।

अग्रे आचार्यदेव बतलाते हैं कि वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी जीव तो ज्ञान का ही कर्ता होता है परमात्मा का कर्ता कभी नहीं होता—

ये पुगलदब्बाणं परिणामा होति णाणआवरणा ।

ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि ।

न करोति तान्पात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०८॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यों का परिणाम जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप होता है उसका भी कर्ता वास्तवमें आत्मा नहीं है। इस प्रकार (स्वानुभव द्वारा) जो जानता है वह ज्ञानी होता है ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति—जे पुगलदब्बाण परिणामा होति णाणआवरणा ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामा पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवति ण करेदि ताणि आदा तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलश-मिवात्मा न करोति गोरसाध्यसवत् जो जाणदि सो हवदि णाणी इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्याग कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थित सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानसाधेन। इदमत्र तात्पर्यं। वीतरागस्वसवेदनज्ञानी जीव शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता। किंवदिति चेत्। पीतत्वादिपुण्यानां सुखैर्वात् उष्णादिपुण्यानाम-निवत् अनंतज्ञानादिपुण्यानां शिष्टपरमेश्वरिदिति। न च मिथ्यास्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्तृत्वं शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावनामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यास्वरागादिभावना च तद्रूपेण परिणामन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं। भोक्तृत्वं च। न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकु अकारवदिति। एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिचर्त्तनेन दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुनिम-गोत्रातरामसंज्ञं सप्तमि कर्मभेदं सह मोहरागद्वेषकोषमानमायलोभनोकर्मसन्तोषचनकायश्रोत्रचक्षुर्ध्राष्टिरसनस्पृशं-सूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणं असंख्येयलोकमात्रप्रमितं ग्रन्थेपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः। अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपदद्रव्यस्येति निरूपयति।

टीका—(जे पुगलदब्बाण परिणामा होति णाणआवरणा) जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्यों का परिणाम ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूप होता है, (ण करेदि ताणि आदा) उसको भी आत्मा व्याप्य

व्यापक भाव से जैसे मिट्टी कलशको करती है, वैसे नहीं करता है। जिस प्रकार ग्वाले से गोरस भिन्न है उसी प्रकार ज्ञानावरणदि द्रव्य कर्म आत्मा से भिन्न है। (जो जाएदि सो ह्वदि एगरी) इस प्रकार मिथ्यात्व और विषय कषायो का त्याग करके निर्विकल्प समाधिमे स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। जानने मात्र से ही ज्ञानी नहीं हो जाता। तात्पर्य यह है कि वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्ध उपादान रूप शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान का ही कर्ता होता है, जैसे कि स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुणों का, अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का और सिद्ध परमेष्ठी अनन्त ज्ञानादि गुणों का कर्ता होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादिरूप अज्ञान भाव का कर्ता ज्ञानी नहीं होता। यहाँ पर कर्तापन और भोक्तापन जो बताया गया है वह शुद्ध उपादान रूपसे शुद्ध ज्ञानादि भावों का और अशुद्ध उपादानरूप से मिथ्यात्व तथा रागादिरूप विकारी भावों का उन उन रूप से परिणमन करना ही कर्तापन व भोक्तापन बताया गया है। किन्तु घट और कुंभकार के समान इच्छा पूर्वक हस्तादिक का व्यापार करनेरूप कर्तापन या भोक्तापन को यहाँ नहीं लिया गया है ऐसा समझना चाहिये। गाथामे मूल ग्रन्थकारने जो ज्ञानावरण शब्द दिया है वह उपलक्षण रूप है, इसलिए उसके स्थान पर दर्शनावरण, वेदनीय, प्रायु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप सात कर्मों के साथ इन मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा नोर्कर्म और मन, वचन, काय तथा श्रोत्र, वसु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह को भी लगाकर क्रम से व्याख्यान करना चाहिये। इसी प्रकार शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षणरूप और भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव भाव है ऐसा समझना चाहिए।

प्रज्ञानी जीव भी रागादि रूप अज्ञान भाव का ही कर्ता होता है किन्तु ज्ञानावरणादि पर द्रव्य का कर्ता नहीं होता ऐसा ध्याने बनलाते हैं —

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता

तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०८॥

यं भावं शुममशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।

तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०९॥

अर्थ — वास्तवमे आत्मा अपना शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है तो वह अपने भाव का करने वाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है और अपने भाव रूप कर्म का ही भोक्ता भी होता है ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति. — ज भाव सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता सातासातोदयावस्वाम्या तीव्रमदस्वा-
 दाम्भा सुखदुःखरूपाभ्या वा चिदानन्दकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधाभेद कुर्वाण सत् य भाव शुभमशुभ वा करोत्यात्मन
 स्वतन्त्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुट कर्ता भवति तं तस्स होदि कम्मं तदेव तस्य शुभाशुभरूप भावकर्म
 भवति । तेतात्मना क्रियमाणत्वात् सो तस्स दु वेदगो अप्पा स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको
 भोक्ता भवति स्वतन्त्ररूपेण भोक्तृत्वात् न च द्रव्यकर्मण , किं च विशेषः । अज्ञानी जीवोऽशुद्धानिश्चयनयेनाशुद्धोपादान-
 रूपेण मिथ्यात्वरगादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मण । स चाशुद्धानिश्चय यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यव-
 हारापेक्षया निश्चयसज्ज लभते तथापि शुद्धानिश्चयपेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्व
 भणित तदुपादान शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति । तत्कथ्यते । औपाधिकमुपादानमशुद्ध तमाय पिबन्वत्, निरुपाधि-
 रूपमुपादान शुद्ध पीतत्वादियुगाना सुखवत्, अनतज्ञानादियुगाना सिद्धजीववत्, उष्णत्वादियुगानामग्निवत् । इदं
 व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः । अथ न च परभाव केना-
 प्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते ।

टीका—(जं भाव सुहमसुह करेदि भ्रादा स तस्स ललु कता) विदामंद् एक स्वभाव रूप से जो आत्मा एक है उसीके साता व भ्रमाता के रूप में, तीव्र मद के रूप में, अथवा सुख दुख के रूप में दो भेद करता हुआ यह छद्मस्थ जीव जैसा शुभ व अशुभ भाव करता है, उसके प्रति स्वतन्त्रतया व्यापक होने से वह उसका कर्ता होता है, (त तस्स होदि कम्म) और वह भाव इस आत्मा का कर्म होता है, क्योंकि वह भाव उसी के द्वारा किया गया है (सो तस्स दु वेदगो अण्णा) और इसलिए यह आत्मा उसी शुभ या अशुभ भाव का भोगने वाला होता है क्योंकि स्वतन्त्र रूप से उसे ही सवेदन करता है किन्तु द्रव्य कर्म का कर्ता और भोक्ता आत्मा नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि भ्रजानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से मिथ्यात्व अथवा रागादि भावों का ही कर्ता होता है ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का नहीं । आत्मा को द्रव्य कर्म का कर्ता असद्वृत्त व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा गया है । इस कारण इस अशुद्ध निश्चयनय को निश्चय की सज्ञा दी गई है । तो भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से वह व्यवहार ही है । यहा कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! आपने अशुद्ध उपादान रूप से आत्मा को रागादिक का कर्ता बताया है तो क्या उपादान भी शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि अग्नि के द्वारा गर्म हुए लोहे के पिण्ड के समान आत्मा औपाधिक भावों को स्वीकार किये हुए है वह अशुद्ध उपादान होता है । किन्तु जो निरुपाधिक (सहज) भाव को स्वीकार किये हुए है वह शुद्ध उपादान कहलाता है । जैसे सोना अपने पीतत्वादि गुणों का सिद्ध जीव अपने भ्रत ज्ञानादि गुणों का और अग्नि अपने उष्णत्वादि गुणों का उपादान है इस प्रकार शुद्ध या अशुद्ध उपादान का स्वरूप व्याख्यान के समय सभी स्थान पर स्मरण रखना चाहिये ॥१०६॥

आये आचार्य बताते हैं कोई भी किसी भी प्रकार के उपादान से पर भाव का कर्ता नहीं होता —

जो जह्मि गुणो दब्बे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दब्बे ।

सो अण्णमसंकतो कहं तं परिणामए दब्बं ॥११०॥

यो यस्मिन् गुणो द्रव्ये सोऽन्यस्मिन्स्तु न संक्रामति द्रव्ये ।

सोन्यदसंक्रतः कथं तत्परिणाममिति द्रव्यं ॥११०॥

अर्थ—जो गुण जिस द्रव्य में होता है वह उसको छोड़कर अन्य द्रव्य में कभी नहीं जाता और जब वह अन्य द्रव्य में नहीं जाता तब वह अन्य को कैसे परिणाम सकता है—कभी नहीं परिणाम सकता ॥११०॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो जह्मि गुणो दब्बे सो अण्ण दु ण संकमदि दब्बे यो गुणश्चेतनस्तर्थाचेतनो वा यस्मिन्नेतनाचेतने द्रव्ये भ्रनादिसम्बन्धेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्त सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रमत्येव सोऽपि सो अण्णमसंकतो कहं तं परिणामए दब्बं स चेतनाचेतनो वा गुणः कर्ता अन्यद्रव्यं द्रव्यांतरमसंक्रातं स कथं द्रव्यांतर परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि । तत स्थित आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तृति ।

टीका—(जो जह्मि गुणो दब्बे अण्ण दु ण संकमदि दब्बे) चेतनरूप या अचेतनरूप गुण जिस चेतन या अचेतन द्रव्य में भ्रनादि सबंध से स्वभावतः प्रवर्तमान है, वह उसे छोड़कर कभी भी किसी अन्य द्रव्य में नहीं जाता, (सो अण्णमसंकतो कहं तं परिणामए दब्बं) जब वह चेतन या अचेतन गुण अन्य में नहीं जाता, तब वह उस अन्य द्रव्य को उपादान रूप से कैसे परिणाम सकता है, कभी नहीं परिणाम सकता । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि यह आत्मा पुद्गल द्रव्यों का कर्ता नहीं है ॥११०॥

यही बात आचार्य देव बागे की गाथा में कहते हैं,—

द्रव्यगुणस्स य आदा ण कुणदि पुगलमयहि कम्महि ।

तं उभयमकुव्वंतो तद्धि कहं तस्स सो कत्ता ॥१११॥

द्रव्यगुणस्य च आत्मा न करोति पुगलमये कर्मणि ।

तदुभयमकुर्वन्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१११॥

अर्थ—आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को धारवा गुण को नहीं करता है । जब वह उसमें उन दोनों को नहीं करता तब वह उसका कर्ता कैसे कहा जा सकता है ॥१११॥

तात्पर्यंभूति—द्रव्यगुणस्स य आदा ण कुणदि पुगलमयहि कम्महि यथा कुम्हार कर्ता मृन्मय-कसमकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सबधि जडस्वरूप वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा सबधिस्वरूपमृत्तिकाकलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसबधिजडस्वरूप वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसबधिस्वरूप वा तन्मयत्वेन न करोति त उभयमकुव्वंतो तद्धि कहं तस्स सो कत्ता तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादितद्गुण वा तन्मयत्वेनाकुर्वाण सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीव कथं कर्ता भवति न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कौपि सदा-शिबानामा सदाभुक्तोऽयमूर्त्तौपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति त निरस्तः । कस्मादिति चेत् । मूर्त्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसंबन्धो घटते तस्य पुन सदाभुक्तस्यामूर्त्तस्य कथं मूर्त्तोपाधि ? न कथमपि सिद्धजीववत् । अनादिबद्धजीवस्य पुन शक्तिरूपेण शुद्धानिश्चयनामूर्त्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्त्तस्य मूर्त्तोपाधिदृष्ट्यातो घटत इति भावार्थः । एव निश्चयनयमुख्यत्वेन बाधाचलुष्ट इति । अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः ।

टीका—(द्रव्यगुणस्स य आदा ण कुणदि पुगलमयहि कम्महि) जैसे मिट्टी का कलश करने के समय मिट्टी कलश को तन्मय होकर करती है, वैसे कुम्हार मृत्तिका द्रव्य सबधि जड स्वरूप वर्णादिक को तन्मय होकर नहीं करता उसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्यकर्म के विषयमें पुद्गलद्रव्य सबधि स्वरूपवाले वर्णादिक को तन्मय होकर नहीं करता (त उभयमकुव्वंतो तद्धि कहं तस्स सो कत्ता) और जब आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म सबधि स्वरूप को और उसके गुण वर्णादि को तन्मय होकर नहीं करता तब उस पुद्गल द्रव्य कर्म के विषय में जीव कर्ता कैसे कहा जा सकता है, कभी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि चेतन पर स्वरूप अर्थात् अचेतन स्वरूप से कभी भी परिणमन नहीं करता है । आचार्य के इस कथन का मूल आशय यह है कि जैसे स्फटिक स्वयं निर्मल है वही जपा पुष्पादि किसी पर की उपाधि के निमित्त से अन्यथा परिणमन कर जाता है, वैसे ही कोई सदाशिव नाम का व्यक्ति, जो कि सदा से मुक्त है, भ्रमूर्त्त है, वह परकी उपाधि से अन्यथा रूप होकर जगत् को बनाता है ऐसी किन्हीं की जो मान्यता है वह ठीक नहीं है । क्योंकि स्फटिक मूर्त्तक है, अतः उसका मूर्त्तिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है, किन्तु सदाभुक्त और भ्रमूर्त्त सदाशिव के साथ मूर्त्त उपाधि का सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है, कभी नहीं हो सकता, जैसे कि शुद्धजीव के साथ उपाधि का सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु अनादि बधन बद्धजीव शुद्ध निश्चय नय से शक्ति रूप से भ्रमूर्त्त है पर व्यक्ति रूप से व्यवहारनय से मूर्त्त है, उसके साथ मूर्त्त उपाधि का सम्बन्ध ठीक बन जाता है ऐसा आचार्य का अभिप्राय है । इस प्रकार चार गाथाओं से निश्चयनय की मुख्यता से व्याख्यान किया गया ॥१११॥

विशेषार्थः— आचार्य देव ने यहा यह स्पष्ट किया है कि कोई भी जीव प्रारम्भ मे शुद्ध से अशुद्ध हुआ हो, एकाकी होकर भी अन्य द्रव्य के साथ मिश्रित हुआ हो ऐसा नहीं है । किन्तु तिलका तैल के साथ मे जिस प्रकार सदा का सगंध है उसी प्रकार ससारी जीव के साथ अनादि से ही प्रवाह रूप से द्रव्य कर्मों का सगंध है, जिससे यह ससारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त बना हुआ है— पकड़ मे आनेवाला है और पर द्रव्यों के सगंध से उत्पन्न हुए रागादि भावों से नये नये कर्म बाधता रहता है । किन्तु जब वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान लेता है तब पर द्रव्यों मे रागद्वेष करना छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जाता है तब इसे नूतन कर्मों का गंध भी नहीं होता और पुरातन कर्म जो इस आत्मा के साथ लगे हुए है वे भी निर्जीण होकर पृथक् हा जाते है । तब यह आत्मा सदा के लिए मुक्त हो जाता है, जन्म मरण के दुखों से दूर हा जाता है यह जैन दर्शन का सार है ।

इसमे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा द्रव्य कर्मों का करना है ऐसा जो कहा जाता है मो केवल उपचार मात्र है ऐसा बनताते है —

जीवहिं हेतुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।

जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥११२॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं ।

जीवेन कृतं कर्म मण्यते उपचारमात्रेण ॥११२॥

अर्थ — जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध की पर्याय होती है, ऐसा देखकर उपचार मात्र से यह कहा जाता है कि कर्म जीव के द्वारा किये हुए है ॥ ११२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवहिं हेतुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणाम परमोपेक्षासयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरगादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेधाइबरबद्राकंपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूत सति मधेद्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कसवगस्यायोभ्यपुद्गलाना ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबंधस्य परिणाम पर्याय दृष्ट्वा **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण** जीवेन कृत कर्मति मण्यते उपचारमात्रेणेति । अथ तदेवोपचारकमकर्तृत्व दृष्टान्तदाष्टानाम्या दृढयति ।

टीका — (जीवहिं हेतुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणाम) निमित्त रूप से बादलों की छाया अथवा चांद सूर्य का परिवेष आदि के योग्य काल होने पर पानी का बरसना और इन्द्र धनुष आदि मे परिणत पुद्गलों का परिणाम होता देखा जाता है, वैसे ही परमउपेक्षा सयम भाव स परिणत अभेद रत्नत्रय है लक्षणा जिसका ऐसे भेद ज्ञान के न होने पर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप मे परिणत जीव के होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्य कर्म बंधमय परिणाम— पर्याय को देखकर (जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण) कर्म जीव के द्वारा किये गये है ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ — उप समीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरण प्रवर्तन उपचार । इस निरुक्ति के अनुसार उपचार का अर्थ प्रेरणा होता है जैसे महाभारत मे कौरवों के साथ युद्ध तो अर्जुन ने किया किन्तु इसके सपर्यंक श्री कृष्ण नारायण रहे, उनकी प्रेरणा से ही उसने कौरवों से युद्ध किया । इसी प्रकार कर्म वर्गणाए जो कर्म रूप बनती है वे सब रागी द्वेषी समारी आत्मा की प्रेरणा से बनती है न कि स्वयं ।

इसी बात को आचार्य उदाहरण देकर समझाते हैं —

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।

तह व्यवहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥

योधे. कृते युद्धे राजाकृतमिति जल्पते लोकः ।

तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥११३॥

अर्थ — योद्धाश्रो के द्वारा किए हुए युद्ध को लोक जिस प्रकार व्यवहार से राजा का किया हुआ कहा करते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के किये हुए हैं ऐसा कहना भी व्यवहार से है ॥११३॥

तात्पर्यवृत्ति — जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो यथा योधे युद्धे कृते मति राजा युद्ध कृतमिति जल्पति लोक । तह व्यवहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादि-कर्म जीवेनानि । तत स्थितमेवम् । यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात्तात्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि ।

टीका:— (जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो) जैसे योद्धाश्रो के द्वारा किये हुए युद्ध को राजा के द्वारा किया हुआ कहा करते हैं, (तह व्यवहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण) वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्म जीव के द्वारा किये हुए हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है । अतः यह बात निश्चित हुई कि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला है इस कारण यह न तो किसी को उपजाता है, न करता है, न बाधता है, न परिणमाता है और न ग्रहण ही करता है ॥ ११३ ॥

उत्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य ।

आदा पुग्गलद्वयं व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥ ११४ ॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।

आत्मा पुद्गलद्वयं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ॥ ११४ ॥

अर्थ —व्यवहारनय का यह कहना है कि आत्मा पुद्गलद्वय रूप कर्म को उपजाता है, करता है, बाधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है ॥ ११४ ॥

तात्पर्यवृत्ति:—अनादिबन्धपर्यायवशेन वीतरागस्वस्वेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्तिग्न्य सन्तात्मा कर्मवर्गंसायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारं घटनिब द्रव्यकमरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबन्ध करोति स्थितिबन्ध बध्नात्यनुभागबन्ध परिणमयति प्रदेशबन्ध तमाय पिंडो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति वेत्यभिप्रायः । अर्थतदेवव्याख्यानं दृष्टान्ताष्टानाम्या समर्थयति ।

टीका —अनादिकालीन बन्ध पर्याय के वशवर्तीपने से वीतराग स्वस्वेदन लक्षण वाले भेद ज्ञान के न होने के कारण रागादि परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्म वर्गंसा योग्य पुद्गलद्रव्य को द्रव्य कर्म के रूप में उत्पन्न करता है जैसे कि कुम्भकार घड़े को उत्पन्न करता है । द्रव्य कर्मों को करता है, बाधता है, परिणामन कराता है व ग्रहण करता है ऐसा व्यवहारनय का अभिप्राय है । अथवा प्रकृति बन्ध को पैदा करता है स्थिति बन्ध को करता है, अनुभाग बन्ध को बाधता है व प्रदेश बन्ध को परिणमाता है ।

जैसे गर्म किया हुआ लोहे का गोला अपने सम्पूर्ण प्रदेशो से जल ग्रहण करता है वैसे ही रागी आत्मा अपने सम्पूर्ण आत्म प्रदेशो से प्रदेश बंध को ग्रहण करता है ऐसा अभिप्राय है ॥ ११४ ॥

अब हम ही व्याख्यान को दृष्टांत से दृढ करते हैं—

जह राया बवहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलबिदो ।

तह जीवो बवहारा दब्बगुणुप्पादगो भणिदो ॥११५॥

यथा राजा व्यवहारादोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।

तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥११५॥

अर्थ—व्यवहार मे कहा जाता है कि प्रजा मे दोष और गुणो को पैदा करने वाला राजा होता है वैसे ही यह कहना व्यवहार मे है कि पुद्गलद्रव्य मे कमरूप गुण को उत्पन्न करने वाला जीव होता है ॥ ११५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जह राया बवहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलबिदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोष-निर्दोषिजनाना दोषगुणोत्पादको भणित तह जीवो बवहारा दब्बगुणुप्पादगो भणिदो तथा जीवोपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोस्तुत्पादको भणितः । इति व्यवहारमुच्यत्वेन सूत्रचतुष्टय गत । एव द्विक्रियावादिनिराकरणो-पसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गता ।

ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यात तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरण सिद्ध पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति । नैव हेतुहेतुमद्भावाव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोष । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति ततएव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरण सिद्धयतीति हेतुमद्भावाव्याख्यान ज्ञातव्य । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थवीडि-कारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण जदि सो पुगलदब्ब करेज्ज इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यान । तत पर द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यान ततोप्येकादशगाथाभिस्तस्यैकोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथामि द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयांतराधिकार समाप्तः ।

अथानंतर **सामप्पणकच्चया** इत्यादिगाथायादि कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्त सूत्रप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्व-मुख्यत्वेन व्याख्यान करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीव कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टय । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षा ये नेच्छत्येकातेन जीवो न करोतीति वदति साक्यमता-नुसारिण तान्मतिं दूषण वदति । कथमिति चेत् । यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषा कर्मणामित्येक दूषण । अथवा तेषा मते जीव एकातेन कर्म न करोतीति द्वितीय दूषण । तदनंतर शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्ययोरैकत्वं जैनमताभिप्रायल्लेति गाथात्रय । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभाग नेच्छन्ति तान्मतिं पुनरपि दूषण । कथमिति चेत् । जीवप्रत्यययोरैकतेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येक दूषण । एकातेन मिश्रत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीय दूषणमिति चतुर्वीतराधिकारे समुदायपातनिका । तथाचा—निश्चयेन मिथ्यात्वादि गौडगनिक-प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति प्रतिपादयति ।

टीका—(जह राया बवहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलबिदो) जैसे व्यवहार से प्रजा मे होने वाले सदोष और निर्दोष लोगों के दोष और गुणो का उत्पादक राजा को कहा जाता है (तह जीवो बवहारा दब्बगुणुप्पादगो भणिदो) उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य मे पुण्य पाप रूप गुणो का उत्पादक जीव होता है यह भी व्यवहारनय से कहा गया है । इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से चार गाथाये कही गई ॥११५॥

इस प्रकार द्विक्रियावादी के निराकरणके उपसंहार की मुख्यतासे स्यारह गाथाये पूर्ण हुई ।

यहां पर कोई शका कर सकता है कि निश्चयनय से आत्मा द्रव्य को नहीं करता है, ऐसा व्याख्यान बहुत बार किया है उसी से द्विक्रियावादी का निराकरण अपने आप हो जाता है, फिर भी यह व्याख्यान करके पिष्टपेषण क्यों किया ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि निश्चयनय में और द्विक्रियावादीपने में हेतुभाव और हेतुमदभाव को बतलाने के लिये ऐसा किया है । निश्चय से आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है इसी हेतुसे द्विक्रियावादीपने का निराकरण भी सिद्ध है, इस प्रकार इनमें परस्पर हेतु हेतुमदभाव है ।

इस प्रकार पुण्य पापादि सान पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से “जदि सो पुग्गल दव्व करिउज्ज” इत्यादि दो गाथाओं से सक्षप व्याख्यान किया है । इसके पश्चात् १२ गाथाओं से उनका विशेष व्याख्यान है । तत्पश्चात् ११ गाथाओं से उपमहार करते हुए उसी का विशेष विवरण है इस प्रकार समुदाय रूपसे २५ गाथाओं में यह द्विक्रियावादी का निषेध रूप तीसरा अवान्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

अथानन्तर ‘साम्पण्य पच्चया’ इत्यादि गाथाओं आदि लेकर पाठ्यक्रम में सान गाथा पर्यन्त मूल प्रत्यय चतुष्टय को कर्म का कर्ता बनाने की मुख्यतामें व्याख्यान करते हैं । इन सान गाथाओं में से चार गाथाओं में यह बताया है कि जैनमत में शुद्धउपादान वाले शुद्ध निश्चयनय में जीव कर्मों का कर्ता नहीं है, किन्तु मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं । अथवा यो कहो कि जो लोग शुद्धनिश्चयनय की विवक्षान करके एकांत से ऐसा कहते हैं कि जीव कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा कहने वाले उन साख्यमता-नुयायिओं के प्रति दूषण दिया है कि यदि मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं तो जीव उन कर्मों का वेदक भी नहीं होना चाहिए यह एक मोटा दूषण आयगा । अथवा इनके मत में एकान्तसे जब जीव कम नहीं करता है तो कौन करता है ऐसा यह दूसरा दूषण है । इसके पश्चात् यह बताया है कि जैनमत में शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से जब विचार कर तो जीव और मिथ्यात्वादि प्रत्यय इन दोनों में एकता नहीं है परन्तु वे दानो भिन्न भिन्न हैं ऐसा कथन करते हुए तीन गाथाएं हैं । अथवा जो लोग पूर्वोक्त रीति से नय विभाग नहीं मानते हैं उनको दूषण दिया है कि जीव और प्रत्यय इन दोनों में एकान्त से एकपत्ता मानने पर जीव का अभाव हो जायगा यह एक दूषण हुआ और एकान्त से यदि भिन्नपत्ता ही मानले तो ससार का अभाव हो जायगा वह भी ठीक नहीं है यह दूसरा दूषण है । यह चौथे अन्तर अधि-कार की सामुदायिक पातनिका हुई ।

यहां सबसे पहले यह बताया जाना है कि निश्चय नय में मिथ्यात्वादि पौद्गलिक प्रत्यय ही कर्म को करते हैं ।

साम्पण्यपच्चया खलु चउरो भण्णंति बधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥११६॥

तेत्तिं पुणोवि य इमो ञ्णिदो भेदो दु तेरस् वियप्पो ।

मिच्छादिट्ठोआदो जाव सजोगिस्स चरमतं ॥११७॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसभवा जह्मा ।

ते जदि करंति कम्मं णवि तेत्तिं वेदगो आदा ॥११८॥

गुण सण्णिदा दु एवे कम्मं कुर्वन्ति पच्चया जह्मा ।

तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुर्वन्ति कम्माणि ॥११६॥ (चतुष्कं)

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बंधकर्तारः ।

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ ११६ ॥

तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।

मिथ्यादृष्ट्यादिर्भावित्सयोगिनश्चरमांतम् ॥११७॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मादयसंभवा यस्मात् ।

ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ ११८ ॥

गुणमंजितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।

तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥ ११९ ॥

अर्थ — वास्तव में सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं वे बंध के करने वाले कहे गये हैं । उनके उत्तर भेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोगी केवली पर्यंत गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के हो जाते हैं । वे गुणस्थान या प्रत्यय निश्चय दृष्टि में अचेतन हैं क्योंकि वे सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होते हैं । और जब वे कर्म को करते हैं तो फिर उनका मोक्ता भी आत्मा नहीं होता है । और जब कि ये गुणस्थान सजा वाले प्रत्यय ही कर्म को करते हैं तब फिर जीव कर्म का कर्ता नहीं है, ये गुणस्थान ही कर्म के करने वाले हैं ।

सात्पर्यवृत्ति — सामान्यपच्चया खलु चउरो भणन्ति बंधकर्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षाया पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षाया तु सामान्यप्रत्यया भूलप्रत्यया खलु स्फुट चत्वारो बधस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वत्र उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहुवो भवन्ति । सामान्य कोष । विवक्षाया अभाव सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थ सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले शातव्य इति । मिच्छत् अविरमण कषायजोगा य बोद्धव्या ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्या । अथ — तेसि पुणो वि य इमो भणिवो भेवो दु तेरसवियप्यो तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरनो भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्प केन प्रकारेण मिच्छाविद्वि आदौ जाव सजोगिस्स चरमत मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमय यावदिति । अथ एवे अचेदणा खलु पुगलकम्मवयसंभवा जह्मा एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्यया शुद्ध-निश्चयेनाचेतना खलु स्फुट । कस्मात् पुद्गलकर्मादयसंभवा यस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्न पुत्रोविषक्षावशेन देवदत्ताया पुत्रोय केचन वदति । देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसयोगिनोत्पन्ना, मिथ्यात्वरगादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवमबद्धा शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना पौद्गलका परमार्थ । पुनरेकातेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपा मुधाहरिद्रयो सयोगपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सत्येवाज्ञानोद्भवता कल्पिता इति । एतावता किमुक्तं भवति । ये केचन वदत्येकातेन रागादयो जीवसंबन्धिन पुद्गलसंबन्धिनो वा तदुभयमपि बध्नन् मिथ्या । कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टातेन सयोगादुद्भवत्वात् । अथ मत सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रयच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेनतेषामस्तिस्त्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणित तिष्ठति कथमुत्तर प्रयच्छाम इति । ते जवि करति कम्म ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वन्ति कर्म तदा कुयुरेव जीवस्य किमायात् शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सब्वे सुद्धा ह्म सुद्धणया' इति वचनात् । अथमतः । जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिभूत्वा मिथ्यात्वरगादिभावकर्मं युक्ते यतस्तत कर्तापि भवतीति । नैव । जवि तेसि वेवगो आवा यत् शुद्धनिश्चयेन वेद-कोपि न हि तेषां कर्मणा, यदा वेदको न भवति तदा कर्तापि कथं भविष्यति न कथमपि शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव ।

अथवा ये पुनरेकानेनाकर्णन्ति वदन्ति तान्प्रति दूषण । कथमिति चेत्, यदेकानेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति । ततश्च सर्वशैवाकर्तृत्वे सति समाराभाव इत्येक दूषण । तेषां मते वेदकोपि न भवतीति द्वितीय च दूषण । अथ च वेदकमात्मान मन्यन्ते माक्यास्तथा स्वमनव्याघातदूषण प्राप्नोतीति । अथ **गुणसंश्लेषाद्वा तु एदे कम्म कुञ्चति पञ्चया जह्या** तत स्मृत गुणस्थानमज्ञिता प्रत्यया एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेव पूर्वसूत्रेण मणित । **तह्या जीवो कत्ता गुणा य कुञ्चति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणा जीव कर्ता न भवति गुणस्थानसंज्ञिता प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव । एव शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण साधारणतया गत । अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकानेनेति कथयति ।

टीका—(सामय्यपञ्चया खलु चउरो भण्णति बध कत्तारो) निश्चयनय मे अभेद विवक्षा मे तो एक पुद्गल ही कर्मों का कर्ता है और भेद विवक्षा मे सामान्य मूल प्रत्यय चार है जो कि बध के करने वाले है ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है । उत्तर प्रत्यय ता बहुत है । विवक्षा का न होना यहा पर सामान्य शब्द का अर्थ है—यह सामान्य के व्याख्यान के काल मे सब स्थान पर लगाया जा सकता है । (मिच्छन्त अविमृग कसायजोगा य वोद्धव्वा) सामान्य प्रत्यय मिथ्यात्व, अविमृग, कपाय और योग इन नाम वाले है । (तेसि पुणोवि य इमो भणितो भेदो दु तेरसवियण्णो) उन्ही प्रत्ययों के उत्तर भेद गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार का बताया गया है जो कि (मिच्छादिद्वीप्रादी जाव सजोगिस्स चरमत) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि ले अतिम सयोगी गुणस्थान तक है । (एदे अचेदणा खलु पुगल कम्मदयमभवा जह्या) ये सभी मिथ्यात्वादि प्रत्यय द्रव्य रूप प्रत्यय तो अचेतन है किन्तु मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय भी शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा मे अचेतन ही हैं, क्योंकि ये सभी पौद्गलिक कर्म के उदय से होने वाले है । जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनों के सयोग मे होता है । अतः विवक्षा वश से उसकी माता की अपेक्षा मे देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते है, दूसरे पिता की अपेक्षा मे यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते है । परन्तु इस कथन मे कोई दोष नहीं है क्योंकि विवक्षा भेद से दोनों ही ठीक हैं । वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के सयोग से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व रागादिरूप जो भाव प्रत्यय है वे अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय मे चेतन है क्योंकि जीव से सम्बद्ध है, किन्तु शुद्ध उपादान रूप शुद्ध निश्चयनय से ये सभी अचेतन है क्योंकि पौद्गलिक कर्म के उदय से हुए है । किन्तु वस्तु स्थिति मे ये सभी न तो एकात मे जीवरूप ही है और न पुद्गल ही है । किन्तु सूना और हल्दी के सयोग से उत्पन्न हुई कुकुम के समान ये प्रत्यय भी जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होने वाले सयोगी भाव है । और जब गहराई मे सोच तो सूक्ष्मरूप शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि मे इनका अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि अज्ञान द्वारा उत्पन्न है अतएव कल्पित है, इस सब कथन का सार यह है कि जो एकात मे रागादिको को जीव सबधी कहते है अथवा जो इनको पुद्गल सबधी कहते है उन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये सभी जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हुए है जैसे, पहले स्त्री और पुरुष के सयोग से पैदा हुए दृष्टांत द्वारा बताया जा चुका है । यदि यहा कोई श्रम करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से किसके है तो इसका उत्तर तो हम पहले ही दे चुके है कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय मे तो इन सबका अस्तित्व ही नहीं है । (ते जदि करन्ति कम्म) ये मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही कर्म है तो करते रहे इसमे क्या हानि लाभ है, कुछ नहीं, ऐसा शुद्ध निश्चयनय के द्वारा सम्मत ही है क्योंकि "सर्वे सुद्धाहु सुद्ध नया" क्योंकि शुद्ध नय की दृष्टि मे सब शुद्ध है ऐसा आर्थ वचन है । यदि यहा कोई कहे कि मिथ्यात्व के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव कर्म को भोगता रहता है, अतः उनका कर्ता भी है ऐसा मानना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि (णवि तेसि वेदगो आदा) शुद्ध निश्चयनय

की विवक्षा मे आत्मा कर्मों का वेदक भी नहीं है और जब वेदक भी नहीं तब कर्ता भी कैसे हो सकता है—कमी नहीं हो सकता, ऐसा शुद्ध निश्चयनय का मत है। इस उपर्युक्त बात को लेकर जो लोग आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही कहते है उनके प्रति यह दोष अवश्य है कि यदि आत्मा सर्वथा अकर्ता ही है तब तो शुद्ध निश्चयनय से जैसे अकर्ता हुआ वैसे व्यवहार से भी अकर्ता हुआ और इस प्रकार सर्वथा अकर्ता पन होने पर ससार का अभाव हुआ जो कि एक बड़ा भारी दूषण है। तथा उनके मत मे आत्मा कर्ता नहीं है तो कर्मों का वेदक भी नहीं हो सकता यह दूसरा दूषण है। इस प्रकार आत्मा को केवल मात्र वेदक मानने वाले साह्य लोग है उनके लिए स्वमत व्याघात रूप दूषण होता है। (गुण सङ्गिदा दु एवे कम्म कुवति पच्चया जह्मा) इसलिये गुणस्थान ही हैं सज्ञा जिनकी ऐसे प्रत्यय ही कर्म करते हैं जैसा कि पूर्व सूत्र मे बताया है। (तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुवति कम्माणि) अतः यह कहना ठीक ही है कि शुद्ध निश्चयनय से इन कर्मों का कर्ता जीव नहीं है अपितु गुणस्थान नाम वाले प्रत्यय ही कर्म करते है। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से कर्म करने वाले प्रत्यय ही है इसके व्याख्यान मे चार गायामे हुई ॥११६, ११७, ११८, ११९ ॥

विशेषार्थ—अशुद्ध निश्चयनय आत्मा को विकारमय देखता है अतः उसकी दृष्टि मे रागादिक भाव आत्मा मे ही उत्पन्न होते है इसलिये चेतन ही है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय आत्मा को शुद्ध देखता है तो वहा रागादिक भाव होते नहीं है अतः उसकी दृष्टि मे रागादिक भाव कर्म के उदयसे होते है इसलिये वे पौद्गलिक है और अचेतन है। किन्तु सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय मे तो जिस प्रकार आत्मा शुद्ध है उसी प्रकार पुद्गल भी शुद्ध परमाणुरूप है अतः वहा कर्म कोई भी वस्तु नहीं है फिर उनके उदयसे रागद्वेष कैसे हो सकते है इसलिये इसकी दृष्टि मे रागादिक भाव न तो जीवकृत चेतन है और न पौद्गलिक कर्म कृत अचेतन ही है किन्तु स्वप्न के समान काल्पनिक ही हैं जो कि जीव की अज्ञान दशामे होते है। यहा पर आचार्य देव के कहने का यह भाव है कि जीव को रागादि के वशमे न होकर इन्हे दूर करना चाहिये जो कि केवल मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के वश से होने वाले हैं।

आगे कहते है कि एकानसे जीव और प्रत्ययों का एकपना नहीं है —

जह जीवस्स अणणुवओगो कोधो वि तह जदि अणणो ।

जीवस्सा जीवस्स य एवमणणत्तमावण्णं ॥१२०॥

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो ।

अयमेयत्ते दोसो पच्चयणो कम्मकम्माणं ॥१२१॥

अह पुण अणो कोहो अणुवओगप्पगो हवदि चेदा ।

जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥१२२॥

यथा जीवस्थानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।

जीवस्या जीवस्य चैव मनन्यत्वमापन्नम् ॥१२०॥

एवमिव यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथा जीवः ।

अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनो कर्मकर्मणां ॥१२१॥

अथ पुनः अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।

यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्स्यन्त्य् ॥१२२॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव के साथ ज्ञानदर्शनोपयोग की एकता है उसी प्रकार क्रोधादि भी जीव के साथ एक-मेक हो तो जीव श्रीरं प्रजीव मे नियमसे एकपना हो जायगा, कोई भेद नहीं रहेगा । क्योंकि जैसा जीव वैसा ही प्रजीव दोनों संबंध एक हो रहेगे तब यह दोष आयगा कि देहादि नोकर्म, ज्ञानावरणदि द्रव्य कर्म तथा मिथ्यात्वादि भावकर्म के साथ इस जीव की एकता हो जायगी । इस दोष से बचने के लिये ऐसा मानना चाहिये कि क्रोध अन्य है तथा उपयोगवान् आत्मा अन्य है । ता जैसे आत्मासे क्रोध अन्य है उसी प्रकार इनर मब प्रत्यय भी तथा कर्म श्रीरं नोकर्म भी आत्मा के अन्य ही है ॥१२०-१२१-१२२॥

तात्पर्यवृत्ति—जह जीवस्स अरण्यजोगो यथा जीवम्यानन्यस्वन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोग । कस्मात् अन्य-वेद्यत्वात् अन्तर्यामिनेनत्वाच्चागनेरुष्णत्ववत् कोहो वि तह अदि अरण्यगो तथा कोषोपि यद्यन्यो भवत्येकान्तेन तदा कि दूषण जीवस्साजीवस्स य एवमण्यत्तमावपण एवमभेदे सति सहजशुद्धावर्तकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवम्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति । अथ—एवमिह जो बु जीवो सो चेव बु सियमदो तहाजीवो एव पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यातक्रमेण य एव जीव स एव तथैवाजीव भवति नियमाश्रित्यात् । तथा सति जीवामावात् दूषण प्राप्नोति । अयमेत्येते दोसो पक्ष्ययणोक्तमकस्मात् अयमेव च दोषो जीवामावरूप । कस्मिन् सति । एकातेन निरजतनिजानर्देकक्षणजीवेन सहैकत्वे सति । केवा । मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति । अथ—प्राक्तलक्षणत्वेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति अहं पुन अरण्यो कोहो अण्युवभोगप्यगो ह्रस्वि चेदा अथ पुनरमिप्रायो भवता पूर्वोक्तजीवामावरूपमयात् अन्योमिन्न-कोषो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाङ्क्षात् । जह कोहो तह पक्ष्य कम्म णोक्कम्म सवि अण्य यथा जड क्रोधो निमलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्म नोकर्माप्स्यति मिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मतएव । किंच शुद्धनिश्चयेन जीवस्याकर्तृत्वममोक्तत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्व मोक्तृत्व च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च लभ्यते एव । कस्मात् । निश्चयव्यवहारयो परस्परसापेक्षत्वात् । कथमिति चेत् । यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्यय देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति । ये पुनरेव परस्पर-सापेक्षनयविभाग न मन्यते साध्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबधानाव । कर्मबधानावे समाराभावे मसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध समारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति । एव प्रत्यय-जीवयोरेकातेनैकत्वनिराकरणरूपेण गद्यात्रय गत । अत्राह शिष्य । शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यात तत्रैव सति तथा द्रव्यकर्मणा व्यवहारेण कर्तृत्व तथा रागादिभावकर्मणा च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरैकत्वं प्राप्नो-तीति । नैव । रागादिभावकर्मणा योसो व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसङ्गा भवति द्रव्यकर्मणा भावकर्मणि सह तारतम्य-ज्ञापनार्थं । कथतारतम्यमिति चेत् । द्रव्यकर्माप्यन्तेतानि भावकर्माणि च जेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतना-न्येव । यत कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएव । अयमत्र भावार्थ —द्रव्यकर्मणा कर्तृत्व मोक्तृत्व चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणा चाशुद्धनिश्चयेन । सचाशुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति । एव पुण्य-पापादिसप्तपदीना पीठिकाकूपे महाधिकारे सप्तगाथाभि चतुर्बौताराधिकार समाप्त अत पर जीवेशेण सय बद्ध इत्यादि गाथामादि कृत्वा गाथाष्टकपर्यंत साध्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवपुद्गलनयारेकातेनापरिणामित्व निषेधयन् सन् कथंचित् परिणामित्व स्थापयति । तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय । तदनंतर जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापचकर्मिति पञ्चमस्थले समुदायपातनिका । अथ साध्यमतानुयायिशिष्य प्रति पुद्गलस्य कथंचित्परिणाममभावत्व साधयति ।

कतु कर्माधिकार

टीका—(जह जीवस्स भवणण्णुव भोगो) जैसे ज्ञान दर्शनरूप उपायों से तन्मय है क्योंकि अन्तिम से उल्लेखित के समान वह आत्मा के साथ अनन्य ही देखने में आता है, कभी किसी भी प्रकार उससे भिन्न देखने में नहीं आता। (कोहो वि तह जदि अण्णो) उसी प्रकार यदि एकान्त से क्रोध को भी जीव के साथ अनन्य ही मान लिया जायगा तो (जीवस्स जीवस्स य एवमण्णुत्तमावण्णा) ऐसा मान लेने पर सहज शुद्ध अलण्ड ज्ञान दर्शन उपयोग वाला जीव और अजीव ये दोनों एक हो जायेंगे। (एवमिह जोडु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो) इस प्रकार जो जीव है वही फिर नियम से अजीव समझा जायगा अर्थात् फिर जीव का अभाव ठहरेगा यह बड़ा दूषण आयागा। (अयमेयत्ते दोसो पच्चयणो कम्म कम्माण) और यही जीव अभाव रूप दोष एकात्म रूप से निरजन निजानन्द रूप लक्षण वाले जीव के साथ मिथ्यात्वादि प्रत्यय, कर्म तथा नोकर्म के एकमेक मानने में आयागा। यहा प्राकृत भाषा के कारण प्रत्यय शब्द त्वस्व आया है। (अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवभोगोपपगो हवदि वेदा) अब जब पूर्वोक्त दोष से बचने के लिये क्रोध को जीव से भिन्न मानोगे और क्रोध से विशुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मा को भिन्न मानोगे तो (जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्ण) जब रूप क्रोध जिस प्रकार निर्मल चैतन्य स्वभावमय जीव से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से भिन्न ही ऐसा शुद्ध निश्चयनय से मानना ही चाहिये। इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव को अकर्ता और अभोक्ता तथा क्रोधादि से भिन्न बताने पर दूसरे पक्ष में व्यवहारनय से जीवका कर्तापन, भोक्तापन और क्रोधादिक से अभिन्नपना भी अपने आप आ जाता है। क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों में परस्पर सापेक्षपना है। जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त अपनी दाहिनी आँख से देखता है, तब इस कहने में यह बात भी अपने आप आ जाती है कि वह बाई आँख से नहीं देखता। हा, साख्य या सदाशिव मतानुयायी लोग इस प्रकार के परस्पर सापेक्ष नय विभाग को नहीं मानते हैं उनके मत में जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्ता नहीं होता और क्रोधादि से भिन्न होता है वैसे ही व्यवहार से भी वह अकर्ता और क्रोधादिक से भिन्न ही ठहरता है, ऐसी दशा में जीव का क्रोधादि रूप परिणामन न होने पर जिस प्रकार सिद्धों को कर्म बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी जीव को कर्मबन्ध नहीं होना चाहिये। कर्म बन्ध न होने से ससार का अभाव और उसके अभाव में सदा ही मुक्तपने का प्रसंग प्राप्त होता है जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है क्योंकि ससार तो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। इस प्रकार प्रत्यय और जीव दोनों में एकान्त रूप से एकता मानने का निराकरण तीन गाथाओं में किया।

यहा कोई शका करता है कि आपने ऐसा बहुत बार कहा है कि शुद्ध निश्चयनय से जीव अकर्ता है किन्तु व्यवहारनय से कर्ता भी है। तब आपके कहने से जीव व्यवहारनय से जिस प्रकार द्रव्य कर्मों का कर्ता है उसी प्रकार रागादि भाव कर्मों का कर्ता भी है। तब द्रव्य कर्म और भावकर्म दोनों एक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है अपितु दोनों एक न होकर भिन्न हैं। इस भेद को बताने के लिये ही रागादि भाव कर्मों का कर्तापना बताने वाली व्यवहारनय की अशुद्ध निश्चयनय सज्ञा है जो द्रव्य कर्म और भावकर्मों में तारतम्य रूप से भेद स्थापन करती है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य कर्म तो अचेतन जड़ हैं जब कि भावकर्म विकारमय चेतन रूप हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से इनको (भावकर्मों को) अचेतन ही कहते हैं क्योंकि यह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार कोटि में ही गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य कर्मों का कर्तापन और भोक्तापन जीव में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है किन्तु रागादि भावकर्मों का कर्तापन और भोक्तापन अशुद्ध निश्चयनय से है जो कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा में व्यवहार ही है। इस प्रकार पुण्य पाप आदि

सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में सात गाथाओं से चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।
१२०- १२१- १२२ ॥

अब इसके आगे 'जीवेण सयं बद्धं' इत्यादि गाथा को आदि लेकर आठ गाथा पर्यंत साख्य मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये जीव और पुद्गल के अपरिणामीपन का निषेध करते हुए इनमें किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं । इन आठ गाथाओं में पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से तीन गाथायें हैं । तत्पश्चात् जीव के परिणामीपने की मुख्यता से पांच गाथाएँ हैं । इस प्रकार पाँचवें स्थल में समुदाय पातनिका है ।

अब यहाँ साख्यमतानुयायी शिष्य को लक्ष्य में लेकर पुद्गल के कथञ्चन परिणामी स्वभावपने को सिद्ध करते हैं —

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पुगलद्ववमिणं अपपरिणामी तदा होदि ॥१२३॥
कम्मइयवगणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
जीवो परिणामयदे पुगलद्ववाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी ॥१२५॥ (त्रिकलम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ १२३ ॥
कर्मणवगणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति साख्यसमयो वा ॥ १२४ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं तु परिणामयति ज्ञानी ॥१२५॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य जीव में न तो धाप बघा ही है और न कर्म के रूप में परिणमा ही है ऐसा यदि माना जाय तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरेगा । कर्मवर्गणा स्वयं कर्म रूप से नहीं परिणमती है यदि ऐसा मान लिया जायगा तो फिर संसार का अभाव ठहरेगा और साख्यमत का प्रसंग धायागा । यदि ऐसा माना जायगा कि पुद्गलद्रव्यो को जीव (हठपूर्वक) धाप कर्मरूप में परिणमाता है तो बड़ा यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब पुद्गलद्रव्य स्वयं अपरिणामी है तब जीव उसका कैसे परिणाम सकता है ॥ १२३, १२४, १२५ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्ध नास्ति । कस्मात् संबंधा जीवस्य शुद्धत्वात् एण सयं परिणमदि कम्मभावेण न च स्वयं स्वभावैव कम्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यवेण परिणमति कस्मात् ? सर्वथा निरवयवात् । जदि पुगलद्ववमिण एवमित्थं भूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवता साख्यमतानुसारिणां अपपरिणामी तदा होदि तत कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति । ततआपरिणामित्वे सति किं द्वयं भवति ।

अथ—कार्माखवर्णागमिरपरिणमतीमि कर्मसाधने द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा ससारस्याभाव प्रमजति प्राप्नोति हे शिष्य साख्यसमयवदिति । अथ मत । जीवोपरिणामयदे पुगलवद्वाणि कम्मभावेण जीव कर्ता कर्मवर्गस्यायोग्यपुगल-द्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मसाधने द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति तत कारणात्ससारभावदूषण न भवतीति चेत् ते समयपरिणमत कह तु परिणामयदि शास्त्री ज्ञानीजीव स्वयमपरिणाममान सन् तत्पुगलद्रव्य कि स्वयमपरिणममान परिणममान वा परिणामयेत् । न तावदपरिणममान परिणमयति न च स्वतोसती शक्ति कर्तुं अन्येन पर्येत । तथा जपापुष्पादिक कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तमादौ कि न जनयतीति । अथैकानेन परिणममान परिणामयति । तदपि न घटते । नहि वस्तुशक्त्य परमपेक्षते तहि जीवनिमित्तकर्तागमनरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणामतु । तथा च सति कि दूषण । घटपटस्तत्माविपुगलाना ज्ञानावरणादिकर्मपरिणानि स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोध । तत स्थिता पुगलाना स्वभावभूता कथञ्चित्परिणामित्वशक्ति तस्या परिणामशक्तौ स्थिताया स पुगल कर्ता । य स्वस्य सबन्धित ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणाम पर्याय करोति तस्य सण्णोपादानकारण कलशस्य मृत्पिण्डमिव । न च जीव स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिद । तस्मात्पुगलाद्वधति श्चुद्धपरमात्मभावनापरिणामाभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञानेन गम्यभिदानदैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेय भेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्वधवहारेणापादेयमिति । एव गाथात्रयशब्दाद्यव्याख्यानाने शब्दार्थो जातव्य । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो जातव्य । साख्यप्रति मतार्थो जातव्य । आगमार्थस्तु प्रमिद । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोपि जातव्य । इति शब्दनयमतगमभावाया व्याख्यानकाले यथासमव सर्वत्र जातव्या । एव पुगलपरिणामस्यापानमुख्यत्वेन गाथान्नय गत । साख्यमतानुसारिशिष्य प्रति जीवस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्व साधयति ।

टीका—(जीवेण सय बद्ध) पुगल द्रव्यरूप कर्म अधिकरणभूत जीव मे न तो स्वय बद्ध है क्योंकि जीव तो सदा शुद्ध है और (एण सय परिणमदि कम्मभावेण) अपने आप कर्म रूप से भी अथात् द्रव्यकर्म के पर्याय रूप से भी नहीं परिणमता है क्योंकि वह पुगलद्रव्य भी सदा नित्य है । (जदि पुगल-द्ववमिण्ण) यदि इस प्रकार पुगलद्रव्य को माना जायगा (अप्पणिणामी तदा होदि) तो आप साख्यमत-वालो के मत से यह पुगलद्रव्य अपरिणामी ही हुआ । ऐसी दशा मे (कम्मइय वगणामुय अपरिणमती सु कम्मभावेण) कार्माण वगणाओ के ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप नहीं परिणमन करने पर (ससारस्स अभावो पसज्जद मखसमओ वा) इस ससार का साख्यमत के समान अभाव प्राप्त हो जायगा । (जीवो परिणामयदे पुगलद्ववाणि कम्मभावेण) यदि ऐसा कहा जाय कि जीव हठात् कर्मवर्गणा योग्य पुगल द्रव्यो को ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणमा नेता है अत ससार का अभाव नहीं है (त समयपरिणमत कह तु परिणामयदि शास्त्री) तो वहा यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव जो स्वय अपरिणमन शील है वह उस पुगलद्रव्य को जो परिणमता है वह नहीं परिणमन करते हुए को परिणमता है या परिणमन करते हुए को ? यदि कहा जाय कि नहीं परिणमते हुए को परिणमता है तो यह तो बन नहीं सकती क्योंकि जहा जो शक्ति स्वय मे नहीं है वहा वह शक्ति दूसरे के द्वारा भी नहीं की जा सकती यह अटल नियम है । जैसे जपा पुष्पादिक स्फटिक मणि मे उपाधि को पंदा कर सकती है वैसे काठ के लखे आदि मे नहीं कर सकती क्योंकि उसमे वैसे शक्ति नहीं है । यदि कहा जाय कि एकान्त रूप से परिणमन करते हुए को ही परिणमता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वस्तु मे जो शक्तिया होती है वे (अपने परिणमन मे) दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती ऐसा नियम है । अत जबकि पुगल मे स्वय परिणमन शक्ति है तब तो वह निमित्तकर्ता जीव के बिना ही अपने आप ही कर्म रूप मे परिणमन करते रहना चाहिए, ऐसी दशा मे फिर कार्माण वगणाये जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म के रूप मे परिणमन करती हैं वैसे ही घटपटादि रूप पुगल भी कर्मरूप मे परिणमन करे यह प्रत्यक्ष विरोधरूप दूषण आयागा । अत

यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलो में कथञ्चित् परिणमने की शक्ति सहज स्वभाव से है। जब उनमें यह शक्ति है तो उसका कर्त्ता स्वयं पुद्गल ही है। इस प्रकार अपने सबघो ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म जिस परिणामी को करता है उसका उपादान पुद्गल ही होता है, जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है, किन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों का उपादान जीव नहीं है। जीव तो उसका निमित्त कारण मात्र है जो कि हेय तत्त्व है (अर्थात् जीव का जो भाव, कर्मों का निमित्त कारण होता है, वह भी भ्रान्तस्वरूप होने से हेय तत्त्व है)। उपादेय रूप तत्त्व तो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज शुद्धात्मा ही है जो उस उपयुक्त पुद्गल से भिन्न एवं शुद्ध परमात्मभावना रूप में परिणत ऐसा भ्रमेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा जानने योग्य है और चिदानन्द रूप एक स्वभाववाला है। हा, इस भ्रमेद रत्नत्रय का साधक होने से व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय भी उपादेय है। इस प्रकार तीन साध्याभो के शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ जानना चाहिए, व्यवहार निश्चयरूप से नयार्थ को भी जानना चाहिए। साध्य के लिए मतार्थ का व्याख्यान हुआ। आगम का अर्थ स्पष्ट ही है। हेय और उपादेय के रूप में भावार्थ का भी व्याख्यान हुआ। इस प्रकार शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पांच अर्थों से कथन किया, यह व्याख्यान कालमें यथामभव सर्व ही ठिकाने जानते रहना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल को परिणमन शील बताने के रूप में तीन साध्याभो का व्याख्यान हुआ ॥१२३-१२४-१२५॥

अब साध्य मतानुसारी शिष्य को ममझाते हुए जीव को भी कथञ्चित् परिणामी सिद्ध करने के लिए कहते हैं —

ण सयं बद्धो कस्मै ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२६॥
अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२७॥
पुगलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमतं कह परिणमाएदि कोहत्ता ॥१२८॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धि ।
कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदि मिच्छा ॥१२९॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो ह्वदि लोहो ॥१३०॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।

यद्येषः तब जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२६॥

अपरिणममाने हि स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।

संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२७॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।

तं स्वयमपरिणाममानं कथं परिणामयति क्रोधत्वं ॥१२८॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा तव बुद्धिः ।

क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२९॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।

मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१३०॥

अर्थ—उसी साक्ष्यमानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर आचार्य देव वहते हैं कि हे भाई ! यदि तेरे विचार में यह जीव कर्मों से स्वयं बद्ध नहीं है और क्रोधादि भावों से आप परिणमन भी नहीं करता है तो वह अपरिणामी हुआ । इस प्रकार जीव के अपरिणामी होने पर क्रोधादिक रूप से जीव के स्वयं परिणमन न करने पर ससार के भ्रमाव का प्रसंग आवेगा तब साक्ष्य मन का कहना हो जायगा । यदि ऐसा कहा जाय कि क्रोधरूप जो पुद्गल कर्म है वह जीव को क्रोधरूप में परिणमा देता है तब यहाँ ऐसा विचार आता है कि वह पुद्गल कर्म स्वयं परिणमन करते हुए जीव को क्रोधरूप में कर्म परिणामा सकता है कभी नहीं परिणामा सकता । यदि ऐसा कहो कि आत्मा स्वयं ही क्रोध रूप में परिणमन करता है तब पहले वाला कहना कि क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप में परिणमाता है यह असत्य ठहरेगा इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि जब आत्मा क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् इस आत्मा का उपयोग क्रोधरूप में परिणमन करता है तब आत्मा ही क्रोधरूप होता है, मानसे उपयुक्त होता हुआ मानरूप, माया में उपयुक्त होता हुआ माया रूप और लोभ से उपयुक्त होता हुआ स्वयं लोभरूप होता है ।

तात्पर्यबुक्ति—एण सयं बद्धो कस्मै स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकतेन बद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । एण सयं परिणामविकोहमादीह न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणामति । कस्मादेकानेनापरिणामित्वात् । जदि एसं तुज्जं जीवो अपपरिणामी तदा होदि यदि चेदेय जीव प्रत्यक्षीभूत तव मताभिप्रायेणेत्यभूत एवास्तत् कारणावपरिणाम्येव भवति । अपपरिणामित्वे सति किं दूषणं ? अथ—अपरिणाममाने नति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामे तदा ससारस्याभाव प्राप्नोति हे शिष्य, साक्ष्यसमयवत् । अथ मतं पुद्गलकर्मं कोहो जीव परिणामएदि कोहस पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोधउदयागत कर्ता जीव कर्मतात्पन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् तं सयमपरिणमते क्व परिणामएदि कोहस अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणाममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणाममानं परिणामयेत् । कस्मात् । नहि स्वतोऽमती शक्तिं कर्तुं मन्येन पायंते । नहि जपापुष्पादयः कर्तारो यथा कष्टकाविष्य जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तमादिष्वपि । अथेकतेन परिणाममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमनतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणामतु । कस्मादिति चेत् । नहि वस्तुतस्त्य परमपेक्षते । तथा च सति मुक्तादमनामपि द्रव्यकर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्टमागमविरोधात् । अथ मतं ब्रह्म सयमप्या परिणमति कोहभावेण एषं वे बद्धो अथ पूर्वदूषणमयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमयेथा तव बुद्धि हे शिष्य । कोहो परिणामयये जीवस्स कोहसमिव मिच्छा तर्हि द्रव्यक्रोध कर्ता जीवस्य भावक्रोष्टव परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथाया तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । तत्र स्थित—वधाकारपरिणता मृत्पिण्डपुद्गला घट इव अग्निपरिणताय पिण्डोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधा भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति मायोपयोगपरिणतो माया भवति । लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूतापरिणाममिति । तस्या परिणाममज्ञाते स्थिताया स जीव कर्ता य परिणाममात्मन करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिन्मत्कारणशुद्धभावेन परिणतं सत् सिद्धारथापि भवति ।

किं च विशेष — 'जाव ण वेदिबिसेसतर' इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयो सत्तेष्वव्याख्यानरूपेण गाथाष्टकं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिममपदार्थजीवपुद्गलप्रयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयो कथञ्चित्परिणामित्वे मतिं घटते । तस्यैव कथञ्चित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदं । अथवा सामण्यपक्षव्याख्यानं च उच्यते । इत्यादि गायामतः केषुचिद् पूर्व सामान्यप्रत्यया एवमणुडनिश्चयने कर्म कुर्वतीति न जीव इति जैनमतः । एकतेनाकर्तृत्वे सति साख्यानां समाराभाव-दूषणं तस्यैव समाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदं । कथमिति चेत् । तत्रैकानेन कर्तृत्वाभावे सति समाराभावदूषणं अत्र पुनरेकानेन परिणामित्वाभावे मतिं मसाराभावदूषणं । यतः कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्व भाकृत्व च भ्रम्यते । इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुक्तत्वेन गाथापक्षकं गतं । एवं पुण्यपापादि सप्तपदादानां पीठिकांश्च महाशिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुक्तत्वेनाहगायामि पञ्चमातराधिकारं समाप्तं ।

नथा हि --

अथ—जाव ण वेदि बिसेसतर तु ब्राह्मसवाण वोण्हि । अण्णाणी तावदु इत्यादि गाथाद्वये तावद-ज्ञानी जीवस्वरूपं पूबं भणिणं स चाज्ञानी जीवो यदा विसयकसाययुगात् इत्याद्यनुभोपयोगेन परिणमति तदा पापा-श्लववक्ष्यपदार्थानां त्रयाणां कला भवति । यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां भवदोदये मतिं भोगाकाक्षारूपनिदानबध्दपरिणाम-दानपूजादिनिदानं परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं सत्तेषां सूचितं जइया इनेण जीवेण ब्राह्म-सवाण वोण्हि । एताव होवि बिसेसतर तु इत्यादिगाथाचतुष्टये ज्ञानीजीवस्वरूपं च सत्तेषां सूचितं । स च ज्ञानी जीव शुद्धोपयोगमावरणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणैर्भेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनानाविबोतीरग-सम्पदहृष्टिपूर्त्वा सवरनिर्जंरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि सत्तेषां निरूपितं पूर्वं, निश्चयमभ्यस्तव्यत्वाभावे यदा तु मरागमम्यत्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परपरा निर्विकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदा-र्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं, तत्सर्व जीवपुद्गलयो कथञ्चित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथञ्चित्परिणामि-त्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सत्तेष्वसूचनार्थं पूर्वमेव सत्तेषां निरूपितं । पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितं । तत्रैव कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयो मुणिनो पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सत्तेष्व-सूचनार्थं सत्तेष्वव्याख्यानं कृतं । इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयो मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते । न च जीवाजीव-मुणिरुक्तत्वेनति । किमयमिति चेत् ? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सत्तेष्वसूचनार्थमिति । तत्र जो सग तु मुह्ता इत्यादिगाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण गायानवकपयं तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनंतरं गाथाष्टकं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति पञ्चातरा-धिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्य-भिप्रायं मनसि सप्रधार्येन सूत्रत्रयं प्रतिपादयति ।

टीका — (ग सय बद्धो कम्मे) जीव स्वयं अपने भाव से अधिकरणं भूतं कर्मों से बद्धा हुआ नहीं है क्योंकि वह एकांत से सदा मुक्त है । (ग सय परिणमदि कोहमादोहि) और वह जीव द्रव्यकर्म के उदय के बिना स्वयं भाव क्रोधादि रूप से भी परिणमन नहीं करता है क्योंकि वह एकांत से अपरिणामी है । (जदि एस तुज्ज जीवो अण्णपरिणामी तदा होदि) इस प्रकार यह प्रत्यक्षरूप ससारी जीव भी तेरे अभिप्राय से अपरिणामी ही हुआ (सदा एकसा रहने वाला हुआ) । और मदा एकसा मान लेने पर (अपरिणमते हि सय जीवे कोहादिण्हि भावेहि) उसका स्वयं क्रोधादिक भावरूप से परिणमन न होने (ससारस्स अभावो पसज्जदे सल्लसमभो वा) साख्यमत के अनुसार ससार का अभाव ठहरेगा । यदि कहे कि (पुण्यकर्म कोहो जीव परिणामदि कोहत्त) उदय मे आया हुआ पुद्गलमई द्रव्य क्रोध हठात् इस जीव को भाव क्रोध रूप मे परिणमा देता है—क्रोधी बना देता है । यदि ऐसा माना जायगा तो द्रव्य क्रोध (त सयमपरिणमत्त कहे परिणामदि कोहत्त) इस जीव को क्रोध रूप मे न परिणमन करते

हुए को क्रोधरूप से परिणामाता है या क्रोधरूप से परिणामन करते हुए को ? यदि कहो कि स्वयं क्रोध रूप में न परिणामन करते हुए को क्रोधरूप परिणामाता है तो यह बन नहीं सकता । क्योंकि जिसमें जो शक्ति नहीं है वह दूसरे के द्वारा कभी उत्पन्न नहीं की जा सकती । देखो, जैसे जपा पुष्पादिक का डाक स्फटिक आदि में विकार पैदा करता है वैसे काठ के खम्भे आदिक में नहीं कर सकता । यदि एकान्त से यह कहा जाय कि क्रोधादिक से परिणत होते हुए जीव को ही पौद्गलिक कर्म क्रोधादि रूप से परिणमाने वाला होता है तब तो उदयागत द्रव्य क्रोधादिक के निमित्त बिना ही भाव क्रोधादि रूप से जीव को परिणामन कर जाना चाहिए, क्योंकि वस्तु की शक्तिया दूसरे की अपेक्षा नहीं किया करती ऐसा भ्रूल नियम है । ऐसा होने पर कर्मोदय के बिना होने वाले भाव क्रोधादिक विकार मुक्तात्मा में भी होने का प्रसंग आवेगा । जो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा आगम नहीं कहता । (अहं सयमप्सा परिणामदि कोह-भावेण एस दे बुद्धी) और यदि पूर्वोक्त दूषण के भय से हे भाई ! अगर तुम ऐसा कहो कि द्रव्यकर्मोदय अपेक्षा के बिना ही जीव अपने आप भाव क्रोधादिरूप से परिणामन करता है तो (कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहमिदिमिच्छा) द्रव्य क्रोध जीव को भाव क्रोध रूप से परिणामाता है, ऐसा जो तुमने ऊपर कहा है वह मिथ्या ठहरेगा । इससे यह बात आई कि घटाकार रूप से परिणत मिट्टी के परमाणु ही जैसे घट है अथवा अग्निरूप में परिणत लोह पिण्ड ही स्वयं अग्नि हो जाता है वैसे ही (कोहवज्जुतो कोहो माणुवज्जुतो य माणमेवादा माउवज्जुतो माया लोहवज्जुतो हवदि लोहो) क्रोध उपयोग से परिणत आत्मा स्वयं क्रोध होता है, मान उपयोग से परिणत आत्मा मान होता है, माया उपयोग से परिणत आत्मा माया होता है और लोभ उपयोग से परिणत आत्मा लोभ होता है । इस प्रकार से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जीव की परिणामन शक्ति स्वभाव भूत है । इस परिणामन शक्ति के रहते हुए यह जीव अपने जिस परिणाम को करना है उस भाव का वही उपादान कर्त्ता वह स्वयं होता है और द्रव्य कर्म का उदय उसमें निमित्तमात्र ही है और जब यह जीव निर्विकार चिद चमत्कार रूप शुद्ध भाव से परिणत होना है उस समय यह सिद्ध बन जाता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि 'जावण वेदि विसेसत्तर' इत्यादि रूप से भ्रजानी और ज्ञानी जीव का सक्षेप में व्याख्यान करते हुए पूर्व में जो छ. गाथायें कही थीं, वहां बताया था कि पुण्यपापादि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के परस्पर संयोग रूप परिणाम से सम्पन्न होते हैं । इस प्रकार का कहना जब ही बन सकता है जब जीव और पुद्गल में कथञ्चित् परिणामीपना माना जावे सो यहा उसी ही कथञ्चित् परिणामीपने का ही यह विशेष व्याख्यान है । अथवा "सामण्णपक्कया खलु चउरो" इत्यादि सात गाथाओं में जो पहले बताया था कि शुद्ध निश्चय से मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय ही नूतन कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव नहीं करता । ऐसा जैन मत है । इसको लेकर जीव को सर्वथा एकान्त रूप से अकर्त्ता ही मान लिया जाय तो साह्यो की भाति ससार के अभाव होने का प्रसंग आवेगा । उनी ससार अभाव रूप दूषण का यह विशेष विवरण है । क्योंकि वहां एकान्त रूप से अकर्त्ता मानने पर ससार अभाव का प्रसंग आया था और यहां एकान्त रूप से अपरिणामीपना मानने पर वही ससार अभाव रूप दूषण है । क्योंकि भावकर्म रूप से परिणामन करना ही कर्त्तापना है और उसी का नाम भोक्तापना है ।

विशेषार्थ—इस भूतल पर जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ ऐसे हैं जो न तो सर्वथा नित्य अर्थात् जैसे हैं वैसे ही रहने वाले हैं और न सर्वथा अनित्य अर्थात् और के और हो जाने वाले हैं । कथञ्चित् परिणामनशील हैं, एक दूसरे के निमित्त से परिवर्तन करने वाले हैं । जैसे अग्नि का निमित्त पाकर धी पिघल जाता है, धी का निमित्त पाकर अग्नि की लो भभक उठती है । उसी प्रकार पूर्व कर्म के उदय

का निमित्त पाकर जीव रागद्वेषमय विकार भाव को प्राप्त होता है, तो उसके विकार भाव का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु कर्म रूप में परिणत होकर उसके साथ चिपकते रहते हैं जिससे कि यह जीव नर नारकादि रूप अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है। हा, जब यह जीव उपर्युक्त निमित्त नैमित्तिक भाव को छोड़ कर राग द्वेष रहित होता हुआ स्वस्थ हो जाता है तो उपर्युक्त जन्म मरण के चक्कर से रहित होकर सदा के लिये सिद्ध या शुद्ध हो जाता है।

इस प्रकार जीव का परिणामीपना सिद्ध करने के लिये व्याख्यान की मुख्यता से ये पांच गाथाये पूरी हुई ॥ १२६-१२७-१२८-१२९-१३० ॥

इस प्रकार पुण्य पापादि रूप जो सात पदार्थ हैं उनकी पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल के परिणामीपने की मुख्यता से कथन करत हुए आठ गाथाओं से यह पांचवा अंतर अधिका समाप्त हुआ।

अब “जाव ग वेदि विसंस्तर तु आदासवाण दोण्हपि अण्णाणी तावद्” इत्यादि दो गाथाओं में जो पहले अज्ञानी का स्वरूप बता चुके हैं, वही अज्ञानी जीव जब “विसय कसाओ गाढ” इत्यादि विषय कषायमय अशुभोपयोग में परिणत होता है तब तक पाप, आस्रव और बंध इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है, और जब वही अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और कषायों का मन्द उदय होने पर भोगों की इच्छारूप निदान बंध आदि रूप से दान, पूजादिमय परिणमन करता है उस समय पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। यह कथन सक्षेप से पहले सूचित किया है। इसके आगे “जडया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हपि णाद होदि विसंस्तरतु” इत्यादि चार गाथाओं में ज्ञानी जीवका स्वरूप भी पहले बता चुके हैं। वही ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप में परिणत होने वाला अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उसे भेद-ज्ञान के रूप में जब परिणत होता है, तब निश्चय चारित्र के साथ में अविनाभाव रखने वाला जो वीतराग सम्यग्दर्शन उस रूप होकर सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। ऐसा सक्षेप से पहले बता चुके हैं। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में जब वह राग सम्यक्त्व के रूप में परिणत रहता है उस समय शुद्ध आत्मा को उपादेय मानकर परंपरा निर्वाण के लिए कारण ऐसे तीक्ष्ण प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का कर्ता भी होता है यह भी पहले कह चुके हैं। यह सब बात जीव और पुद्गल इन दोनों में कथंचित् परिणामीपना होने पर ही हो सकती है। यह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्य पापादि सात पदार्थों के सक्षेप वर्णन की सूचना के लिये पहले सक्षेप में कह चुके हैं। जिसका विमेष व्याख्यान फिर जीव और पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान के काल में किया है। वहा इस प्रकार कथंचित् परिणामीपना मिट्ट होने पर ही अज्ञानी और ज्ञानी जीव जो कि गुरु के धारक हैं इन दोनों जीवों के पुण्य पापादि सात पदार्थों के होने की सक्षेप रूप से सूचना देने के लिये ही सक्षेप व्याख्यान किया है। अब यहा ज्ञानमय और अज्ञानमय गुणों की मुख्यता से व्याख्यान किया जाता है किन्तु जीव और और अजीव के गुरु की मुख्यता में नहीं, यह कथन भी उन्हीं पुण्य पापादि सात पदार्थों की सक्षेप सूचना करने के लिये यह सब प्रयास है।

यहा “जो सगु तुमुत्ता” इत्यादि गाथा को लेकर पाठ क्रम में ६ गाथा पर्यंत वर्णन करते हैं। उसमें सबसे पहले तीन गाथा में ज्ञान भाव की मुख्यता में वर्णन है उसके पश्चात् छह (६) गाथा में ज्ञानी जीव का ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानी जीव का अज्ञानमय भाव होता है ऐसा वर्णन है, इस प्रकार छठे अंतर अधिका में समुदाय पातनिका हुई।

वहाँ कथञ्चित् परिणामीपता सिद्ध होने पर ही ज्ञानी जीव ज्ञानभाव का कर्ता होता है ऐसा अग्रिप्राय मन में रख कर आगे तीन सूत्र कहते हैं—

❖जो संग तु मुदत्ता जाणवि उवओगमप्पणं सुद्धं ।

तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥१३१॥

यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमात्मकं शुद्धं ।

तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥१३१॥

अर्थ—जो साधु बाह्य और अन्त्यन्तर दोनों प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने प्रापकी आत्मा को दर्शन ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं ॥१३१॥

तात्पर्यवृत्ति—जो संग तु मुदत्ता जाणवि उवओगमप्पणं सुद्धं य परमसाधुर्बाह्यान्त्यन्तरपरिग्रह मुक्त्वा बीतरागचारित्राविनाशून्यभेदज्ञानेन जानान्यनुभवति । क कर्मतापन्न आत्मान् । कथं भूत विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोग ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण । पुनरपि कथं भूत । शुद्ध भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहित । त णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विति त साधु निस्संग मगरहित विदति जानति वृत्ति कथयति वा । के ते परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

टीका—(जो संग तु मुदत्ता जाणवि उवओगमप्पणं सुद्धं) जो परम साधु बाह्य और अन्त्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर बीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला ऐसे भेदज्ञान से जो अपनी आत्मा को जानता है—अनुभव करता है । कैसा अनुभव करता है कि आत्मा विशुद्ध ज्ञान दर्शनोपयोग स्वभाव वाला होने से उपयोगमय है, ज्ञानदर्शन उपयोग को लिए हुए है । फिर कैसा है कि शुद्ध है, भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित है इस प्रकार (समाधि में स्थित होकर) अनुभव करता है, (त णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विति) उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले गणधर देवादिक संग अर्थात् परिग्रह रहित अत एव निसंग साधु कहते हैं ॥१३१॥

❖जो मोहं तु मुदत्ता जाणसहावाधियं मुणदि आदं ।

तं जिवमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥१३२॥

यो मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानम् ।

तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥१३२॥

अर्थ—जो पर पदार्थों में होने वाले मोह को छोड़कर अपने प्राप को केवलमात्र निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अनुभव करता है । परमार्थ के जानने वाले तीर्थंकरादिक परमेष्ठी उसी साधु को मोह रहित कहते हैं ॥१३२॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मोहं तु मुदत्ता जाणसहावाधियं मुणदि आदं य परमसाधु कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुमपरिग्रहेषु मोह मुक्त्वात्मशुभाशुममनावचनकायव्यापाररूपयोग्यपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति क कर्मतापन्न आत्मान्, किं विशिष्ट ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिक परिणत परिपूर्ण । त जिवमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति त साधु कर्मतापन्न जितमोह निर्मोह विदति जानति । के ते ? परमार्थविज्ञायका

यह आत्मस्थायिनि मे नहीं है ।

तीर्थंकरपरमदेवादय इति । एव माहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मलोभमनोवचनकायबुद्धधृदयशुभाशुभ-परिणामश्रोत्रचक्षुघ्राणसृजिह्वस्पर्शनरसज्ञान विवर्तन मूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमविज्योति परिणते-विनक्षणात्मकेयलोभमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्या । अथ—

टीका—(जो मोह तु मुइत्ता रागमहावाविय मुणदि धाद) जो परम ऋषि समस्त प्रकार के चेतन या अचेतन, शुभ व अशुभ पर द्रव्या मे मोह को छोड़कर शुभ व अशुभ मन वचन, काय के व्यापार रूप तीनों योगों के परिहार (न होने देना) करने रूप अभेद रत्नत्रय के लक्षण के धरने वाले भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करता है । किस प्रकार करता है कि आत्मा विकाश रहित शुद्ध स्वसवेदन ज्ञान से सहित है, परिपूर्ण है, तद्रूप परिणत है इस प्रकार का अनुभव करता है (न जिदमोह साहु परमद्विव्याणया विति) परमार्थ के जाननेवाले तीर्थंकर परमदेवादिक उस साधु को ही माह से रहित हुआ मानते हैं ॥१३२॥

यहां पर जिस प्रकार मोह पद दिया है उसी प्रकार यहां पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, उदय, शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन, इस प्रकार २० पद क्रमसे रखकर २० सूत्रों का व्याख्यान कर लेना चाहिये । इस प्रकार निर्मल परम ज्योति की परिणतसे विलक्षण (विरुद्ध) असंख्यान लाकमात्र विभाव भाव है ऐसा समझ लेना चाहिए ।

❀ जो धम्म तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्ध ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विति ॥१३३॥
य धम्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगात्मकं सुद्ध ।
त धम्मसंगमुक्त परमार्थविज्ञापका विदति ॥१३३॥

अर्थ—जो कोई साधु व्यवहारिक धर्म का छोड़कर शुद्ध ज्ञान दशन उपयोगरूप आत्मा का जानता है उसका परमार्थ का ज्ञान धर्म के परिश्रम रहित जानन है

तात्पर्यवृत्ति—जो धम्म तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्ध य परमयोगीन्द्र स्वमवेदनज्ञान विदत्ता शुभापयोगपरिणामरूप धर्म पुण्यमय स्वकत्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । क कसनापन्न आत्माने । कथंभूत विमुद्रज्ञानदशनापयोगपरिणत । पुनरपि कथंभूत । शुद्ध शुभाशुभमकल्पविकल्परहित । त धम्मसंगमुक्कं परमद्विव्याणया विति । त परमनप्राप्तेन निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मावलम्बपरिनिश्चयमविविलक्षण-भागाकाक्षास्वकृत्पदानवधादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहार श्रमरहित विदति जानति । के ते ? परमार्थविज्ञापका प्रत्यक्षज्ञानिन इति । किं च कथंचित्परिणामित्वे सति ज्ञेय शुद्धापयोगेन परिणमति पञ्चान्माक्ष साधयति परिणामित्वाभावे बद्धा बद्ध एव शुद्धापयोगरूप परिणामान्तरस्वरूप न घटन तत्तच्च मोक्षाभाव इत्यभिप्राय । एव शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुण-व्याख्यानमुख्यत्वेन गावात्रय गत । तदनन्तर यथा ज्ञानमयाज्ञानमयभावद्वयस्य कर्त्ता भवति तथा कथयति ।

टीका—(जो धम्म तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्ध) जो योगीन्द्र शुभ उपयोगरूप धर्म परिणामका भी जीतकर अपने शुद्धात्मा के रूपसे परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान के द्वारा अपने आपको अनुभव करता है कि मैं विमुक्त ज्ञान दशनानपयोगमय हूँ, तथा शुभ अशुभरूप जो सकल्प विकल्प है उनसे रहित शुद्ध है । (त धम्मसंगमुक्कं परमद्विव्याणया विति) उसी परम साधु को परमार्थ यह गाथा आत्मक्याति मे नहीं है ।

के जाननेवाले प्रत्यक्ष ज्ञानी लोग विकार रहित अपनी शुद्धात्मा के उपलब्धरूप को निश्चयधर्म उससे विलक्षणता को लिए हुए ऐसे भोग, आकाशा स्वरूप निदान बब आदिभय पुण्य के परिग्रहवाले व्यवहार धर्म से दूर होने वाला मानते हैं ।

जीव के कश्चित् परिणामीपना सिद्ध होनेपर ही उपर्युक्त प्रकार उसका शुद्धोपयोग में परिणमन सिद्ध हो सकता है । परिणामीपना न माननेपर जीव बधा हुआ है वह बधा ही रहना चाहिये । बधा पर फिर उसका शुद्धोपयोगरूप से परिणमन विशेष होता है वह कभी बन नहीं सकता । अतः ऐसी दशा में मोक्ष का अभाव हो जाना है । इस प्रकार शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि यह जीव ज्ञानमई तथा अज्ञानमई दोनों प्रकार के भावों का कर्ता कैसे होता है —

जं कृणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

णाणिस्स वु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।

ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥ १३४ ॥

धर्म —यह आत्मा जिस समय जैसा भाव करता है उस समय उसी भाव का कर्त्ता वह आत्मा होता है तो ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी (समारी) के अज्ञानमय भाव होता है ॥ १३४ ॥

तात्पर्यवृत्ति —ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स य भाव परिणाम करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्त्ता भवति एणस्सिस्स वु णाणमओ स च भावोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्वोत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वाभापरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मव्याप्तिप्रतीतिसविरयुपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति अण्णाणमओ अणाणिस्स अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः । अथ ज्ञानमयभावात्कन भवति किमज्ञानमयादम्बनीनि प्रण्ये प्रत्युत्तरमाह ।

टीका — (ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स) यह आत्मा जैसे अपने भाव करता है उस समय वह अपने भाव रूप कर्म का कर्त्ता होता है । सो (एणस्सिस्स एणमओ) अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय है लक्षण जिसका ऐसे कार्य समयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि रूप परिणाम से परिणत रहने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सब प्रकार के आरम्भ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, सवित् उपलब्ध या अनुभूति रूप से ज्ञानमय ही होता है । (अण्णाणमओ अणाणिस्स) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय ही होता है ॥ १३४ ॥

विशेषार्थ —जो आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है । किन्तु जो अनन्त चतुष्टय को प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिए निर्विकल्प समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्य समयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है । जो सब प्रकार के आरम्भ परिग्रह आदि में रहित होकर अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति को

लिये हुए होता है अतः उसके रागद्वेष आदि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है किन्तु जो समाधि से व्युत्पन्न होकर रागद्वेषादि से परिणत रहता है उसके ज्ञान शुद्ध न होकर अशुद्ध होता है अतः उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है ।

आगे ज्ञानमय भाव से क्या फल हाता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है सा कहते हैं —

अण्णामओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।

णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥ १३५ ॥

अज्ञानमयो भावो ज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।

ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात् कर्माणि ॥ १३५ ॥

अर्थ — अज्ञानी रागीद्वेषी जीव के (आतंरोद्वारूप) अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे वह कर्मों को करता रहता है, किन्तु ज्ञानी विरागी या समाधिस्थ जीव के ज्ञानमय भाव ही होता है (आतंरोद्वारिणाम से रहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणाम ही होता है) अतः वह ज्ञानी किसी भी प्रकार का कर्म नहीं करता है ॥ १३५ ॥

तात्पर्यवृत्ति — अण्णारामओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावात् प्रथमम् । कम्मात् । यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि वरात्यज्ञानी जीव । णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ज्ञानिनस्तु निर्विकारचित्तमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी जीव कर्माणि न करोतीति । किं च यथा स्तोकाप्यमिन् नृणांकाष्ठराशि महानमपि क्षणमात्रेण दहति । तथा त्रिमुक्षिमार्थिनक्षरा भेदज्ञानाग्निरनमुहूर्तानपि बहुमयमन्त्रित नगराणि दहतीति ज्ञात्वा सबन्तात्पर्येण तत्रैव परममाधो भावना वनव्यति भावाय ।

अथ ज्ञानमय एव भावा भवति ज्ञानिना जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमय किमयमिति चेत् ।

टीका — (अण्णारामओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि) अज्ञानी जीव के आत्मा की उपलब्धिरूप भावना में विलक्षणपना होने के कारण अज्ञानमय भाव ही होता है जिससे कि वह उस अज्ञानभाव से कर्मों को करता है । (गारामओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि) किन्तु ज्ञानी जीव तो विकार रहित चेतना के चमत्कार रूप भावनामय होकर रहता है अतः उसके ज्ञानमई भाव होता है । उस ज्ञानमई भाव से ज्ञानी जीव कर्मों को नहीं करता है (अर्थात् स्वस्थ होकर रहता है) । भावार्थ यह है कि जैसे घोड़ी भी अग्नि बड़े भारी तृण काष्ठ के ढेर को क्षणमात्र में भस्म कर देती है उसी प्रकार तीन गुप्तिरूप समाधि के लक्षण को रखने वाली भेदज्ञानरूपी अग्नि एक अतमुहूर्त मात्र में अनेक भवों में संचित किये हुए कर्म समूह को नष्ट कर देती है । यह जानकर होंसके जिस प्रकार मुमुक्षु साधु को उस परम समाधि में भावना करनी योग्य है ॥ १३५ ॥

ज्ञानी जीव के ज्ञानमई भाव हाता है अज्ञानमई भाव नहीं, वैसे ही अज्ञानी जीव के अज्ञानमई भाव होता है ज्ञानमई नहीं ऐसा आगे कहते हैं —

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।

जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥ १३६ ॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।

तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अण्णाणस्स ॥१३७॥

ज्ञानमया-द्व्वावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१३६॥

अज्ञानमया-द्व्वावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।

तस्मात्सर्वे भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१३७॥

अर्थ—ज्ञानी जीव के सब ही भाव ज्ञानमय ही होते हैं क्योंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है । इसी प्रकार अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है, अतः अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं ॥ १३६-१३७ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—**एणाणमयाभावाओ एणाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा** ज्ञानमयात् भावात् निश्चयः रत्नत्रयात्मक-त्रयात्मकजीवपदार्थज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावातिवक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा णाणस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वमवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावा परिणाम ज्ञानमया ज्ञानेन निवृत्ता भवन्ति तदपि कस्मात् उपादानकारणमदृश कार्यं भवतीति वचनात् तद्वि यवनालंबीये वयिते राज्ञान्शालिकस भवतीति तथैव च—**अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो** अज्ञानमयाद्भावाजीवपदार्थान् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अण्णाणस्स** यत एव तस्मात्कारणात्सर्वे भावा परिणामा अज्ञानमया मिध्यात्वरागादिरूपा भवन्ति । कस्य अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिध्यादृष्टे जीवस्येति । अथ तदेव ध्याख्यान दृष्टानदाष्टानाम्भा समर्थयति ।

टीका—(णाणमया भावाओ एणाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा) कयोकि निश्चय रत्नत्रयात्मक जीव पदार्थ रूप ज्ञानमय भाव से स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पर्यायरूप ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है (तम्हा एणाणस्स सव्वे भावा दु गाणमया) इसलिये स्वसवेदन रूप भेदज्ञान वाले जीव के सभी भाव उम ज्ञान के द्वारा समुपन्न हुए ज्ञानमय ही होते हैं । कयोकि उपादान कारण के सहज कार्य होता है यह महापुरुषो की मानी हुई बात है । देखो कि यव (जौ) के बोने पर वासमती चावल पैदा नहीं हो सकता (अपितु जौ के बोने से जौ ही पैदा होता है) । इसी प्रकार (अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो) अज्ञानमय (रागद्वेष विशिष्ट) जीव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है । इसलिए (तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अण्णाणस्स) शुद्धात्मा की उपलब्धि मे रहित ऐसे अज्ञानी मिध्या-दृष्टि जीव के सभी भाव मिध्यात्व या रागादिरूप अज्ञानमय परिणाम ही होते हैं ॥१३६-१३७॥

इम कथन को दृष्टात दाष्टात द्वारा समझाते हैं—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।

अयमययाभावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो बहुविहा वि जायंते ।

णाणिरस दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३९॥ (युग्गमु)

कनकमयाद्भावाज्जायते कुंडलादयो भावाः ।

अयोमयकाद्भावाद्यथा जायते तु कटकादय ॥१३८॥

अज्ञानमयाद्भावाद्ज्ञानिनो बहुविधा अपि जायते ।

ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥१३९॥

अर्थ — जैसे मोन की मिल्नी से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं, और लोहे के टुकड़े से कड़ाही आदि बनती हैं । उसी प्रकार अज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकार के अज्ञान भाव होते हैं । किन्तु ज्ञानी जीवके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं ॥१३८-१३९॥

तात्पर्यवृत्ति — कनकमयाद्भावात्पदार्थात् “उपादानकारणसदृश कार्य भवतीति” कृत्वा कुंडलादयो भावा पर्याया कनकमया एव भवन्ति । अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थात् अयोमया एव भावा पर्याया कटकादयो भवन्ति यथा येन प्रकारेणैति दृष्टानयाथा गता । अथ दाष्टीतमाह । **अथग्राणेति** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टातेनाज्ञानमयाद्भावाश्जीव-पदार्थादज्ञानिनो भावा पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायते । तर्ह्येव च पूर्वोक्तजाबूनददृष्टातेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमया सर्वे भावा पर्याया भवन्ति । किं च विस्तरं वीतरागस्वसवेदनभेदज्ञानी जीव य शुद्धात्म-भावनारूप परिणाम करोति स परिणाम सर्वोपि ज्ञानमया भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन सारस्थितिं हित्वा देवैर्ब्रह्मात्मिकादिमहाहंकारदेवा भूत्वा घटिकादयेन मत्तिथ्युत्पत्तिरूप ज्ञानमयभाव पर्याय लभत । ततश्च विमानपरिवा-रादिबिभूति जीर्णोत्पत्तिमिव गणयत्पञ्चमहाविदेहे गत्वा पश्यति । किं पश्यतीति चेत्, तदिदं समवसरणं त एते वीतराग-सर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणवरदेवादयो यं पुत्र श्रूयते परमागमे ते दृष्टा प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढमममतिभूत्वा तु चतुष्टयगुणस्थानयोग्यशुद्धभावनामपरिणत्यज्जिन्नतर धर्मध्यानेन देवलोकां काल गमयित्वा, पश्चा-न्मनुष्यमिव राजाधिराजमहाराजाऽहमहंश्लोकमहामहंश्लोककलदक्कामदेवचक्रवर्त्तिनीशकरपरमदेवादियदे लब्धेपि पूर्वभवभा-सनाभावमितिशुद्धात्मरूप भदभावनाबलेन साह न गच्छन्ति रामपादवादिवत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा मत्तिचतुर्ज्ञान-मयभाव पर्याय लभते । तदन्तरं ममन्तपुण्यपापपरिणामपरिहारापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थमुक्तामृतरसेन तुमा भूत्वा सर्वानिगमपरिपूगनाकचयाधिपाराध्य परमाचित्य-विभूतिविशेष कवलज्ञानरूप भाव पर्याय लभत इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादियमज्ञानभाव कृत्वा नरनारकादिरूप भाव पर्याय लभत इति भावाय । एव ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुक्तत्वेन गाथाव्यक्तं गत । इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यापापादिसमपदार्थानां पीठिकात्परेण महाधिकारे कथितस्पर्शानामित्वे मति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तर्ह्येव चाज्ञानिजीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति व्याख्यानमुक्तत्वा गाथानवकेन दृष्टोत्तराधिकारं समाप्त ।

अथ पुनर्निष्ठा एवाज्ञानमयभावा द्वयभावगतपञ्चप्रत्ययरूपेण पञ्चविधा भवति मचाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय दृष्टराजमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसवेदनज्ञाननाज्ञाननग्नमव परमममाधिरूपेणाभावयतश्च बचकारणं भवतीति मसमानराधिकारे समुदायपातनिष्ठा —

टीका — उपादान कारण क समान ही कार्य होता है इस सिद्धान्त का लेकर स्वर्णमय पदार्थ से स्वर्णमय ही कुंडलादिक पर्याय उत्पन्न होती हैं परन्तु लोहे के टुकड़े से लोहमय कड़ाही आदि ही बनते हैं । उसी प्रकार पूर्वोक्त लोहे के दृष्टान्त को लेकर अज्ञानमय जीव से अनेक प्रकार की मिथ्यात्व या रागादिक रूप अज्ञानमय अवस्थाएं होती हैं, और स्वर्ण के दृष्टान्त से विकार रहित ज्ञानीजीव के सभी परिणाम ज्ञानमय होते हैं । इस कथन का विस्तार यह है कि वीतराग स्वसवेदनरूप भेद ज्ञानी जीव

जिस शुद्धात्मा के भावनारूप परिणाम को करता है वह परिणाम सर्व ही ज्ञानमय होता है, जिससे कि वह ससार की स्थिति को कम करके देवेन्द्र या लौकिक आदि सरीखा महद्विक देव उत्पन्न होता है, वहाँ दो घड़ी में ही सुमति, सुश्रुत और भवविज्ञान रूप ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त होता है। तब वह उस प्राप्त हुई विमान और परिवार आदि की विभूति को जीर्ण तृण के समान मानता हुआ पञ्च महा विदेह क्षेत्र में जाता है, वहाँ वह देखता है कि यह समवधारण है, ये बीतराग सर्वज्ञ देव हैं, तथा ये सब भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधरादिक देव हैं, जिनका वर्णन पहले परमागम में सुना था वे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। ऐसा जानकर वह धर्म में धर्ममय दृढ़ विचार वाला हो जाता है। इस प्रकार चौथे गुण-स्थान के योग्य शुद्ध भावना को नहीं छोड़ता हुआ वह उस देवलोक में (यथोचित) धर्मध्यान से समय व्यतीत करता है। उसके बाद मनुष्य होता है तब राजाधिराज, महाराज, अर्द्धमंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, और तीर्थंकर, परमदेव आदि पद के प्राप्त होने पर भी पूर्व भव की वासना को लिये हुये शुद्धात्मस्वरूप भेदभावना के बल से मोह को प्राप्त नहीं होता। जैसे राम और पांडव आदि। फलतः वह अन्ततः जिन दीक्षा को ग्रहण करके सप्तर्द्धि (सात प्रकार की ऋद्धि) सहित चार ज्ञान रूप अवस्था को प्राप्त कर लेता है। फिर समस्त प्रकार के पुण्य और पाप रूप परिणामों के त्याग स्वरूप अभेदरत्न-त्रयात्मक द्वितीय शुल्कध्यानमय विजिह्वित भेदभावना के बल से अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये मुलामृत रस से तृप्त होकर सब तरह के अतिशयो से परिपूर्ण तथा तीन लोक के स्वामियों द्वारा भी आराधना करने योग्य एवं परम अचिन्त्य विभूति विशेष से युक्त केवलज्ञानात्मक पर्याय को प्राप्त कर लेता है। किन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और रागादिमय अज्ञान भाव को प्राप्त करके नर नारकादि रूप अवस्था को ही प्राप्त होता रहता है ॥ १३८-१३९ ॥

विशेषार्थ -- आचार्य देव ने यहाँ यह बतलाया है कि अग्रमत्त अवस्था को प्राप्त ज्ञानी जीव अपने समीचीन समाधिरूप ज्ञानभाव के द्वारा प्रथम तो उसी क्षण परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है, यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह स्वर्ग में जाकर लौकान्तिक देवादि विशेष पदों को प्राप्त करता है। तदनंतर तीर्थ-करादि रूप नरोत्तम पद को प्राप्त होकर उसी भव से परम समाधि द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह जीव अज्ञानी दुराचारी व्यक्ति के समान नरक निगोदादि दुर्गंतियों को कभी प्राप्त नहीं करता। किंच यहाँ टीका में आये हुये शुद्धात्मा की भावना का अर्थ कुछ महानुभाव शुद्ध उपयोग करते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा की भावना व शुद्धोपयोगी में इतना ही अन्तर है जितना कि विद्यार्थी और अध्यापक में है। शुद्धात्मा की भावना अलब्धोपलप्सा (नहीं प्राप्त हुई वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता) रूप होने से अचिन्त सम्यग्दृष्टि आदि के भी होती है। किन्तु शुद्धोपयोग तो शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अतः वह अग्रमत्त दशा में ही हो सकता है उससे पहले नहीं, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है —

“सुविदिदपत्यसुतो सजमतवसजुदो विगदरागो ।

समणो सम मुहुह्लो अणिदो सुदोवधोर्गोत्ति ॥

इस प्रकार ज्ञानमय भाव और अज्ञानमय भाव के कथन की मुख्यता से छह गाथा पूर्ण हुई। इसके साथ ही साथ उक्त प्रकार से पुण्य पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप जो महाधिकार शुरू किया गया था उसमें यह बताते हुये कि कथंचित् परिणामित्व होने पर ही ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभाव का और अज्ञानी जीव अपने अज्ञान भाव का कर्त्ता हो सकता है। इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओं के द्वारा छठा अन्तराधिकार भी समाप्त हो गया।

अब ध्याने यह बताते हैं कि वह पूर्वोक्त अज्ञान भाव ही द्रव्य और भावरूपात्मक मिथ्यात्वादि प्रत्ययों के द्वारा पाँच प्रकार का होता है। वह अज्ञानभाव-‘शुद्ध भात्मा ही उपादेय है’ इस प्रकार की कृत्ति को नहीं रखने वाले तथा उसी अपनी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने वाले एवम् उसी अपनी शुद्धात्मा को परम समाधि रूप (निष्कल्प भाव) से नहीं अनुभव करने वाले अज्ञानी जीव के—कर्मबन्ध का कारण होता है, यह सप्तम महाधिकार में बनाया जायगा उसकी यह उत्पत्तिका है।

मिच्छतस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसहहण ।

असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्त ॥१४०॥

अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।

जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥

त जाण जोग उदअं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छओ ।

सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१४२॥

एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।

परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावोहिं ॥१४३॥

त खलु जीविणिबद्ध कम्मइयवग्गणागयं जइया ।

तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाण ॥१४४॥ (पंचकम्)

मिथ्यात्वस्य तूदयो यज्जीवानामतत्त्वश्रद्धानम् ।

असयमस्यतूदयो यज्जीवानामविरतत्वम् ॥ १४० ॥

अज्ञानस्यतूदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।

यस्तु कषायोपयोग स जीवाना कषायोदयः ॥१४१॥

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तुच्छोत्साहः ।

शोभनोऽशोभनो वा कर्त्तव्यो विरतिभावो वा ॥१४२॥

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागत यत्तु ।

परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिमार्गैः ॥१४३॥

तत्खलु जीविनिबद्ध कार्मणवर्गणागत यदा ।

तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥१४४॥ (कुलकम्)

अर्थ—जीवों के जा अतत्त्वरूप श्रद्धान होता है, वह मिथ्यात्व का उदय है, उनके (जीवों के) जो त्याग भाव का प्रभाव है वह असयम का उदय है, इसी प्रकार उनका जो स्वरूप का अन्वया जानना है वह अज्ञान का उदय है

तथा जो जीवों के उपयोग का रूपापन है वह कषाय का उदय है और जो जीवों के शुभाशुभ रूप मन वचन काय की उत्साहात्मक प्रेरणाविशेष होती है वह योग का उदय है । उपर्युक्त पात्रों में से किसी के भी होने पर जो कर्मवर्गणाद्यो का समूह धाता है वह ज्ञानावरणादि के रूप में षाठ प्रकार का होकर अवश्य ही जीव के साथ सम्बद्ध होता है उस समय उन मिथ्यात्वादि भावों का यह जीव कारण होता है ॥१४०-१४४॥

तात्पर्यवृत्ति—**मिच्छत्सस्तु उदय ज जीवाण अतच्चसहृण्य** मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनत-
ज्ञानादिचतुष्टयरूप शुद्धात्मतत्त्वमुपादेय विहायान्यत्र यच्छब्दान् हचिक्पादेयबुद्धि असज्जमस्तुउदयो जं जीवाणं
अविरदत्त असपमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसवित्पमात्रे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्तनमिति । अथ—
अण्णाणस्स दु उदयो जं जीवाण अतच्चउवल्लडी भ्रजानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञान विहाय जीवाना विपरीत
रूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धि प्रतीतिः **जो बु कसाउवधोगो सो जीवाण कसाउवधो** स जीवाना कषायेभ्यो भवति
य शातात्मोपलब्धिलक्षण शुद्धोपयोग विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोग परिणाम इति । अथ—**त जाण जोग उदय**
ज जीवाण तु चिट्ठउच्छाहो त योगोदय जानीहि त्व हे शिष्य जीवाना मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यान्तरायभयो-
पशमजनित कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षण प्रयत्नरूपेण यस्तु चेत्तोत्साहो व्यापारोत्साह **सोहणमसोहण वा**
कायधो विरिभावो वा स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति तत्र व्रतादिकतत्त्वरूप शोभन पञ्चावव्रतादिरूपो
वर्जनीय म चाशोभन इति । अथ—**एवेसु हेतुभूवेसुकम्मइयवगणानगमं ज तु** एतेषु पूर्वोक्तोप उदयागतेषु हेतुभूतेषु
यत् मिथ्यात्वादिवचनप्रत्ययेषु कर्मण्यवगणागत परिणत यदभिमत नवतर पुद्गलद्रव्य **परिणामवे भट्ठहि गाणावरण-**
विभावेहि जीवस्य सम्प्रत्यर्शनज्ञानचरित्रैः कपरिणितरूपपरमसामयिकामात्रे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाप्यविध
परिणमतीति । अथ—**त सल्ल जीवणिवद्ध कम्मइयवगणानगमं जइया** नत्पूर्वोक्तभूतोदित कर्मवर्गणायांयमनिव
पुद्गलद्रव्य जीवनिवद्ध जीवसंबद्ध योगवशेनागत यदा भवति सल्ल स्फुट **तइया बु होवि हेतु जीवोपरिणामभावाण** तथा
काले पुर्वोक्त पुद्गलागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु यस्तु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतु कारण भवति केवा परिणाम-
रूपाणा भावना प्रत्ययानामिति । किंच उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरगादि भावप्रत्ययरूपेण परिणाम्य जीवो
नवतरकर्मवधस्य कारण भवतीति तात्पर्य । अथमत्र भावार्थ—उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीव स्वस्वभाव मुक्त्वा
रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बंधो भवतीति नैवोदयमात्रेण बोधोपसर्गोप पाह्वापिबत्, यदि पुनर्कदय-
मानेन बंधो भवति तदा सर्वदैवं ससार एव । कस्मादिति चेत् ससारिणा सर्वदैवं कर्मोदयस्य विद्यमानत्वम् । इति
पुण्यपापादिसप्तपदायाना पीठिकारूपे म्हाधिकारैःज्ञानिभाव पञ्चप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युताना जीवाना बंधकारण
भवतीति व्याख्यानमुच्यत्वेन पञ्चगाथाभि सतमोन्तराधिकार समाप्त ।

अतः पर जीवपुद्गलभ्यो परस्पोषादानकारणनिषेधमुच्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमांतराधिकारो समुदाय पातनिका ।
अथ निष्कर्षेन कर्मपुद्गलतात्पर्यमभूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति ।

टीका—(मिच्छत्सस्तु उदय ज जीवाण अतच्चसहृण्य) अनन्तज्ञानादिचतुष्टय रूप शुद्धात्म-
तत्त्व उपादेय है उसे छोड़कर जीवों की जो और और हचि हो जानी है (उपादेय बुद्धि वन जाती है)
वह मिथ्यात्व का उदय है (असज्जमस्तु उदयो ज जीवाण अविरदत्त) आत्मोत्थ मुख के सम्बेदन के अभाव
होने पर जो विषय कषायों से दूर नहीं होना है वह ससारी जीवों के असयम का उदय है । (अण्णाणस्स
दु उदयो ज जीवाण अतच्चउवल्लडी) भेदज्ञान को छोड़कर जीवों के विपरीतरूप में जो परद्रव्यों के साथ
एकत्व को उपलब्धि है (प्रतीति हो रही है) वह भ्रजान का उदय है । (जो बु कसाउवधोगो सो जीवाण
कसाउवधो) आत्मा की शात अवस्था रूप शुद्धोपयोग को छोड़कर जो जीवों का क्रोधादि कषायरूप मलिन
परिणाम होता है वह कषाय का उदय है । और (त जाण जोग उदय ज जीवाण दु चिट्ठउच्छाहो)
जीवों के मन, वचन, कायकी वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को लिये हुये प्रयत्नरूप (आत्मा

के प्रदेशों का परिस्पद रूप) जोकि कमग्रहण करने का हेतु होता है हे शिष्य । उस व्यापार रूप उत्साह को तुम योग का उदय समझो । वह (सोहणमसोहण वा कायब्बो विरदिभावो वा) योग शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का है । जो व्रतादिक का कर्त्तव्य मानकर उनके करने में उत्साह होता है उसे शुभ योग कहते हैं तथा जो नहीं करने के योग्य अवतारि रूप में उत्साह है उस अशुभ योग कहते हैं । (एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गसा गय ज तु) इन निर्मितभूत मिथ्यात्वादि पाच प्रत्ययों के होने पर कर्मवर्गणा रूप नूतन पुद्गलद्रव्य (परिणमदे अट्टविह गारावागगादिभावेहि) जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की एकतारूप परिणति को लिये हुये जो परम सामायिक भाव है उसके न होने पर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के रूप में घाट प्रकार का परिणमन करता है । (त खलु जीव-रिणबद्ध कम्मइयवग्गसा गय जइया) वह पूर्व सूत्रकथित कर्मवर्गणायोग्य नूतन पुद्गलद्रव्य योग के द्वारा आकर अवश्य ही जीव के साथ में जब सम्बद्ध होता है (तइया दु होदि हेदु जीवो परिणाम भावाण) उस समय पूर्वकथित उन उदय में आये हुये पाच प्रत्ययों के निमित्त रूप होने पर अपने अपने गुणस्थान के अनुसार होने वाले अपने परिणाम रूप भाव प्रत्ययों का यह जीव कारण बनता है अर्थात् उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्ययों के निमित्त से जब यह जीव मिथ्यात्व या रागादिरूप भाव प्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है तब नूतन कर्मबन्ध का कारण होता है । इस कथन का सारांश यह है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय होने पर यदि यह जीव अपने सहज स्वभाव को छोड़कर रागादिरूप भाव प्रत्ययों के रूप में परिणमन करता है, तभी नूतन बन्ध होता है, केवल द्रव्य प्रत्ययों के उदय मात्र से किसी भी सकल काल में भी नूतन बन्ध नहीं होता । जैसे कि पाइवों के नहीं हुआ । यदि उदय मात्र से ही बन्ध मान लिया जाय तब तो इस जीव के ससार सदा ही बना रहेगा, क्योंकि समांगी जीव के कर्म का उदय तो सदा बना ही रहता है ॥१४०-१४१-१४२-१४३-१४४॥

विशेषार्थ—मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने सामान्य रूप से अज्ञान भाव को बन्ध का कारण बताया है, और उसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और याग ये चार उत्तरभेद किये हैं । जैसा कि आत्मव्याक्तिकार ने अपनी लेखनी से लिखा है और मूल ग्रन्थकार भी पहले बता आये हैं किन्तु तात्पर्य-वृत्तिकार ने अज्ञान भाव सामान्य को भी मिथ्यात्वादि चार विशेषों के साथ मिला कर पाच प्रत्यय बन्ध के कारण हाते हैं ऐसा बताया है ।

इस प्रकार पुण्यपापादि सप्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में पाच प्रत्ययों के रूपों से जो शुद्धात्मा के स्वरूप से व्युत्पन्न होने वाले जीवों के अज्ञान भाव होता है, वही बन्ध का कारण होता है, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पाच गाथाओं द्वारा सातवा अष्टाधिकार समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे आठवा अधिकांश है उसमें जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर में उपादान कारण नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से तीन गाथाये हैं । उसमें आचार्य देव प्रथम यह बताते हैं कि निश्चयन में देखा जाय तो जीव का जो परिणाम है वह कर्मपुद्गलों में पृथक् भूत ही है ।

जीवस्स वु कम्मेण य सह परिणामा दु होति रागादी ।

एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१४५॥

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागामादीहि ।

ता कम्मोदय हेव्वहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः सन्तु भवति रागादयः ।

एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादिस्वभावात् ॥ १४५ ॥

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।

तत्कर्मादयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥ १४६ ॥

अर्थ—जीव के जो रागादि विकार भाव होते हैं वे वैसे ही यदि वास्तव में कर्म के भी होते हो तो जीव और कर्म ये दोनों ही रागादिमात्र होने चाहिए किन्तु ऐसा होना नहीं । यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें तो कर्मादय के बिना भी हो जाने चाहिए ।

तात्पर्ययुति—जीवस्स तु कम्मेषु य सह परिणामा दु होति रागादी यदि जीवस्योपादानकरणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवति । एव जीवो कम्मं च दोवि रागादिभावण्णा एव द्वयोर्जीवपुद्गलया रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुखाहरिद्रयोरेव द्वयोरागित्वं प्राप्नोति । तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति य च प्रत्यक्षविरोध इति । अथ—एकस्स तु परिणामो जायति जीवस्स रागमादीहि अयमिन्द्रियाभ्यामिन्द्रियेण जीवस्स परिणामो तस्मादिदं रूपं कर्मादयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अथवा द्वितीयव्याख्यान एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मादयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मन्येव । किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासङ्गत्वव्यवहारेण कर्ता जीव रागादिभावकर्मणामनुपचरितासङ्गत्वविषयभूतस्यानुपचरितासङ्गत्वव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसत्ता लभते । तथापि शुद्धतमद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः । अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकमल परिणाम इति निरूपयति ।

टीका—(जीवस्स तु कम्मेषु य सह परिणामा दु होति रागादी) रागादि भाव जो होते हैं उनका उपादान कारण जीव होता है, कर्म उदय नहीं (किन्तु कर्मादय तो निमित्तरूप से उनके साथ रहना है) । यदि कर्मादय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाय तब तो (एव जीवो कम्मं च दोवि रागादिभावण्णा) जीव और पुद्गल इन दोनों में ही रागादिक होते हुए प्रतीत होने चाहिये जैसे कि चूना और हल्दी इन दोनों के मेल से पंदा हुई लालिमा दोनों की होती है । वैसे ही कर्म और जीव दोनों ही रागादि के उपादान कारण हो तो दोनों में राग भाव आना चाहिये । ऐसा होने पर फिर पुद्गल का भी चेतनपना प्राप्त हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष में विरुद्ध है । (एकस्स तु परिणामो जायति जीवस्स रागमादीहि) और उपर्युक्त दोष से बचने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि रागादिक परिणाम उपादानभूत एक जीव का ही परिणाम है (उसमें कर्मादय का कुछ भी हाथ नहीं है) (ता कम्मोदय हेतुहि विणा जीवस्स परिणामो) तब तो फिर कर्मादय के न होने पर शुद्ध जीव में भी वह रागादि रूप परिणाम पाया जाना चाहिये, जो कि प्रत्यक्ष व आगम इन दोनों से विरुद्ध है । अथवा दूसरी प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि उपादान रूप में तो रागादि भावों का कारण जीव ही होता है, कर्मादय रागादिक में उपादान कारण नहीं होता, यह ठीक ही है । सारांश यह है कि द्रव्य कर्मों का कर्ता तो यह जीव अनुपचरितासङ्गत व्यवहार नय से होता है और रागादि भाव कर्मों का कर्ता अशुद्ध निश्चयनय से होता है । अशुद्ध निश्चयनय जीव को द्रव्य कर्मों का कर्त्तापना बताने वाले अनुपचरितासङ्गभूत व्यवहार नय की अपेक्षा में यद्यपि निश्चय नाम को पाता है, फिर भी शुद्धतम द्रव्य को विषय करने वाले शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा में वह वास्तव में व्यवहार नय ही माना गया है ॥ १४५, १४६ ॥

प्राये बताते हैं कि पुद्गल कर्म का जो परिणाम है वह वास्तव में जीव से पृथक् ही है ।

जइ जीवेण सहच्चिय पुगलदब्बस्स कम्मपरिणामो ।

एवं पुगलजीवा हू दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१४७॥

एकस्स दु परिणामो पुगलदब्बस्स कम्मभावेण ।

ता जीवभावहेतूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४८॥ (युग्मम्)

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।

एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥ १४७ ॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।

तज्जीवभाव हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४८॥

अर्थ — इसी प्रकार यदि जीव सहित पुद्गल द्रव्य का परिणाम कर्म रूप हो तो पुद्गल और जीव ये दोनों कर्मरूप में एकपने को प्राप्त हो जाना चाहिये, और यदि अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप में हो तो जीव के रागादि भावों के बिना ही हो जाना चाहिये, सो भी नहीं होता है ॥१४७-१४८॥

तात्पर्यवृत्ति — एकस्स परिणामो पुगलदब्बस्स कम्मभावेण एवम्यापादानभूतस्य कम्मवर्णायोम्यपुद्गल-द्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत एव ता जीवभावहेतूहि विणा कम्मस्स परिणामो तस्मात्कारणाज्जीवगत-मिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुविनापि द्रव्यकर्मणः परिणामः स्यात् ।

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकांशे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेध-मुख्यतया साक्षाद्वेद्याष्टमोत्तराधिकारः समाप्तः ।

अत्रानंतर व्यवहारेण बद्धो निश्चयनाबद्धो जीव इत्यादिबिबल्परूपेण नयपक्षपातन स्वीकारण रहित शुद्धपरिणामिकपरमभाववाहकेन शुद्धद्रव्याधिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थ-भ्यो भिन्न शुद्धममयमार साक्षात्पुण्येन कथयतीति नवमन्याधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा अथ किमात्मनि बद्धसृष्ट निमबद्धसृष्ट तर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह ।

टीका — (एकस्स दु परिणामो पुगलदब्बस्स कम्मभावेण) उपादान भूत कर्म वर्गंगा योम्य अकेले पुद्गल द्रव्य का ही परिणाम कर्म रूप में होता हो तो (ता जीवभावहेतूहि विणा कम्मस्स परिणामो) फिर जीव में होने वाली मिथ्यात्व और रागादिरूप परिणामों के उपादान हेतुभूत जीव के विकारी भाव उनके बिना भी पुद्गलों का द्रव्यकर्मरूप परिणाम हो जाना चाहिये । किन्तु ऐसा होता नहीं है । (इसलिये ब्रह्मा पर निमित्त रूप से जीव के विकारी भावों को मानना ही पड़ता है, फिर भी कर्मरूप परिणाम तो कार्माण द्रव्यरूप पुद्गलों का ही होता है । जो कि वास्तव में जीव के रागादि भावों से भिन्न होता है । ॥१४७-१४८॥

विशेषाद्य — यदि पुद्गल कर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाय तो जीव और कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा है नहीं । अतः पुद्गलद्रव्य का उदय जीव के अज्ञानरूप रागादि भावों का निमित्त कारण होता है उस निमित्त में जुड़ा ही जीव का रागादिरूप

परिणाम होता है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम भी जीव के साथ ही माना जाय तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो जाय। अतः जीव का अज्ञान रूप रागादिमय परिणाम पुद्गल द्रव्य के कर्मरूप बनने में निमित्त कारण होता है। किन्तु पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप परिणाम तो उससे वास्तव में पृथक् ही होता है।

इस प्रकार पुण्य पापादि सत्त पदार्थों की पीठिका रूप इस महाधिकार में जीव और पुद्गल को परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है, इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गद्याधो के द्वारा आठवाँ अंतराधिकार समाप्त हुआ।

(इति अष्टमोऽधिकार समाप्त)

अब इसके आगे नवमे अधिकार में आचार्यदेव चार गद्याधो से शुद्ध समयसार का कथन करते हैं कि यह जीव शुद्ध पारिणामिक रूप परमात्म का प्राहक शुद्धद्रव्याधिक नव से पुण्य पापादि पदार्थों से भिन्न ही है जो कि व्यवहार नय में कर्मों में बंधा हुआ है किन्तु निश्चयनय से बंधा हुआ नहीं है, इत्यादि विकल्प रूप नय पक्षपात से भी रहित है। आगे जब विषय में प्रश्न किया कि आत्मा कर्मों में बद्ध है या नहीं है, और बद्ध है तो कौन से नय से है तथा अबद्ध है तो कौन से नय से है उसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुटं चेदि व्यवहारणयभणिदं ।

सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुटं हवइ कम्मं ॥१४६॥

जीवे कम्मं बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।

शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कम्मं ॥ १४६ ॥

अर्थ—कर्म जीव में सम्बद्ध है, आत्म प्रवेशों में मिले हुये हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है और कर्म जीव में अबद्ध स्पृष्ट है अर्थात् बंधे हुए नहीं है ऐसा शुद्ध नय का कथन है ॥ १४६ ॥

तार्पयवृत्ति—जीवे कम्मं बद्धं पुटं चेदि व्यवहारणयभणिदं जीवेऽधिकरणभूते बद्ध सत्त्वैकल्येण क्षीरनीर-वत्सबद्ध स्पृष्ट पायमात्रेण लभ्यते कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः । सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुटं हवइ कम्मं शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेऽधिकरणभूते अबद्ध स्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्रव्यविकल्परूप शुद्धात्म स्वरूप न भवतीति भावार्थः । अथ यस्माद्बद्धाबद्धादिविकल्परूप नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमात्मप्राहकेश शुद्धद्रव्याधिकनयनं बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवः न भवतीति प्रतिपादयति ।

टीका—(जीवे कम्मं बद्धं पुटं चेदि व्यवहारणयभणिदं) कर्म, अधिकरण भूत जीव में नीर और क्षीर की तरह एकमेक होकर सम्बद्ध है परस्पर मिले हुये हैं तथा योग मात्र के द्वारा आत्मा में लगे हैं। यह व्यवहारनय का अभिप्राय है (सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुटं हवइ कम्मं) शुद्धनय के अभिप्राय से अधिकरण रूप जीव में कर्म न तो बद्ध ही हैं और न स्पृष्ट ही हैं। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहार-नय इन दोनों नयों से उत्पन्न होने वाला विकल्प वास्तव में शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल कर्म को एक बंध पर्याय रूप में देखा जाय तब तो भिन्नता का अभाव है वहा जीव में कर्म बधते भी है और उसे छूये हुये भी है यह व्यवहारनय का कथन है, किन्तु जीव और पुद्गल कर्म को भिन्न द्रव्यरूप में देखा जाय तो वे दोनों अत्यन्त पृथक् पृथक् ही हैं। इसलिये जीव

में कर्म बद्ध भी नहीं हैं और उसे छुये हुये भी नहीं हैं, यह निश्चयनय का पक्ष है किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो इन दोनों बद्धाबद्ध से भिन्न प्रकार का केवल चेतनस्व को लिये अमूर्त स्वरूप है ॥ १४६ ॥

जब कि बद्धादि विकल्प रूप व्यवहार नय का पक्ष है और अबद्धादि विकल्प रूप निश्चयनय का पक्ष है, किन्तु पारिणामिक परमभाव का ग्राहक शुद्ध इत्याधिक नय के द्वारा देखन पर जीव बद्धाबद्धादि रूप विकल्प से सर्वथा दूर है ऐसा कथन करते हैं —

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख ।

णयपक्खातिक्कतो कुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१५०॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।

पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसार ॥१५०॥

अर्थ — जीव मे कर्म बद्ध है (नये हुये है) यह भी और जीव मे कर्म चिपके हुए नहीं है ऐसा भी एक नय का पक्ष है किन्तु समयसार रूप जो आत्मा है वह इन दोनों पक्षों से दूरवर्ती है ॥१५०॥

तात्पर्यवृत्ति — कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख जीवेधिकरणभूत कर्म बद्धमबद्ध चेति याऽमी विकल्प स उभयोपि नयपक्षपात स्वीकार इत्यथ **पक्खातिक्कतो कुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षानिक्तानो भण्यते य स समयसार शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्प शुद्धजीवस्वरूप न भवति निश्चयेना-बद्धो जीव इति च नयविकल्प शुद्धजीवस्वरूप न भवति निश्चयव्यवहारस्या बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्प शुद्धजीव-स्वरूप न भवति । कस्मादिति चेत् ? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात् । श्रुतज्ञान च क्षायोपशमिक क्षयोपशमस्तु ज्ञाना-वरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छधस्थापेक्षया जीवस्वरूप भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीव-स्वरूप न भवति । तर्हि कथं भूत जीवस्वरूपमिति चेत् ? यांसी नयपक्षपातरहितस्वमवेदनज्ञानी नस्याभिप्रायेण बद्धा-बद्धमूढादिनयविकल्परहित चिदानन्दकस्वभाव जीवस्वरूप भवतीति । तथा चोक्त —

य एव मुक्त्वा नयपक्षपात स्वरूपगुणा निबन्धति नित्य ।

विकल्पजालव्युत्पन्नान्वितसान्त्व साक्षादभूत पिबन्ति ॥ ६८ ॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिन्दिद्योर्द्विविनि पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी व्युत्पक्षपातस्तस्यास्ति नित्य तन्नु चिच्चिददेव ॥ ६९ ॥

समायाक्यानकाले या बुद्धिनयद्वयात्मिका । वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ॥

हेयोपादेयत्वत्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयैवस्थान माधुसम्मत ॥

अथ नयपक्षानिक्तानस्य शुद्धजीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे मति पुनर्बोधेण कथयति ॥

टीका — (कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख) अधिकरण भूत जीव मे कर्म सम्बद्ध हैं, और सम्बद्ध नहीं हैं, ऐसा कथन तो एक २ नय का पक्ष है (पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समय सारो) किन्तु शुद्धात्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप जो कि समयसार नाम से कहा जाता है वह तो इन दोनों पक्षों से भिन्न प्रकार का ही है, क्योंकि व्यवहारनय के कहने के अनुसार जीव कर्मों से बंधा हुआ है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है और निश्चयनय से जीव कर्मों से अवद्ध है यह भी नय का विकल्प है जो कि शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध या अवद्ध

कहना यह जीवमात्र का स्वरूप नहीं है (किन्तु यह नय का विकल्प है) । नय जितने भी होते हैं वे सब श्रुतज्ञान के विकल्प रूप होते हैं, यह सिद्धांत की बात है, और श्रुतज्ञान है सो क्षयोपशमिक है, क्षयोपशम है वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्व जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरूप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है तब फिर जीव का स्वरूप क्या है इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं — नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरूप बढ़ाबढ़ या मूढामूढ आदि नय के विकल्पो से रहित चिदानन्द स्वरूप होता है जैसा कि आत्मख्यातिकार ने कहा है — जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आपके स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एव सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित ज्ञात चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात् ध्रुव का (समयसार का) पान करते हैं ॥६६॥ जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बढ़ होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से वह बढ़ नहीं होता अतः यह इन दोनों नयों के विचार में अपना २ पक्षपात है । इसलिए पक्षपात रहित तत्त्ववेदी पुरुष के ज्ञानमें तो चेतन, चेतन ही है । बात यही ऐसी है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों को लेकर चलती है, किन्तु तत्त्व का ज्ञान लेने के बाद स्वस्थ हो जानेपर ऊहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है । निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्व का निर्णय कर लेने पर ह्य का त्याग करके उपादेय तत्त्व में लगे रहना साधु सत्तों का अभिष्ट है ॥१५०॥

विशेषार्थ — जीव को बढ़ बताने पर ससारी मात्र का ग्रहण हो सकता है किन्तु सिद्ध जीव का नहीं और श्रवण कहने से जो सिद्ध जीव है उन्हीं का ग्रहण हो सकता है उसमें ससारी जीव शेष रह जाते हैं जो कि आत्मत्व से रहित नहीं है अतः तत्त्वज्ञानी जीवों की दृष्टि में नय प्रकृपणा से परे जीव सदा चेतन स्वरूप ही है ।

अब आचार्य देव नय पक्ष से दूरवर्ती शुद्ध जीव के स्वरूप को कहने है —

दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१५१॥

द्वयोरपि नययोर्मणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्ध ।

न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिवपि नयपक्षपरिहीनः ॥१५१॥

अर्थ — जो पुरुष सत्त्व परमानन्द स्वरूप समयसार का धनुस्त्र बन बनाना है वह दोनों नयों के कवन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता दोनों नयों के पक्षपान में दूर हाथ रहता है ।

तात्पर्यवृत्ति — योही नयपक्षानुरहित स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायण बढ़ाबढ़मूढामूढादिनयविकल्परहित चिदानन्दकस्वभाव । **दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ** यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहारार्थं द्वाभ्यां भाषितमथ द्वयपर्यायरूप जानाति । **णवरि तु समयपडिबद्धो** तथापि नवरि केवल सहजपरमानन्दकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध प्राचीन सन् **णयपक्खपरिहीणो** मतनसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया अतज्ञानावरणोपक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपाभयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि न तु नयपक्षं विकल्पं** किमप्यारम्भरूपतया गृह्णाति तथाय गणधरदेवादिव्यधम्यजनोपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्वरूप जानाति तथापि नवरि केवला जिदानन्दकस्वभावस्य समयस्य

प्रतिबद्ध अधीन सद् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नय-
पक्षपातरूप स्वीकार विकल्प निविकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति । अथ शुद्धपारिणामिकपरमावस्था-
हकेण शुद्धद्रव्याधिकनयेन नयविकल्पस्वरूपममस्तपक्षपातानेनातिष्ठान एव समयसारे इत्येव निष्पत्ति ।

टीका— (दोणह्वि गायग भगिय जागइ) जो कोई नयो के पक्षपात में दूर स्वसवेदनज्ञानी है वह बद्ध अवद्ध मूढ़ भ्रमूढ़ आदि नय के विकल्पो से रहित चिदानदमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान् केवलो, निश्चयनय तथा व्यवहानय के विषय द्वय पर्याय रूप अर्थ को जानते हैं (एवरि तु समयपडिबद्धो) किन्तु सहज परमानन्द स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके अधीन होते हुए केवली भगवान् (गायपक्षपरिहीणो) निरन्तर केवल ज्ञान के रूप में वर्तमान होने से श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले विकल्प जाल रूप जो निश्चयनय और व्यवहारनय उन दोनों नयों के पक्षपात से रहित होने के कारण (ग दु गायपक्ष गिण्हदि किचिवि) किसी भी नय के पक्ष रूप विकल्प को कभी स्वीकार नहीं करत अर्थात् उसे छूत भी नहीं है । वैसे ही गगणघरदेव आदि छपस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य हैं फिर भी चिदानन्दक स्वभावरूप शुद्धात्मा के अधीन होते हुये अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पो का जालरूप जो दोनों नयों का पक्षपात उससे शुद्ध निश्चय के द्वारा दूर होकर नय के पक्षपात रूप विकल्प को निविकल्प समाधिकाल में अपने आत्मरूप में ग्रहण नहीं करते हैं ॥१५१॥

विशेषार्थ—नात्पर्य यह है कि समाधिस्थ पुरुष किसी भी अन्य पदार्थ के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी लगाव न रखकर केवलमात्र सच्चिदानदात्मक अपने आत्म स्वरूप में लीन रहता है जैसे कि केवलज्ञानी । केवल ज्ञानी में और उसमें उस समय यदि कोई अन्तर रहता है तो वह उनना ही कि केवल ज्ञानी का ज्ञान क्षायिक एवं शास्वत होता है जब कि उस समाधिस्थ पुरुष का ज्ञान तात्कालिक एवं क्षायोपशमिक । जैसे किसी वस्तु को निर्दोष तेज प्राप्त वाला आदमी आयो में ही दृढता के साथ देखता रहता है, उसे ही दुर्बल आँखोवाला ऐनक लगाकर कुछ देर तक देख सकता है । उसी प्रकार केवलज्ञानी तो सहज रूप में अपने आपका निरीक्षण करते रहते हैं, परन्तु छपस्थ समाधिनिरत जीव वहाँ पर मन को लगाकर, जब तक मन लगा रहता है तब तक आत्म निरीक्षण करते हैं । हाँ, केवलज्ञानी का उपयोग क्षायिक होता है, अतः उनके उपयोग में स्वरूप में आत्मा का ज्ञान होता रहता है, उसी समय पर रूप से अन्य समस्त पदार्थों का ज्ञान भी होता है । किन्तु छपस्थ का उपयोग तो एकांगी होता है अतः वह जिस समय आत्मोन्मुखी होता है उस समय अन्य पदार्थों के स्मरण से रहित होता है और जिस समय अन्य किसी भी पदार्थ का स्मरण हुआ कि शुद्धात्मानुभव नहीं रह पाता ।

यदि शुद्ध पारिणामिक परमावस्था के ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्याधिक नय से सोचा जाय तो नय के विकल्प स्वरूप जा समस्त प्रकार के पक्षपात उनसे रहित ही समयसार होता है एसा नीचे की गाथा में कहते हैं—

सम्भट्संज्ञाण एवं लहदित्ति णवरि ववदेस ।

सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१५२॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लमत इति केवल व्यपदेशः ।

सर्वनयपक्षरहितो भणितो य. स समयसारः ॥१५२॥

अर्थ—जो समयसार है वह तो सभी प्रकार के नयों के पक्षपात से रहित होता है, उस समयसार को यदि किसी दूसरे शब्द से कहा जा सकता है तो वास्तव में समयदर्शन और सम्म्यग्ज्ञान शब्द द्वारा कहा जा सकता है ॥१५२॥

तात्पर्यवृत्ति—सर्वव्यापकस्वरूपहिंदो भण्डो जो सो समयसारो इ द्विद्यानिद्रियजनितबहिर्बिषयसमस्तमति-ज्ञानविकल्परहित सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहित समयसारभनुप्रवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थं पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा तत कारणात् सम्महंसरणाराण एवं लहृदिति श्रुतिरि वचदेस नवरि केवल सकलविमलकेवल-दर्शनज्ञानरूपव्यपदेश सज्ञा नमते । न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति । एव निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमय-सारव्याख्यानमुख्यतया गाथा चतुष्टयेन नवमोतराधिकार समाप्त ।

इत्यनेन प्रकारेण जाब न वेबि विसेस इत्यादिगाथायां कृत्वा पाठकमेवाज्ञानिसज्ञानिजीवयो सत्तेषूसूचनार्थं गाथापठक । तदनंतरमज्ञानिसज्ञानिजीवयोविशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथा । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्व-लक्षणद्विक्रियावादिनिराकरमुख्यत्वेन गाथापचविंशति । तदनंतर प्रत्यया एव कर्म कुवतीति समर्थनद्वारेण सूत्रसतक ततश्च जीवपुद्गलकथचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टक । तत पर ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवक । तदनंतरमज्ञानमयमात्रस्य मिथ्यात्वादिवचनप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापचक । ततश्च जीवपुद्गलनयो परस्परैकोपादानकर्तृत्वनिवेदमुख्यत्वेन गाथात्रय । तत पर नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथाचतुष्टय चेति मनुदायेनाष्टाधिकसत्तिगाथाभिर्नवमिरतन्त्राधिकारै कर्ताकर्म महाधिकार समाप्त ।

तथैव मति जीवाजीवाधिकाररगभूमौ नृत्यानंतर श्रु गारपात्रयो परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ कर्तृकर्मवैषविमुक्तौ निष्कामाविति ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ पुण्यपापादिसप्तवार्त्ताना सबधो पीठिकारूपमनुतीयो महाधिकार समाप्त ।

टीका—(सर्वव्यापकस्वरूपहिंदो भण्डो जो सो समयसारो) जब कि आत्मा, निर्विकल्प समाधिस्थ-पुरुषो के द्वारा इ द्विद्यानिद्रियजनित बाह्य विषयक समस्त मतिज्ञान के विकल्पो से रहित ही देखा और जाना जाता है । तथा वही आत्मा बद्धाबद्धादिक विकल्परूप नय के पक्षपात से रहित ऐसे समयसार का अनुभव करता हुआ देखा और जाना जाता है । इसलिए (सम्महंसण राराण एव लहृदिति श्रुतिरि वचदेस) केवल मात्र सकल विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन रूप व्यपदेश को वह स्वीकार करता है न कि बद्धबद्धादिरूप व्यपदेशों को ।

विशेषार्थ—आत्मा को पहले प्रागम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चयकर पीछे इन्द्रियरूप मतिज्ञान को भी ज्ञान मात्र मे ही मिलाकर श्रुतज्ञान स्वरूप नयो के विकल्पो को दूर कर एव श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प बनाकर एक ज्ञान मात्र अखंड प्रतिभास का अनुभवन करना ही समयसार है और वही योगियों के द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम पाता है । यहां पर मभीचो श्रद्धान मात्र को ही सम्यग्दर्शन न बताकर सत्य श्रद्धानी जीव को आत्मानुभवरूप अवस्था विशेष जो परमसमाधिकाल मे होती है उसी को सम्यग्दर्शन स्वीकार किया गया है । और उसी को सम्यग्ज्ञान नाम दिया है ।

इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों के पक्षपात से रहित शुद्ध समयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा यह नवमा अंतराधिकार समाप्त हुआ । इस प्रकरण के

द्वारा (जावण वेदि विसेस) इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव की संक्षेप सूचना देते हुए छ गाथा कही है और इसके बाद अज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हुए ग्यारह गाथा कही है फिर चेतन और अचेतन सब कार्यों का एक ही उपादान कर्त्ता होता है ऐसे अभिप्राय वाले द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से २५ गाथाये कही है इसके अनंतर मिथ्यात्वादि पांच प्रत्यय ही कर्म करते हैं, आत्मा नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए ७ गाथाये कही है, इसके आगे जीव और पुद्गल का कथंचिद् परिणामित्व स्थापन करने की मुख्यता को लेकर आठ गाथाये कही है इसके अनंतर ज्ञानमय और अज्ञानमय परिणाम क कथन की मुख्यता से ६ गाथाये हैं इसके आगे अज्ञानमय भाव को मिथ्यात्वादि पांच प्रत्यय के भेद रूप से प्रतिपादन करने वाली ५ गाथाये हैं। तदनंतर जीव और पुद्गल ये दोनों परस्पर एक दूसरे के उपादान कर्त्ता नहीं हैं इस प्रकार के कथन की मुख्यता से ३ गाथाये कही है। इसके पीछे यह बतलाते हुए कि शुद्ध समयसार तो नय के पक्षपात से सर्वथा रहित है, ऐसा कथन करने में ४ गाथाये आई हैं। इस प्रकार समस्त ७८ गाथाओं के द्वारा और ६ अन्तराधिकारों के द्वारा यह कर्त्ता कर्म नाम का महाधिकार समाप्त हुआ।

वहा जीव और अजीव के अधिकार रूप इस ग्रन्थ की रगभूमि में भेदधारी दो पात्र नृत्य करते हैं, और बाद में वे पृथक् २ हो जाते हैं। वैसे ही यहा शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जीव और अजीव ये दोनों अपने अपने कर्त्ता और कर्म भेद को छोड़ कर निकल गये हैं।

इति श्री जयसेनाचार्यकृत समयसार की तात्पर्यवर्त्ति नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में यह पुण्यपापादि मन्त्र पदार्था से सम्बन्ध रखने वाला यह पीठिका रूप तीमग महाधिकार समाप्त हुआ।

(इति तृतीयो महाधिकार समाप्त)

४ पुण्यपापाधिकारः (चतुर्थ महाधिकार)

तात्पर्यवृत्ति — अथानंतर निश्चयनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपापरूपेण प्रविशति कम्मसमुह कुसोल इत्यादि गाथामादि कृत्वा कर्मैर्योकोनविंशतिमूत्रपर्यंत पुण्यपापव्याख्यान करोति। तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन मूत्रपट्क तदनंतरमध्यारमसायया शुद्धारमसायना विना आगममापया तु बीतरागमम्यक्त्वं विना व्रतदानादिक पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारण मम्यक्त्वसहित पुन परपरया मुक्तिकारण च भवति इति मुख्यतया परमद्वो खलु, इत्यादिसूत्रचतुष्टय। तत् पर निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-मुख्यत्वेन जीवादीसहृण इत्यादिगाथानवक कथयतीति पुण्यपापदार्थाधिकारसमुदायपातनिका। तद्यथा—ब्राह्मणा पुत्रद्वय जात नगैः उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जात द्वितीय, पुनरुपनयनामावाच्छूद्र इति। तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति।

तदनंतर निश्चयनय से जो पुद्गल कर्म एक रूप है वही व्यवहार नय के द्वारा पुण्य और पाप के भेद से दो रूप होकर इस रणभूमि में प्रवेश करता है ।

“कम्ममसुह कुसील” इत्यादि गाथा से शुरू करके क्रम से १९ गाथा तक पुण्य पाप का व्याख्यान करते हैं, वहा यद्यपि व्यवहार नय से पुण्य और पाप में भेद है, तथापि निश्चय से इनमें भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान को ६ गाथायें भाई हैं । उसके बाद यह बतलाते हुये कि अघ्यात्म भाषा में जिसको शुद्धात्म भावना कहते हैं और आगम भाषा में जिसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं, उसके बिना जो व्रत दानादिक किये जाते हैं वे सब मुक्ति के कारण नहीं होकर केवल मात्र पुण्यबन्ध के कारण होते हैं; किन्तु वे ही व्रत, दानादिक यदि सम्यक्त्व सहित हो तो परम्परा से मुक्ति के कारण भी होते हैं । इस प्रकार का कथन करते हुए (परमठो खलु) इत्यादि ४ गाथायें आती हैं उसके आगे निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष मार्ग का कथन करने की मुख्यता से (जीवादी सद्वृत्त) इत्यादि ९ गाथा कही गई हैं । यह पुण्य पाप रूप पदार्थ के अधिकार की समुदाय पातनिका हुई ।

यहां अब आचार्यदेव बतलाते हैं कि किसी एक ब्राह्मणी के दो पुत्र हुए, उसमें से एक का उपनयन मस्कार हो जाने से वह ब्राह्मण हो गया किन्तु दूसरे का उपनयन मस्कार नहीं हुआ, अतः वह शूद्र हो गया । इसी प्रकार जो पुद्गल कर्म निश्चय से एकरूप है वही जीव के शुभाशुभ परिणामों के निमित्त से व्यवहार में दो प्रकार का हो जाता है ।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।

किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५३॥

कर्माशुभं कुसीलं शुभकर्म चापि जानीत सुसीलं ।

कथं तद्भवति सुसीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१५३॥

अर्थ—अशुभ कर्म तो पाप रूप है, बुरा है और शुभ कर्म पुण्य रूप है, अच्छा है । ऐसा सर्वसाधारण कहते हैं परन्तु परमार्थ दृष्टि से देखें तो जो कर्म इस जीव को कारागारात्मक शरीर रूप संसार में ही बनाये रखता है वह कर्म अच्छा कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है ।

तात्पर्यवृत्ति—कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाणह सुसील कर्माशुभ कुस्मिन् कुसील हेयमिति । शुभकर्म सुसील शोभनमुपादेयमिति केषांविद्व्यवहारिणा पक्ष सन् निश्चयरूपेण पक्षान्तरेण बाध्यते । किह तं होदि सुसील जं संसारं पवेसेदि निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुसील शोभनं भवति ? यज्जीव संसारे प्रवेशयति । हेतुस्वभावानुभवबध्दरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति । तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते शुभाशुभपरिणामो हेतुः । स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्व प्रति, एक एव द्रव्य पुण्यपापरूप पुद्गलद्रव्यस्वभाव । सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्य प्रति, एक एव तत्फल सुखदुस्करूप स च फलरूपानुभव । सोऽप्यात्मोत्पत्तिविकारसुखानुपादेयाया दुस्करूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबध्दरूप । सोऽपि बध्द प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभववाश्रयाणां सदाप्यभेदात् । यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिना पक्षो बाध्यत एव ।

टीका—(कम्ममसुह कुसील सुहकम्म चावि जाणह सुसील) जो अशुभकर्म है वह तो निन्दनीय है, बुरा है अतः नहीं करने योग्य है किन्तु शुभकर्म सुहावना है, सुखदायक है, इसलिये उपादेय है (करने

योग्य है) ऐसा कुछ व्यवहारी लोगों का कहना है, जो कि निश्चयरूप दूसरे पक्ष के द्वारा निषेध किया जाता है। (किह त होदि सुसील ज ससार पवेसेदि) निश्चयवादी बोलता है कि जीव को ससार में ही बनाये रखता है वह पुण्यकर्म सुहावना और सुख देने वाला कैसे हो सकता है, (क्योंकि ससार तो सारा ही दुखरूप है)। कर्म के हेतु, स्वभाव अनुभव और बंध रूप आश्रय का जब विचार किया जाय तो उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता इसलिए वास्तव में कर्म में कोई पुण्य पाप रूप भेद नहीं है वही स्पष्ट कर बताते हैं—कर्म का हेतु जीव का शुभाशुभरूप परिणाम है जा कि शुद्ध निश्चय से देखने पर एक अशुभ रूप ही प्रतीत होता है। द्रव्य भी पुण्य पाप रूप पुद्गल द्रव्य है जो कि निश्चयनय के द्वारा देखने पर जड़-स्वभाव रूप एक ही है और उसका फल जो सुख दुखरूप अनुभव में आता है वह भी आत्मा से उत्पन्न हुये निर्विकार सुख की अपेक्षा से दुख रूप ही प्रतीत होता है और शुभाशुभ बंध रूप जो आश्रय है वह भी बंध-पने की अपेक्षा से एक रूप ही है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पाप कर्म के हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय में कहीं कोई भेद नहीं है, किन्तु सदा अभेद ही है। यद्यपि व्यवहार से देखें तो उसमें भेद होता है फिर भी निश्चयनय से वहां शुभ और अशुभ कर्म रूप कोई भेद नहीं है। इसलिए व्यवहारी लोगो का जो पक्ष है वह बाधित हो जाता है ॥१५३॥

शुभ और अशुभ रूप दोनों ही कर्म सामान्यतया बधरूप है ऐसा बनाते हैं—

सौवर्णिय पि गियलं बधदि कालायस पि जह पुरिसं।

बंधदि एव जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्म ॥१५४॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं।

बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१५४॥

सात्पर्यवृत्ति—यथा मवणनिगल लोहनिगल च अविशेषेण पुरुष बध्नाति तथा शुभमशुभ वा कृत कर्म अविशेषेण जीव बध्नातीति। किंच। भोगाकाशादिदानरूपेण रूपनावण्यमौभाग्यकामदेवैन्द्राहमिन्द्रव्यातिपूजालाभादि-निमित्त यो व्रततपश्चरणादानपूजादिक करोति, स पुरुष तत्कनिमित्त रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्त रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्त हारभूषणवत्, काष्ठवज्रेष्वृत्तिनिमित्तमयुरुवनच्छेदनवत्। वृथैव व्रतादिक नाशयति। यस्तु शुद्धात्मभावना-साधनार्थं बहिरंगव्रततपश्चरणादानपूजादिक करोति स परंपर्या मोक्ष नमते इति भावार्थः।

अथोभयकामां निषेधण मोक्षमार्गविषये निषेधयति—

टीका व अर्थ—जैसे सोने की बनी बेड़ी हो चाहे लोहे की बनी हुई हो दोनों ही तरह की बेडिया पुरुष को साधारण रूप में जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ या अशुभ कर्म हो वह साधारण रूप से जीव को ससार में रखता है। भावार्थ—शुभ और अशुभ इन दोनों कर्मों में बंध या ससार भाव की अपेक्षा कोई भी अंतर नहीं है। दोनों कर्म ससार रूप ही है। अतः जो कोई पुरुष भागो की अकांक्षा रूप निदान करते हुए सौन्दर्य, सौभाग्य, कामदेव पद, देवेन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, रूपाति, पूजा, लाभ आदि मुक्त प्राप्त हो, इस निमित्त से व्रत, तपश्चरणा या दान पूजादि करता है वह पुरुष अपने उस व्रत, तपश्चरणा आदि रूप प्राचरण को व्यर्थ ही सोता है। जैसे कि कोई सूत के धागे के लिए मोतियों के हार को तोड़ता है प्रयत्न का कौनो धान्य को बोने के लिए चन्दन के वन को काटता है। छाछ के लिए रत्न बेचता है या

भस्म के लिये रत्न राशि जलाता है। यह ठीक है कि जो शुद्धात्मा की भावना को बनाये रखने के लिए बहिरगन्त तत्पश्चात् या दानपूजादि करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १५४ ॥

शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म मोक्षमार्ग में रोड़ा घटकाने वाले हैं, अतः दोनों ही निषिद्ध हैं, ऐसा कहते हैं।

तद्वा दुःकुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसर्गं ।

साधीणो हि विणासो कुसीलसंसर्गरायेण ॥१५५॥

तस्मात् कुशीलाभ्यां रागं मा क्रुत मा वा संसर्गं ।

स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरायेण ॥ १५५ ॥

अर्थ — शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्म कुशील हैं, हीन स्वभाव वाले हैं, इसलिए इन दोनों के साथ ही तुम लोग प्रीति मत करो, और इनके साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध भी मत रखो। क्योंकि कुशीलो के समर्थ से और उनके साथ प्रेम करने से अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है।

तात्पर्यवृत्ति—तद्वा दुःकुसीलेहिय राय मा काहि मा व संसर्गं तस्मात् कारणात् कुशीलं कुत्सितं शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगतराग मा क्रुह । बहिरगन्तवचनकायगतसंसर्गं च मा क्रुह कस्मात् ? इति चेत् । साधीणो हि विणासो कुशीलसंसर्गरायेण कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाश निविकल्पसमाधिबिधातरूप स्वार्थ-अंशो हि स्फूट भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति ।

अधोमयकर्म प्रति निषेध स्वयमेव श्रीकुन्दाचार्यदेवा दृष्टान्तदाष्टांताभ्यां समर्थयति ।

टीका — (तद्वा दुःकुसीलेहिय राय मा काहि मा व संसर्गं) इसलिए छोटे स्वभाव वाले शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मों के साथ मानसिक प्रेम मत करो और बाह्य वचन एवं काय गत संसर्ग भी मत करो। क्योंकि (साधीणो हि विणासो कुशीलसंसर्गरायेण) कुशीलो के साथ प्रेम करने से स्वाधीनता का अवश्य ही नाश होता है। निविकल्प समाधि का विधात होता है अतः अपना अहित होता है अर्थात् स्वाधीन जो आत्मसुख है उसका नाश होता है ॥ १५५ ॥

अब आचार्यदेव दृष्टान्त देकर इसी बात को और स्पष्ट करते हैं कि दोनों ही कर्म निषिद्ध हैं।

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।

वज्जेदि तेण समयं संसर्गं रायकरणं च ॥ १५६ ॥

एमेव कम्मपयडो सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।

वज्जंति परिहरंति य तस्संसर्गं सहावरदा ॥१५७॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।

वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणां च ॥१५६॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं हि कुत्सितं ज्ञात्वा ।

वर्जयन्ति परिहरन्ति च तत्संसर्गं स्वभावरता ॥१५७॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष किसी को खराब स्वभाव वाला जान लेता है तो फिर उसके साथ न तो प्रेम करता है और न किसी प्रकार का सम्बन्ध ही रखता है । वैसे ही सहज स्वभाव का धारक ज्ञानी जीव भी सभी कर्म प्रकृतियों के शील स्वभाव को बुरा जानकर उनके साथ राग करना और सम्बन्ध रखना छोड़ देते हैं एव निज स्वभाव में लीन रहते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति—जहणाम कोवि पुरिसो कुच्छिय सील जण वियाणिता यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चि-
त्पुरुष कुत्सितशील जन ज्ञात्वा बज्जेदि तेण समयं ससग रायकरण च तेन समक सह बहिरगवचन कार्यगत
संसर्ग मनोगत गग च वर्जयतीति दृष्टात एवेव कम्मपयडो सीलसहाव हि कुच्छिद णाडु एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन
कर्मणः प्रकृतिशील स्वभाव कुत्सित हेय ज्ञात्वा बज्जति परिहरति य त ससग सहावरदा इह जगति वर्जयन्ति
तत्संसर्गं वचनकायाम्या परिहरन्ति मनसा राग च तस्य कम्म कं त ? ममस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारप-
रिणामाभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पममाधिस्वभावरता साधव इति दाष्टीत ।

अयोमयकर्म शुद्धनिश्चयेन केवल बधहेतु न केवल बधहेतु प्रतिषेध्य चापमेन मावयति—

टीका—(जहणाम कोवि पुरिसो कुच्छिय सील जण वियाणिता) जबकि कोई पुरुष किसी को बुरे स्वभाव वाला अच्छी तरह समझ लेता है तो (बज्जेदि तेण समयं ससग रायकरण च) उसके साथ शरीर से संसर्ग छोड़ देता है साथ ही बोलना भी छोड़ देता है तथा उसके साथ किसी भी प्रकार का मानसिक प्रेम भी नहीं रखता । (एवमेव कम्मपयडो सील सहाव हि कुच्छिद णाडु) उसी प्रकार कर्मप्रकृतियों के शील स्वभाव को निन्दनीय जानकर (वज्जति परिहरति य त ससग सहावरदा) उनके साथ वचन और काय से भी संसर्ग छोड़ देते हैं और मन से भी राग करना छोड़ देते हैं । कौन छोड़ देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि समस्त प्रकार के द्रव्य और भावगत पुण्य पाप के परिणाम का परिहार करने में परिणत ऐसे अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले निर्विकल्प समाधि में जो लोग तत्पर रहते हैं वे साधु छोड़ देते हैं ।

विशेषार्थ—आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ ऋषि, मुनि, योगी लोग जो कि एकान्त से निराकुलता के ग्राहक होते हैं उन्हीं को लक्ष्य में लेकर लिखा है । इसलिए लिखते हैं कि हे साधो ! तुम लोगों के लिए जिस प्रकार चोरी करना और झूठ बोलना आदि कर्म हेय हैं, उसी प्रकार दान पूजा आदि कर्म भी तुम्हारे लिए कर्तव्य नहीं हैं । क्योंकि उनको करने रहने पर भी निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकती है । निराकुलता के लिए तो केवल आत्मनिर्भर होना पड़ेगा । इससे यदि कोई गृहस्थ भी अपने लिये ऐसा ही समझले तो, या तो उसे गृहस्थाश्रम को छोड़ देना होगा नहीं तो वह मनमानी करके कुगति का पात्र बनेगा, अतः उसे तो चोरी जारि आदि कुकर्म से दूर रहकर परिश्रमशीलता, परोपकार, दान पूजा आदि सत्कर्म करते हुए अपने गृहस्थ जीवन को निभाना चाहिए ।

अब दोनों ही वर्ग शुद्ध निश्चय नय से न केवल बध के ही कारण है अपितु निषेध करने योग्य भी हैं ऐसा प्रागम से सिद्ध करते हैं —

रतो बंधवि कम्मं मुंचवि जीवो विरागसंपण्णो ।

एसो जिणोवदेसो तद्दया कम्मसेसु मारज्ज ॥१५८॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्पन्नः ।

एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मारज्यस्व ॥१५८॥

अर्थ—रागी जीव तो कर्मों का बंध करता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्मों से मुक्त होता है । ऐसा जिनैन्द्र भगवान का उपदेश है इसलिये शुभाशुभ कर्मों में राजायमान मत होओ ।

तात्पर्यवृत्ति—(रतो बधवि कम्म मुंचवि जीवो विरागसपण्णो यस्मात् कारणात् रक्तं स कर्माणि बध्नाति । मुच्यते जीवः कर्मजनिताभावेषु विरागसपन्नः एसो जिणोवदेसो तद्दया कम्मसेसु मारज्ज एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्ता किं करोति ? उभय कर्म बधहेतुः न केवलं बधहेतुः प्रतिषेधः हेतुः च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभ सकल्पवृत्तित्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावानुत्पन्ननिर्विकारमुखामृतसत्त्वादेन तृतोभूत्वा शुभाशुभ कर्मणि मारज्यस्व राग मा कुर्वति । एव यत्पुण्यनुपचरितानामदूषणव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्मोदोऽस्ति अशुद्ध निश्चयेन पुनस्तद्द्रव्यजनितेन्द्रिय-सुखदुःखयोर्मोदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुक्तत्वेन गाथाषट्कं गतः ।

अथ विंशद्विज्ञानशब्दवाच्य परमात्मान मोक्षकारणं कथयति ।

टीका—(रतो बधवि कम्म मुंचवि जीवो विराग सपत्तो) क्योंकि जो रागी जीव होता है वह निरंतर कर्मबंध करता रहता है और कर्मजनिता भावों में जो विराग सम्पन्न होता है वह मुक्त हो जाता है (एसो जिणोवदेसो तद्दया कम्मसेसु मारज्ज) यह स्पष्ट रूप से जिन भगवान् का उपदेश है कि शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार का कर्म, बंध का हेतु है । और इसलिए वह हेतु भी है, फलतः शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के सकल्प विकल्प से रहित होते हुये अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो निर्विकार मुखामृत रूप रस उसका स्वाद लेने से तृप्त होकर तुम शुभ और अशुभ दोनों ही तरह के कर्म में रुचि मत करो अर्थात् राग करना छोड़ दो । इस प्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के द्वारा द्रव्य रूप पुण्य और पाप में भेद है तथा अशुद्ध निश्चयनय से उन दोनों के द्वारा उत्पन्न हुए इन्द्रिय जन्य सुख और दुःख में भी भेद है, फिर भी शुद्ध निश्चयनय से देखा जाय तो कोई भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से छः गाथाये हुई ॥ १५८ ॥

विशेषार्थ—यद्वा टीकाकार स्पष्ट कर बता रहे हैं कि जो त्यागी होकर परम समाधि में लगा रहना चाहता है, उसके लिए क्या शुभ और क्या अशुभ सभी कर्म उपेक्षणीय होते हैं, किन्तु जहां समाधि से हटकर कर्तव्य शीलता पर मन धाया कि वहां पापाचार से बचे रहने के लिए परिश्रमशीलता और विश्वासपात्रता जैसे मत्कर्मों में प्रयत्नपूर्वक लग जाना आवश्यक है ।

अब आगे विंशद्विज्ञाननाम वाला परमात्मतत्त्व ही मोक्ष का कारण है, ऐसा बताते हैं —

परमट्टो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।

तद्धि टिठवा सहावे, मुणिणो पावन्ति निब्बाणं ॥१५९॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।

तस्मिन् स्थिताः स्वभावे भुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१५६॥

अर्थ — निश्चय कर परमार्थ रूप जीवात्मा का स्वरूप एसा है कि जो शुद्ध है, केवलो है, मुनि है अर्थात् ससार की बातों से मोन रखन वाला है धीर जानी है । इस प्रकार ये जिसके नाम है उस स्वभाव में स्थित होकर, तन्मय होकर ही मुनिलाग निर्वाण को प्राप्त होने है ।

तात्पर्यवृत्ति — परमट्टो खलु समग्रो उत्कृष्टार्थ परमार्थ स क ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणार्थ परमार्थ सोऽपि स एव । अथवा मनिश्रुनावधिमत पर्ययकेवनज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैक परमार्थ सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुट समग्रो सम्यग्यति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणामतीति समय । अथवा सम्यगय सज्ञावाविरहितो बोधो ज्ञान यस्य भवति स समय । अथवा समित्येकत्वेन परमममरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयन गमन परिणमन समय सोऽपि स एव शुद्धा रागादिभाव कर्मरहितो य । सोऽपि स एव केवली परब्रह्मरहितत्वेनासहाय केवली सोऽपि स एव मुणी मुनि । स एव ग्राणी विशुद्धज्ञानमस्यास्तीतिज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी । सोऽपि परिमात्मैव । तस्मिन् स्थिताः स्वभावे भुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् । तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वस्वेदनज्ञानरता भुनयस्तपाधना निर्वाण प्राप्नुवन्ति लभत इत्यर्थः ।

अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वमवेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिव पुण्यबन्धकारणभवेति प्रतिपादयति—

टीका — (परमट्टो खलु समग्रो) वास्तव में शुद्धात्मा ही परमार्थ है, सर्वोत्कृष्ट अर्थ है, क्योंकि धर्म अर्थ काम और मोक्ष स्वरूप है वह परमात्मरूप ही है अथवा मति, श्रुत अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान इन भेदों से रहित होते हुये ज्ञान स्वरूप है, वही निश्चय से परमार्थ है । वह भी परमात्मस्वरूप ही है । (समग्रो) क्योंकि समय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है कि 'सम्यक अयति शुद्ध गुण पर्यायान् परिणामति स समय' अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुण और पर्यायों में रहता है वह समय कहलाता है अथवा 'सम्यक अय' सज्ञायादि से रहित ज्ञान जिसको होता है वह समय है अथवा 'सम्' यह एकता का नाम है अत एक रूप से परम ममरसीभाव में जो अपने शुद्ध स्वरूप में 'अयन' अर्थात् गमन—परिणमन करना वह समय कहलाता है, अथवा जो शुद्ध रागादि भाव कर्म से रहित है वह समय कहलाता है, (इस प्रकार समय नाम परमात्मा का ठहरता है) (केवली) शब्द का अर्थ होता है सहाय रहित अत पर ब्रह्म की सहायता से रहित होने के कारण वही केवली भी है । (मुणी) (लौकिक बातों से दूर होने के कारण) वह परमात्मा ही मुनि भी है । (ग्राणी) विशुद्ध ज्ञान जिसको हो वह जानी होता है अत वह भी प्रत्यक्षज्ञानी परमात्मा ही है । (तस्मिन् स्थिताः स्वभावे भुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम्) उसी परमात्म स्वभाव में स्थित रहने वाले (तन्मयता रखने वाले) वीतराग स्वस्वेदन ज्ञान में लीन मुनि एवं तपस्वी जन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥१५६॥

परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।

त सध्व बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१६०॥

परमार्थे चास्थित यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।

तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ॥१६०॥

अर्थ—जो कोई ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थित नहीं हो रहा है और तप करता है तथा व्रतों को धारण करता है तो उसके व्रत और तप को सर्वज्ञदेव 'अज्ञानतप' और 'अज्ञानव्रत' कहते हैं ॥१६०॥

तात्पर्यवृत्ति—परमदृष्टिमय अठिदो जो कुण्ठादि तब बढ च धारयदि तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थ-लक्षणो परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरण करोति व्रतादिक च वारयति तं सव्य बालतव बालवर्ष विति सव्यवृत्त—तत्सर्व बालतपश्चरण बालव्रत ब्रूवति कथयति के ते ? सर्वज्ञा । कस्मात् ? इति चेत् पुण्यपापोदय-जनितसमस्तैर्द्रियमुखदुःखाधिकारपरिहारपरिवृत्ताभेदरत्नत्रयलक्षणैर्न विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वाद् इति ।

अथ स्वसंवेदनज्ञान तथैवाज्ञान चेति यथाक्रमेण मोक्षवचनेषु दर्शयति—

टीका—(परमदृष्टिमय अठिदो जो कुण्ठादि तब बढ च धारयदि) उपर्युक्त परमार्थ लक्षणवाले परमात्म स्वरूप में जो स्थित नहीं है, अर्थात् उससे दूर हो रहा है फिर भी जो तपश्चरण करता है और व्रतादि को धारण करता है । (त सव्य बालतव बालवर्ष विति सव्यवृत्त) उस तप को बालतप (अज्ञानतप) और उसके व्रत को बालव्रत (अज्ञानव्रत) नाम से सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं । क्योंकि उसका वह तप और व्रत, पुण्यपाप के उदय से होने वाले, समस्त इन्द्रिय जनित मुख दुःख के अधिकार से रहित जो अभेद रत्नत्रय सो ही है लक्षण जिसका ऐसे विशिष्ट ज्ञान के भानद से रहित है ।

विशेषार्थ—यहां पर 'ज्ञान' शब्द से सामान्य ज्ञान न लेकर शुद्धआत्मज्ञान, वीतराग निर्विकल्प ज्ञान को ही ज्ञान शब्द से लिया गया है । अतः उससे रहित जो कोई भी आचरण या अनुष्ठान है वह ज्ञान रहित कहा गया है ।

आगे स्वसंवेदन ज्ञान को मोक्ष का कारण और अज्ञान को बंध का कारण क्रमशः बतलाते हैं —

वदनियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुब्बंता ।

परमदृष्टबाहिरा जेण तेण ते होति अण्णाणी ॥१६१॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वाणाः ।

परमार्थबाह्या येन तेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ॥ १६१ ॥

अर्थ—यद्यपि जो व्रत और नियमों को धारण करते हैं, शील पालते हैं, तथा तप भी करते हैं परन्तु परमात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं इनलिये वे सब अज्ञानी हैं ।

तात्पर्यवृत्ति—**वदनियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुब्बंता** त्रिगुण्यमाखिललक्षणाभेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयत, शीलानि तपश्चरण च कुर्वाणा अपि मोक्ष न लभते कस्मादिति चेत् **परमदृष्टबाहिरा जेण तेण ते होति अण्णाणी** यो येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवन्त्यज्ञानिनः । अज्ञानिना तु कथं मोक्ष ? ये तु परमसमाखिललक्षणभेदज्ञानसहिनास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरण बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्ष न लभते । तदपि कस्मात् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवति । ज्ञानिना तु मोक्षो भवेत्येवेति ।

किंच विस्तर—व्रतनियमशीलबहिरगतपश्चरणादिक विनापि यदि भोक्तो भवति इति तर्हि सकल्पविकल्परहितज्ञाना विषयव्यापारेऽपि पाप नास्ति तपश्चरणामावेऽपि मोक्षो भवति इति साध्यवैयर्थ्यनानुसारिणो बदन्तीनि तेषामेव मत

सिद्धिमिति । नैव, निर्विकल्पत्रिगुणममाधिलक्षणभेदज्ञानसहिताना मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा मणित निष्ठति । एषभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापारा परपरया मुक्ति कारणभूतास्तेऽपि न सति । ये पुनरनुभवविषय कषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न सति । न हि चित्तस्थे रागभावे चिन्मये सति बहिरगविषयव्यापारो दृश्यते । तदुलस्या-
भ्यतरे तुषे गते सति बहिरगतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पनमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषाययोर्द्वयो परस्पर विरुद्धत्वाद्वा शीतोष्णवदिति ॥

अथ शीतरागसम्यक्स्वरूपा शुद्धात्मभावना विहाय तत्र पुण्यमवैकालेन मुक्तिकारण ये वदति तेषा प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषण ददाति

टीका — (वदगियमार्गं धरता सीलागि तहा तव च कुवता) जिसमें तीन गुणितयो का पालन हुआ करता है ऐसा परम समाधि ही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान से जो दूरवर्ती है, वे व्रत और नियमों को धारण करते हुये श्रोग तपश्चरण करते हुये भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं । क्योंकि (पर-
मदु बाहिरा जग, तेग ये होति अण्णाणी) पूर्वोक्त भेद ज्ञान के न होने से वे परमार्थ से दूर रहने वाले होते हैं, इसलिये अज्ञानी होते हैं, फलत अज्ञानियों को मोक्ष कैसे हो सकता है ? हा, जो परमसमाधि स्वरूप भेदज्ञान से युक्त है, वे व्रत, नियम और शीलो को बिना धारण किये भी श्राग बाह्य द्रव्य रूप तपश्चरण को न करने हुये भी मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे पूर्वोक्त भेद ज्ञान रूप परमार्थ से युक्त होते हैं, इसलिये वे ही ज्ञानी भी होते हैं । और जब ज्ञानी होते हैं तो ज्ञानियों को मोक्ष होना ही चाहिये । यहा पर कोई शका कर सकता है कि व्रत, नियम, शील और बहिरग तपश्चरण न करते हुये भी मोक्ष होनी है तो सकल्प विकल्प रहित जीवों के व्यापार होने हुये भी पाप नहीं है तथा तपश्चरण के बिना ही मोक्ष हो जाता है । तब तो फिर साख्य श्रोग शैव मतानुसार लागो का कहना ही ठीक हो गया । परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अनेक बार ऐसा बताया जा चुका है कि निर्विकल्प रूप तीन गुणितयो से युक्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका इस प्रकार के भेद ज्ञान से जो युक्त है उनको मोक्ष होता है । और इस प्रकार के भेद ज्ञान के काल में जो शुभ रूप मन, वचन, काय के व्यापार हैं जो कि परम्परा में मुक्ति के कारण होते हैं, वे भी नहीं रहते तो फिर अगुभ विषय कषाय के व्यापार रूप जो मन, वचन, काय को चेष्टा है वह तो बहा रहेगी ही कैसे ? क्योंकि चित्त में होने वाले रागभाव के नष्ट हो जाने पर बहा बहिरग विषयों में होने वाला व्यापार नहीं देखा जाता जैसे कि तुष के भीतर और तदुल के ऊपर की ललाई जहा दूर हो गई वहा फिर तुष का सद्भाव कैसे ? इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि के समय बाह्य विषय सम्बन्धी व्यापार कभी नहीं रह सकता । क्योंकि जैसे शीत और उष्ण के परस्पर विरोध है वैसे ही निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय कषाय रूप व्यापार इन दोनों के परस्पर विरोध है, दोनों एक जगह एक काल में नहीं रह सकते ॥ १६१ ॥

अथ शीततराग सम्यक्त्व स्वरूप शुद्धात्मभावना को छोड़कर एकाल रूप से पुण्यरूप शुभ चेष्टा को ही मुक्ति का कारण बताते हैं, उनके निराकरण करने के लिये श्राये स्पष्ट करते हैं —

परमदृढबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुणमिच्छन्ति ।

संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणता ॥ १६२ ॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति ।

संसारगमनहेतुं अपि मोक्खहेतुमजानन्तः ॥ १६२ ॥

अर्थ—जो लोग उपयुक्त परमार्थ से बाह्य हैं, परमार्थभूत भात्मा का जो अनुभव नहीं करते हैं वे लोग अपने भ्रमज्ञान भाव के द्वारा पुण्य को ही अश्रद्धा मान कर करते रहते हैं जो कि ससार को बनाये रखने का हेतु है क्योंकि वे लोग मोक्ष का कारण ज्ञान स्वरूप जो भात्मा उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति—इहं हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छतोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षण परमसामायिक पूर्व दीक्षाकाले प्रतिज्ञायपि चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्ब्रह्मज्ञानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्त-परमसामायिकमलममाना परमार्थबाह्या सतः ससारगमनहेतुत्वेन बधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छति । किं कुर्वन्त ? अभेदरत्नत्रयात्मक मोक्षकारणमज्ञानतः । अथवा द्वितीयव्याख्यान बधहेतुमपि पुण्य मोक्षहेतुमिच्छति । किं कुर्वन्त ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिक मोक्षकारणमज्ञानतः सत इति । किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रसन्नावो नास्ति । अथवा निश्चयव्रत तदेवेत्यभिप्रायः ।

इति वीतरागसम्यक्स्वरूपा शुद्धात्मोपादेयभावना बिना व्रततपश्चरणादिक पुण्यकारणमेव भवति तद्भावना-सहित पुनर्बहिरागसाधकत्वेन परंपरया मुक्तिकारणं चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गतः ।

एव गाथादशकेन पुण्याधिकार समाप्तः ॥

अथ निर्विकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन जीवादीसद्गुणमित्यादिसूत्रद्वय । तदनन्तर मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिविजयगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन । **बन्धस्त-सेदभावो** इत्यादि गाथात्रय । ततः पर पाप पुण्य च बधकारणमेवेति मुख्यतया **सोऽप्यव्यवहारो** इत्यादि सूत्रमेक । ततश्च मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **सम्पत्** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यंत तृतीयस्थले व्याख्यान करोति । तच्छपा ।

अथ तेषामज्ञानिना निश्चयमोक्षहेतु दर्शयति —

टीका—यह कितने ही ऐसे जीव हैं जो सकल कर्म के क्षय रूप मोक्ष को चाहते हुये भी और धारम से दीक्षा के समय निज परमात्म भावना में परिणत ऐसा जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस परम सामायिक को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करके भी चिदानन्दैक स्वभाव वाले शुद्धात्मा के सही श्रद्धान को और उसकी ठीक जानकारी को तथा तदनु रूप अनुष्ठान की सामर्थ्य को नहीं प्राप्त होने से उस पूर्वोक्त परम सामायिक को प्राप्त नहीं हो सकते हैं । अतः परमार्थ से वंचित रहते हुये ससार को ही बनाये रखने का हेतु ऐसे पुण्य को ही अपने भ्रमज्ञान भाव के द्वारा करते रहते हैं, क्योंकि वे लोग अभेद रत्नत्रयात्मक जो मोक्ष का कारण है उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं । अथवा दूसरी तरह से यो कहो कि जो पुण्य, कर्मबन्ध का हेतु है उसको मोक्ष का हेतु मानते हैं, क्योंकि वे पूर्वोक्त अभेद रत्नत्रयात्मक परम सामायिक रूप जो मोक्ष का कारण है उसे नहीं प्राप्त कर पाते हैं । दूसरी बात यह है कि निर्विकल्प समाधि के काल में व्रत या अव्रत का कोई भी प्रकार के सकल्प विकल्प का अवसर ही नहीं रहता, इसी का नाम वास्तविक व्रत या निश्चयव्रत है । इसका अभिप्राय यह है कि वीतराग सम्यक्त्व रूप जो शुद्धात्मा की उपादेय भावना है उसके बिना किया हुआ व्रत, तपश्चरणादिक रूप अनुष्ठान केवल पुण्य का कारण होता है किन्तु उम शुद्धात्मा की भावना सहित जो अनुष्ठान है वह मुक्ति का बाहरी साधन है इसलिये वह भी परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाये समाप्त हुई ॥ १६२ ॥

इस प्रकार दश गाथाओं द्वारा पुण्याधिकार समाप्त हो गया । अब इसके आगे विकल्प सहित-पना होने के कारण से तथा पर का आश्रय रखने के हेतु से, निश्चय से पाप अधिकार के कहने की मुख्यता

से अथवा निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग की मुख्यता से 'जीवादी सहृण' इत्यादि दो सूत्र कहेंगे। इसके बाद (वत्स्यसेद भावो) इत्यादि तीन गाथाये हैं जो कि सम्यक्वादि जीव के गुण हैं उनके आवरण के कहने की मुख्यता से हैं। इसके बाद (सो सन्वणाण) इत्यादि एक गाथा ऐसी आती है जिसमे पाप और पुण्य दोनों ही बन्ध के कारण हैं ऐसा कथन है। उसके बाद मोक्ष का कारणभूत जो जीव ब्रह्म उसका आवरण का कथन करने वाली अर्थात् उसकी पराधीनता का वर्णन करने वाली (सम्मत्त) इत्यादि तीन गाथाये हैं। इस तरह से इस आगे आने वाले तीसरे स्थल के गाथाओं की यह समुदाय पातनिका है।

अथ पूर्वोक्त अज्ञानी जीवों के लिए जो वास्तव में मोक्ष का हेतु है उसे स्पष्ट कर बताते हैं।

जीवादी सहृणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो गाणं ।

रागादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१६३॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम् ।

रागादी परिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥१६३॥

अर्थ—जीवादिक पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान होना मो तो सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है, और उन्हीं जीवादि पदार्थों की यथार्थ जानकारी का नाम सम्यक् ज्ञान है तथा रागादि विभाव भावों को दूर कर देना ही सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार ये तीनों का एक साथ सम्मिलन मोक्ष का मार्ग है ॥१६३॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवादीसहृण सम्मत्त जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धान सम्यग्दर्शन तेसिमधिगमो गाणं तेषामेव नश्यविमोहविभ्रमरहितत्वनाधिगमो निश्चय परिज्ञान सम्यग्ज्ञान रागादी परिहरण चरणं तेषामेव सब्रह्मत्वेन रागादिपरिहारश्चारित्र एसो दु मोक्खपहो इत्येव व्यवहारमोक्षमार्ग । अथवा तेषामेव भूतार्थनाधिगताना पदार्थानां शुद्धात्मन सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकन निश्चयसम्यक्त्व । तेषामेव सम्यक्परिच्छि-
तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय सम्यग्ज्ञान । तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय कृत्वा रागादिविकल्परहित-
त्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थान निश्चयचारित्र्यमिति निश्चयमोक्षमार्ग । अथ निश्चयमोक्षमार्गत्रेता शुद्धात्मस्वरूपात् यदन्य-
च्छ्रुमाशुभमनोवचनकायव्यापाररूप कम तन्माक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति—

टीका—(जीवादिसहृण सम्मत्त) जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित जो सही श्रद्धान है वही सम्यक् दर्शन है। (तेसिमधिगमो गाणं) उन्हीं जीव आदि पदार्थों का सशय (अभय कोटि ज्ञान) विमोह (विपरीत एक कोटि ज्ञान) विभ्रम (अनिश्चित ज्ञान) इन तीनों से रहित जो यथार्थ अधिगम होता है, निर्णय कर लिया जाता है, जान लिया जाता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। (रागादि परिहरण चरण) और उन्हीं के सम्बन्ध से होने वाले जो रागादिक विभाव होते हैं उनको दूर हटा देना सो सम्यक् चारित्र कहलाता है। (एसो दु मोक्खपहो) यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। हा, भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में ठीक २ अवलोकन करना, निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। और उन्हीं जीवादि पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से पृथक् रूप में जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। और उनको शुद्धात्मा से भिन्न जानकर रागादिरूप विकल्प से रहित होते हुए अपनी शुद्धात्मा में अवस्थित होकर रहना, निश्चय सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष मार्ग हुआ ॥१६३॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है जो कि मोक्ष का मार्ग है, आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो भागों में विभक्त है। अनादिकाल का भूला यह भव्यात्मा जिन भगवान से जीवादि सप्त तत्वों का या नव पदार्थों का स्वरूप सुनता है और उनके बतलाने के अनुसार उनके स्वरूप को स्वीकार करता है। इसी प्रकार उन्हे अपनी प्रतीति में लाता है, और उनके आश्रय से अपने मन में उपजने वाले रागद्वेष को दूर करने का प्रक्रम रचता है। यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ। और निर्विकल्प अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप में उन सप्त तत्वों या नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न प्रकार का अर्थात् निर्विकल्पात्मक जानते हुए उससे ऊपर उठकर केवल अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में ही रुचि, प्रतीति तथा तल्लीनता प्राप्त करता है। इसको निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। व्यवहार रत्नत्रय कारणरूप होता है और निश्चय रत्नत्रय उसका कार्य है। अथवा यो कहो कि प्रमादात्मक गृहस्थपन से निकलकर जब यह जीव भ्रममत्तरूप समय को स्वीकार करता है उस समय उसकी दो धारायें होती हैं। प्रथम तो यह कि आत्मा के प्रतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों का परित्याग कर देना और दूसरी यह कि आत्मतल्लीन हो रहना। वहा समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करने रूप अवस्था विकल्पात्मक होती है, अतः वह व्यवहार मोक्ष मार्ग है जो कि प्रथम होती है। उसके अनन्तर यह भव्य जीव आत्मा में निर्विकल्प रूप से तल्लीन हो जाता है यह निश्चय मोक्ष मार्ग है जो कि दूसरी अवस्था है। इस प्रकार इन दोनों अवस्थाओं को सम्पन्न कर लेने पर आत्मा पूर्ण निराकुल होता है।

अब निश्चय मोक्षमार्ग का कारण ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप उससे भिन्न जो गुमाशुम मन वचन, काय के व्यापार रूप कम है वह वास्तव में मोक्ष मार्ग नहीं हो सकता है ऐसा प्रागे बतलाते हैं—

मोक्षं णिच्छयदुद्वहारे ण विदुसा पवटंति ।

परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६४॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे, न विद्वांसः प्रवर्तते ।

परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवति ॥१६४॥

अर्थ—निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार में वे ही लोग प्रवृत्ति करते हैं जो आत्मस्वरूप के यथार्थ वेत्ता नहीं हैं—प्रमादी हैं। क्योंकि कर्म का क्षय तो इन्हीं यतीस्वरो के होता है जो परमार्थभूत आत्मस्वरूप में तल्लीन होते हैं ॥ १६४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—मोक्षं णिच्छयदुद्वहारे निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये ण विदुसा पवटंति विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तते । कस्मात् ? परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रपरिणतिलक्षण निजशुद्धात्मभावनारूप परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवति यतः कारणादिति । एव मोक्षमार्गकथनरूपेण गायत्र्ययं गत ।

अब मोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादनं दर्शयति—

टीका— (मोक्षं णिच्छयदुद्वहारे ण विदुसा पवटंति) निश्चय के विषय को छोड़कर व्यवहार के विषय में विद्वान्, ज्ञानी जीव प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि (परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ

होदि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की एकाग्रतारूप परिणति है लक्षण जिसका ऐसा अपने शुद्धात्मा की भावनारूप परमार्थ को आश्रय करने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ॥ १६४ ॥

विशेषार्थ —“मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारे न विद्वास प्रवर्तन्ते”—निश्चय को छोड़कर बुद्धिमान लोग व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते अपितु अपनी आत्मा में ही रमण करते रहते हैं क्योंकि कर्मों का क्षय इसी से होता है, यह अध्यात्म शैली का कथन है। किंतु आगम शैली कहती है कि व्यवहार में प्रवृत्त किए बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता अतः “विद्वास व्यवहारेण प्रवर्तन्ते”—विद्वान लोग व्यवहार मोक्षमार्ग को (त्याग भाव को) स्वीकार करके उससे निश्चय मोक्षमार्ग (परम समाधि) को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मन की वचलता से यदि वह प्राप्त की हुई समाधि डूट भी जाय तो भी व्यवहार मोक्षमार्ग जो त्याग भाव है उसे नहीं छोड़ते, उसमें लगे रहते हैं ताकि उस त्याग भाव के बल से पुनः समाधि प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकें। हा, “निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारे प्रवर्तन्ते ते न विद्वास” जो लोग निश्चय मोक्षमार्ग को न प्राप्त करके केवल व्यवहार मोक्षमार्ग में ही मगन रहते हैं वे विद्वान कहलाने के योग्य नहीं हैं।

इस प्रकार मोक्षमार्ग का वर्णन करनेवाली दो गथाय हुई ।

अब मोक्ष के कारणमूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य जो जीव के गुण हैं उनका मिथ्यात्व प्रादि विपरीत कर्मों द्वारा वस्त्र के रंग के समान आच्छादन होता है इसे बनवाने है—

वत्स्यस्स सेदभावो जह् नासेदि मलविमेलनाच्छण्णो ।

मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादब्बं ॥१६५॥

वत्स्यस्स सेदभावो जह् नासेदि मलविमेलनाच्छण्णो ।

अण्णानमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादब्ब ॥१६६॥

वत्स्यस्स सेदभावो जह् नासेदि मलविमेलनाच्छण्णो ।

तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादब्ब ॥१६७॥ (त्रिकलम्)

वत्स्यस्स श्वेतमावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।

मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा च सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ॥१६५॥

वत्स्यस्स श्वेतमावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।

अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६६ ॥

वत्स्यस्स श्वेतमावो यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः ।

तथा तु कषायोच्छन्नं चारित्र्यं भवति ज्ञातव्यं ॥ १६७ ॥

अर्थ—जैसे वस्त्र का श्वेतपना रंग के सबध से मिट जाता है वैसे ही ममारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वमूल से, तथा ज्ञान गुण अज्ञानरूप मल से और चारित्र्य गुण कषायरूपी मल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

तात्पर्यवृत्ति—वत्स्यस्स श्वेतमावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सबधस्तेनाच्छन्नं । तथैव मिथ्यात्वमेलनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । वत्स्यस्स श्वेतमावो यथा नश्यति मन

विवेचना, मलस्य विशेषेण मेलना सबधस्तेनच्छन्न । तर्षबाज्ञानमेलनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्य । वस्त्रस्य श्वेतमात्रो यथा नश्यति मलविवेचना, मलस्य विशेषेण मेलना सबधस्तेनच्छन्नः । तथा कषायकर्म-मलेनावच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्य । इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्या-त्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षं प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रय गत ।

अथ कर्म स्वयमेव बधहेतु कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति—

टीका —जैसे मेल के विशेष सबध से उच्छिन्न होकर अर्थात् दब कर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सबध में दब कर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है । जैसे मेल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है । तथा जैसे मेल के विशेष सबध से वस्तु का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दब कर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्रगुण भी नष्ट हो जाता है ।

विशेषाद्य —जो लोग निमित्त कुछ भी नहीं करता ऐसा एकान्त ठह करते हैं उनको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय रूप कर्म मलो से क्रम से दबे हुए हैं । दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपड़े आदि को पत्थर आदि के नीचे दबा देते हैं वंसा नहीं है, किन्तु वर्तमान में ससारी आत्मा में सम्यक्त्वादि गुण हैं ही नहीं अपितु मिथ्यात्वादिक ही हैं । हा, उन मिथ्यात्वादिको को आत्मा से दूर कर देने पर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट हो जाते हैं जिस प्रकार कपड़े की स्वच्छता कपड़े में आये हुए मेल से नष्ट हो जाती है किन्तु उम मेल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है । (सारांश यह है कि निमित्त जन्य विशेषता को लक्ष्य में रखना ही चाहिए किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतात्साह नहीं होना चाहिए ।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं उनके प्रतिबिरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव है जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए है, होने नहीं देते । इस प्रकार का कथन करने वाली तीन गाथाये हुई ॥१६५-१६६-१६७॥

जबकि कर्म स्वयं बध का हेतु है तो फिर वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ऐसा आगे बताते हैं —

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो ।

संसारसमावण्णो णवि जाणवि सव्वदो सव्वं ॥१६८॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।

संसारसमापन्नो नापि जानाति सर्वतः सर्वं ॥१६८॥

अर्थ—आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जानने वाला देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है । अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से मम्युषं वस्तुओं को जान नहीं रहा है ।

सात्पर्यवृत्ति—सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपुसं-ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसावच्छन्नो भूषितः सन् । संसारसमावण्णो णवि जाणवि सव्वदो सव्वं । संसारसमापन्नः ससारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्म कर्तृ जीवस्य स्वयमेव बधरूप कथं मोक्षकारणं भवतीति । एव पापबन्धुष्व बधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ।

अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवा मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यन्ते—इति प्रकटीकरणेन—

टीका—(सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छणो) वह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से समस्त पदार्थों के देखने जानने रूप दर्शन और ज्ञान स्वभाव वाला है फिर भी अपने किये हुए कर्म कर्म रूपी मैल से ढका हुआ है। (समार समावण्णो एव जाणदि सव्वदो सव्व) ससार समापन्न है (रागद्वेषी हो रहा है) अत एव ससार में उलझा हुआ है इसलिए सर्व वस्तुओं को सब प्रकार से नहीं जान रहा है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि कर्म स्वयं ही जीव के लिए बंध स्वरूप है इसमें यह कर्म मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है। और जब मोक्ष का कारण नहीं हो सकता तो फिर वह कर्म चाहे पाप रूप हो या पुण्य रूप सारा का सारा बंध का ही कारण समझना चाहिए। इस प्रकार जैसे पाप बंध का कारण है वैसे पुण्य भी बंध का कारण है इस प्रकार का कथन इस गाथा में हुआ ॥१६८॥

अभी तक यह बतलाया गया है कि मोक्ष हेतुभूत जो जीव के सम्यक्त्वादि गुण हैं, वे मिथ्यात्वादि कर्म के द्वारा ढके हुए हैं, किन्तु अब आगे यह बताना है कि उन सम्यक्त्वादि गुणों का आधाग भूत जा गुणी जीव है, वह भी मिथ्यात्वादि कर्मों से प्रच्छादित हो रहा है—

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्त जिणवरोहं परिकहियं ।

तत्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठोत्ति णायव्वो ॥ १६९ ॥

णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरोहं परिकहियं ।

तत्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १७० ॥

चारित्तं पडिणिबद्धं कसाय जिणवरोहं परिकहियं ।

तत्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १७१ ॥

सम्यक्त्वं प्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरं परिकथितं ।

तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्य ॥ १६९ ॥

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरं परिकथितं ।

तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्य ॥ १७० ॥

चारित्र्य प्रतिनिबद्धं कषायो जिनवरं परिकथित ।

तस्योदयेन जीवोऽचारित्र्यो भवति ज्ञातव्य ॥ १७१ ॥

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। तथा चारित्र्य गुण का रोकने वाला कषायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र्य रहित अर्थात् अचारित्र्यी हो रहा है ऐसा जिनन्द्र भगवान ने बतलाया है ॥ १६९-१७०-१७१ ॥

तात्पर्ययुक्ति—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिबन्धक मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरं परिकथितं तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिभवतीति ज्ञातव्य । ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिबन्धकअज्ञानं भवतीति जिनवरं परिकथितं तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी

भवतीति ज्ञातव्य । चारित्र्यस्य प्रतिनिबद्ध प्रतिकृष्य क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरं परिकथित तत्सोक्त्येन जीवो-
ऽचरितो भवतीति ज्ञातव्य । एव मोक्षहेतुभूतो योऽस्ती जीवो गुणी तत्पञ्चादयनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रय गत । इति
सम्यक्त्वादिविषयमुपा मुक्तिकारण तद्गुणपरिवृतो वा जीवो मुक्तिकारण भवति तस्माच्छुद्धजीवादिमन्त्र शुभाशुभमनो-
वचनकायव्यापाररूप, तद्ब्यापारेणोपावित वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारण न भवतीति सत्त्वा हेतु त्वाज्यमिति व्याख्यान-
मुख्यत्वेन गाथानवक गत । द्वितीयापातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गत । अत्राह शिष्य । **जीवादी**
सद्गृहणमित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यान कृत तिष्ठति कथं पापाधिकार इति । तत्र परिहार — यद्यपि व्यवहारमोक्ष-
मार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेय परम्परया जीवस्य पवित्रताकरणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्व्या-
लवनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येक कारण निर्विकल्पसमाधिरताना व्यवहारविकल्पलवननेन स्वरूपात्पतित मन्त्र-
नीति द्वितीय कारण । इति निश्चयनयापेक्षया पाप । अथवा सम्यक्त्वादिविषयभूतानां मिथ्यात्ववादीनां व्याख्यान कृत-
मिति वा पापाधिकार । ॥

तत्रैव सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन मृगाररहितपान्नवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय
निष्कृत ॥

इति श्री जयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिनक्षणायां तात्पर्यवृत्ती स्थानत्रयसमुवायेनको-
नविशतिगाथाभिप्रेतार्थं पुण्यपापाधिकार समाप्त ।

टीका—जिन भगवान ने बतलाया है कि सम्यक्त्व को रोकने वाला उसका प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व
नाम का कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि बन रहा है ऐसा जानना चाहिये । ज्ञान को रोकने
वाला उसका प्रतिपक्षभूत अज्ञान है ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है । उसके उदय से जीव अज्ञानी है ऐसा
जानना चाहिये । इसी प्रकार जिनेंद्र भगवान ने बतलाया है कि चारित्र्य को रोकनेवाला उसका प्रतिपक्ष
भूत क्रोधादि कषाय है जिसके उदय से यह जीव चारित्र्य से रहित अचारित्री हो रहा है ऐसा जानना
चाहिये इस प्रकार मोक्ष का कारणभूत जो यह जीव गुणी है उसके आवरण के कथन की मुख्यता से तीन
गाथायें पूर्ण हुई ॥ १६६-१७०-१७१ ॥

सागश यह है कि सम्यक्त्वादि जीव के गुण हैं सो ह मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों से
परिणामन करनेवाला जीव स्वयं मोक्ष का कारण है । किन्तु उस शुद्ध जीव से पृथग्भूत शुभ व अशुभ मन
वचन काय के व्यापार रूप कर्म हैं अथवा उस व्यापार से उपाजित किये हुए अदृष्ट रूप शुभाशुभ कर्म हैं
वे मोक्ष के कारण नहीं हैं । अतः वे हेतु हैं त्याज्य हैं (यतियों के लिये समादरणीय नहीं हैं) । इस प्रकार
के व्याख्यान से नव गाथायें पूर्ण हुई । दूसरे पातनिका के अभिप्राय से पापाधिकार के व्याख्यान की
मुख्यता से कथन पूर्ण हुआ ।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि इस अधिकार में आचार्य ने 'जीवादी सद्गृहण' इत्यादि रूप से
व्यवहार रत्नत्रय का कथन किया है फिर यह पापाधिकार कैसे हो सकता है । इस शका का उत्तर यह
है कि यद्यपि व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय रत्नत्रय जो उपादेय भूत है, उसका कारण होने से उपादेय है
(ग्रहण करने योग्य है) तथा परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण है, इससे पवित्र भी है तथापि बाह्य
द्रव्यों के आलम्बन को लिए हुए होता है इसलिए पराधीन होने से वह (मोक्ष होने से पहले ही) नाश
को प्राप्त होता है यह एक कारण है । दूसरा कारण यह है कि निर्विकल्प समाधि में तत्पर होने
वाले योगियों का अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतन व्यवहार विकल्पो के आलम्बन से हो जाता है । इसलिए
व्यवहार मोक्ष मार्ग पाप रूप है अथवा इस अधिकार से सम्यक्त्व आदि जीव के गुणों से प्रतिपक्षी मिथ्या-
त्व आदि भावों का व्याख्यान किया गया है इससे भी यह पापाधिकार है ।

इस प्रकार व्यवहारमय से कर्म यद्यपि पुण्य पापरूप दो प्रकार का है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा तो श्रु गार रहित पात्र के समान पुद्गलरूप से एक रूप होकर राग भूमि से निकल गया ।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत गुडात्मा की अनुभूति नक्षण को रचने वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार के व्याख्यान में तीन स्थल के समुदाय रूप में १६ गाथाओं से यह पुण्यपापाधिकार नाम का चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ।

इति चतुर्थं महाधिकार समाप्त ।

पांचवा महाधिकार (आस्रव तत्व)

तात्पर्यवृत्ति — अथ प्रविरस्यास्रव । यत्र सम्यग्भेदभावना परिणत कारणसमयमारूप सवरो नास्ति तत्रास्रवा भवतीति सवरो विपसद्धारण, मतदशगाथापर्यन्त आस्रवव्याख्यान करोति । तत्र प्रथमतस्तान्त्र, बीतराग-सम्यग्ग्रहणैर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न मतीति मत्सेरेण सवरव्याख्यानरूपेण 'मिच्छन्तं अविरमण' इत्यादि गाथात्रय । तदनंतर रागद्वेषमोहरूपाणा पुनरपि विशेषविवरणमुपपत्त्वेन 'भावो रागादीजुदो' इत्यादि स्वतन्त्रगाथा त्रय । तत पर केवलज्ञानादिभ्यक्तिकारणमयमारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य ज्ञानिजीवस्य रागादिभाव प्रत्ययनिर्घमुक्यत्वेन चतुर्विह इत्यादि गाथात्रय । अत पर तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि बीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्यय निर्वेद्य मुक्यता सव्वे पुव्वणिबद्धा इत्यादि सूत्र चतुष्टय । तदनंतर नवतरद्रव्यकर्माश्रवस्वीदयागतद्रव्यप्रत्यया कारण भवति तेषा च द्रव्यप्रत्ययाना जीवगनरागादि-भावप्रत्यया कारणमिति कारण व्याख्यान मुक्यत्वेन रागो दोसो इत्यादिसूत्रचतुष्टय कथयति, इति समुदायेन सप्त-दशगाथाभि पचस्थाने आस्रवाधिकारसमुदायपाननिका ।

अथ द्रव्यभावाश्रवस्वरूप कथयति ।

जहा पर सम्यक् रूप से भेदभावना में परिणत जो कारण समयसार रूप सवर नहीं होता, वहा आस्रव होता है जो कि सवर का प्रतिपक्षी है उसी आस्रव का व्याख्यान आचार्य देव १७ गाथाओं में करते हैं । उसमें पहले 'मिच्छन्तं अविरमण' आदि तीन गाथाएँ हैं उसमें संक्षेप में यह बतलाया है कि बीतराग सम्यग्ग्रहण जीव के रागद्वेष और मोहरूप आस्रव भाव नहीं होते उसके बाद 'भावो रागादीजुदो' इत्यादि तीन गाथायें स्वतन्त्र रूप से कही गई हैं जिनमें राग द्वेष और मोहरूप आस्रवों का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है । उसके बाद 'चतुर्विह' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिसमें बताया है कि केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार है उसका कारणभूत जो निश्चय रत्नत्रय उसमें परिणत होने वाला जो ज्ञानी जीव है उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते । इसके पश्चात् 'सव्वे पुव्वणिबद्धा' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता में यह बतलाया है कि उस ज्ञानी जीव के यद्यपि मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों का अस्तित्व पाया जाता है फिर भी बीतराग चारित्र की भावना के बल से उसके रागादिरूप भाव प्रत्यय नहीं होते । उसके बाद 'रागो दोसो' इत्यादि चार गाथायें हैं जिनमें मुख्यता से यह बतलाया है कि नवीन द्रव्य कर्म के जाने में (आस्रव) कारण भूत जो द्रव्य प्रत्यय हैं उनके भी कारण जीवगत

ऊँच प्रकार से व्याख्याति टीकाकार की अपेक्षा से लिया गया है । इस आस्रव तत्व की १७ गाथायें श्री जय-सेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के सवर प्रकरण में मुद्रित हैं और सवर प्रकरण की १४ गाथायें आस्रव तत्व में मुद्रित हैं ।

रागादि भाव प्रत्यय हैं । इस प्रकार सब मिल कर पाच स्थलों की १७ गाथाओं से आनेवाला आसव अधिकार की समुदाय पातनिका हुई ।

आगे द्रव्य और भाव आसव का स्वरूप कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कषाय जोगा य सण्णसण्णावु ।

बहुविहमेवा जीवे तस्सेव अण्णपरिणामा ॥१७२॥

णाणावरणादीयस्स ते वु कम्मस्स कारणं होति ।

तेसिपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१७३॥

मिध्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।

बहुविधमेवा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १७२ ॥

ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवति ।

तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १७३ ॥

अर्थ—मिध्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कारणरूप आसव हैं । जो कि चेतना के धीरे जड़ पुद्गल के विकार रूप से दो दो प्रकार के हैं । उनमें से चेतन के विकार हैं वे जीव में बहुत भेद लिए हुए हैं । वे उस जीव के ही अनेक रूप परिणाम हैं । धीरे जो मिध्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं वे ज्ञानावरणादि रूप कर्मों के बंध के कारण हैं । धीरे उन मिध्यात्व आदि भावों को भी रागद्वेष आदि भावों का करने वाला जीव कारण होता है ।

तात्पर्यवृत्ति—मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य सण्णसण्णावु सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रव्य । मिध्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा, कथभूता, भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञासंज्ञाश्चेतनाचेतना अथवा संज्ञा, आहारमयमधुनपरिग्रहरूपा । असंज्ञा, ईषत्संज्ञा, इहलोककाक्षापरलोककाक्षाकुपमर्माक्षारूपास्तिस्र कथभूता, एते बहुविह मेवा जीवे । उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधा, क्व ? जीवे अधिकरणभूते । पुनरपि कथभूता तस्सेव अण्णपरिणामा अनन्यपरिणामा, अमिश्रपरिणामा, तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति ।

ज्ञानावरणादीयस्स ते वु कम्मस्स कारणं होति ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्यया, उदयागता सन्, निश्चयचारित्रा-विनाश्रुतवीतरागसम्पत्त्वामात्रे सति बुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यदृष्टिष्वस्य द्रव्यकर्मलक्ष्यस्य कारणभूता भवति । **तेसिपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो** तेषा च द्रव्यप्रत्ययानां जीव कारणं भवति । कथभूत ? रागद्वेषादिभावकर रागद्वेषादिभावपरिणाम । अयमत्रभावार्थ—द्रव्यप्रत्ययोदये सति बुद्धात्मस्वरूपभावना त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति नैवोदयमात्रेण, यदि उदयमात्रेण बन्धोभवति ? तदा सर्वदा समार एव । कस्मात् ? इति चेत् ससांनिगां सर्वदेव कर्मादियस्य विद्यमानत्वात् । तर्हि कर्मादय बंधकारण न भवति ? इति चेत् तत्र निविकल्पसमाधिप्रवृत्त्या मोहसहितकर्मादयो व्यवहारेण निमित्त भवति । निश्चयेन पुन अशुद्धोपादानकारण स्वकीय-रागाद्यज्ञानभाव एव भवति ।

अथ भीतरागस्ववेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावानुवाणामभाव दर्शयति —

टीका.—(मिच्छत अविरमण कसाय जोगाय सणसण्णादु (यहा 'सणसण्णा' इसमे प्राकृत व्याकरण के अनुसार अकार का लोप हो गया है। मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगरूप बध के कारण वे भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से भाव प्रत्यय चेतन स्वरूप व द्रव्य प्रत्यय जड स्वरूप हैं। अथवा आहार, भय, मैथुन और पण्यह ये चार सजाये हैं और इम लोक की आकाक्षा, पर लोक की आकाक्षा तथा कुधर्म की आकाक्षा रूप तीन असजाये हैं अर्थात् ईषत सजाये हैं। ये कैसी है कि (बहुविह भेदा जीवे) आधारभूत जीवमे वे मजाये उत्तर भेद से अनेक प्रकार की होती है। (तस्सेव अणभगपरिणामी) जो कि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उस जीव के परिणाम स्वरूप उससे अभिन्न होते हैं। (गाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होति) उदय मे आए हुए जो पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय हैं वे निश्चय चारित्र के साथ मे अविनाभाव रखने वाले अर्थात् उसके बिना नहीं होने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन के अभाव मे शुद्धात्मीक स्वरूप मे ज्युत होने वाले जीवों के ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार द्रव्य कर्मास्त्र के कारण होते हैं। (तेसिपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो) और इन द्रव्य प्रत्ययों का भी कारण राग द्वेषादि भावों का करने वाला (तद्रूप परिणत रहने वाला) ससारी जीव होता है। भावार्थ यह है कि (पूर्व मे बाधे हुए) द्रव्य कर्मों का उदय होने पर जब यह जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना को छोड़कर रागादिरूप मे परिणमन करता है तब इसके नवीन द्रव्य कर्मों का बध होता है। किन्तु केवल द्रव्य प्रत्ययों के उदयमात्र से बध नहीं होता। क्योंकि यदि उदयमात्र से ही बध होने लगे तो समाप्त बना ही रहेगा—कभी उसका अन्त नहीं हो सकता क्योंकि ससारी जीवों के कर्मों का उदय सदा ही बना रहता है। इस पर शिष्य शका करता है कि कर्मोदय तो बध का कारण नहीं ठहरा? आचार्य समाधान करते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि निर्विकल्प समाधि मे अष्ट होने वाले जीवों के कर्म का उदय मोह सहित ही होता है जो कि व्यवहार से कर्म बध का निमित्त होता है, किन्तु निश्चयनय से तो अशुद्ध उपादान है कारण जिसका ऐसा जीव का अपना रागादि अज्ञान भाव ही कर्म बध का कारण है ॥ १७२-१७३ ॥

विशेषार्थ—सारांश यह है कि कर्मोदय के बिना नवीन बध नहीं होता किन्तु कर्मोदय के साथ साथ जो जीव के रागादि रूप विकार भाव हाते हैं तब ही नवीन बध होता है। बध के कारण मूल मे जीव के रागद्वेषादि विकार भाव ही हैं। जहां वे रागद्वेषादि विकार भाव नाष्ट हुए वहां वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीव के बध नहीं होता केवल योगजन्य आसुवभाव होता है।

अब आगे बतलाते हैं कि वीतराग स्वसर्वेदन ज्ञान के धारक जीव के रागद्वेष मोहरूप आवासकों का अभाव है—

पत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।

संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१७४॥

नास्ति त्वास्त्रबन्धं सम्यग्दृष्टेरास्त्रवनिरोधः ।

संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबधन् ॥१७४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव मूलक नवीन कर्मों का बध नहीं होता किन्तु उनके आस्रवका निरोध ही होता है और पूर्वमे बाधे हुये मला मे विद्यमान कर्मों को जानता ही है परन्तु नवीन कर्म बध नहीं करता है ॥१७४॥

सत्यवृत्तिः—एतत्स्थितिः इत्यादि पदसङ्गनाकेषु व्याख्यान क्रियते एतत्स्थितिं तु आसन्नबन्धो सम्मादिद्विस्त आसन्नबन्धो न भवति, न विच्छेते । की ? तौ आसन्नबन्धो । गाथायां पुन सभाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृत । कस्यासन्नबन्धो न स्त ? सम्यग्दृष्टेर्जावित्यम् । तर्हि किमस्ति ? आसन्नबन्धोऽसन्नबन्धोऽस्ति सो स सम्यग्दृष्टिं संते सति विद्यमानानि ते तानि पुष्पविषयद्वे पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादि कर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादप्रत्ययात् जायन्ति जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति किं कुर्वन् सन् ? अब्रह्मतो विशिष्टभेद-ज्ञानबलाश्रितराग्यमिन्नवाग्यवचनम्—अनुपाज्यम्, इति । अयमत्र आचार्य । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति तत्र योऽमी मरागसम्यग्दृष्टि ।

सोलसपणवीक्षणम् दसचउच्छक्केक बन्धो छिप्पणा
दुगतीसचदुरपुब्बे एणसोलसजोगिणी इक्को

इत्यादि बध्विभगकथितबध्विच्छेदकमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबधक । सप्ताधिकसप्तति-प्रकृतीनामल्पस्थित्यनुमागरूपाणां बधकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति । तेन कारणेनाबधक इति तथैवाविरति-सम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासन्न सरागसम्यक्त्वपर्यंत, अथस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबधक । उपरिभगुणस्थानापेक्षया पुनर्बधक । ततश्च बीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टय सर्वथा बधो नास्तीति न वक्तव्यम् । इति आत्मवचिपञ्चद्वारेण सवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुक्त्यत्वेन गाथात्रयं गत ।

अथ रागद्वेषमोहूपमाभानामासन्नबन्ध निश्चिनोति—

टीका—एतत्स्थितिः आदि पदोका पृथक् पृथक् अर्थं बतलाते हैं कि (एतत्स्थितिं तु आसन्नबन्धो सम्मादिद्विस्त आसन्नबन्धो न भवति) यहा गाथा मे आसन्नबन्ध और बध इन दोनों को समाहारद्वन्द्व समास रूप से लिया है, अतः द्विवचन के स्थान पर एक वचन है । कर्मों का आसन्नबन्ध और बध सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होता उसके तो आसन्नबन्ध का निरोध ही है लक्षण जिसका ऐसा सवरही होता है । (सो) वह सम्यग्दृष्टि जीव (सते ते पुष्पविषयद्वे) सत्ता मे विद्यमान पूर्व निबद्ध ज्ञानावरणादि कर्म उनको अथवा प्रत्ययो की अपेक्षा से कहे तो पूर्व निबद्ध मिथ्यात्वाद प्रत्ययो को (जागदि) जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही जानता रहता है । क्या करता हुआ जानता है कि ? (अब्रह्मतो) विशिष्ट (समाधि स्वरूप) भेदज्ञान के बल से वह नवीन कर्मों को नहीं वाधता हुआ जानता है । भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव सराग और बीतराग के भेद से दो प्रकार का है । उसमे से बीतराग सम्यग्दृष्टि जीव तो नवीन कर्म बध को सर्वथा नहीं करता जिसको कि लक्ष्य मे लेकर यहा कथन किया गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव अपने अपने गुणस्थान के क्रम से बध व्युच्छिन्नी करने वाला होता है जैसा कि “सोलसपणवीक्षणम् दसचउच्छक्केक बधवोछिप्पणा । दुगतीसचदुरपुब्बेणसोलसजोगिणी इक्को ।” इत्यादि बध त्रिभोगीमे बताये हुये बध विच्छेद के क्रम से विचार कर देखे तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अथवा सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो मे विच्छिन्न हुई ४३ प्रकृतियों का बध करने वाला नहीं होता किन्तु ७७ प्रकृतियों का अल्प स्थिती अनुभाग के रूपमे बधक भी होता है किन्तु वह ससार की स्थिती का छेदक होता है (परीत ससारी बन कर रहता है) इस कारण से वह अब्रह्मक (ईषत् बधकार) होता है । इस प्रकार अविरत चतुर्थगुणस्थान के ऊपर के गुणस्थानो मे भी जहा तक सराग सम्यग्दर्शन रहता है वहा तक जहा जैसा संभव है वहा तारतम्यरूप से नीचले गुणस्थानो की अपेक्षा से अब्रह्मक होता जाता है । किन्तु उपरिभगुणस्थानो की अपेक्षा मे देखने पर वह बधक भी है । हा, जहा सराग सम्यक्त्व के आगे बीतराग सम्यक्त्व होता है वह साक्षात् स्पष्ट रूप से अब्रह्मक होता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि हम भी सम्यग्दृष्टि हैं और

सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं होता इसलिये हमे भी बंध नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये । (क्योंकि यहाँ पर जितना भी कथन है वह बीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में लेकर किया गया है जैसा कि आचार्य ने स्थान स्थान पर बर्णन किया है) ॥१७४॥

इस प्रकार आश्रव का विपक्षी जो सवर उसकी मक्षेप से सूचना के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गायाय पूर्ण हुई ।

इसमें आगे यह निर्णय करते हैं कि रागद्वेष और माह ये ही आश्रव हैं ।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि ।

रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१७५॥

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बन्धको भवति ।

रागादिविप्रमुक्तोऽबन्धको जायको नवरि ॥१७५॥

अर्थ—जीव में किया हुआ रागादियुक्त अज्ञानभाव ही नवीन कर्म के बन्ध होने में कारण होता है । किन्तु रागादि से रहित आत्मा का मात्र ज्ञान बन्ध का कारण नहीं होता । वह तो केवल मात्र ज्ञानने वाला ही जाना है ॥१७५॥

तात्पर्यवृत्ति—भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बन्धगो होदि यथा अयस्कानोपल सपक्कंजो भाव परिणतिविशेष, कालायसमूचि प्रेरयति । तथा जीवेण कृतो रागाद्यज्ञानजो भाव परिणतिविशेष कर्ता, शुद्धस्वभावेन मानवमवयवमनादिमनवार्त्तमुद्योतिन निरूपनेपगुणमपि जीव शुद्धस्वभावात्प्रच्युत कृत्वा कर्मबन्ध कर्तुं प्रेरयति **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कातोपल सपक्कंरहितो भाव परिणतिविशेष कालायस सूचि न प्रेरयति तथा रागादिज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबन्धक सन् नवरि किन्तु जीव कर्मबन्ध कर्तुं न प्रेरयति । तर्हि किं करानि ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति । नतो जायते निरूपरागचैतन्यचिच्छमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाङ्गिभ्रा रागद्वेषमाहा एव बन्धकारणमिति ।

अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य समग्र दशयति—

टीका—(भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बन्धगो होदि) जैसे कि चुम्बक पाषाण के ससर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष वह लोहे की सूची को हिलाने डुलाने वाला होता है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ रागादिरूप अज्ञान भाव ही—जीव का वह परिणाम विशेष ही—जो यह जीव अपने सहज शुद्ध भाव के द्वारा सदानन्दमय, कभी भी नष्ट नहीं होने वाला, सदा से बना रहने वाला, अनन्त शक्ति का धारक एवं किसी भी प्रकार के दुःससर्ग से रहित स्वयं उद्योतमान होने वाला है उस जीव को उसके उस शुद्ध रूप से चिगाकर कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित करता है । (रागादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि) किन्तु जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के ससर्ग से रहित भाव लोहे की सुई को नहीं हिलाता है उसी प्रकार रागादि से रहित जो भाव है वह अबन्ध होता है वह इस जीव को कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वह तो इसे पूर्वोक्त शुद्ध स्वभाव में ही स्थित कर रखता है (अथर्त्ति ज्ञाता दृष्टा रखता है) । इस कथन से यह जाना जाता है कि किसी भी प्रकार के ससर्ग से रहित चिच्छमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उसमें भिन्न स्वरूप जो रागद्वेष मोह रूप भाव वे बन्ध के कारण हैं ॥१७५॥

विशेषार्थ—रागद्वेष माह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बन्ध का कारण होता है । किन्तु उपयुक्त तीनों बिभावों से रहित आत्मा का शुद्ध आनन्दमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं

होता । हा, राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्ध होता है, द्वेषभाव (भवेत्ससकापन) से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह भाव (मिथ्यात्व) से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है । किन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनों से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है ।

यह रागादि से रहित शुद्ध भाव कैसे होता है यह भागे बतलाते हैं—

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विटे ।

जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि ॥१७६॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृत्ते ।

जीवस्य कर्म भावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१७६॥

अर्थ—जैसे कुछ या बेल का फल पककर गिर जाने पर वह फिर मुख्य या बेल से संबन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी जीव में होने वाला कर्म भाव पककर भङ्ग जाने पर फिर उदय को प्राप्त नहीं होता है ॥१७६॥

तात्पर्यवृत्ति—पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विटे यथा पक्के फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृत्ते न बध्यते । जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदय-जनितमुखदुःखरूपकर्मभावे, कर्मव्यपि पतिते गलिते निर्जिह्वं सति रागद्वेषमोहमावात् पुनरपि तत्कर्म बन्ध नायाति । नैवोदय च । ततो रागाद्यभावात्, शुद्धभावः सम्भवति । तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्त्ववितिबलेन सवर-पूर्विका निजरा भवतीत्यर्थः ।

अथ ज्ञानिनो नवनरद्वयसुखाभाव दर्शयति—

टीका—(पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विटे) जैसे पक्के फल के गिर जाने पर फिर वह टहनी में वापिस नहीं लगता । (जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि) उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव के साता वेदनीय च असाता वेदनीय के उदय जनित मुख दुःख रूप कर्मों की अवस्था फल देकर भङ्गजाने पर फिर वह कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता और न फिर उदय में हो जाता है । क्योंकि ज्ञानी जीव के रागद्वेष और मोहभाव नहीं होता है इसलिए रागादि भावों के नहीं होने से उसके शुद्धभाव हो जाता है अतः उस सम्यग्दृष्टि जीव के विकार रहित स्वसवेदन ज्ञान के बल से सवर पूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसा समझना चाहिए ।

बिषेयाचं—रागी जीव के जो कर्म उदय होता है वह भोगभूमिया के समान आप जाते समय वह अपनी सन्तान को उत्पन्न कर जाता है, किन्तु राग रहित विरागी जीव का कर्म नपु सक के समान अपना खेल दिखाकर निःसन्तान नष्ट हो जाता है ।

भागे ज्ञानी (विरागी जीव के नवीन द्वयसुख भी नहीं होता है ऐसा दिखलाते हैं—

पुट्ठीपिडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।

कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स ॥१७७॥

पृथ्वीपिडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।

कर्मसरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१७७॥

अर्थ—उस पूर्वोक्त विरागी जीव के पहले अज्ञान अवस्थामे बंधे हुए सबही कर्म पृथ्वी पिंड के समान होते हैं जो कि उसके कामाणुशरीर के साथ बंधे हुए होते हैं ॥ १७७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**पुट्वीपीडसमाणा पुष्पणिबद्धा दु पञ्चया तस्स** पृथ्वीपिंडसमाना, अर्थाच्चित्करा भवति के ते? पुष्पनिबद्धा मिथ्यात्वाद्विषयप्रत्यया कस्य? तस्य बीतरागसम्यग्दृष्टीर्जीवस्य । यतो रागाद्यजनकत्वादकिञ्चित्करात्मनः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति । तर्हि पृथ्वीपिंडसमाना सत केन रूपेण निष्ठति ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा** सद्येपि साणित्सस कामाणुशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण । कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति । किञ्च यद्यपि द्रव्यप्रत्यया कामाणुशरीररूपेण मुष्टिबद्धविवर्तित इति तथापि उदयामात्रे सुखदुःख विकृतिरूपा बाधा न कुर्वन्ति । तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्माम्बाभाव इति भावार्थः । एव रागद्वेषमोहरूपास्रवाणा विशेषविवरणरूपेण स्वतन्त्रगाथात्रय मतः ।

अथ कथं ज्ञानी निराश्रयः ? इति पृच्छन्ति ।

टीका—(पुट्वीपीडसमाणा पुष्पणिबद्धा दु पञ्चया तस्स) उस बीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व-कालमे निबद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय रागादिभावो के जनक न होने मे पृथ्वी पिंड के समान अकार्यकारी होते हैं क्योंकि वे उसके नवीन द्रव्य कर्म का बंध नहीं करते । अब जबकि वे नवीन द्रव्य कर्म का बंध नहीं करते तो पृथ्वीपिंड के समान कैसे रहते हैं ? (कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सद्येपि साणित्सस) निर्मल आत्मानुभूति (शुद्धात्मा के साथ तन्मयता) ही है लक्षण जिसका ऐसा भेदज्ञान जिसके है उस ज्ञानीके सब ही कर्म कामाणु शरीर रूप से ही रहते हैं । रागद्वेषादि भावो मे जीव को परिणमन नहीं कराते हैं । यद्यपि उस ज्ञानी जीव के द्रव्य प्रत्यय मुट्टी मे रखे हुए विष समान कामाणु शरीर से संगृह्य रहते हैं तो भी उदय का अभाव होने मे फलदान शक्ति के नहीं होने पर वे सब उसको मुख या दुखरूपी विकारमई बाधा को नहीं कर पाते हैं । इसी कारण से ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आश्रय नहीं होता ॥ १७७ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव आश्रय रहित किम प्रकार होता है—

चहुविह अणेयमेयं बंधते णाणदंसणगुणेहि ।

समये समये जह्या तेण अबंधुति णाणी दु ॥ १७८ ॥

चतुर्विधा अनेकमेव बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाम्यां ।

समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥ १७८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप चार कर्म बंध के कारण हैं वे आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा समय समय पर अनेक प्रकार के नवीन कर्मों को बाधते रहते हैं इसलिए ज्ञानी तो स्वयं अबधक हो है ॥ १७८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—**चहुविह अणेयमेयं बंधते णाणदंसणगुणेहि** चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वः । चतुर्विधा मूलप्रत्यया कर्तारः । ज्ञानावरणादिभेदमिश्रमनेकविध कर्म कुर्वन्ति । काम्या कृत्वा ? ज्ञानदर्शन-गुणाम्या । दर्शनज्ञानगुणी कथं बंधकारणभूती भवतः, इति चेत्—अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागता सत जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वय रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणत ज्ञानदर्शनगुणद्वय बंधकारण भवति । वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावपरिणत ज्ञानदर्शनगुणद्वय, अज्ञानभेद मण्यते तत् । ‘अणाणदंसणगुणेहि’ इति

पाठांतर केचन पठति । समए समए जह्मा तेण अबंधुत्ति जाणी कु समये समये यस्मात् प्रत्यया कर्तार । ज्ञान-दर्शनगुण रागाद्यज्ञानपरिणत कृत्वा नवतर कर्म कुर्वति । तेन कारणेन भेदज्ञानी बंधको न भवति । किं तु ज्ञानदर्शन-रजकत्वेन प्रत्यया एव बंधका, इति ज्ञानिनो निरासुबत्व सिद्ध ।

अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति—

टीका—(चहुविह भ्रमोयभेय बंधते णाणदसणगुणेहि) यहा पर 'चहुविह' यह शब्द बहुवचन है फिर ह्रस्वान्त पाठ है क्योंकि प्राकृत के व्याकरण के अनुसार ऐसा होता है । मिथ्यात्वादिरूप चार प्रकार के मूल प्रत्यय हैं, वे ज्ञानावरणादि के भेद से अनेक प्रकार के ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा बंध को करने वाले हैं । यहा यदि कोई शका करे कि ज्ञान गुण और दर्शन गुण तो आत्मा के गुण हैं अतः वे बन्ध के कारण कैसे हो सकते हैं ? उसका समाधान करते हैं कि उदय मे ध्राये हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञानभाव के रूप मे परिणामा देते हैं । उस समय वह अज्ञानभाव मे परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन बंध का कारण होता है । वास्तव मे वह रागादिरूप अज्ञानभाव में परिणत हुआ ज्ञान और दर्शन अज्ञान ही कहलाता है । इसलिए कुछ लोग 'अण्णाएदसण गुणेहि' ऐसा पाठांतर करके पढते हैं । (समये समये जह्मा तेण अबंधुत्ति जाणी दु) जबकि ज्ञान और दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञान मे परिणत करके मिथ्यात्वादि प्रत्यय ही नूतन कर्म बन्ध करते हैं । इसलिए भेद ज्ञानी जीव बन्धक नहीं होता किन्तु ज्ञान और दर्शन को रजक (रागरूपकारक) होने से उपर्युक्त प्रत्यय ही बंधक होते हैं । इस प्रकार मे ज्ञानी जीव का निरासुबत्व सिद्ध हो जाता है ॥१७८॥

अथ ज्ञानगुण का परिणामन भी बन्धका कारण कैसे होता है वो बताते हैं—

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भण्णितो ॥१७९॥

यस्मात् जघन्यात् ज्ञानगुणात्, पुनरपि परिणमते ।

अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७९॥

धर्म—आत्मा का ज्ञान गुण जब तक जघन्य अवस्था मे रहता है अर्थात् स्पष्टतया यथाव्याप्त दशा को प्राप्त नहीं होता तब तक अन्तर्मुहुत के धन्यात् अन्यपने को (निबिकल्पना से सविकल्पता को) प्राप्त होता रहता है, इसलिए उस समय मे वह नवीन बन्ध करने वाला भी होता है ॥१७९॥

तात्पर्यवृत्ति—जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो- यस्मात् यथाव्याप्तचारिणात्पूर्वं जघन्यो हीन सकषायो ज्ञानगुणो भवति । तस्मात्—जघन्यत्वादे ज्ञानगुणात् सकाशात्, अत-मुहुतानंतर निबिकल्पसमाधौ स्थातु न शक्नोति जीव । तत कारणात्, अन्यत्वं सविकल्पकपर्यायानर परिणमति स क ? कर्ता ज्ञानगुण । तेण दु सो बंधगो भण्णितो तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बंधको भणितः । अथवा द्वितीय व्याख्यान । जघन्यात् कोऽर्थं जघन्यात्, मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुण कर्ता मिथ्यापर्याय स्वकत्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्व परिणमति । तेण दु सो बंधगो भण्णितो तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबंधको भणित इत्यभिप्राय ।

अथ यथाक्यातचारित्र्यवस्तादनुभूतानंतर निर्विकल्पसमाप्तिं स्थातुं न शक्यत इति अस्ति पूर्व । एव सति कथं ज्ञान निरास्य इति चेत् —

टीका - (जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुरोवि परिणमदि अण्णत्तं भासागुणो) क्योंकि स्पष्टतया यथाक्यात चारित्र्य से पूर्व अवस्था का ज्ञान जघन्य अर्थात् हीन दशावाला कषाय सहित वृत्तिवाला होता है इसलिए ज्ञानगुण की जघन्यता के कारण से यह जीव अन्तर्मुहूर्त के पीछे निर्विकल्प समाधि में ठहर नहीं सकता है, इसलिए वह इस जीवका ज्ञानगुण ग्रन्थरूपता को सविकल्प रूप पर्यायान्तर को स्वीकार करता है (तेण दु सो बध्गो भणिदो) उस विकल्प सहित कषाय भाव के कारण वह गुण नूतन बन्ध करने वाला होता है । अथवा इस गाथा का इस प्रकार भी अर्थ लिया जा सकता है कि जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञान गुण से काललब्धि के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञान मिथ्यापने को त्यागकर ग्रन्थपने को अर्थात् सम्यग्ज्ञानपने को प्राप्त कर लेता है (तेण दु सोऽबध्गो भणिदो) इसलिए वह ज्ञान गुण अथवा ज्ञानगुण के स्वरूप में परिणत जीव अबन्धक कहा जाता है ॥१७६॥

विशेषार्थ — ज्ञान शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है । एक तो यथावस्थित अर्थ जानातीति ज्ञान, दूसरा आत्मान जानाति अनुभवतीति ज्ञान । दूसरे अर्थ के अनुसार तो समाधिकाल में ज्ञान जब तक अनुभव करता रहता है तब तक वह ज्ञान कहा जा सकता है । ध्यान समाधि से जहा च्युत हुआ कि वह अज्ञान कोटि में आ जाता है और बंध भी करने लग जाता है जैसा कि पहले वाले तात्पर्यवृत्ति के व्याख्यान से स्पष्ट होता है और जिसका समर्थन अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका में होता है । किन्तु पहले वाले अर्थ के अनुसार चतुर्थं गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञान भी इस ज्ञान शब्द से लिया जा सकता है क्योंकि वह भी जीवादि नव पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रखता है । किन्तु इस अर्थ के अनुसार गाथा का जो अर्थ यहाँ लिया गया है वह कुछ थोड़ा खेच कर लिया हुआ सा प्रतीत होता है जिसका समर्थन अमृतचन्द्र स्वामी की आत्मख्याति टीका से भी नहीं होता है । तथा स्वयं श्री जयसेनाचार्य ने भी स्थान स्थान पर यही लिख बताया है कि इस ग्रन्थ में जो वर्णन है वह गृह्यस्थ सम्यग्दृष्टि को लेकर नहीं किन्तु वीतराग (त्यागी) सम्यग्दृष्टि को लेकर किया है ।

जब कि यथाक्यात चारित्र्य ज्ञान से पहले यदि ज्ञानी के बन्ध हाता ही रहता है ऐसी दशा में ज्ञानी आसूव रहित कैसे होता है, सा बताते हैं —

दंसणणाचरितं, ज परिणमदे जहणभावेण ।

णाणी तेण दु बज्जसदि पुगलकम्मणे विविहेण ॥१८०॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।

ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१८०॥

अर्थ — दर्शन, ज्ञान, और चारित्र्य ये तीनों जब तक जघन्य अवस्था में रहते हैं (यथाक्यात अवस्था को नहीं प्राप्त होते) तब तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बन्धता ही रहता है ॥१८०॥

तात्पर्यवृत्ति — दंसणणाचरितं ज परिणमदे जहणभावेण ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकारणाभावान्निरासूव एव । किन्तु सोऽपि यावत्कालं परमसमावेशनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूप इष्टं ज्ञातुमनुचरितुं वा समर्थं तावत्कालं तस्यापि मर्बाधि यद्गहनं ज्ञानं चारित्र्यं तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन, अनीहितवृत्त्या परिणमति ।

आत्मा तेन तु ब्रह्मविद्विष्यमानस्य विविहेष तेन कारणेन सन् भेद ज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते । इति आत्मा क्वात्तिपूजाभामभोगा-काक्षापरनिदानबधादिभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधि स्थित्वा तावत्पर्यंत शुद्धात्मरूप द्रष्टव्य ज्ञातव्यमनु-चरितव्य च यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्ण केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः । एव ज्ञानिनो भावासुखस्वरूपनिषेधमुक्तत्वेन गाथात्रयं गतः ।

अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरासूय ? इति चेत्—

टीका —(दशगुणारचरितं अ परिणमदे जहण्णभावेण) ज्ञानी (विरागी) जीव इच्छापूर्वक—चलाकर किसी भी वस्तु के प्रति रागादिरूप विकल्प को (अमुक वस्तु मेरी है इत्यादि रूप विचार को) कभी नहीं करता, इसलिए बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होने से वह निरासूय ही होता है, किन्तु जब तक उस ज्ञानी जीव को भी परम समाधि का अनुष्ठान नहीं हो पाता तब तक वह भी शुद्धात्मा के स्वरूप को देखने में, जानने में और वहाँ स्थिर रहने में असमर्थ होता है, अतः तब तक उसका दर्शन, ज्ञान और चरित्र भी जघन्य भाव को—अबुद्धि पूर्वक कषायभाव को (अव्यक्त राग भाव को) लिए हुए होता है—परिणामन करता हुआ रहता है, (आत्मा तेन तु ब्रह्मविद्विष्यमानस्य विविहेष) इस कारण से वह भेद ज्ञानी जीव भी परम्परा से मुक्ति के कारण रूप होने वाले ऐमे तीर्थकर नाम कर्मद्विरूप पुद्गल प्रकृति-मय नाना प्रकार के पुण्यकर्म से अपने २ गुणस्थान के अनुसार बन्धता ही रहता है । ऐसा समझकर प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार को बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा का लाभ तथा भोगों की आकांक्षारूप निदान बध आदि विभाव परिणामों को त्याग कर साध २ निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तब तक शुद्धात्मा के स्वरूप को देखता, मानता रहे, जानता रहे एवं उसमें लगा रहे जहाँ तक शुद्धात्मा के परिपूर्ण केवलज्ञानरूप भाव का दर्शन ज्ञान और आचरण प्राप्त न करलें अर्थात् स्वयं केवलज्ञान रूप अवस्था को न पा लेवे । बस यही इस कथन का तात्पर्य है ॥१८०॥

विशेषार्थ —इसका स्पष्ट सारांश यह है कि ज्ञानी विरागी जीव तो यथाशक्य आत्म समाधि में तल्लीन रहता है, अतः चलाकर तो किसी भी वस्तु से राग द्वेष और मोह भाव नहीं करता है, अतः बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा तो वह निरासूय होता ही है । रही बात अबुद्धिपूर्वक होने वाले अव्यक्त रागादि भाव रूप आसूय की सो उसे मिटा डालने के लिए ही वह बार २ दृढ़ता के साथ आत्मतल्लीनता रूप समाधि को प्राप्त करता है जिससे कि वह अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त होकर पूर्ण निरासूय हो जाता है । बस इसीलिए वह निरासूय कहा जाता है ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के भावात्मक के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाये हुई ।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी जीव द्रव्य प्रत्यय रूप बन्ध के कारण विद्यमान रहने पर भी वह निरासूय कैसे होता है सो बताते हैं—

सव्वे पुब्बणिबद्धा तु पच्चया संति सम्मदिट्ठस्स ।

उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १८१ ॥

संती तु णिरवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।

गंधवि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१८२॥

होदूण निरुवभोज्जा तह बांधदि जह हवति उवभोज्जा ।
 सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहि ॥ १८३ ॥
 एवेण कारणेण वु सम्मादिट्ठी अबांधगो होदि ।
 आसवभावाभावे ण पच्चया बांधगा भणिदा ॥ १८४ ॥ (चतुष्कं)

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः सन्ति सम्यग्दृष्टेः ।

उपयोगप्रायोग्यं बध्नाति कर्मभावेन ॥ १८१ ॥

सन्ति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।

बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥ १८२ ॥

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि ।

समाष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावं ॥ १८३ ॥

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबांधको भवति ।

प्राख्यभावाभावे न प्रत्यया बांधका भणिताः ॥ १८४ ॥ (चतुष्कं)

अर्थ—वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के भी पूर्व की सराग दशा में बाधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म मत्ता में विद्यमान रहते हैं जो कि उपयोग में लाने पर नवीन कर्म बंध करने वाले होते हैं, जो कि धायु के बिना ज्ञानावरणादि सात कर्मों का तथा धायु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले होते हैं । किन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि के तो वे सब प्रत्यय निरुपभोग्य रूप से सत्ता में होते हैं (उपयोग में आकर रागकारक नहीं होते) अतः नवीन बंध कारक भी नहीं होते । जैसे कि किसी के स्त्री बालक अवस्था में है तो वह राग पैदा करके उसको विवश करने वाले नहीं होती, अपितु वही स्त्री युवावस्था को प्राप्त होन पर रागोत्पादक होकर विवश करने वाली होती है । इसी प्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि के मत्ता में प्रत्यय विद्यमान ज्ञान पर भी बाल स्त्री के समान होने में रागकारक नहीं होते अतः नवीन कर्म बंध करने वाले भी नहीं होते ॥ १८१-१८२-१८३-१८४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—सख्ये पुल्लविबद्धा तु पच्चया सति सम्मदिट्ठिस्स सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्यया सति तावत्सम्यग्दृष्टे । **उवभोग्याप्रायोग्य** बध्ने **कम्मभावेण** यद्यपि विधने तथाप्युपयोगेन प्रायोख तत्कालोदयप्रायोग्य-कर्मलाप्न कर्म बध्नाति । केन ज्ञावा ? भावेन रागादिपरिणामेन नचास्तित्वमात्रेण बधकारण भवतीति । **सत्ताखि निरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरुसस्ससत्यपि** विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिंगव्यभिचारीषि, इति वचनाश्रुपु मकालिने पुल्लिगनिर्देश । पुल्लिगेऽपि नपुंसक लिंग निर्देश । कारके कारकात्तर निर्वेशो भवति, इति । तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवति । केन दृष्टानेन ? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य । **बांधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह एररस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवति । रागादिभावेन नवतराणि च बध्नाति । कथं ? यथा तरुणी स्त्री वरस्येति । अथ तमेबावं दृढयति । उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्मानुसारेण, उदयकाल प्राप्य यथायथामोग्यानि भवति, तथातथारागादिभावेन परिणामेन धायुष्कबधकाले अष्ट विषभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नाति नचास्तित्वमात्रेणोपि । रागादिभावाश्रयभावे द्रव्यप्रत्यया श्रान्तिवमात्रेण बधकारण न भवति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबांधको भणित इति । किं च विस्तार

मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सारागसम्यग्दृष्टि, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामवबन्धक। सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामस्पन्धि-
स्थमुभागरूपानां बन्धकोऽपि संसारस्थितिच्छेद करोति। तथा श्लोक “सिद्धाते द्वादशागवगमस्तत्तीक्ष्णभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम
केवलीसमुद्रातश्चेति संसारस्थितिघातकारणानि भवति” तद्वत्ता तत्र द्वादशागवगमस्तत्तीक्ष्णभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम
वहिविषय। निश्चयेन तु बीतरागस्वसवेदनलक्षणं चेति। भक्ति पुनः सम्यक्त्व भण्यते व्यवहारेण सारागसम्यग्दृष्टीना
पञ्चपरमेष्ठ्यारणानां रूपः। निश्चयेन बीतराग सम्यग्दृष्टीना मुद्रात्मतत्त्वभावनाख्या चेति। न निवृत्तिरनिवृत्ति मुद्रात्म-
स्वरूपादवबन्धनं, एकाग्रपरिणतिरिति। तत्रैव सति द्वादशागवगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जात। भक्तिस्तु निश्चयव्यवहार-
सम्यक्त्व जात। अनिवृत्तिपरिणामस्तु सारागचारित्रानंतर बीतरागचारित्र जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि शेषा-
भेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छिन्नकारणानि भवति। केषा ? छपस्थानामिति। केवलानां तु भगवता दृढकपटप्रतरागो-
कपूर्णरूपकेवलसमुद्रात संसारविच्छिन्नकारणमिति यावत्। एव द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्वाभावा-
सति बधकारण न भवतीति व्याख्यानमुद्यत्वेन गाथा चतुष्टय गत।

अथ यत एव कर्मबन्धहेतुभूताराद्वैपमोहा, ज्ञानिनो न सति। तत एव तस्य कर्म बन्धो नास्तिति कथयति—

टीका—(सर्वे पुष्पणिबद्धा तु पञ्चया सति सम्पदिष्टिस्स) (उपशम श्रेणी मे प्राप्त हुए बीतराग)
सम्यग्दृष्टि जीव के पूर्व मे बन्धे हुए सब ही मिथ्यात्वादि कर्म सत्ता मे विद्यमान होते है (उपशमोपशमोपशम
बधते कम्मभावेण) वे सब उपयोग मे आने पर तत्काल उदय को प्राप्त होने पर आत्मा मे रागद्वेषादि
पेदा करने से नूतन कर्म बन्ध के करने वाले होते हैं। किन्तु पूर्व द्रव्य कर्मों की सत्ता मात्र से बन्ध करने
वाले नहीं होते। (सन्ता वि गिरुवभोज्जा बाला इच्छी जहेव पुरिसस्स) (कही प्राकृत मे लिंग व्यभिचार
भी होता है नपु सक लिंग के स्थान मे पुल्लिग का और पुल्लिग के स्थान मे नपु सक लिंग का और कारक में
कारकांतर का निर्देश भी हो जाया करता है) जैसे मनुष्य के लिए बाल स्त्री उपभोग योग्य नहीं होती वैसे
ही उदय से पहले अनुदय दशा मे रहनेवाले पूर्व बद्ध कर्म फलकारक नहीं होते (बधदि तेउ वभोज्जे
तरणी इच्छी जह णरस्स) किन्तु उदय काल मे ही वे सब कर्म उपभोग के योग्य होने हैं-फलकारक होते
है, रागादिरूप विकार भाव पेदा करने से नूतन कर्म का बन्ध करने वाले होते है, जैसे स्त्री तत्त्व होने पर
मनुष्य को रागी बनाकर विवश करने वाली होती है। (होदूण गिरुवभोज्जा तह बधदि जह हवति
उवभोज्जा) उदय होने से पूर्व काल मे अपने अपने गुणस्थान के अनुसार निरूपभोग्य होकर अर्थात् फल-
कारक न होकर जब उदय काल का प्राप्त होते हैं तब उपभोग्य होते हुए फलदायक हुआ करते है तब
(सत्तठ्विहा भूदा णाणावरणादि भावेहि) यह जीव अपने रागादि भावो के अनुसार प्रायु बन्ध के
काल मे तो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों को और शेष काल मे प्रायुष्य के बिना सात प्रकार के
कर्मों को नूतन कर्म के रूप मे बाधता रहता है। किन्तु अस्तित्व मात्र से ही पुरातन कर्म नूतन कर्म बन्ध
करने मे कारण नहीं हुआ करते अर्थात् बिना रागादिक भाव के द्रव्य कर्म (प्रत्यय) विद्यमान होते हुए
भी कर्म बन्ध के कारण नहीं होते इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक होता है ऐसा कहा है। खुलासा इसका
यह है कि यह ससारी जीव जब अनन्त ससारात्मक मिथ्यादृष्टिपन को पारकर चतुर्थ गुणस्थान
मे पहुँचता है अत्रत (साराग) सम्यग्दृष्टि बनता है तब इसके मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का नूतन
बन्ध होने से रह जाता है शेष ७७ प्रकृतियों का बन्ध भी करता रहता है किन्तु पूर्व की अपेक्षा स्वल्प
स्थिति और अनुभाव को लिए हुए बाधता है, एव संसार की स्थिति को छेदकर उसे परीत संसार बना
लेता है। जैसा कि सिद्धान्त में कहा है “द्वादशागवगमस्त तीक्ष्ण भक्तिरनिवृत्ति परिणाम” केवलसमुद्रात-
श्चेति संसार स्थिती घातकारणानि भवति” (१) परिपूर्ण द्वादशाग का ज्ञान प्राप्त होना (२) अरहन्त

भगवान के प्रति भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ होना (३) शुद्धात्म स्वरूप से एकाग्रतारूप अविवर्तित परिणाम होना (४) और केवली समुद्धात का होना ये चार कारण ससार की स्थिति को छेदने के लिए होते हैं। वहा द्वादशाग के विषय जो ज्ञान है वह व्यवहार नय से इतर जीवादि बाह्य समस्त पदार्थों का श्रुत के द्वारा ज्ञान हो जाना है और निश्चयनय से वीतराग रूप स्वसवेदनात्मक ज्ञान का हो जाना सो द्वादशागावगम कहलाता है। भक्ति नाम सम्यक्त्व का है जो कि व्यवहार से तो पञ्चपरमेष्ठी की समाराधना रूप होती है जो कि सराग सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा करती है, किन्तु निश्चय से तो वह भक्ति वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के शुद्धात्म तत्त्व की भावना के रूप में द्वारा करती है। निवृत्ति-वापिस लौटना - न होना सो अनिवृत्ति कहलाता है अर्थात् शुद्धात्म के स्वरूप से व्युत्त न होना, एकाग्रता रूप परिणमन हो सो अनिवृत्ति है। इस प्रकार द्वादशाग का निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का ज्ञान हो जाना सो द्वादशागावगम कहलाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व का होना सो भक्ति कहलाती है। सराग चारित्र हो जाने पर वीतराग चारित्र का भी होना सो अनिवृत्ति परिणाम है। इस प्रकार भेद रत्नत्रय और भेद रत्नत्रय के रूप में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं वह ससार की स्थिति के छेदने के कारण होते हैं जो कि छद्मस्थ जीवों के द्वारा करते हैं किन्तु केवली भगवान के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जो केवली समुद्धात होता है वह ससार की स्थिति छेदने में कारण होता है यह तात्पर्य है।

इस प्रकार द्रव्य प्रत्यय होकर भी रागादिरूप भाव आसुव के न होने पर नूतन बन्ध करनेवाले नहीं होते इस प्रकार के कथन की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुई ॥१-१-१-२-१-३-१-४॥

आये कहते हैं कि ज्ञानी प्रात्मा के कर्म बन्ध के कारण राग द्वेष, मोह, नही होते इसीसे उसके नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता —

रागो दोसो मोहो य आसवा णात्थि सम्मदि टिट्ठस्स ।

तद्वा आसवाभावेण विणा हेद्वा ण पच्चया होति ॥१८५॥

हेद्वा चदुर्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि ।

तेसि पिय रागादी तेसिमभावेण वज्झन्ति ॥१८६॥

रागो द्वेषो मोहश्च आसवा न संति सम्यत्पट्टे ।

तस्माद खवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥१८५॥

हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भवति ।

तेषामस्ति च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥१८६॥

अर्थ — मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावतरणादि आठ प्रकार कर्म बन्ध के कारण होते हैं। उनकी कारणाता को प्रस्रुत कर बताने वाले जीव के राग, द्वेष और मोह भाव हैं जिनके न होने पर मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय होकर भी अथवा कार्य नहीं कर पाते। एवं रागद्वेष और मोहरूप आसुव भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते हैं, अथ आसुव भाव के न होने से (सम्यग्दृष्टि जीवों के) नूतन कर्मबन्ध नहीं होता है ॥१८५-१८६॥

वाले परमात्मामे उपादेयता स्वीकार होकर वीतराग और सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए छ द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्त्व और नव पदार्थों मे रुचि होने रूप तीन मूढता, घ्रादि पञ्चोस दोष रहित तथा "सर्वेभ्यो जिवेभ्यो शिष्टा गुरुहा य उवसमो भस्त्री, वच्छल्ल अगुकम्पा गुणदु सम्मत्त जुत्तस्म" इस गाथा मे बताये हुए (१) सबेग (धर्म के प्रति अनुराग) (२) निर्वेद (भोगों मे अनासक्ति), (३) निदा (अपने आप को भूल करने वाला मानना), (४) गर्हा (गुरुओं के घ्रागे अपनी भूल स्वीकार करना), (५) उपशम (हर्ष और विषाद मे उद्विग्न न होना) (६) भक्ति (पञ्च परमेष्ठियों मे अनुराग), (७) वात्सल्य (साधमियों के प्रति प्रीति भाव) और (८) अनुकम्पा (किसी को भी दुखी देखकर द्रवित हो जाना) इन घ्राउ गुणोवाला चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामवाले क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि नहीं तो निर्विकार परमानन्दरूप सुख ही है लक्षण जिसका ऐसे परमात्मा मे उपादेयपना होकर षट् द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थों मे रुचि रूप तथा तीन मूढतादि पञ्चमीस दोष रहित भाव तथा उसीके साथ होने वाले प्रशम सबेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादिक के विषय मे श्रास्तिव्य भाव की अभिव्यक्ति है लक्षण जिसका ऐसे पञ्चम गुणस्थान के योग्य देश चारित्र के साथ मे होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनतानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष, और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि नहीं तो फिर चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिनका ऐसे शुद्धात्मा मे उपादेय बुद्धि होकर षट् द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नवपदार्थों मे रुचि रूप तथा तीन मूढतादि पञ्चमीस दोष रहित रूप एक उसीके साथ होने वाले प्रशम, सबेग, अनुकम्पा तथा देव धर्मादिक के विषय मे श्रास्तिव्य भाव का होना रूप लक्षणवाले छट्टे गुणस्थान के योग्य सराग चारित्र के साथ मे होने वाला सराग सम्यक्त्व नहीं हो सकता (यह हेतु हुआ) । अथवा अनतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और तीव्र सज्जलन रूप क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से होने वाले प्रमाद कारक राग, द्वेष और मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते (यह पक्ष हुआ) क्योंकि फिर तो शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा मे उपादेय बुद्धि होकर उसके ही योग्य शुद्धात्मा की समाधि से सज्जान (अनुभूत) जो सहजानन्द स्वलक्षण वाले सुख की अनुभूति होना ही है स्वरूप जिसका ऐसे अप्रमाददि गुणस्थानवर्गी वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले अर्थात् वीतराग चारित्र के विना न होने वाले वीतराग सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है जैसा कि "घ्राद्य सम्यक्त्व चारित्र, द्वितीयाध्वन्यगुणत तृतीया समय तुर्या यथाख्यात क्रुधादय" इसमे बताया है कि अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तो सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों को ही नहीं होने देते । दूसरे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया और लोभ सम्यक्त्व को नहीं रोकते पर चारित्र के एक देश (अशरूप) अगुणतत्त्वक चारित्र को भी नहीं होने देते । तीसरे प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया और लोभ सकल समय (महाव्रतरूप चारित्र) को नहीं होने देते एव चौथे सज्जलनात्मक क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय यथाव्यत चारित्र को नहीं होने देते इस प्रकार यह मूलग्रन्थ की पूर्वादि गाथा का व्याख्यान हुआ । (तम्हा आसव भावेण विणा हेतु ग पञ्चया होति) जैसा की पूर्वादि गाथा मे बताया है उसी क्रम से सम्यग्दृष्टि जीवके राग द्वेष मोह रूप भाव नहीं होते । एव उनके न होने से सत्ता मे होने वाले या उदय मे होने वाले मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय कम बध के कारण नहीं होते है । (हेतु चतुर्विध्यो भट्ट विषयस कारण होदि) क्यों कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि घ्राट प्रकार के नवीन कर्म

बन्ध के कारण हैं। (तेजसिय रागादी) उन उदय में आये हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययो के भी कारण जीवगत रागादिभावस्वरूप प्रत्यय होते हैं। (तेजसिभावेण बन्धकृति) उन जीवगत रागादि भाव प्रत्ययो के न होने पर पूर्वोक्त द्रव्य प्रत्यय भले ही उदय में आये हुए क्यों न हो तो भी वीतराग रूप परम सामायिक भावना में परिणत रहने वाले अभेद रत्नत्रय हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर यह जीव नवीन कर्मों से नहीं बंधता है। इसलिए यह बात माननी पड़ती है कि यद्यपि उदय में आये हुए मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मों के आसूब के कारण होते हैं, किन्तु उनके भी कारण जीवगत रागादिभाव प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार कारण के कारण का व्याख्यान जानना योग्य है ॥१८५-१८६॥

विशेषार्थ — आत्मा से अतिरिक्त किसी भी पर पदार्थ में यह अच्छी है इस प्रकार का विचार रागभाव है और यह बुरी है यह द्वेषभाव है और इस प्रकार की उलझन में अपने आपको घटकाये रखना यह मोह भाव है एव यह राग द्वेष और मोह भाव जहां पर सर्वथा नहीं है उसी जीव को यहां इस अध्यात्मशास्त्र में सम्यग्दृष्टि माना है। यह सम्यग्दृष्टि अग्रमस्त दशा में समीचीन ध्यान की एकता होने पर सप्तमादि गुणस्थान अवस्थामें हुआ करता है। उससे नीचे तो कुछ न कुछ हीनाधिक रूप में मोह बना ही रहता है उस समय वह कर्म के कर्तृत्वपने से दूर नहीं रह सकता। छत्रस्थ के अग्रमस्तपन तो अधिक से अधिक एक साथ अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रह सकता है। यदि इस समय में इसने अपने मोहनीय कर्म को सत्ता में से उखाड़ फेंका तब तो सदा के लिए सच्चिदानन्द बन जाता है, नहीं तो फिर इसका उपयोग आत्मा से हटकर इतर वस्तुओं पर चला जाया करता है ताकि रागभाव करके यह फिरसे पूर्व की भांति नूतन कर्म बाधने लग जाता है जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है —

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचित्तमैकाग्रयमेव कलयति सदैव ये ते ।

रागादिमुक्तमनस सतत भवत, पश्यति बधविधुर समयस्य सार ॥१२०॥

अच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयाति विमुक्तबोधा ।

ते कर्मबधमिह विभ्रति पूर्वंबद्ध, द्रव्यासवे कृतविचित्रविकल्पजाल ॥१२१॥

अर्थात् जो लोग निर्विकार ज्ञान ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धनय को अर्थात् शुद्धात्मा की भावना को प्राप्त होकर वही निरन्तर रूप से एकाग्र रहते हैं वे सदा के लिए रागादि विकार भावों से रहित होकर समय के साररूप अपनी आत्मा को बन्ध से रहित अवलोकन करते हैं। किन्तु शुद्धात्मा की भावना रूप उस शुद्धनय को प्राप्त होकर भी उससे चिगकर भ्रमानी बनते हुए जो लोग फिर से रागादि विकार भाव को प्राप्त हो जाते हैं तब वे लोग उदीयमान पूर्व बद्ध अपने मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्ययो से नाना प्रकार के विकल्प जाल को उत्पन्न करने वाले नूतन कर्म बन्ध को फिर से करने लग जाते हैं।

अब आचार्य देव ऊपर जो यह कह आये हैं कि रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित परम चैतन्य चमत्कार ही है लक्षण जिसका ऐसा जो निज परमात्म तत्त्व उसकी भावना से रहित ऐसे बहिर्मुख वाले ससारी जीवों के पूर्व बद्ध द्रव्य प्रत्यय होते हैं वे सब नवीन कर्म बन्ध किया करते हैं उसीका समर्थन दो दृष्टांत के द्वारा कर रहे हैं —

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमइ सो अणैयविहं ।

मंसवसारुहिरादी भावे उबरगिसंजुतो ॥ १८७ ॥

तह गाणिस्स दु पुव्व जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झन्ते कम्मं ते नयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८८ ॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं ।

मासवसारुधिरादीन् भावान् उदारग्निसमुक्त ॥ १८७ ॥

तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं ।

बध्नन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवा ॥ १८८ ॥

अर्थ—जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उसकी जठराग्नि का संयोग पाकर उसके बलाबल के अनुसार मांस, चरबी, रुधिर आदि के रूप में अनेक रूप परिणमन करता है वैसे ही हमारी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्या-त्वादि द्रव्य प्रत्यय भी जो कि इस जीव के माथ एक छेव अवगाह रूप में रहे हैं वे सब इस जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नाना प्रकार के नूतन कर्म का बन्ध करते हैं ॥ १८७-१८८ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जह पुरिसेणाहारो गहिबो परिणमदि सो अणेयाविह यथा पुरुषेण गृहीताहार स परिणमति, अनेकविध बहुप्रकार कि ? मसवसारुहिरादी भावे उदरग्निसमुत्तो मामवमारुधिरादीन् पर्यायान् कर्म-तापन्नाद् परिणमति । कथं भूता म् ? उदारग्निसमुक्त इति दृष्टान्तो गत ।

तह गाणिस्स दु पुव्व जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प बज्झन्ते कम्म ते—तथैव च पूर्वोक्तोदरग्निसमुक्ताहार-दृष्टातेन अज्ञानिनश्चेतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिन । पूर्वं ये बद्धा, मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय, जीवगनरागादि परिणाममुदरग्निरस्थानीय लब्ध्वा ते बहुविकल्प कर्म बध्नन्ति । नयपरिहीणा दु ते जीवा येषां जीवानां सबधिन प्रत्यया कर्म बध्नन्ति ते जीवा । कथं भूता ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद्भ्रष्टा, च्युता । अथवा द्वितीयव्याख्यान । ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, निज-शुद्धात्मध्येयरूपमवैकर्मनिर्भूतनममशुद्धनयो विवेकिमिन् त्याज्य इति । एव कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसार व्याख्याया शुद्धात्मानुबूतिनक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशपाद्यानि पञ्चमर्ले मन्त्रविपक्षद्वारेण पञ्चम आम्नाधिकार समाप्त ।

टीका—(जह पुरिसेणाहारो गहिबो परिणमदि सो अणेयाविह) जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजन अनेक प्रकार की अवस्थाओंमें परिणमन करता है जो कि (मसवसारुहिरादी भावे उदरग्निसमुत्तो) उदर की अग्नि का संयोग पाकर मांस, चरबी, मोही आदि के रूप में परिणमन करता है यह दृष्टात हुआ । (तह गाणिस्स दु पुव्व जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प) उसी प्रकार इस चेतना लक्षण वाले ससारी अविवेकी जीव के पूर्व बद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय (न कि विवेकी वैरागी के) उदारग्निरस्थानीय रागादि परिणाम को पाकर बहुत भेदवाले कर्म का बन्ध किया करते हैं । (नयपरिहीणा दु ते जीवा) जिन जीवों के द्रव्य प्रत्यय नवीन बन्ध करनेवाले होते हैं वे जीव कैसे होते हैं ? इस का आचार्य समाधान करते हैं कि वे लोग परमसमाधि ही हैं लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान स्वरूप शुद्ध नय से दूर रहने वाले हैं । अथवा इस वाक्य का दूसरा व्याख्यान इस प्रकार भी होता है कि “न च परिहीणास्तु ते (प्रत्यया) जीवात्” अर्थात् वे द्रव्य प्रत्यय अशुद्ध नय की अपेक्षा से उस जीव से परिहीन नहीं हैं, भिन्न

नहीं हैं किन्तु उस जीवके साथ एक बोनावगाह होकर रहनेवाले हैं । तात्पर्य यह है कि जिसमें अपना शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य ध्येय होता है तथा जो सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर डालने में समर्थ होता है ऐसा शुद्धनय विवेकियो द्वारा त्यागने योग्य नहीं है ॥१८७-१८८॥

इस प्रकार कारण के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाये पूर्ण हुई

विशेषार्थ—जहां पर सब पर पदाथों को स्मरण में न लाकर केवल मात्र अपनी शुद्धात्मा का ही ध्यान किया जाता है उस परम समाधि अवस्था का नाम ही शुद्ध नय है, जिसके द्वारा चिरसंचित दुष्कर्मों का भी क्षणमात्र में नाश किया जा सकता है, अतः विवेकी मुमुक्षु महर्षियों को उसे प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिए और प्राप्त हो जाने पर फिर वह छूटने न पावे ऐसा प्रयास बनाये रखना चाहिये । क्योंकि उसके छूटने पर ही नवीन कर्म बन्ध होता है परन्तु रहने पर बन्ध नहीं होता जैसा कि श्री भृगुतन्त्राचार्य लिख गये हैं कि—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयं शुद्धनयो नहि ।

नास्ति बधस्तदत्यागात् तत्यागाद् बध एव हि ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की समयसार की व्याख्या जिसमें शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका में १७ गाथाओं द्वारा सबर के विरोध में यह पांचवा आसूव अधिकार पांच स्थलों से पूर्ण हुआ ।

छठा महाधिकार (संवर तत्व) *

तात्पर्यवृत्ति—अथ प्रविशति सबर । सबराधिकारेऽपि यत्र विषयात्स्वरागादिपरिणतबहिर्गामभावनारूप आसूवो नास्ति तत्र सबरो भवतीति आसूवविषयद्वारेण चतुर्दशगाथापर्यंतबीतरागसम्यक्स्वरूपसंवर व्याख्यान करोति । तत्रादौ भेदज्ञानात्-शुद्धात्मोपलभौ भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **उबधोने**-इत्यादि गाथात्रय । तदनन्तर भेद-ज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलभौ भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **जहकथयमग्नि** इत्यादि गाथाद्वय । ततः पर शुद्धभावनाया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **सुद्ध तु विद्याय तो** इत्यादि गार्भक । ततः पर केन प्रकारेण सबरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **अप्यागमप्यथा** इत्यादि गाथात्रय । अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टातेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **उबधेसेण** इत्यादि गाथाद्वय । तदनन्तर, अथोदयप्रातःप्रत्या-गतानां रागाद्यव्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादिमावाप्तबाह्यगामभावो भवतीत्यादि सबरकृमाख्यानमुख्यत्वेन **तेसि हेतु** इत्यादि गाथात्रय । एव आसूवविषयद्वारेणसंवरव्याख्याने संशुदावपातनिका । तथाया प्रथमतस्तत्त्वचक्रमा-मुमकर्मसंवरस्य परमोपायभूत निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति ।

* श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति के अनुसार यह प्रकरण आसूव तत्व में लिया गया है । आरम्भक्याति टीका के अनुसार यह सबर तत्व है उसा क्रम को यहाँ रखा है ।

टीका ---श्रव सवर प्रवेश करता है। इस सवर के अधिकारसे जहां पर मिथ्यादर्शन और रागादि में परिणामन होता हुआ बहिरात्मा की भावना रूप जो आसव भाव नहीं है वहां सवर होता है। इस प्रकार आसव के विक्षेप रूप वीतराग सम्यक्त्व रूप सवर का व्याख्यान चौदह (१४) गाथाओं में करते हैं। वहां सबसे पहले संक्षेप में मुख्य रूप से यह व्याख्यान करते हुए कि भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है 'उवग्रो' इत्यादि तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् भेदज्ञानसे शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ऐसा प्रश्न होने पर उसका परिहार करते हुए "जहकणयमग्नि" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे यह आत्मा शुद्ध भावना से ही शुद्ध होता है इस कथन की मुख्यता से "मुद्ध तु वियारातो" इत्यादि एक गाथा है। उसके आगे-सवर किस प्रकार होता है ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर देते हुए "अप्पा-णमप्पणो" इत्यादि तीन गाथायें हैं। उसके आगे आत्मा तो छद्मस्थ के परोक्ष है उसके ज्ञान गम्य नहीं है फिर उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है ऐसा पूछने पर देवता रूप दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष आत्मा भी जाना जा सकता है ऐसा बताते हुए "उवसेरेण" इत्यादि दो गाथायें हैं। उसके आगे उदय को प्राप्त हुए रागादि विकार भावों का अभाव हो जाने पर जीव के रागादि भावों का भी अभ्यास हो जाता है इस प्रकार सवर के क्रम की मुख्यता से 'तेमि हेदु' इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार आसव के प्रतिपक्ष रूप में सवर का व्याख्यान हुआ है उसकी यह समुदाय पातनिका है।

अब यहां पर सबसे पहले निर्विकार स्वस्वेदन ज्ञान है तत्क्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान का निरूपण करते हैं। वह भेदज्ञान गुम और अगुम दोनों ही प्रकार के कर्मों के सवर का परमोत्तम कारण है —

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।

कोहे कोहो चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८६॥

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।

उवओगहिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१८७॥

एदं तु अविवरोदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।

तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८९॥ (त्रिकलम्)

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्पुपयोगः ।

क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥ १८६ ॥

अष्टविकल्पे कर्मणि नो कर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।

उपयोगेऽपि च कर्म नो कर्म चापि नो अस्ति ॥ १८७ ॥

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।

तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥ १८९ ॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शन रूप वेतना के परिणाम का नाम उपयोग है जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य सबध है। अतः एक उपयोग शब्द से अनेक विवक्षा करके आत्मा का ग्रहण करना और दूसरे से वतन्व्य परिणाम रूप ज्ञान दर्शनमय उपयोग लेना। उपयोग में क्रोधादि कषाय भाव नहीं होता और क्रोधादि कषाय भाव हो जाने पर कोई भी शुद्धात्मा नहीं रहता, किन्तु क्रोध के समय में आत्मा स्वयं क्रोध रूप होता है किन्तु जो आत्मा शुद्ध है उसमें क्रोध का कोई लेन देन नहीं है यह निश्चित बात है। इसी प्रकार आठ प्रकार के कर्म और भौदारिकादि शरीर रहने पर भी आत्मा शुद्ध नहीं रहता है क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानावरणादि कोई भी कर्म और भौदारिकादि कोई भी शरीर नहीं है इस प्रकार का भविष्यरीत अव्याहत ज्ञान जब इस जीव को हो जाता है उस समय अपने उपयोग में शुद्ध होता हुआ यह छद्मस्थ आत्मा भी कुछ विकार भाव नहीं करके अपने स्वभाव में स्थित हो रहता है ॥ १८६-१८७-१८८॥

तात्पर्यवृत्ति—उबधोगो उबधोगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदतयेनात्मवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मनुपयोग आत्मा तिष्ठति कोहादितु एतत्थि कोवि उबधोगो शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा कोहो कोहो चेव हि क्रोधे कोषश्च हि स्फुट तिष्ठति उबधोगे एतत्थि खलु कोहो उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुट क्रोधः ।

अट्टविषये कम्मे लोक्कम्मे चावि एत्थि उबधोगो तर्धं षाट्ठविज्जानावरणादिद्रव्यकर्माणि भौदारिक शरीरादिनोक्तमिणि चैव नास्त्युपयोगे—उपयोगशब्दवाच्य शुद्धबुद्धेकत्वभाव परमात्मा उबधोगोऽपि कम्मे लोक्कम्मे चावि एतो अत्थि उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म लोक्कं चैव नास्ति इति ।

एद तु भविषरीद भाण जइया नु होदि जीवस्स इदं तु चिदानन्दकत्वभावशुद्धात्मसत्त्वितिरूप विपरीतात्मनिवेशरहित भेदज्ञान यदा भवति जीवस्य तद्वया न किंवि कुब्बन्नि भाव उबधोगो शुद्धात्मा तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलभो भवति शुद्धात्मोपलभे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिमात्राश करोति न परिणमति । कथंभूतं सन् ? निर्विकारचिदानन्दकलक्षणशुद्धात्मयोगेन शुद्धात्मा शुद्धवभावः सञ्चिति । यथैवभूतो संबरो नास्ति तत्रात्मवो भवत्यस्मिन्नपि कारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यं । एव पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलभो भवति । शुद्धात्मोपलभे सति मिथ्यात्वरागादिमात्राश न करोति ततो नवतरकर्मसंबरो भवतीति सत्त्वेष्वप्याख्यानमुक्त्वेन गाथात्रयं गतं ।

अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलभो भवतीति पृच्छति—

टीका—(उबधोगो उबधोगो) क्योंकि ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है अतः अनेक विवक्षा से यहाँ पर उपयोग शब्द से आत्मा को लिया गया है, उस उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोग मात्र ही होता है अर्थात् उसमें क्रोधादिक विकार भाव नहीं होते हैं । (कोहादितु एतत्थि कोवि उबधोगो) शुद्ध निश्चयनध से क्रोधादिक परिणामों के होने पर कोई भी उपयोग अर्थात् आत्मा नहीं रहता (बहु अनात्मा अष्टात्मा वन जाता है) । (कोहो कोहो चेव हि) क्योंकि क्रोध होने पर आत्मा स्वयं ही क्रोधरूप होता है (उबधोगो एतत्थि खलु कोहो) परन्तु उपयोग अर्थात् शुद्धात्मा में निश्चय से जरासा भी क्रोधभाव नहीं होता है । (अट्टविषये कम्मे लोक्कम्मे चावि एत्थि उबधोगे) वैसे ही ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार के द्रव्य कर्म तथा भौदारिकादि शरीररूप नो कर्म के रहने पर भी शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा नहीं रह पाता है । (एदं तु भविषरीदं भाणं जइया नु होदि जीवस्स) इस प्रकार का चिदानन्द भई एक शुद्धात्मा का विपरीत अभिप्राय से रहित सचेदन रूप भेदज्ञान

जब इस जीव को हो जाता है, (तदया ण किञ्चि कुब्बदि भाव उवधोग सुद्धया) तब इस प्रकार के भेद ज्ञान के होने से इसे स्वात्मा की उपलब्धि हो जाने पर फिर वह मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भावों में से किसी भी प्रकार के भाव को नहीं करता है, नहीं परिणमता है। क्योंकि फिर तो वह निर्विकार चिदानन्द रूप जो एक शुद्ध उपयोग उससे शुद्ध आत्मा होता हुआ शुद्ध स्वभाव का धारक बना रहता है। जहाँ पर इस प्रकार का सबर नहीं होता वहाँ पर प्राप्त होना है इस प्रकार इस अधिकारमे सब स्थान पर जानना ॥ १८६-१६०-१६१ ॥

इस प्रकार पूर्व मे कहे अनुसार भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। जिसके होने पर यह जीव मिथ्यात्व और रागादिरूप विकार भाव नहीं करता है तब इसके नूतन कर्मों का सबर हो जाता है इस प्रकार सक्षेप से व्याख्यान की मुख्यता से तीन शाखाय पूर्ण हुई ॥ १८६-१६०-१६१ ॥

ध्या भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे होती है सो बताते हैं—

जह कणयमग्गतवियं पि कणयसभावं ण तं परिच्छेयदि ।

तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणितं ॥१६२॥

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादां ।

अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१६३॥

यथा कनकमग्निस्तप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।

तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ॥१६२॥

एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं ।

अज्ञानतमोऽवच्छिन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥१६३॥ (युग्मं)

अर्थ—जैसे ध्वनि से तपाया हुआ सोना भी अपने स्वरूपमे को नहीं छोड़ता है वैसे ही कर्मोदय के द्वारा सताया हुआ ज्ञानी जीव भी अपने ज्ञानीपन का त्याग नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञानी तो अपने ध्याप को जानता ही रहता है किन्तु अज्ञानी तो अज्ञान अन्धकार से ढका हुआ होने के कारण अपने ध्याप को नहीं जानता हुआ राग को ही अपना स्वरूप समझता है ॥१६२-१६३॥

तात्पर्यवृत्ति—जह कणयमग्गतवियं कणयसहावं ण तं परिच्छेयदि—यथा कनक सुवर्णमग्निस्तप्तमपि त कनकस्वभाव न परित्यजति । **तह कम्मोदय तविदो ण खयदि णाणी दु णाणितं** तेन प्रकारेण तीक्ष्णरीषहोप-सर्गेषु कर्मोदयेन सततोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति । किं तत् ? शुद्धात्ममवित्तिलक्षण ज्ञानित्व पाङ्गवादिवदिति । **एव जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति कोऽतो वीनरागस्वसवेदनलक्षणभेदज्ञानी **अण्णाणी मुणदि रागमेवादा** अज्ञानी पुन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरारागदि-रूपमेवात्मानं मनुते जानाति । कथं भूतं सन् ? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमोऽवच्छिन्नो प्रच्छादितो भवति । कथं भूतं सन् । **आदसहाव अयाणंतो** निर्विकारपरमबैतन्यकमत्कारस्वभाव शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावाजानन् अननु-भव इति । एव भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपसमो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण शाखाद्वयं गत ।

अथ कथं शुद्धलोपनमात्सवर इति पुनरपि पृच्छति—

टीका—(जह करण्यसम्मितविय पि करण्यसहाय ण त परिच्छयदि) जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है, (तह कम्मोदयतविदो ए चयदि साणी दु णारिणत्त) वैसे ही तीव्र परीषह या उपसर्गरूप घोर कर्म के उदयसे सताया हुआ भी अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे (समाधि स्वरूप) भेद ज्ञान का घारी जीव रागद्वेष, और मोह रूप परिणामो को न होने देने मे तत्पर होता हुआ पाण्डव और गजकुमार के समान अपने शुद्धात्मा के सवेदन रूप ज्ञानीपने का नहीं त्यागता है । (एव जाणदि णाणी) प्राप्तु वह वीतराग स्वसवेदन स्वरूप भेदज्ञान वाला जीव तो पूर्व प्रकार से (समाधिस्थ हुआ) अपने शुद्धात्मा के स्वरूप को जानता ही रहता है । उसी पर जमा रहता है । (अण्णाणी सुणादि रागमेवाद) किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्वोक्त भेदज्ञान नहीं होता इसलिये वह अपने आपको मिथ्यात्व और रागादिरूप ही मानता और जानता रहता है (अण्णाणतमोच्छवणो) क्योंकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से ढका हुआ है (आदत्तहाव अयाणतो) और विकल्प रहित समाधि के न होने से विकारो से बजित परम चैतन्य न्यस्तकार ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्ध आत्मा को नहीं जानपाता है, उसका अनुभवन नहीं कर पाता है ॥ १६२-१६३ ॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन दो गाथाओ मे ज्ञानी को अपने आत्मा मे सुदृढ होकर लगे रहने की प्रेरणा दी है । जो प्रयत्न करके भी शुद्धात्मा के ध्यान को प्राप्त नहीं करते हैं वे तो अज्ञानी हैं ही किन्तु जो आत्मध्यान को प्राप्त करके भी घोर परीषह आदि के हेतुतासे उस आत्मध्यान रूप समाधिसे विग जाते है वे भी एक प्रकार के अज्ञानी ही हैं । वास्तविक ज्ञानी तो वही है जो किसी भी प्रकार का बाधक कारण आने पर भी समाधि से च्युत नहीं होकर अपने ध्येय की प्राप्ति के लिये वही दृढ बना रहता है । जिस प्रकार अग्नि से तपाया जाकर भी स्वर्ण अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता है । इसके उदाहरण पाण्डवाधिक अनेक महा पुरुष हैं जो प्रागम मे बताये गये हैं ।

इस प्रकार भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की समुपलब्धि कैसे हो जाती है इस प्रश्न के उत्तर मे ये दो गाथाये कही गई हैं ।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की समुपलब्धि हो जाने से ही सबर कैसे हो जाता है—

सुद्धं तु विषाणन्तो सुद्धचेवप्पयं ल्हवि जीवो ।

जाणन्तो वु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं ल्हवि ॥१६४॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः ।

जानन्स्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१६४॥

अर्थ—(जैसे कि समति करता है वह स्वयं भी वैसा ही बना रहता है इस कहावत के अनुसार) जो शुद्धात्मा के अनुभव मे लग रहता है वह अपने आपको भी शुद्ध बना लेता है किन्तु जो अपने को अशुद्ध समझे हुए रहता है वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता—सदा अशुद्ध ही रहेगा ॥१६४॥

सात्पर्यवृत्ति—सुदृ तु विद्याणतो सुदमेवप्पय लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनतज्ञानादिगुण-
स्वरूप शुद्धात्मान निर्विकारमुत्तानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानन विज्ञानभ्रनुभवन् ज्ञानी जीव । एव गुणविशिष्ट यादृश
शुद्धात्मान ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते । कस्मात् ? इति चेत् उपादानसदृश कार्यमितिहेतो जायंतो तु असुदं
असुदमेवप्पय लहदि अशुद्धमिध्यात्वादिपरिणतमात्मानजानभ्रनुभवन् सन् अशुद्ध, नरनाकादिरूपमेवात्मान लभते ।
स क ? । अज्ञानी जीव इति । एव शुद्धात्मापलभादेव कथं सवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गाना ।

अथ केन प्रकारेण सवरो भवतीति पृष्टे पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति—

टीका—(सुद तु विद्याणतो सुद मेवप्पयलहदि जीवो) क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म,
और ओदारिक शरीरादि नोकर्म इस प्रकार तीनों प्रकार के कर्मों से रहित तथा अनन्त ज्ञानादि गुण
स्वरूप शुद्धात्मा को, निर्विकार सुख की अनुभूति ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा अर्थात् ध्यान
के द्वारा जो जानता है अनुभव करता है वह ज्ञानी जीव कहलाता है । क्योंकि जैसे गुरगो से विशिष्ट जैसी
आत्मा का अर्थात् शुद्धात्मा का ध्यान करता है, अपने उपयोग में दृढता से उतारता है, वह आपने आपको
भी वैसा ही बना लेता है क्योंकि उपादान के समान ही कार्य होता है यह नियम बना हुआ है (जायतो
तु असुद असुदमेवप्पय लहदि) परन्तु जो अपने आपको मिथ्यात्वादि विकार भावों में परिणत हुआ
अशुद्ध जानता है, अनुभव करता है वह अज्ञानी जीव अपने आपको नरनारकादि पर्याय रूप में अशुद्ध
किये हुए है ॥१६४॥

अब सवर होने का प्रकार कौनसा है इसीका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं —

अप्पाणमप्पणांसुधिरुण दो पुण्णपाव जोएसु ।

दंसणणाणह्मिठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१६५॥

जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।

णवि कम्म णोकम्मं चेदा चित्तेदि एयत्तं ॥१६६॥

अप्पाणं ज्ञायंतो दसणणमाओ अण्णमणो ।

लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१६७॥

आत्मानमात्मना रुद्ध्वा हि पुण्यपापयोगयोः ।

दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१६५॥

यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।

नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चित्तयत्येकत्वं ॥१६६॥

आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञान मयोऽनन्यमनाः ।

लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मनिर्मुक्तं ॥१६७॥

अर्थ.—जो पुरुष पुण्य और पाप रूप दोनों प्रकार की क्रियाओं में भटकनेवाले अपने मन को अपने आपमें रोककर अपने से अन्य देहादि वस्तुओं में होने वाली इच्छा रहित होता हुआ केवलमात्र दर्शन ज्ञानमय स्वभाव में स्थित होता है तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ अपने द्वारा अपने आपका ध्यान करता है, कर्म व नोकर्म किसी का भी चितवन नहीं करता है वही एक अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान कर पाता है हा, जो इस प्रकार सब ओर से अपने मनको हटाकर केवलमात्र अपने दर्शन ज्ञानमय स्वभाव में रहता है वह जीव शीघ्र ही अपने आपको सम्पूर्ण कर्मों से रहित कर लेता है ॥ १६५-१६६-१६७ ॥

तात्पर्यवृत्ति.—अप्याणमप्यणारु भिदूणवो (सु) पुण्यपावजोगेसु आत्मान कर्मत्वापन्न । आत्माना करणभूतेन द्वयो पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमान स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्या सकाशाद्बुद्ध्या व्यावर्त्य । दसराणाह्मिदिदो दर्शनज्ञाने स्थित सन् । इच्छाविरदोय अण्यह्मि अन्यस्मिन् देहरागाविपरद्रव्ये, सर्वत्रेच्छारहितत्वेति प्रथमगाथा गता । जो य.कर्ता सर्वसगमुक्तको आयादि अप्याणमप्यणो अप्या आत्मा, पुनरपि कथंभूत सर्वसगमुक्तको निस्सगात्मतत्त्वविकारणबाह्याभ्यन्तरसर्वसगमुक्त सन् । आयादि ध्यायति क, अप्याणं निजशुद्धात्मान केन, करणभूतेन, अप्यणो स्वशुद्धात्मान । अवि कम्म लोकाकम्मं नैव कम्मं नोकर्मं ध्यायति, आत्मान ध्यायन् । किं करोति चेदा चित्तेति एव गुणविशिष्टत्वेतयितात्मा चितयति । किं, एयत्तं “एकोह निर्ममं शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । बाह्या सयोगजा भावा मत् सर्वेऽपि सर्वथा” इत्याद्येकत्व, इति द्वितीयागाथा गता ।

सौ इत्यादि सौ स पूर्वसूत्रद्वयोक्त पुरुष अप्याण आयातो एव पूर्वोक्तप्रकारेणात्मान कर्मतापन्न चितयन्, निविकल्परूपेण ध्यायन् सन् । दसराणाह्मिदिदो दर्शनज्ञानमयो भूत्वा । अण्यणमणो अनन्यमनाश्च सहस्रि लभते । कमेव, अप्याणमेव आत्मानमेव कथंभूत, कम्मणिममुक्त जावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्त । केन, अचिरेण स्तोकाकालेन । एवं केन प्रकारेण सवरो भवति इति प्रश्ने सति विमोपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रय गत ।

अथ परोक्षस्यात्मन कथं ध्यानं भवतीति प्रश्ने त्रत्युत्तरं ददाति ।

टीका — (अप्याणमप्यणारु भिदूण दो पुण्यपाव जोएसु) पुण्य और पाप के आधार भूत दोनों प्रकार की शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवर्तमान होने वाले अपने करण (साधन) भूत स्वसंवेदन ज्ञान के बलसे दूर हटा कर (दसराणाह्मिदिदो) दर्शन और ज्ञान में स्थित होता हुआ (इच्छाविरदो य अण्यह्मि) इन देहादिक और रागादिक सभी प्रकार के अन्य द्रव्यों में इच्छा रहित होता है । यह पहली गाथा हुई । (जो सर्वसगमुक्तको आयादि अप्याणमप्यणोअप्या) इस प्रकार जो आत्मा सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित जो आत्मा तत्व है उससे विलक्षण जो बाह्य और अभ्यन्तर रूप सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित होता हुआ करणभूत अपनी शुद्ध आत्मा से अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान करता है (एवि कम्म लोकाकम्म) किन्तु कर्म और नोकर्म का चितवन नहीं करता है । तो फिर वह आत्मा का ध्यान करने वाला क्या करता है ? कि (चेदा चित्तेति एयत्त) उपर्युक्त गुरां से विशिष्ट वह चेतना गुरुधारी आत्मा केवल एकत्व का चितवन करता है जैसाकि—एकोऽह निर्ममं शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्या सयोगजा भावा मत् सर्वेऽपि सर्वथा । इस श्लोक में बताया है कि मैं तो एक हूँ, मेरा यहाँ कोई भी नहीं है, किसी भी प्रकार के सम्पर्क से दूर रहने वाला हूँ, केवल मात्र ज्ञान गुण का धारक हूँ मुझे योगी लोग ही ध्यान के बल से ज्ञान पहचान सकते हैं और कोई नहीं, इसके सिवाय जितने भी सयोगज भाव हैं अर्थात् शरीरादिक हैं वे मेरे से सर्वथा भिन्न हैं इस प्रकार चितवन करता रहता है । यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । (सो अप्याण आयातो) पूर्व सूत्रोक्त पुरुष उपर्युक्त प्रकार से

आत्मा को चिन्तन करता हुआ—निर्विकल्प रूप में आत्मा का ध्यान करता हुआ (दसगणात्मइन्द्रो) बर्षान् और ज्ञानमयी होकर (अण्णमरणो) तथा अपने आत्मा में एक चित्त होकर (लहदि अण्णमयेव) अपने आप को ही प्राप्त कर पाता है। किस प्रकार कर पाता है ? कि (अचिरेण कम्मपधिमुक्क) बहुत ही शीघ्र भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म के भेद से जो तीन प्रकार के हैं उनसे रहित कर पाता है ॥१९४-१९६-१९७॥

विशेषार्थ—आचार्य देव इन तीन गाथाओं में सवर का पात्र कौन है ? कौन कर सकता है ? और उसका स्पष्ट फल क्या है ? यह बताते हुए बताया है कि जो व्यक्ति भलाई और बुराई से दूर हट कर एकाग्रचित्त होता हुआ राजस और तामस वृत्ति इन दोनों का त्याग करके सात्विकता को प्राप्त हो जाता है और ससार की दृश्यमान वस्तुओं में अब जिसकी कोई भी इच्छा न रहने से जिसने सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है वही जीव शान्त चित्त से शुद्धात्मा का ध्यान कर सकता है जो कि सवर होने का अद्वितीय साधन है। उस शुद्धात्मा के ध्यानरूप सवरतत्त्व को भली प्रकार प्राप्त कर लेने पर फिर अणुनभ्रवता प्राप्त करने में देरी नहीं लगती उसके द्वारा वह शीघ्र प्राप्त करली जाती है। हा, उपर्युक्त प्रकार के वास्तविक त्याग के बिना ही शुद्धात्मा के ध्यानरूप सवर तत्त्व के हो जाने की बात जो कही जाती है वह बिना मुह के भोजन कर लेने जैसी है उसमें कोई सार नहीं है।

सवर किस प्रकार होता है इस प्रश्न का विशेष स्पष्टीकरण करने रूप ये तीन गाथाये पूर्ण हुई ॥१९४-१९६-१९७॥

प्राये जो आत्मा पण्डित है छद्मस्थ के देवने में नहीं प्राप्ति है उसका ध्यान कैसे किया जा सकता है—

ॐ उवदेसेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेवि ।

मण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठोय णादोय ॥१९८॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा दृष्ट्वा जानाति ।

भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥१९८॥

अर्थ—जैसे किमी का परोक्षरूप उपदेश द्वारा तथा लिखा देखकर वह जाना जाता है। वैसे ही यह जीव वचनो के द्वारा कहा जाता है तथा मनके द्वारा ग्रहण किया जाता है मानो प्रत्यक्ष देखा गया व जाना गया है ॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति—उवदेसेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेवि यनालोके परोक्षमपि देवतारूप परोपदेशान्तिवन्ति दृष्ट्वा कश्चिदेववत्तो जानाति । मण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य । तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते । कोसो ? जीव, केन रूपेण ? यथा दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा सप्रधारयति तथा चोक्त ।

गुरुपदेशादभ्यासात्सर्वित्ते स्वपरातर । जानाति य स जानाति मोक्षमोक्ष्य निरतर । अथ—

टीका—(उवदेसेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेदि) जैसे लोक व्यवहार में किसी परोक्ष देव के रूप को भी किसी दूसरे के कहने से या कही लिखा हुआ देखकर कि यह अमुक देवता का रूप है देवदत्त

ॐ यह गाथा आत्मक्याति में नहीं है ।

आदिक जाना जाता है । (भण्णादि तद्देव घिप्पदि जीवो विट्ठो ब शादोय) उसी प्रकार यह जीव सबकों के द्वारा कहा जाता है तथा यह जीव मेरे द्वारा देखा गया और जाना गया ऐसा मन के द्वारा ग्रहण किया जाता है इस प्रकार विश्वास किया जा सकता है सम्भा जा सकता है । ऐसा ही अन्य ग्रन्थ में कहा गया है कि “गुरुपदेशाभ्यासात् सविते स्वपरातर, जानाति य स जानाति मोक्षसौख्य निरन्तर ॥” “अर्थात् गुरु महाराज के उपदेश से, उनके बताये हुए मार्ग के द्वारा अभ्यास करने से, अपनी बुद्धि के विवेक द्वारा अपने आपके तथा श्रीरो के अंतरंग तत्त्व को जानता है वह निरन्तर होने वाले मोक्ष सुख को जानता है ॥१६८॥

कोविदिवच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूपमिवं ।

पच्चक्खमेव विट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठतं ॥१६९॥

कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणोत् रूपमिवं ॥

प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं ॥ १६९ ॥

अर्थ—कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्म तत्त्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष ही जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है । परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ से भी जान लिया जाता है ॥१६९॥

सात्पर्यवृत्तिः—अथ मत भणिज्ज रूपमित्थं पच्चक्खमेव विट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठं । योसी प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वय । नैव (?) । कोविदिविच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज कोविदितार्थ साधु, संप्रतिकाले ज्ञायत् ? न कोपि । किं ज्ञायत्, न कोऽपि । किंतु रूपमित्थं पच्चक्खमेव विट्ठं इदमात्मस्वरूप प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं । चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत् । अपि तु नैव कथं भूतमिदमात्मस्वरूप । परोक्खणाणे पवट्ठं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमान, इति ।

किंच विस्तर यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहित स्वसंबेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनमेव परोक्ष भण्यते । तथापि इ द्वियमनोजनितविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षः । तेन कारणेन, आत्मा स्वसंबेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति । केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नयाति । किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिन, किमात्मानं हस्ते दृष्टीस्था दर्शयति ? तेषां दिव्यध्वनिना मणित्वा गच्छति । तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा, हृदानी कालेऽपीति भावार्थः । एव परोक्षस्यात्मन कथं ध्यान क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वय गत ॥

अर्थ, उदयप्रातर्द्वयप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्वनिसानानामभावे मति जीवगत रागादिभावकर्मरूपाणां, मध्यवसानानां, अभावो भवतीत्यादिरूपेण सवरस्य क्माक्यान कथयति—

टीकाः—(कोविदिवच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज) कौन समझदार साधु इस समय ऐसा कह सकता है कि (रूपमित्थं पच्चक्खमेव विट्ठं) आत्मा के स्वरूप को मैंने प्रत्यक्ष ही देख लिया है जैसा कि चतुर्थकाल में केवलज्ञानी देख लिया करते थे परन्तु ऐसा तो कोई भी नहीं कहता । कहना तो यह है कि वह आत्म स्वरूप (परोक्खणाणे पवट्ठं) केवल ज्ञान की अपेक्षा से जो परोक्ष है ऐसे श्रुतज्ञान में अर्थात्

मानसिक ज्ञान में प्रगट हो जाता है। भावार्थ यह है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन रूप भाव श्रुत ज्ञान केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है तथापि सर्व साधारण को होने वाला इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान होता है उसकी अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष है। अतः स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जाना जाता है इसलिये प्रत्यक्ष होता है पर केवलज्ञान की दृष्टि में तो वह परोक्ष ही होता है। किन्तु सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता अपितु सोचो कि चतुष्काल में भी केवली भगवान् क्या आत्मा को हाथ में लेकर दिखलाते हैं ? अर्थात् नहीं, वे भी अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा कहकर चले जाते हैं। तो भी दिव्य ध्वनि सुनने के काल में सुननेवालों के लिए आत्मा का स्वरूप परोक्ष ही होता है। तत्पश्चात् श्रोता लोग परम समाधि स्वीकार करते हैं उस ध्यानस्थ अवस्था में ही वह उनके प्रत्यक्ष होता है—अनुभव गोचर होता है वंसा ही श्राव भी हो सकता है। इस प्रकार परोक्ष आत्म का किस प्रकार ध्यान किया जाता है इसका समाधान करते हुए दा शाखाएँ समाप्त हुई ॥१६६॥

अब उदयमें प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यय ही है स्वरूप जिनका ऐसे रागादि अद्वयमान भाव उनका अभाव हो जाने पर जीवगत रागादि भावकर्मरूप अद्वयमानों का भी अभाव हो जाता है इत्यादि रूप से सत्त्व के क्रम का आध्यान करते हैं —

तेजसं हेतुं भणिदा अजस्रवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदभावो य जोगोय ॥२००॥

हेतु अभावे नियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स विणिरोहो ॥२०१॥

कम्मस्साभावेण य णोकम्मणं च जायदि णिरोहो ।

णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहेण होदि ॥२०२॥

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदशिश्विः ।

मिथ्यात्वमज्ञानमविरति भावश्च योगश्च ॥२००॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः ।

आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥२०१॥

कर्मणोऽभावेन च नो कर्मणामपि जायते निरोधः ।

नो कर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥२०२॥

अर्थ—पूर्वोक्त रागद्वेष और मोहरूप आस्रवों के हेतु मर्षजदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवमान कहे हैं। ज्ञानी जीव के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है और आस्रव भाव के न होने से कर्मों का भी निरोध हो जाता है, कर्म के अभाव से नो कर्म का निरोध हो जाता है और नो कर्म के एक जाने से संसार का भी निरोध हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—तेसि हेतू भगिदा अजम्भवसाणाणि सव्ववरसीहि । तेथा प्रसिद्धानी जीवगतरागादिभि-
भावकर्मरूपाणा भावासुवाणी हेतव कारणाणि मणितानि । कानि?, उदयप्रातद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि ।
कै?, सर्वदक्षिणि । ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि तानि जीवगतान्येव भवति उदयप्रातद्रव्यप्रत्ययागतानि भाव-
प्रत्ययानि कर्म भवतीति ? नैव, यतः कारणात्, भावकर्म द्विभा भवति । जीवगत पुद्गलकर्मगत च । तथाहि
भावकोधादिव्यवितरूप जीवभावगत भव्यते । पुद्गलपिडोदव्यवितरूप पुद्गलसद्रव्यगत । तथा चोक्त—

पुग्गलपिडो दव्वं कोहादी भाववव्वं तु—

इति जीवभावगत भव्यते—

पुग्गलपिडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्म तु—

इति पुद्गलसद्रव्यगत ॥

अत्र दृष्टातो यथा—मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्स मधुरकटुकस्वादव्यक्तविकल्परूप जीवभावगत ।
तद्व्यवधिकारणभूत मधुरकटुक द्रव्यगत शक्तिरूप पुद्गलसद्रव्यगत । एव भावकर्मस्वरूप जीवगत पुद्गलगत च द्विधेति
भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्य । कानि तानि, अध्यवसानानि ? मिच्छन्त अण्णारा अवरिदिभावो य जोगो
य मिध्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति प्रथमयाथा गता ? हेतु अभावे नियमा जायदि नाणिस्स प्राप्तवत्ति-
रोहो पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययाना जीवगतभावासूत्रहेतुभूताना बीतरागम्वसवेदनज्ञानिनो जीवस्य, उदयागतद्रव्यकर्म
रूपाणा, अभावे सति नियमाभिध्यायात् रागादिभावासूत्रनिरोधलक्षण सवरो जायते । प्राप्तवत्त्वात्वेन विना जायते कर्मणो
निरोधरूप सवर । कस्य ? परमात्मनस्त्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मण इति द्वितीययाथा गता । कम्मस्साभावेण
य एगोक्कम्मां च जायदि णिरोहो । तत्तत्र नवतरकर्मभावेन सवरेण शरीरादिनोक्तर्मणा च जायते, निरोध-
सवर । नोक्कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहेण होदि । नोक्तर्मनिरोधनेन सवरेण ससागतीनुद्धात्मनश्च प्रतिपलभूत-
द्रव्यलेशादिवचप्रकारसंसारनिरोधन भवतीति तृतीययाथा गता, । एव सवरकमाख्यानं याथात्रय गत । एव पात्रवदा
सूत्रविपदाभूत सवरो निष्कृता ।

इति श्री जयमेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया बुद्धात्मनुभूतिलक्षणाया तात्पर्यवृत्तौ

चतुर्दशगायामि षट्स्थाने प्राप्तविषयद्वारेण सवर

ताथा षष्ठाधिकार समाप्त ।

टीका —(तेसि हेतू भगिदा अजम्भवसाणाणि सव्ववरसीहि) प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जीवगत रागादि
विभाव रूप भावासूत्रों के भी हेतु उदय को प्राप्त हुए द्रव्य प्रत्यायो में होनेवाले रागादि अध्यवसान सर्वज्ञ देव
ने बतलाये हैं । यहा शका हो सकती है कि अध्यवसान तो भावकर्म रूप होते हैं जो कि जीवगत ही हो सकती
है । उदय को प्राप्त द्रव्य प्रत्ययगत भाव प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हैं कि यह शका
ठीक नहीं है क्योंकि भावकर्म जीवगत और पुद्गल कर्मगत दो प्रकार का होता है । जैसा कि कहा है —
“पुग्गल पिडो दव्वं कोहादी भावकम्मनु” यह जीवगत भावकर्म की बात हुई और “पुग्गलपिडोदव्वं तस्सत्ती
भावकम्मनु” यह पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म की बात हुई ॥ उसी को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं कि किसी
मीठे या कड़वे पदार्थ को खाने के समय में उसके मधुर या कटुक स्वाद को चक्षुरूप जो जीव का

विकल्प होता है वह जीवगत भाव कहलाता है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति में कारणभूत ऐसा उस मधुर या कटुक द्रव्य में रहने वाला शक्ति का अश-विशेष होता है वह पुद्गल द्रव्यगत भाव कहा जाता है। इस प्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत के भेद से दो प्रकार का होता है। ऐसा भावकर्म के व्याख्यान में सर्व ही ठीक जानना चाहिये। वे अध्यवसान कीनसे हैं। कि (मिच्छन्त अण्णाण भविरदिभावोय जोगोय) मिथ्यात्व, अज्ञान, भविरति और योग के भेद से चार प्रकार के हैं। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। (हेतु अभावे रियमा जायदि णारिणस्स आसवार्णरोहो) ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं ऐसे जीवगत भावासुबो के जो हेतु कहे गये हैं उन द्रव्य कर्म स्वरूप उदय में आये हुए द्रव्य प्रत्ययो का वीतराग स्वसवेदन ज्ञानी जीव के अभाव हो जाता है एव उनके न होने पर नियम से उसके अवश्य ही रागादि भावासुबो के निरोध स्वरूप सवर हो जाता है। (आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो) और इन प्रकार आसुब से रहित जो परमात्म तत्व उससे विलक्षण रूप जीवगत भाव आसुब के न होने से परमात्म तत्व को आच्छादन करने वाले नवीन द्रव्य कर्मों का भी निरोध अर्थात् सवर हो जाता है यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। (कम्मस्माभावेण य णोकम्माण च जायदि णिरोहो) इस प्रकार नवीन कर्म के अभाव रूप सवर के हो जाने पर शरीरादिरूप नोकर्म का भी निरोधात्मक सवर हो जाता है। (एो कम्मणि रोहेण य ससार णिरोहण होदि) इस प्रकार नोकर्म का अभाव हो जाने पर ससार से दूरवर्ती ऐसा जो शुद्ध आत्मतत्त्व उसका प्रतिपक्ष भूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पच प्रकार के ससार का भी अभाव हो जाता है ॥ २००-२०१-२०२ ॥

विशेषाध.—जब तक यह ससारी जीव अपने आप को और शरीर को एक मानता रहता है तब तक स्वयं (शरीर) को बिगड़ता हुआ देखकर उसे बनाये रखने के लिए मिथ्यात्व अज्ञान और भविरति प्रयोगात्मक नाना प्रकार के दुष्प्रयास निरन्तर करता रहता है। अत मोह राग, द्वेष के चक्कर में फस कर नूतन कर्म बंध करने के कारण जन्म मरण के भ्रष्ट से उच्छ्रेय नहीं हो पाता किन्तु शरीर और आत्मा में जो भेद है उसे यदि वास्तविक रूप से जान लेता है तो फिर आपको अविनश्वर व चेतन स्वरूप और इस शरीर को जड़ एव विनाशीक जानकर शरीर के साथ संबध रखनेवाली इन दृश्यमान इतर वस्तुओं का परित्याग कर देता है। रहा यह शरीर सो इसे भी निस्तार व बेकार समझकर इससे भी उपेक्षा कर आत्म तल्लीन हो जाता है ऐसी दशामें फिर मिथ्यात्व, अज्ञान और भविरतात्मक प्रयोग का ठिकाना ही कैसे, और जब नहीं तो रागद्वेष और मोह भाव भी कहा ? अत फिर नूतन कर्म और नोकर्म तो होने से रह जाते हैं। सम्बद्ध कर्म और नोकर्म रूप भी नि सन्तान रूप से नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार शुद्धात्म ध्यान रूप भेद विज्ञान से सवर होकर आत्मा सदा के लिए सच्चिदानन्द बन रहता है।

इस प्रकार सवर के क्रमका व्याख्यान करने वाली तीन गाथाये पूर्ण हुईं। इसके साथ साथ यह सवर का प्रकरण भी समाप्त हुआ जो कि छ स्थलो में आई हुई चौदह गाथाओं द्वारा वर्णित है।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य को समयसार की टीका जिसमें कि शुद्धात्मा की अनुभूति का लक्षण बतलाया गया है जिसका कि नाम तात्पर्यवृत्ति है उसकी हिन्दी टीका में १४ चौदह गाथाओं द्वारा आसुब के विरोध रूपमें वह छ स्थलो में सवर नामा छद्म अधिकार पूर्ण हुआ।

सातवां महा अधिकार (निर्जरा तत्व)

सात्पर्यवृत्ति—तत्रैव सति रगभूमे सकाशात्, शृंगाररहितपात्रवत्—शुद्धजीवस्वरूपेण सवरो निष्कृत । अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा सवरपूर्विका निर्जरा प्रवृत्तिरुप **उपभोगमि दग्गेहि** इत्यादिगाथामादि कृत्वा दडकाम् बिहाय पाठक्रमेण पञ्चाशदध्यापयन्तं षट्स्यल्लेनिर्जराव्याख्यान करोति । तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञान-शक्तिवैराग्यशक्तौना क्रमेण व्याख्यान करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय । तदनन्तरं ज्ञानवैराग्यशक्ते सामान्यव्याख्यानायं **सेवतोवि एण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापञ्चक । ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यशक्तौ विशेष-विवरणायं **परमाणुमितियपि** इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रद्वयक । ततश्च मतिश्रुतावधिमतं पर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूप परमार्थसम्भूति कारणभूत यत्परमात्मपद, तत्पद येन स्वसवेदनज्ञानगुणैर्न लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानायं **माणगुणेहि विहीराणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्रद्वयक । ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणायं **माणो रागप्पजहो** इत्यादि पञ्चमस्थले गाथा चतुर्दश । तदनन्तरं शुद्धतयमाश्रित्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्चकाष्ट-गुणानां व्याख्यानायं **सम्मादिट्ठो जीवो** इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवक कथयति, इति षड्भिरन्तराधिकारैः, निर्जराधिकारे समुदायपातनिका । तथाच,

अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति ।

अब यहा शृंगार रहित पात्र के समान शुद्ध जीव स्वरूप जो सवर है वह तो इस रगभूमि मे से चला गया और वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाली ऐसी सवर पूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है ।

वहा 'उपभोगमि दिग्गेहि' इत्यादि गाथा को आदि लेकर दडको को छोड़ पाठक्रम से पञ्चम गाथा पर्यन्त छ स्थलो से निर्जरा का व्याख्यान करते हैं । उनमे से प्रथम द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञान शक्ति, वैराग्यशक्तियों का क्रम से वर्णन है । इस प्रकार प्रथम स्थल मे पीठिका रूप से चार गाथाये हैं । उसके बाद ज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए सेवतो विण सेवदि' इत्यादि रूप से दूसरे स्थल मे पांच गाथाये हैं । उसके आगे उन्ही ज्ञान और वैराग्य शक्तियों का विशेष वर्णन करने के लिए 'परमाणु मितियपि' इत्यादि १० सूत्र तीसरे स्थल मे हैं । उसके आगे मति, श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवल ज्ञान के भेद से पांच प्रकार है फिर भी परमार्थ से जो एक रूप ही है और मुक्ति का कारण एव परमात्म पद का मूल है वह पद जिस स्वसवेदन ज्ञान से प्राप्त होता है उसके सामान्य व्याख्यान के लिए "माण गुणेहि विहीराणा" इत्यादि आठ सूत्र चौथे स्थल मे हैं । फिर उसही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करने के लिए "माणो रागप्पजहो" इत्यादि १४ गाथाये पांचवे स्थल मे हैं । उसके आगे छठे स्थल मे शुद्ध नय का आश्रय लेकर चिदानन्द रूप एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा की भावना के आश्रयभूत निश्चयात्मक निश्चकातोदि आठ गुणों के व्याख्यान के लिए "सम्मादिट्ठो जीवो" इत्यादि ९ सूत्र कहे गये हैं इस प्रकार छ अंतर अधिकार से इस निर्जरा अधिकार मे समुदाय पातनिका पूर्ण हुई ।

आगे सबसे प्रथम निर्जरा का स्वरूप कहते हैं—

उवभोग भिदियोहिं दव्वाण मचदेणाण मिदराण ।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२०३॥

उपभोगमिद्वियेः द्रव्याणाम चेतना मितरेषा ।

यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरं निमित्तं ॥२०३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि (बीतरागी) जीव अपनी इन्द्रियो द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सब उसके लिए कर्मों की निजरा के निमित्त होता है ॥२०३॥

तात्पर्यवृत्ति—उवभोगमिद्वियोहिं दव्वाणमचदेणाणमिदराण जं कुणदि सम्मदिट्ठी सम्यग्दृष्टि कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां संबन्धि यद्वस्तूपभोग्य करोति । किं कृत्वा ? पचेन्द्रियविषये तंसर्व्वणिज्जरणिमित्तं तद्वस्तु मिथ्यादृष्टिर्जीवस्य रागद्वेषमोहानाम् । सद्भावेन बधकारणमपि सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवति । अत्राह शिष्य - रागद्वेषमोहभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सति, ततः कथं निर्जराकारणं भवति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रथे वस्तुवृत्त्या बीतरागमस्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्गुणस्थानं वर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः । कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टे सकाशादसत्यसम्यग्दृष्टे, अनतानुबन्धिकोद्यमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमानमाया-लोभोदयजनिता रागादयो न सतीत्यादि । किं च सम्यग्दृष्टे सवरूपिका निर्जरा भवति मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत्, बधपूर्विका भवति तेन कारणेन मिथ्यादृष्टिघषेक्षया सम्यग्दृष्टिरबधकः । एव इव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता ।

अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्यानं—

टीका.—(उवभोगमिद्वियोहिं दव्वाण मचदेणाण मिदराण जं कुणदि सम्मदिट्ठी) सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पाचो इन्द्रियो के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों से भोग्य और उपभोग्य वस्तु का जो उपभोग करता है, (तत्सर्व्वणिज्जर-णिमित्तं) वह सब उसके लिए निर्जरा का ही निमित्त होता है । जो वस्तु मिथ्या दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव होने के कारण बध का निमित्त कारण होती है वही वस्तु सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग द्वेष और मोह भाव के न होने के कारण वे सब निर्जरा के निमित्त होती है यहा शिष्य प्रश्न करता है कि राग द्वेष, और मोहभाव होने पर सब ही निर्जरा का कारण बताया गया है मो ठीक परन्तु गुरुमहाराज ! सम्यग्दृष्टि के तो रागादिक भाव होते हैं (सब ही सम्यग्दृष्टि जीव बीतरागी नहीं होते हैं) इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि इस ग्रथ मे वास्तविक से बीतराग सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया है परन्तु चतुर्थ गुण स्थान वर्ती अत्रतसम्यग्दृष्टि का कथन यहा गौण है यदि इसे भी यहा लिया जाय तो इस प्रश्न का समाधान पहिले किया जा चुका है कि मिथ्या दृष्टि प्रथम गुण स्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानी अवृत्त सम्यग्दृष्टि जीव कम रागवाला होता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व तथा अनतानुबन्धो क्रोध, मान, माया, और लोभ जनित रागादिक नहीं होते हैं तथा श्रावक के अप्रत्याख्यानान्तरणी क्रोध, मान, माया और लोभ जनित रागादिक नहीं होते हैं इत्यादि । तथा सम्यग्दृष्टि के जो भी निर्जरा होती है वह सवर पूर्वक होती है

किंतु मिथ्यादृष्टि को वह हाथी स्नान के समान बन्ध भाव पूर्वक दुब्रा करती है इसलिये भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्मगदृष्टि अवबन्धक होता है ॥२०३॥

विशेषार्थ—इन्द्रियो के द्वारा वस्तु का ग्रहण दो प्रकार से होता है । एक तो वैषयिक दृष्टि से और दूसरा विवेक बुद्धि से । वैषयिक दृष्टि से जो पदार्थ बन्ध का कारण होता है वही विवेक बुद्धि के द्वारा निर्जरा के लिए होता है । जैसे एक नवयुवती वेश्या एकाएक हृदय की गति रुक जाने से मरण को प्राप्त हो गई जिसके शव को श्मशान में ले जाकर चिता पर रखा गया । उसे किसी कामी पुरुष ने देखा तो सोचने लगा कि यह कितना सुन्दर रूप है, यदि जीवित अवस्था में मुझे मिल जाती तो मैं इसे अवश्य आलिगन करता । किन्तु वही पर एक मुनि महाराज बिराज रहे थे, उनकी दृष्टि जब उस पर पड़ी तो वह सोचने लगे कि देखो ! इसने दुर्लभ प्राप्त अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ ही भोग विलास में गमा दिया इत्यादि । कामी के लिए जो बन्ध का कारण हुई वही श्री मुनि के लिए निर्जरा का कारण बनी । आचार्य देव ने यही बात कही है कि विरागी जीव को जो भी बाह्य पदार्थ का समागम होता है वह उसके लिए निर्जरा का ही कारण दुब्रा करता है । हा इसी पर से यदि कोई यह मान कर कि सम्मगदृष्टि के भोग भी निर्जरा के हेतु होते हैं और इसी प्रकार हम भी भगवान की बात को ही मानने वाले हैं-सम्मगदृष्टि हैं फिर बन्ध कैसा ? इस प्रकार स्वच्छन्द होकर भोग भोगने में लग रहे तो वह तो अपने आपका बिगाड़ करने वाला ही होगा उसके तो बन्ध ही नहीं प्रत्युत घोर बन्ध होगा । कहा भी है कि—“दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख सूरि सिये न कन्था । दोय बात नहि होय सयाने, विषय भोग भरू मुक्ति हु पाने ।”

इस प्रकार द्रव्य निर्जरा का व्याख्यान एक गाथा के द्वारा करके अब भाव निर्जरा का भी स्वरूप निम्न गाथा में स्पष्ट करते हैं—

बन्धे उबभुज्जन्ते गियमा जायदि सुहं च दुखं च ।

तं सुहदुःखमुदिणं वेददि अहं गिज्जरं जादि ॥२०४॥

द्रव्ये, उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं च ।

तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥२०४॥

अर्थ—बाह्य शुभ और अशुभरूप पदार्थका समागम होने पर सुख और दुःखरूप जो साता असता नामक वेदनीय कर्म है उनकी उदीरणा होती है ऐसा नियम है और उस उदीरित हुए सुख तथा दुःख को सम्मगदृष्टि जोब भी भोगता है किन्तु वह भुक्त होकर निर्जीव हो जाता है अपितु उसके राग नहीं होने के कारण बन्ध का कारण नहीं बनता ॥२०४॥

तात्पर्यवृत्तिः—द्रव्ये उबभुज्जन्ते गियमा जायदि सुहं च दुःखं च उदयायतेद्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवर्जने सुखदुःख वा वस्तु स्वभावत एव जायते तावत् । तं सुहदुःखमुदिणं वेददि निरुपरागस्वसन्नितिभावेनोत्पन्नपारमाथिकमुखाद्भिन्न तत्सुख वा दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्मगदृष्टिर्जोबो रागद्वेषो न कुर्वन् हेतुबुद्ध्या वेदयति । न च तन्मयोभूत्वा, ग्रह सुखी, दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति । अथ गिज्जरं जादि अथ ग्रहो तत कारणाभिर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निश्चित भवति । मिथ्यादृष्टेः पुन, उपादेयबुद्ध्या सुखह

दुःखद्वयमिति प्रत्ययेन बचकारण भवति । किं च यथा कोऽपि तत्करो यद्यपि मरणं नेच्छति । तथापि तत्त्ववरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति । तथा सम्यग्दृष्टिः, यद्यप्यात्मोत्पत्त्युपपत्त्यादेयं न जानाति । विषयसुखं च हेतुं जानाति तथापि चारित्र्यमोहोदयतत्त्ववरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरा निमित्तं स्यात्, इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतम् ।

प्रथमं वीतरागस्वसवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

टीका — (द्वये उवभुज्जन्ते गण्यमा जायदि सुहं च दुःखं च) उदय मे आये हुए द्रव्यं कर्म को यह जीव जब भोगता है तब नियम से साता और असाता वेदनीय कर्म के उदय के वश से सुख और दुःख अपने वस्तु के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं । (त सुहं दुःखमुदिष्णं वेददि) जो कि रागरहित स्वसवेदन भाव से उत्पन्न होने वाले पारमार्थिक सुख से भिन्न प्रकार का होता है । उस उदय मे आये हुए सुख या दुःख को सम्यग्दृष्टि जीव भी भोगता है, किन्तु वहाँ कुछ भी भला बुरापन न मानकर रागद्वेष किए बिना उपेक्षा बुद्धि से उसे भोग लेता है—उसको पार कर जाता है—उसके साथ तन्मय होकर मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ इत्यादि रूप से अनुभव नहीं करता । (प्रथं निज्जरं जादि) इसलिए वह उसके स्वस्थ भाव से निर्जरा को प्राप्त हो जाता है । भूढ़ ही जाता है (प्रत्युत बन्ध नहीं कर पाता) किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव तो मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ इत्यादि रूप से उपादेय बुद्धि से उसे भोगता है इसलिये उसके वह बन्ध का कारण होता है । जैसे कोई भी चोर स्वयं कभी मरना नहीं चाहता किन्तु कोतवाल से जब पकड़ लिया जाता है और मारा जाता है तो मरण का अनुभव करता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी यद्यपि आत्मोत्पत्त्य सहज सुख को उपादेय मानता है और विषय सुख को हेय, फिर भी चारित्र्य मोह कर्म के उदयरूप कोतवाल से पकड़ा हुआ वह उस विषय सुख का अनुभव भी करता है इसलिए वह कर्म उसके लिए निर्जरा का निमित्त होता है । इस प्रकार यह भाव निर्जरा का व्याख्यान हुआ ॥२०४॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि संयोग केवली अर्हन्त भगवान् के प्रशस्त साता वेदनीय कर्म का उदय होता है जिससे वे बाह्य विभूति चौसठ चमर, सिंहासन, समवशरणादि विभूति से विशिष्ट होते हैं किन्तु वहाँ पर उनके नाम मात्र की भी ममता न होने से बन्ध नहीं होता है । उसी प्रकार छद्मस्थ वीतरागी जीव भी कर्म के उदय से आये हुए उपसर्गादि के समय उसे निर्मम भाव से भोग लेता है, सहन कर जाता है अतः उसके भी तज्जन्य बन्ध नहीं होता किन्तु वह निर्जीव हो जाता है । जैसे कि सुदर्शन मुनिराज को दबाकर वैश्या ने काम भोग संबंधी अनेक कुप्रेष्टाये की पर वे मुनिराज उन सबको समभाव से भोगते रहे, सहते रहे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ अतः उस वैश्या के तो घोर कर्म का बन्ध हुआ किन्तु सुदर्शन मुनिराज के ता कर्म की निर्जरा ही हुई । हाँ, भरत चक्रवर्ती सखी गृहस्थ क्षायक सम्यग्दृष्टि सखी ने सुभद्रादि रानियों के साथ चलाकर प्रमग किया वहाँ पर भी उनके सम्यग्दृष्टि होने मात्र से बन्ध नहीं हुआ हो केवल मात्र निर्जरा ही हुई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए । यह बात अवश्य है कि अतत्त्व श्रद्धानी मिथ्यादृष्टि जैसा बंध नहीं होता था किन्तु परीत ससारात्मक बन्ध होकर चतुर्थ पंचम गुणस्थान योग्य निर्जरा होती थी । किन्तु सर्वथा बंध न होकर निर्जरा ही होना जैसा कि इस गाथा में बताया है वह तो वीतराग रूप निश्चय सम्यग्दृष्टि के ही होती है क्योंकि उसकी ज्ञान शक्ति व वैराग्य-शक्ति दोनों अपना बराबर काम करती रहती हैं ।

अब वहाँ पर उससे से पहले ज्ञान शक्ति का बखुन करते हैं—

जह विसमुबभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।

पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥२०५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति ।

पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥२०५॥

अर्थ—जैसे वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी जीव कर्म फल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होगा ।

सात्पर्यवृत्ति—जह विसमुबभुज्जता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयाति यथा विषमुपभुज्जता सतो गारुडविद्यापुरुषा, अमोघमन्त्रसामर्थ्यात्, नैव मरणमुपयाति । पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी तथा परमतत्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफल भुंक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधि लक्षणभेदज्ञानामोघमन्त्रबलान्नैव बध्यते कर्मणोति ज्ञानशक्तिव्याख्यान गत । अथ संसारशरीरभोगविषये वैराग्य दर्शयति—

टीका—(जह विसमुबभुज्जन्तो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि) जैसे मन्त्र विद्या का जानकार पुरुष विष को खाकर निर्दोष मन्त्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होता है, (पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी) वैसे ही परम तत्त्वज्ञानी जीव शुभ व अशुभ रूप कर्म के फल को भोगता हुआ भी वह निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञानरूप अमोघ (कभी भी निष्फल नहीं होने वाला) मन्त्र के बल से कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार ज्ञान शक्ति का व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥२०५॥

आगे संसार, शरीर व भोगों के विषय में जो वैराग्य की सामर्थ्य है उसे दिखलाते हैं—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।

दब्बुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव ॥२०६॥

यथा मद्य पिवन् अरतिभावेन भाद्यति न पुरुषः ।

द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥२०६॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अरतिभाव से (अप्रीतिपूर्वक) किसी भी मादक पदार्थ को पीता हुआ भी मतवाला नहीं होता, वैसे ही किसी भी पदार्थ के उपभोग में रागादि रहित हुआ ज्ञानी जीव भी कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता है ॥ २०६ ॥

सात्पर्यवृत्ति—जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कञ्चित् पुरुषो व्याधिप्रती-
कारनिमित्त मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमीषध निक्षिप्य मद्यं पिवन्पि रतेरभावान्न भाद्यति । दब्बुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी धर्मेन्द्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता आसक्तोऽन निर्द्विकार

स्वसञ्चितशून्य बहिरात्म जीवापेक्षया रागभाव न करोति, तावता तावताज्ञेन कर्मणा न बध्यते । यदा तु हर्षविषादादिव-
रूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानवलेन सर्वथा वीतरागी भवति । तदा सर्वथा न बध्यते इति वैराग्य-
शक्तियव्याख्यान गत । एव यथा क्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे
तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टय गत ।

अर्धनदेव वैराग्यस्वरूप विवृणोति—

टीका — (जह मज्ज पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ए पुरिसो) जैसे कोई पुरुष अपने बवासीर
आदि रोग को मिटाने के लिये भाग आदि मादक पदार्थ पीना है उसमें उसकी मादकता को दबानेवाली
औषधि डालकर अरुचि भाव से पीता है अतः वह उन्मत्त नहीं बनता है, (दब्बुवभोगे अरदो एणणीवि
ए बज्झदि तहेव) वैसे ही परमार्थ तत्वका जानकार पुरुष पचेन्द्रियो के विषयभूत खान पान आदि द्रव्य
को उपभोग करने के समय में भी निर्विकार स्वसंवेदन से रहित होने वाले बहिरात्म जीव की अपेक्षा
से जिस जिस प्रकार के रागभाव को नहीं करता है उस उस प्रकार का कर्म बन्ध उसके नहीं होता । जब
हर्ष विषाद आदि रूप समस्त विकल्प जालों से रहित परम (आत्म) ध्यान वही है लक्षण जिसका ऐसे
भेद ज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग हो जाता है उस समय नूतन कर्म बन्ध नहीं करता है यह उसकी
वैराग्य शक्ति की विशेषता ॥२०६॥

विशेषार्थ — आत्म ध्यान करने वाली योगी पुरुष की मूलमें दो प्रकार की चेष्टायें होती हैं । (१)
पहली तो एकाग्रता के साथ आत्म ध्यान में तल्लीन हो रहने रूप (२) दूसरी उसी आत्म ध्यान को
सुसम्पन्न करने में सहायरूप बनाने के लिये शरीर को आगमोक्त विधि से आहारादि देने में प्रवृत्त होने
रूप । जब वह आत्म ध्यान में तल्लीन होता है तब उसके नूतन कर्म बन्ध ही नहीं होता किन्तु समीचीन
आहार ग्रहण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है उस समय भी उसके किञ्चित् प्रवृत्त्यात्मक रागाश होता है
उमसे जो नूतन कर्म बन्ध होता है वह भी अवनसम्यग्दृष्टि और देश विरत की अपेक्षा में भी अत्यल्प रूप
होता है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि उसके बाह्य वस्तुओं में वैराग्य होता है ।

इस प्रकार यथा क्रम में द्रव्य निर्जरा, भाव निर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का वर्णन करते
हुए इस निर्जरा अधिकार में तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से ४ गाथायें पूर्ण हुई ।

आगे उस ही वैराग्य के स्वरूप बताते हैं —

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि ।

पगरणचेट्ठा कस्सवि णयपायरणोत्ति सो होई ॥२०७॥

सेवमानोऽपि न सेवते, असेवमानोऽपि सेवक. कश्चित् ।

प्रकरण चेष्टा कस्यापि, न च प्रार्काणक इति स भवति ॥२०७॥

अर्थ — कोई भोगों को सेवता हुआ भी नहीं सेवन करता है । (जंमे अयथा गनी के बगुलमें फसा हुआ सेठ
सुवर्ण के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ सा होकर भी वह उसका भोगनेवाला नहीं होता) दूसरा

कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है जैसे कि किसी विवाह में जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नहीं होता है- उस विवाह का सब काम करते हैं ॥२०७॥

तात्पर्यवृत्तिः—सेवतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि निर्व्विकारस्वसेवेदन ज्ञानी जीव स्वकीय-गुणस्थानयोग्याख्यानपानादिपंचेंद्रियभोग सेवन्नपि सेवको न भवति । ग्रन्थ पुन , भ्रज्जानी कश्चित् रागादिसद्भावसेवन्नपि सेवको भवति । धमुयेयार्थं दृष्टानेन हृदयति । पगरणचेट्टा कस्सवि णय पायरणोत्ति सो होवि यथा कस्यापि परदु-हावागतस्य विवाहादिप्रकरणेषु तावदस्ति तथापि विवाहविप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्रकरणिको न भवति । ग्रन्थ पुन प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्रकरणिको भवति । तथा परमतस्व-ज्ञानी सेवमानोप्यसेवको भवति । भ्रज्जानी जीवो रागादिसद्भावसेवकोऽपि सेवक इति ।

अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेव विशेषेण जानाति—

टीका—(सेवतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि) निर्व्विकार स्वसेवेदन ज्ञान का धारक जीव अपने २ गुण स्थान के योग्य खानपानादि रूप पञ्चोन्द्रियो के भोगों को भोगने वाला होकर भी उसका भोक्ता नहीं होता किन्तु भ्रज्जानी जीव उसे न सेवन करता हुआ भी उसके प्रति रागभाव होने से उसका सेवनेवाला बना रहता है । इसी बात को दृष्टात देकर अच्छी प्रकार समझते हैं—(पगरण चेट्टा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि) जैसे कि जिसका विवाहादि नहीं होना है अतः वह विवाहादि प्रकरण का प्राकरणीक तो नहीं है जो कि दूसरे घर से आया हुआ पाहुना आदि है फिर भी वह उस विवाहादि का काम करता है किन्तु जो प्राकरणीक है-जिसका विवाहादि होना है-वह गीत नृत्य आदि कोई भी प्रकार का काम नहीं करता है फिर भी उन (विवाहिक) कामों के प्रति उसका राग होने से वही प्राकरणीक कहलाता है । उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीव किसी विषय का सेवन करनेवाला होकर भी वह उसका भोक्ता नहीं होता, किन्तु भ्रज्जानी जीव किसी वस्तु का न सेवन करने वाला होकर भी अपने रागभाव के कारण वह उसका भोक्ता बना रहता है ॥२०७॥

विशेषार्थ—आत्मा के साथ इन बाह्य वस्तुओं को चिपकाये रखने वाला आत्मा का राग भाव है । जिसके प्रति राग भाव होता है वह वस्तु दूर होकर भी आत्मा के पास में होती है और जिससे उनका राग नहीं होता वह समीप में होकर भी उसके लिए नहीं होती । अब ज्ञानी अर्थात् त्यागी का किसी भी वस्तु से राग नहीं होता किन्तु किसी भी प्रकार के पर प्रयोगवश यदि उसके पास में कोई वस्तु होती है तो वह उसका स्वीकार करता हुआ सा प्रतीत होता है फिर भी उसका कोई अपनेपन का संबन्ध नहीं होता । जैसे मुनि के पास में पिच्छी होती है, लोगों की दृष्टि में वह पिच्छी वाले कहलाते हैं तो भी उससे उनका कोई जातीय संबन्ध नहीं होता । उन्हें प्रागम को भ्रज्जा है जब भी कही पर बैठे तो वहा की भूमि एवं अपने शरीर को भी भली प्रकार भाङ पौछ कर बैठे इत्यादि । इसीलिये उसे वह रखते हैं अतः वह उनका परिग्रह नहीं होता । किन्तु गृहस्थ के पास में भले ही कुछ भी नहीं हो फिर भी ससार भर को अपने पीछे लगाये हुए रहता है । यह सब बैराग्य की महीमा है ।

प्रागे सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके धीर पर के स्वरूप को विशेषतया किस प्रकार जानता है—

पुगलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।

ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२०८॥

पुद्गल कर्म क्रोधस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।

तत्त्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥२०८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि (विरागी) जीव ऐसा जानता है कि राग नामका पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीति रूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है । मैं तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव हूँ इसमें सन्देह नहीं ॥२०८॥

तात्पर्यवृत्ति—पुग्गलकम्म कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो पुद्गलकर्मरूपो योजो द्रव्यकोचो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विनिष्ठपाको विपाक फलरूप उदयो भवति । स क ? आतात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष, अक्षमरूपो भाव क्रोध णु एस मज्झभावो जाणगभावो तु ग्रहमिक्को न वैष मम भाव, कस्मात् ? इति चेत् टकोत्कीर्ण-परमानन्दज्ञायकभावोऽहं यत । किं च पुद्गल कर्मरूप क्रोध क्वास्ते ? भावरूप एव दृश्यते इति ? नैव । पुद्गल-पिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूप स भावक्रोधः । इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति कथं ? इति चेत् पुग्गलपिण्डो दब्ब तस्सत्तो भावकम्म तु इत्यादि । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोक्तं मनोवचनकायधोत्रचक्षुष्पाणरसनस्पर्शनसंज्ञाधोऽहंसादि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्र-प्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ।

अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे मति भेदभावनाच्छेपोत्तरं ददाति-

टीका—(पुग्गल कम्म कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो) पुद्गल कर्मरूप द्रव्य क्रोध जो इस जीव में पहले से ही बद्ध हो रहा है उसका विशेष विपाक अर्थात् फलरूप उदय होता है जो कि शान्तरूप आत्म तत्त्व उससे पृथग्भूत भिन्न अक्षमरूप भाव है वह भाव क्रोध (ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो तु ग्रहमिक्को) मेरा भाव नहीं है क्योंकि मैं तो एक टाकी से उकीरे हुए के समान एक परमानन्द रूप ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ और इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म रूपी क्रोध है और उसके उदय से उपजा हुआ जो अक्षमरूप भाव है वह भाव क्रोध है यह व्याख्यान पहले भी किया जा चुका है । वह कहाँ पर है ? कि “पुग्गल पिण्डो दब्ब तस्सत्तो भाव कम्म तु” इसमें बताया है । इसी प्रकार क्रोध के स्थान पर मान भावा, लोभ, रागद्वेष, मोह, कर्म, नोक्तं, मन वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन नाम बदल कर सोलह सूत्र भिन्न २ रूप से व्याख्यान करने योग्य हैं और इस प्रकार असंख्यात लोक परिमाण और भी जो जीव के परिणाम हैं वे सभी दूर करने योग्य हैं । सम्यग्दृष्टि जीव के लिए मिटा देने योग्य है ॥२०८॥

यदि कोई सम्यग्दृष्टि में प्रवृत्ता है कि यह सब तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह इसका उत्तर भेदज्ञान भावना के द्वारा इस प्रकार देता है —

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदय फल विवागो ।

परदब्बाणुव ओगो ण दु वे हो हवदि अण्णाणी ॥२०९॥

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः ।

परद्रव्याणामुपयोगो न तु वेहो भवति अज्ञानी ॥२०९॥

अर्थ—यदि सम्यग्दृष्टि से कोई यह पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोंय के फल का विपाक रूप विभाव परिणाम वह तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह कहता है कि कर्म स्वयं परब्रह्म हैं जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव प्रोपाधिक हैं, वेरा स्वभाव कैसे हो सकता है। वेह तो स्पष्ट ही जडस्वरूप है मुझसे भिन्न है ॥२०६॥

तात्पर्यवृत्तिः—कह एस तुच्छ व हवदि बिबिहो कम्मोदयफलविभावो कथमेव बिबिधकर्मोदयफल-विपाकस्वरूप न भवतीति केनापि पृष्ठ तत्रोत्तर ददाति परब्रह्मानुबोधो निविकारपरमाह्लादकसकलस्वशुद्धात्म-द्रव्यात्पुण्यभूतानि परब्रह्माणि यानि कर्माणि जीवे जगानि तिष्ठति तेषामुपयोग उदयय, प्रोपाधिकस्फटिकस्य परोप-धिवत् । न केवल भावक्रोधादि ममस्वरूप न भवति, इति जड देहो हवदि अण्णाणी देहोऽपि मम स्वरूप न भवति नु स्फुट कस्मादिति चेत्, अज्ञानी ब्रह्मस्वरूपो यत कारणात्, ग्रह पुन, अनन्तज्ञानादियुगस्वरूप इति ।

अथ सम्यग्दृष्टि स्वस्वभाव जानन् रागादीन्व मुचन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसपन्नो भवति इति कथयति—

टीका—(कह एस तुच्छ व हवदि बिबिहो कम्मोदय फल विभावो) नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक वह तेरा स्वरूप क्यों नहीं है ऐसा यदि कोई पूछता है तो सम्यग्दृष्टि उत्तर देता है कि (पर दव्वागुवधोगो) विकार रहित परम प्रसन्न भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप पौद्गलिक कर्म जो मेरी आत्मा में लगे हुए हैं उनके उदय से होने वाला यह क्रोधादिक तो प्रोपाधिक भाव है जैसे कि डाक के कारण से होने वाला स्फटिक का काला पीलापन है। अतः क्रोधादिक रूप भाव मेरा स्वभाव नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु (णु देहो हवदि अण्णाणी) यह शरीर भी मेरे शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है क्योंकि यह अज्ञानी है जड स्वरूप है और मैं अनन्त ज्ञानादि गुरा स्वरूप हूँ ॥२०६॥

भाग कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभाव को जानता हुआ और रागादि भावों को छोड़ता हुआ ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है—

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणय सहावं ।

उदयं कम्मविवागं य मुवदि तच्चं वियाणंतो ॥२१०॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायक स्वभावं ।

उदयं कर्म विपाकं च मुचति तत्त्वं विजानन् ॥२१०॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आपको ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यग्दृष्टि होता है ॥२१०॥

तात्पर्यवृत्तिः—एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहाव एव—पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्भावः आत्मानं जानाति, कथंभूत ? टोक्कीएणपरमानदज्ञायकस्वभाव । उदयं कम्मविवागं मुचति तच्चं वियाणंतो उदय पुनर्ममस्वरूप न भवति कर्मविपाकोयमिति यत्वा मुचति । किं कुर्वन् सन् ? निरयानदेकस्वभाव परमात्मतत्त्व त्रिगुणिसमाधौ स्थित्वा जानन्प्रति ।

अथ सम्यग्दृष्टि सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति—

टीका—(एव सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणय सहाव) इस उपर्युक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप को टाकी से उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला ऐसा परमानन्द स्वभाव रूप जानता है । (उदय कम्म विवागं य मुवदि तच्चं वियाणंतो) और यह उदय है वह मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु यह तो कर्म का विपाक है ऐसा मानकर उसे छोड़ देता है क्योंकि वह त्रिगुणित समाधि में स्थित होकर नित्यानन्द एक स्वभाव वाले परमात्म तत्त्व को जानता रहता है ॥२१०॥

निरोधार्थ—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो सभी प्रकार के विभाव भावों से रहित हो वही सम्यग्दृष्टि होता है । यह दशा कहाँ और किस समय होती है इसका स्पष्टी-

करण करते हुए लिखा है कि यह अवस्था त्रिगुप्ति रूप परम समाधि काल में होती है, छद्मस्व अवस्थाओं में नहीं, अतः वही पर सम्यग्दृष्टि होता है। इसी बात का समर्थन श्री भृगुतत्त्वज्ञाचार्य के भी 'स्वस्व वस्तुत्व प्रथयन् कर्मोदय विपाक प्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञान वैराग्याभ्यां संपन्नो भवति' अर्थात् अपने आपके वस्तुत्व को वास्तविक स्वरूप को अनुभव करता हुआ यह जीव कर्मों दय से उत्पन्न होनेवाले सभी प्रकार के विकारी भावों को छोड़कर उनसे रहित होता है। इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है। इसलिए निःसंकोच रूप से यह मान लेना चाहिए कि यहाँ पर बीतराग सम्यग्दृष्टि ही का वर्णन है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान वर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का नहीं है क्योंकि वह तो हर समय अविरत ही होता है, वैराग्य युक्त नहीं होता और न वास्तविक आत्मानुभव रूप ज्ञान युक्त होता है क्योंकि वह तो कभी सामायिकादि के समय शुद्धात्मा का चितवन मात्र कर पाता है।

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यपने अपने और परके स्वभाव को कैसे जानता है—

उदय विवागो विविहो कम्माणं वणिणओ जिणवरेहं ।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२११॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।

न तु ते मम स्वभावाः जायकभावस्त्वहमेकः ॥२११॥

अर्थ—योगी जानते हैं कि श्री जिग भगवान ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक जायक स्वभाव वाला हूँ ॥२११॥

सात्पर्यवृत्ति—उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणओ जिणवरेहं उदयविपाको विविधो नानाप्रकार कर्मणा सबधी वर्णित कथित, जिनवरैः ण दु ते मज्झसहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ने कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम स्वभावा न भवति, इति कस्मात् ? इति चेत् टकोत्कीरणपरमानंद जायकस्वभावोऽहं यत कारणात् । सम्यग्दृष्टि सामान्येन स्वपरस्वरूपावेव जानाति इति भणित । कथं सामान्य ? इति चेत् क्रोधोहं मानोहमित्यादि विवक्षा नास्तीति । तदपि कथमिति चेत् “विवक्षायां अभाव सामान्यमिति वचनात्” । एव भेदभावानुरूपेण ज्ञान-वैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापचक गत । इत ऊच्य गाथादणपर्यंत पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्तयोः विशेषविवरणं करोति । तद्यथा ।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति—

टीका—(उदय विवागो विविहो कम्माणं वणिणओ जिणवरेहं) ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय का फल ज्ञान को ढकने आदि के भेद से अनेक प्रकार का श्री जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है। (ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को) वह कर्मोदय का प्रकार ज्ञानावरणादि रूपसे भेद वह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि मैं तो टाकी से उकेरी हुई वस्तु जैसे सदा एकसी रहती है वैसे ही सदा बने रहने वाले परमानन्दमय और जायक एक स्वभाव का धारक हूँ। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि विरागी जीव सामान्य रूपसे अपने और परके स्वभाव को जानता है। सामान्य रूपसे क्यों कहा ? उत्तर—मैं क्रोध रूप हूँ या मान रूप

हैं इस प्रकार की विवक्षा का अभाव है। जिसमे विवक्षा का अभाव हो उसे सामान्य कहते हैं ऐसा नियम है ॥२११॥

इस प्रकार भेदभावना रूपसे ज्ञान और वैराग्य दोनों का सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाये पूर्ण हुईं। इसके आगे १० गाथाओं तक फिर भी ज्ञान और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करते हैं। आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नहीं होता है—

परमाणुमित्तयं पि ह्य रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।

णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२१२॥

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।

कह होवि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१३॥ (युग्मं)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।

नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२१२॥

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।

कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवो अयाणंतो ॥२१३॥ (युग्मं)

अर्थ—जिसके रागादिको का लेशमात्र भी विद्यमान है तो वह जीव सम्पूर्ण ढादशाग शास्त्र का पारगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता। और जब आत्मा को नहीं जान सकता तो वह अन्य को भी नहीं जान सकता। एव जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता वह जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जानने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

तात्पर्यवृत्ति—परमाणुमित्तयं य रागादीणं तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये ह्य स्फुट एवमि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात्, शुद्धबुद्धकस्वभाव परमात्मानं न जानाति, नानुभवति । कथं भूतोऽपि सर्वागमधरोऽपि सिद्धात सिधुपारगोऽपि । अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो स्वसंबेदनज्ञानवलेन सहजानर्दकस्वभाव शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयञ्च शुद्धात्मनो भिन्नरागादिरूपमनात्मानं चाजानन् कह होवि सम्मदिट्ठी जीवाजीवो अयाणंतो स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् स कथं भवति सम्यग्दृष्टि ? न कथमपीति ।

रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति गणितं भवद्भिः । तर्हि षत्पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः, तीर्थंकर कुमारभरत-सगर-राम-पांडवादेव सम्यग्दृष्टयो न भवति?, इति । तन्न मिथ्यादृष्ट्येक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बध्नाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवति । कथं? इति चेत् षत्पञ्चगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनतानुबुद्धिः क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् । पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव गणितमास्ते । अतः तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां बीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ब्रह्मण सरागसम्यग्दृष्टिना गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्बद्ध्यद्वैतव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण शतव्यं अथ भाविन भोग ज्ञानी न काशतीति कथयति—

टीका — (परमाणुमित्यपि तु विज्जदे जस्स) जिसके हृदयमे रागादि विकार भावों का स्पष्टरूप से जरासा लेश भी यदि विद्यमान है (एव वि सो जाणदि अप्पाणय तु सम्भायमधरोवि) तो वह परमात्म तत्त्व का नहीं जानने वाला होने से द्वादशागमय सम्पूर्णशास्त्रो का पारगामी होकर भी शुद्ध बुद्धरूप एक स्वभाववाले आत्मा को नहीं जानता-अनुभव नहीं करता है अतः (अप्पाणमयाणतो अणप्पय चावि सो अयाणतो) स्वसवेदन ज्ञानके बल से सहजानन्द रूप एक स्वभाववाले शुद्धात्मा को नहीं जानता हुआ तथा भावना नहीं करता हुआ वह शुद्धात्मा से भिन्न जो रागादिरूप अनात्मा को भी नहीं जानता हुआ (कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो) वह जीव जब जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता है तो वह सम्यग्दृष्टि किस प्रकार हो सकता है ? इस पर यह शका हो सकती है कि जब रागी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है तब क्या चतुर्थ व पचमगुणस्थानवर्ती कुमार अवस्था के तीर्थकर, भरत, सगर चक्री, रामचन्द्र व पाण्डवादि सम्यग्दृष्टि नहीं होने चाहिये ? क्योंकि उनके राग तो स्पष्ट ही होता है । इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि यह बात नहीं है । मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे अल्प बन्ध होता है क्योंकि मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों का उनके बन्ध नहीं होता । इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्वके उदय से होनेवाले पाषाण रेखा के समान रागादि भावों का अभाव होता है तथा पचम गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले भूमि रेखा के समान रागादिको का अभाव होता है यह बात पहले भी समझा चुके हैं । किन्तु इस प्रथमे तो पचम गुणस्थानवर्ती जीवों से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों को ही मुख्यता से ग्रहण किया है । सराग सम्यग्दृष्टियों को यहाँ पर गौण रक्खा गया है । ऐसा जहाँ भी इस ग्रन्थमे सम्यग्दृष्टि का प्रसंग आवे वहाँ सर्व ठिकाने ऐसा समझना चाहिए ॥२१२-२१३॥

विशेषार्थ — आचार्य कहते हैं कि जिसके हृदय मे कुछ भी राग का अंश है तो उसका मन उस राग से अनुलिप्त है । अतएव वह अपने आप का शुद्ध अनुभव नहीं कर सकता है । जो अपने आप का शुद्ध अनुभव नहीं कर सकता वह आत्मा से भिन्न रहने वाले अकेले राग का भी अनुभव नहीं कर सकता वह तो दोनों का मिश्रित अनुभव ही करता रहेगा । तब फिर सही सही अनुभव करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि यहाँ पर दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धारूप न लेकर अनुभूतिरूप लिया है । अनुभव तो प्राणी स्वयं जिस अवस्था मे होता है उसी अवस्था का किया करता है । जैसे जो दुःखी होता है वह अपने आप को दुःखी और जो सुखी होता है वह अपने आपको सुखी अनुभव करता है । इसी प्रकार रागसहित अशुद्ध अवस्थामे अपने आप का अशुद्ध ही अनुभव होगा । ऐसी दशामे वह सम्यग्दृष्टि सही अनुभव कर्ता कैसे हुआ ? हाँ जहाँ दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धा लिया जाता है वहाँ सराय दशा मे अपने आपको रागादि सहित अनुभव करते समय भी शुद्ध हो सकने का श्रद्धान होने से कि मैं हूँ तो वर्तमान मे रागादि भावों से लिप्त होने के कारण से अशुद्ध किन्तु ये तो सब सयोगी भाव हैं अतः इन्हे दूर हटाकर शुद्ध हो सकता हूँ इत्यादि सम्यग्दृष्टिपन बन सकता है किन्तु वह अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नहीं है ।

अपने कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जोषो की वांछा नहीं करता है—

**जो वेदवि वेदिज्जवि समये समये विणस्सवे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखवि कयावि ॥२१४॥**

**यो वेदपते वेद्यते समये समये विनश्मनुमयं ।
तद् ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥२१४॥**

अर्थः— जो राग पूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है वे दोनों ही समय २ पर विनाश हो जाते हैं । इन दोनों में से जो किसी को भी अभीकार नहीं करता है किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है ॥२१४॥

तात्पर्यवृत्ति— जो वेदवि वेदिज्जवि समये समये विणस्सवे उहयं योही रागादिविकल्प कर्ता वेदमत्पनु-भवति यस्तु सातोदय कर्मतापन्न वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन अनुभूयते । तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समय समय प्रति विनश्वर त जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखवि कयावि तदुभयमपि वेद्यवेदकरूप वर्तमान भाविन च विनश्वर जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकांक्षति न बाधति कदाचिदपि । अथ तर्कबाधध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनवचनमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यव्यसनानि परमात्मतत्त्ववेदी न बाधति, इति प्रतिपादयति—

टीका.—(जो वेदवि वेदिज्जवि समये समये विणस्सवे उहयं) जो कोई रागादि रूप विकल्प है वह तो वेदन करने वाला, अर्थात् अनुभव करने वाला है अतः कर्ता है, और जो साता के उदय से होने वाला कर्म रूप भाव रागादि विकल्प से अनुभव किया जाता है । वे दोनों ही भाव अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अपने अपने समय में होकर नष्ट हो जाते हैं । क्षणिक (त जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखवि कयावि) अतएव वर्तमान में व प्रागामी काल में भी होने वाले वेद्य वेदक रूप दोनों भावों को विनश्वर जानता हुआ तत्त्वज्ञानी जीव उन दोनों में से किसी को भी कभी भी नहीं चाहता है ॥२१४॥

विशेषार्थ—वेद्य वेदक भाव आत्मा का स्वभाव न होकर विभाव भाव है जो कि क्रम से होने वाला होकर क्षण नश्वर है । जिसकी वांछा है ऐसा वेद्यभाव हुआ तो वेदक भाव नहीं है और जब वेदक भाव हुआ तब वेद्य भाव नहीं रहा वह नष्ट हो गया । ऐसे सहान बस्थान होने से बाधित सिद्धि तो होती नहीं तब ज्ञानी जीव निष्फल वांछा कैसे करे ? नहीं करे जैसा कि भूतचन्द्राचार्य ने कलश में भी कहा है—

वेद्य वेदक विभाव चत्वाद्धृते न लज्जु काक्षति भव
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यति विरक्तिं मुपैति ॥२१५॥

अर्थात् ससार की इन दुःखमान क्षणिक वस्तुओं को वेद्य अर्थात् अनुभव करने योग्य-भोगने योग्य समझकर अपने आपको वेदक अर्थात् अनुभव न करने वाला भोगने वाला स्थापन करना सो असम्बद्ध है किसी भी प्रकार चटित नहीं होता । अतः उस वेद्य वेदक भाव को जो कभी नहीं चाहता-स्मरण भी नहीं करता है किन्तु इन सांसारिक वस्तुओं से अत्यन्त विरक्त हो रहता है—दूर हो रहता है वही विद्वान् अर्थात् ज्ञानी है ।

प्राये कहते हैं कि जो रागादिरूप ग्रन्थवसान भाव है वे सभी दुष्प्रवृत्तक हैं अतः ससार में निष्प्रयोजन बन्ध के कारण बनते हैं उनमें से जो शरीर के सब्ध को लेकर भोग के निमित्त बनते हैं उन सभी भावों को परमात्म तत्त्व बेदी जीव कभी नहीं चाहता है--

बन्धुवभोगनिमित्तं अञ्जवसाणोदएसु णाणिस्स ।

संसारदेहविसएसु णेव उपज्जदे रागो ॥२१५॥

बन्धोपभोग निमित्तेषु, ग्रन्थावसानोदयेषु ज्ञानिनः ।

संसार देह विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१५॥

प्रश्न ---बन्ध के व उपभोग के निमित्त भूत ऐसे दो प्रकार के ग्रन्थवसान के उदय होते हैं जो कि ससार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता ॥२१५॥

तात्पर्यवृत्ति—बन्धुवभोगनिमित्तं अञ्जवसाणोदयेसु णाणिस्सण्णेव उपज्जदे रागो स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागवृद्ध्यरूपेषु, ग्रन्थवसानेषु बधनिमित्तं भोगनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः । कथंभूतेष्वग्रन्थवसानेषु ? **संसार देहविसएसु** निष्प्रयोजनबधनिमित्तेषु ससारविषयेषु, भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा । इहमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोकमेव पाप करोत्ययं जीवः । निष्प्रयोजनापघ्न्यानेन बहुतरं करोति ज्ञानिमत्स्यवत् । तथा चोक्तमध्यानलक्षणम्--

बधवधच्छेदादेर्ज्ञानाग्राह्यं परकलत्रादेः प्राध्यानमपघ्न्यानं ज्ञानमिति जिनज्ञानेन विनष्टा । ॥१॥ इति अपघ्न्यानं कर्म बधनाति तदप्युक्तमास्ते--

सकल्पकल्पतरुसंश्रयाणात्स्वदीयं जेतो निमज्जति मनोरथमागरेऽस्मिन् ।

तत्रार्थतस्तव चकास्ति न कचिनापि पक्षे परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥१॥

दौर्बध्यदग्धमनसोऽतरुपातश्रुक्ते श्वित्तं यथोत्प्लवति ते स्फुरितान्तरम् ।

धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसङ्गे कौतुम्कुनी तव भवेद्विकला प्रसूति ॥२॥

प्राचारजास्त्रे मणित--

कसदि कसुसिद्धपूदो बुकामभोगेहि मुञ्छिदो सतो ।

णयं भुज्जो भोगे बधदि भावेण कम्माणि ॥ १ ॥

इति ज्ञात्वा, अपघ्न्यानं त्यक्त्वा अशुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः ।

अथ मिथ्यात्वरगादिरूपमपघ्न्यानं मम परिग्रहो न भवति, इति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यं शक्तिं च प्रकटयति--

टीकाः—(बन्धुवभोगनिमित्तं अञ्जवसाणोदएसु णाणिस्स णेव उपज्जदे रागो) स्वसंवेदनं ज्ञानी जीव के रागादि भावों के उदय रूप ग्रन्थवसान बन्ध के निमित्त और भोग के निमित्त रागपैदा नहीं करता वे ग्रन्थवसान कैसे होते हैं कि ? (संसार देह विसयेसु) कुछ तो संसार को लक्ष्य में लेकर बिना प्रयोजन ही बन्ध के करने वाले रहते हैं और कुछ वर्तमान शरीर को लक्ष्य में लेकर भोगों के निमित्त

बनते हैं। यहा यह तात्पर्य है कि यह जीव भोगो के निमित्त तो बहुत कम पाप करता है किन्तु शालि मत्स्य के समान विना ही प्रयोजन अपने दुर्विचार से घोर पार करता है जैनागम मे अप्रध्यान का लक्षण ऐसा कहा गया है—

“बध्वन्धच्छेदादेर्द्वैवाद्रागाच्चपर कलत्रादे आध्यानमपध्यान शासति जिनशासने विशदा ।

अर्थ—किमी भी प्रकार के बँर के कारण या अपने विषय साधने के राग के वश हो कर दूसरो के स्त्री पुत्रादिक का बांधना, मारडालना या नाक आदि छेद डालना आदि का चिन्तन करना उसको जिन शासन मे प्रवीण लोगो ने अप्रध्यान कहा है। इससे यह जीव घोर कर्म बन्ध करता है जैसा कि लिखा है—

सकल्प कल्पतश्च सश्रयणात् त्वदीय, चेतो निमज्जति मनोरथ सागरेऽस्मिन् ।

तत्रार्थ तस्तव चकास्ति न किंचनापि, पक्ष पर भवसि कष्टमल सश्रयस्य ॥

अर्थ—ससार की मोहमाया मे फसे हुए प्राणी को लक्ष्य मे लेकर आचार्य महाराज कहते है कि हे भाई! अनेक प्रकार के सकल्प विकल्पो मे फसकर जो तेरा मन नाना प्रकार की इच्छायें करता रहता है, उससे तेरा प्रयोजन तो कोई मिट्ट होता नही, केवल मात्र पाप का सचय होता रहता है ।

दोविधदग्ध मनसोऽन्तरूपात्तभुक्ते, शिचत्तायथोल्लसतिते स्फुरितोत्तारग ।

धाम्नि स्फुरेदपि तथा परमात्म सज्जे, कौतुस्कुती तव भावेद्विकला प्रसूति ॥

हे भाई! दुर्भाग्य से खाने पीने आदि के विषय मे लालायित होकर तेरा मन दौड धूप मचाता फिरता है, वैसा ही यदि परमात्म स्मरण मे लग जाय तो फिर सारे झुल्ल दूर हो जावे। इसी प्रकार आचार शास्त्र मे भी लिखा है—

कखिद कनुसिद भूदो, दु काम भोगेहि मुच्छिदो सतो ।

राय भू जतो भोगे बधदि भावेण कम्माणि ॥

अर्थ—इन दुष्ट काम भोगो की वासनाओ मे फसा हुआ मनुष्य का मलीन मन नाना प्रकार की इच्छायें करता है उससे भोगो को न भोगता हुआ भी अपने उस दुर्भाग के द्वारा कर्म बन्ध करता ही रहता है, ऐसा जानकर अप्रध्यान का त्यागकर शुद्धात्मा के स्वरूप मे लगा रहना चाहिये ।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य देव ने यह स्पष्ट कर दिखाया है कि जो ससार और देह भोगो से सर्वथा विरक्त होता है और जिसके किसी भी प्रकार का आर्त्तभाव व रौद्रभाव नहीं होता है वही ज्ञानी होता है। ऐसा अप्रमत्त दशा मे ही होता है उसके पहले नही। यहा शका हो सकती है कि दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक भी तो ससार देह और भोगो से विरक्त होता है जैसा कि रत्नकरड श्रावकाचार मे लिखा है—“सम्यग्दर्शन शुद्ध, ससार शरीर भोग निविण्ण । पच गुरु चरण धारणो, दार्शनिकस्तत्त्व पथ गृह्ण ॥ इसका उत्तर यह है कि यहा पर “निविण्ण” शब्द है उसका अर्थ विरक्त नही है किन्तु उद्विग्न अर्थात् अनासक्त ऐसा अर्थ है जो कि ठीक है। क्योंकि अवत सम्यग्दृष्टि जीव भी घोर मिथ्यादृष्टि के समान ससार शरीर और भोगो मे आसक्त नही होता किन्तु उन्हे स्वीकार किये हुए होकर भी उनसे भयभीत सा रहता है। अप्रति विरक्त का अर्थ तो छोडे हुए—उनसे दूर रहने वाला अर्थात् त्यागी ऐसा होता है जो कि अवत या देश विरक्त के

साथ में ठीक नहीं बैठता प्रत्युत यहा पर तो ज्ञानी को सब प्रकार के परिग्रह से रहित होकर आत्म तल्लीन रहने वाला बतला आये हैं ।

फिर भी दिखलाते हैं कि भेदज्ञान शक्ति व वैराग्य शक्ति की ऐसी महिमा है —

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।

णादेव अहं जहमा तहमा ण परिग्गहो मज्झ ॥२१६॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं ।

ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मात्त परिग्रहो मम ॥२१६॥

अर्थ—यदि यह शरीरादिक परद्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाय तो फिर मैं भी अजीव पने को प्राप्त हो जाऊ । किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये यह सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है ॥२१६॥

तात्पर्यवृत्ति—मज्झ परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज महज्जगुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिक परद्रव्य परिग्रहो भवति ततोऽहं, अजीवत्व जडत्व गच्छामि । न चाहं अजीवा भवामि । **णादेव अहं जहमा तहमा ण परिग्गहो मज्झ** परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्तत्त परद्रव्य मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थ ।

अथ किं तत्परमात्मपदमिति पृच्छति—

टीका —(मज्झ परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज) मैं तो सहज शुद्ध केवल मात्र ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाला हूँ । अतः मिथ्यात्व व रागादिकरूप परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जाय तो मैं अजीव पने को अर्थात् जड पने को प्राप्त हो जाऊ परन्तु मैं अजीव नहीं हूँ । (णादेव अहं जहमा तहमा ण परिग्गहो मज्झ) मैं तो परमात्मस्वरूप शुद्ध ज्ञानमई हूँ इसलिये यह शरीरादिक परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ॥२१६॥

वह परमात्मपद क्या है ? इसका समाधान आचार्य करने हैं ।

आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं ।

थिरमेगमिमं भावं उवलम्भंत सहाबेण ॥२१७॥

आत्मनि द्रव्यभावान्य स्थिराणि मुक्त्वा गृहाण तव नियतं ।

स्थिरमेकमिमं भावं उपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२१७॥

अर्थ—आत्मा मे जो द्रव्य और भाव कर्म हैं उनको अथिरे जान करके छोड़ दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभवने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थ को ग्रहण कर ॥२१७॥

तत्पर्यवृत्ति—प्राज्ञस्य द्रव्यभावे अग्निर मोक्षाय आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्मणि भावकर्मणि च यानि तिष्ठति तानि विनम्बराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा गिण्ह हे भव्य ब्रह्मण स्वीकुर्व क ? कर्मता यत् तव विचित्रं धिरमेगमिभं भावं उपलब्धत सहावेरा भाव, आत्मपदार्थं कथंभूत ? तव, सबधिसवक्ष्य । नियत, निश्चित । पुनरपि कथंभूत ? स्थिर, अविनश्यर । एकं, असहाय । इदं प्रत्यक्षीभूत । पुनरपि किं विगिण्ह ? उपसम्भमान, । केन कृत्वा ? परमात्ममुखसवितिरूपस्वसवेदनज्ञानस्वभावेनेति ।

अथ ज्ञानी परद्रव्य जानातीति भेदभावना प्रतिपादयति—

टीका —(आदह्य द्रव्यभावे अग्निर मोक्षाय) अधिकरणभूत आत्मद्रव्य मे द्रव्य कर्म और भावकर्म है उनको विनाश होनेवाले अग्निर जानकर छोड़दे (गिण्ह तव णियद धिरमेकमिदं भाव उपलब्धत सहा-वेण) और हे भव्य तू तेरे स्वभाव को ग्रहण कर जोकि तेरा स्वभाव निश्चित है, सदा एकसा रहनेवाला है, पर की सहायता से रहित है और स्पष्ट रूप से तेरे अनुभव मे आने वाला है । अर्थात् परमोत्कृष्ट आत्म सम्बन्धी मुख का सवेदन ही है स्वरूप जिसका ऐसे स्वसवेदन ज्ञान स्वभाव के द्वारा जाना जाता है ॥२१७॥

विशेषार्थ —जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है वे वर्णों को आदि लेकर गुणस्थान तक सभी भाव आत्मा मे होकर भी अनियत अनेक रूप, क्षणिक स्थिति वाले तथा व्यभिचार स्वरूप है अत आत्मा के पद नहीं है । किन्तु जो स्वसवेदन स्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्य-भिचारी है, सदा बना रहने वाला है वही आत्मा का पद है । वही ज्ञानी के द्वारा अनुभव करने योग्य है ।

अग्रे ज्ञानी परद्रव्य को जानता है (ग्रहण नहीं करना) इस भेदभावना को बतलाते हैं —

को नाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मममिदं हवदि दव्वं ।

अप्पाणमप्यणो परिग्गह तु णियदं वियाणंतो ॥ २१८ ॥

को नाम भणोवुबुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं ।

आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २१८ ॥

अर्थ—कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी यह मेरा द्रव्य है इस प्रकार कहना रहे । क्योंकि वह तो नियम से अपने आपको ही अपना परिग्रह जानता हुआ ही रहता है ॥ २१८ ॥

तत्पर्यवृत्ति—को नाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मममिदं हवदि दव्वं परद्रव्य मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात् ? बुधो ज्ञानी न कोपि । किं कुर्वन् ? अप्पाणमप्यणो परिग्गह तु णियदं वियाणंतो विद्वानेकस्वभावबुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति ।

अथाय च मे निश्चय, देहरागादि मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञान निरूपयति—

टीका —(को नाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मममिदं हवदि दव्वं) वह कौनसा ज्ञानी है जो पर द्रव्य को भी कि यह मेरा द्रव्य है ऐसा स्पष्ट रूप से कहता रहे किन्तु कोई ज्ञानी भी ऐसा नहीं करे । (अप्पाण

मप्यरागे परिग्गह तु णियव वियाणतो) क्योंकि वह तो निश्चित रूप से विद्वान् ही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा को ही अपना परिग्रह जानता रहता है ।

प्रागे कहते हैं कि ये शरीरादि पर द्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है । इसी बात को श्रोत्र भी दृढता से कहते हैं—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।

जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१६॥

छिद्यता वा मिद्यतां वा नीयतां अथवा यातु विप्रलयं ।

यस्मात्तास्माद् गच्छतु तथापि परिग्रहो मम ॥ २१६ ॥

अर्थ—यह शरीरादिक पर द्रव्य भले ही छिद जावो, मिद्यजावो, अथवा कोई इसे ले जावो, अथवा नष्ट हो जावो, जिस किसी दशा को भी प्राप्त हो जावो तो भी यह तो मेरा परिग्रह नहीं है यह निश्चित है । इस प्रकार विचार कर जानी तो अपने स्वस्थ (अपने स्वभाव में) रहता है ॥ २१६ ॥

तात्पर्यवृत्ति—छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय छिद्यना वा द्विषा भवतु, मिद्यता वा छिन्नी भवतु, नीयता वा केन चित् । अथवा विप्रलय विनाश गच्छतु, एवंमेव जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ अन्त्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीर मम परिग्रहो न भवति । कस्मात् ? इति चेत् टकाः कीर्णपरमानन्दमायकस्वभावोऽहं, यन् कारणात् । अथ च मे निश्चयः ।

अथारममुखे सतोष दर्शयति—

टीका—(छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय) भले ही यह शरीर छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, चाहे यह भिद जावे अर्थात् नाना छेद वाला बन जावे, इसे कोई कहीं ले जावे, अथवा नष्ट हो जावे । (जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ) भले ही इसकी ऐसी वैसी दशा क्यों न हो जावे, इसका मुझे कोई भी विचार नहीं क्योंकि यह शरीर मेरा परिग्रह नहीं है । मैं तो टाकी में उकीरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला एवं परमानन्द शायक एक स्वभाव का धारक हूँ अर्थात् मे तो इससे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाला हूँ यह मेरा दृढ निश्चय है ॥ २१६ ॥

आत्म सुख मे ही सतोष है ऐसा बतलाते हैं ।

एवहि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदहि ।

एवेण होहि तित्तो तो होहवि उत्तम सोक्खं ॥ २२० ॥

एतास्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।

एतेन भव तृप्तो तर्हि भविष्यति तवोत्तमं सोख्यं ॥ २२० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू सुख चाहता है तो उसी आत्मानुभव रूप ज्ञान में तल्लीन होकर रह । उसी में

सदा के लिए सतोष धारण कर और उसी के द्वारा तृप्त हो और सब इच्छाओं को छोड़ सभी तुम्हें सदा बना रहने वाला उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ २२० ॥

तात्पर्यवृत्तिः—एदह्म रवो णिच्च सत्तुट्ठो होहि णिच्चमेदह्म एवेण होहि तित्तो हे भव्य पञ्चेंद्रियमुखनिवृत्ति कृत्वा निर्विकल्पयोगवलेन स्वाभाविकपरमात्ममुखे रतो भव सत्तुष्टो भव, तृप्तो भव, नित्य सर्वकाल तो होहोहि उत्तम सुख ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षय मोक्षसुख भविष्यति ।

अथ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूप परमार्थसज्ञ मोक्षकारणभूत यत्परमात्मपद तत्समस्तहर्षविषादा-
दिविकल्पजालरहित परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रणिपादयति —

टीका—(एदह्म रवो किच्च सत्तुट्ठो होहि णिच्चमेदह्म एदेण होहि तित्तो) हे भव्य । तू पञ्चेंद्रिय जन्य सुखको छोड़कर निर्विकल्प स्वरूप आत्मध्यान के बल से सहज स्वाभाविक और सर्वोत्कृष्ट आत्म सुख में लीन हो, सत्तुष्ट बन एव सदा के लिए तृप्त हो रह । (तो होहोहि उत्तम सुख) उस आत्म सुख के अनुभव करने से तुम्हें सदा बना रहने वाला मोक्ष सुख प्राप्त होगा ॥ २२० ॥

विशेषार्थ—ज्ञानी को सवोधन करके आचार्य देव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तू ज्ञानी बना रहना चाहता है तो आत्मा के सिवाय इतर सभी वस्तुओं को भूलकर केवलमात्र आत्मध्यान में तल्लीन हो रहना चाहिये सभी तू ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बन सकता है ।

आगे कहते हैं कि जिस परमाथरूप मोक्ष के कारण भूत पदमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान भेद नहीं है वह परमात्म पद हर्ष विषाद आदि सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित है । उस परम पद का यह आत्मा परम योगाभ्यास से ही अनुभव करता है—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एवकमेव पदं ।

सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिब्बुदिं जादि ॥२२१॥

आभिनिबोधिक् श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं ।

स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निवृत्तिं याति ॥२२१॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार जिसके भेद किये जा सकते हैं वह ज्ञान सामान्यतया एक है जो कि परमार्थ रूप है उसे प्राप्त करके ही आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है ॥२२१॥

तात्पर्यवृत्तिः—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एवकमेव पद मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानभेद-
रूप यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पद । पर कि तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवति । तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादि भेदमिन्न जात सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिब्बुदिं जादि स एष लोक-
प्रसिद्ध पञ्चज्ञानाभेदरूप परमार्थ य परमार्थं लब्ध्वा जीवो निवृत्तिं याति समत इत्यर्थः । एव ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्ति विशेषविवरणरूपेण सूत्रवशक गत । अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंत तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुरु, तस्य सामान्यविवरण करोति । तद्यथा

अथ मत्पादपञ्चज्ञानाभेदरूप साक्षान्मोक्षकारणभूत यत्परमात्मपद, तत्पद शुद्धात्मानुभूतिभूत्य व्रततपश्चरणादि-
कायभ्लेश कुर्वाणा अपि स्वसवेदनज्ञानगुणेन विना न समते इति कथयति—

टोका—(प्राभिणि सुदोहि मण केवल च त होदि एक्कमेव पद) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के नाम से भेद होकर भी वास्तव में एक रूप ही रहता है। जैसे मेघों के द्वारा आच्छादन होने के तारतम्य के भेद से सूर्य प्रकाश में भेद हो जाते हैं वैसे ही मतिज्ञानावरणादि भेदवाले कर्म के वश में जिसमें मतिश्रुतादि भेद हो जाते हैं। (सो एसो परमदुष्टो जलहुदु णिवुदि जादि) इन लोक प्रसिद्ध पाच भेदों के द्वारा भी जो भेद को प्राप्त नहीं होता वह परमाथरूप ज्ञान सामान्य है जिसको प्राप्त करके यह जीव निर्वाण को प्राप्त होता है ॥२०१॥

इस प्रकार ज्ञानशक्ति और वैराग्य शक्ति का विशेष वर्णन करने में दश गाथायें पूर्ण हुईं। आगे आठ गाथायाँ में उसही परमात्मपद का प्रकाश करने वाला जो ज्ञान गुण है उसका सामान्य वर्णन करते हैं।

अब सबसे प्रथम यह बताने हैं कि मत्यादि पाच ज्ञानों के द्वारा भी जिसका भेद नहीं हो पाता है जो साक्षात् मोक्ष का कारणभूत है और परमात्मपद स्वरूप है उस पद को शुद्धात्मा की अनुभूति से शून्य केवलमात्र कायक्लेशादि रूप व्रत तपश्चरणादि करने वाले नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि वे स्वमवेदन ज्ञान में हीन हैं—

णाणगुणेहिं विहीणा एव तु पद बहूवि ण लहंति ।

तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख ॥२२१॥

ज्ञान गुणैर्विहीना एतत्तु पद बहवोऽपि न लभते ।

तद्गृहाण सुपदमिदं यदीच्छसि कर्मपरिमोक्ष ॥२२२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू कर्मों से मयथा मुक्त होना चाहता है तो उस निश्चित ज्ञान को ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण से रहित बहुत पुरुष अनेक प्रकार के कर्म करते रहकर भी इस ज्ञान स्वरूप पद को नहीं प्राप्त होते हैं ॥२२१॥

तात्पर्यवृत्ति—णाणगुणेहिं विहीणा एव तु पद बहूवि ण लहंति निवारपरमात्मनस्वोपलब्धिलक्षण-ज्ञानगुणेन विहीना, रहिता पुरुषा, बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसर्वित्तिरहित दुष्करकायक्लेशादितपश्चरणा कुर्वाणा अपि मत्यादिपञ्चज्ञानाभेदरूप साक्षान्मोक्षकारण स्वसर्वेश शुद्धात्मसत्त्वित्विनक्षगमिद पद न लभते। तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख हे भव्य तत्पद गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति ।

अथ विषेयपरिग्रहत्यागप्रेम तमेव ज्ञानगुणं विवृणानि—

टोका—(णाणगुणेहिं विहीणा एव तु पद बहूवि ण लहंति) सभी प्रकार के विकार से वर्जित जो परमात्म तत्त्व उसकी उपलब्धि होना ही है लक्षण जिसका ऐसे ज्ञान गुण से रहित बहुत से पुरुष शुद्धात्मा ही उपादेय हैं इस स्वसर्वेदन ज्ञान से रहित ऐसे घोर काय क्लेश आदि तपश्चरण को करते हुए भी मत्यादि पाच प्रकार के ज्ञानों से भी जिसमें भेद नहीं हो सके ऐसे साक्षात् मोक्ष के कारणभूत तथा शुद्धात्मा की सत्त्वित्ति है लक्षण जिसका ऐसे अपने आपके द्वारा ही अनुभव करने योग्य पद को नहीं पा सकते हैं। (तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख) इसलिए हे भव्य ! यदि तू कर्मों से मुक्त होना चाहता है तो उस उत्तम पद को स्वीकार कर ॥२२२॥

विशेषार्थः—‘ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठितं’ इस अमृतचन्द्रार्थ के बचनानुसार जब छद्मस्य आत्मा का ज्ञान ज्ञान को ही विषय करने वाला हो जाता है उस समय उसमें अपने आपके सिवाय और किसी का भान भी नहीं रहता। तब उसको ज्ञान गुण या ज्ञानभाव कहते हैं। स्वरूपाचरण, स्वसवेदन, आत्मानुभव, शुद्धोपयोग और शुद्ध नय आदि सब इसी के नाम हैं। इस ज्ञान गुण को प्राप्त किये बिना आज तक किसी को न तो मोक्ष प्राप्त हुआ और न हो सकता है। यह बाह्य तपश्चरण आदि तो उसके साधन मात्र हैं उसी को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं। क्योंकि बाह्य त्याग तपस्या के बिना वह ज्ञान मात्र अवस्था कभी प्राप्त नहीं हो सकती जैसे कि खेती के बिना अन्न नहीं हो सकता है किन्तु खेती होकर भी यदि अन्न न आवे तो फिर वह घास है केवल पशु के खाने की वस्तु है। वैसे ही त्याग तपस्या अगीकार करके भी शुद्धात्म ध्यान की ओर यदि लक्ष्य न रखा गया तो वह त्याग तपस्या केवल स्वर्ग सुख देने वाली है, उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

आये विशेष परिग्रह के त्याग कराने के अतिशय से उस ही ज्ञान गुण का विशेष वर्णन करते हैं --

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणी य णिच्छदे धम्मं ।

अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२३॥

अपरिग्रहोऽणिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं ।

अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२२३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह से रहित है (पर पदार्थों को ग्रहण किये हुए नहीं होता) क्योंकि वह इच्छा से रहित है ऐसा कहा है इसी कारण वह पुण्य कर्म करने की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पुण्य का भी परिग्रह नहीं है। वह केवल मात्र ज्ञायक होकर रहता है ॥२२३॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणीय णिच्छदे धम्म अपरिग्रहो भणित कोत्ती ? अणिच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्दम्येण्विच्छा बाह्या मोहो नास्ति । तेन कारणेन स्वसवेदनज्ञानी शुद्धोपयोग-रूप निश्चय धर्म विहाय शुभोपयोग धर्म पुण्य नेच्छति । अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि तत् कारणस्तु पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रह सन् पुण्यमिदं अमस्वरूप न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन्, अतन्मयो भवन् दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ।

टीका—(अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणीय णिच्छदे धम्म) जो इच्छा रहित होता है वह अपरिग्रह होता है अर्थात् जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा नहीं होती अर्थात् बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नहीं होता। इससे स्वसवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोड़कर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहता है। (अपरिग्रहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए पुण्य रूप धर्म का परिग्रहवान न होकर, किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर, उस पुण्य रूप से परिणामन नहीं करता हुआ तन्मय नहीं होता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका जानने वाला ही होता है ॥२२३॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणी य णिच्छदि अधम्मं ।

अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२४॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्म ।

अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२२४॥

अर्थ—ज्ञानी जीव परिग्रह रहित है (अन्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करता) क्यों कि वह इच्छा से रहित है । अतः वह किसी भी प्रकार के पाप की भी इच्छा नहीं करता इसलिए उसके पाप का भी परिग्रह नहीं है । वह तो उसका केवल मात्र जानने वाला रहता है ॥२२४॥

सात्त्वयंवृत्ति—अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणीय णिच्छदि अधम्म अपरिग्रहो भणित, स क ? अणिच्छ तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्बन्धेषु, इच्छा काशा नास्ति । तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूप अधर्म पापं नेच्छति । अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणान्—विषयकषायरूपस्याधर्मस्यापरिग्रहं सन् पापनिव मम स्वरूप न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् स्वर्गो बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति । एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोककर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुःप्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशभूतानि व्याख्येयानि । तन्नेव प्रकारेण शुभाशुभसकल्पविकल्परहिताननज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मन प्रतिपक्षभूतानि शेषाव्यव्य-सत्त्वैयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि बर्जनीयानि ।

टीका—(अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो जाणी य णिच्छदि अधम्म) जिसके बाह्य द्रव्यों में बाह्य नहीं है वह परिग्रह रहित है । इसलिये तत्त्वज्ञानी जीव विषय कषाय रूप अधर्म को, पाप को कभी नहीं चाहता । (अपरिग्रहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए वह विषय कषायरूप पाप का ग्राहक न होता हुआ यह पाप मेरा स्वरूप नहीं ऐसा है जानकर पाप रूप से परिणामन नहीं करता हुआ वह दर्पण में धाये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका ज्ञायक ही होता है ॥२२४॥

इस प्रकार अधर्म के स्थान पर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ऐसे १७ सूत्र पृथक पृथक व्याख्यान करने योग्य है । इसी प्रकार शुभ व अशुभ सकल्प विकल्पो से रहित व अनत ज्ञानादि गुण सहित है स्वरूप जिसका ऐसे शुद्धात्मा का विरोध करने वाले और भी असख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम स्थान त्यागने योग्य हैं ॥

ॐ धम्माच्छि अधम्मच्छी आयासं सुतमंग पुब्बेषु

संगं च तद्वा ज्ञेयं देवमणु अतिरियणेरइयं ॥२२५॥

धर्मार्थो अधर्मार्थो प्राकाशं श्रुतमंग पूर्वेषु ।

संगं च तथा ज्ञेयं देव मनुष्य तिर्यग् नरकादिकम् ॥२२५॥

ॐ यह गाथा आत्मक्याति में नहीं है ।

अर्थ—परम तत्त्वज्ञानी जीव परिग्रह रहित होता है क्योंकि वह इच्छा रहित होता है, जिसके बाह्य पदार्थों में आकाशा नहीं होती उसके परिग्रह या नहीं होता यह नियम है इसलिए परम तत्त्वज्ञानी जीव चिदानन्द ही है एक स्वभाव जिसका ऐसी शुद्धात्मा को छोड़कर धर्म, अधर्म और आकाश आदि भग्न पूर्वात्मक भूत में बताये हुए बाह्य और अंतरंग परिग्रह तथा देव, मनुष्य, तिर्यक और नारकादि विभाव पर्यायों को नहीं चाहता है ऐसा समझना चाहिए। इस कारण इस विषय में परिग्रह रहित होता हुआ उस रूप से परिणमन नहीं करता हुआ वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका केवलमात्र ज्ञायक ही होता है ॥२२५॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी ।

अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २२६ ॥

अपरिग्रहोऽणिच्छो भणितोऽशनं च नेच्छति ज्ञानी ।

अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२६ ॥

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार जो ज्ञानी होता है वह भोजन की इच्छा नहीं करता है। इस कारण से भोजन को नहीं ग्रहण करता हुआ केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ॥ २२६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अपरिग्रहो अणिच्छो भणिवो असणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः स क ? अनिच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्बन्धेषु इच्छा मूर्च्छा ममत्व नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न सम्भवति । अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः मन् दर्पो बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ।

टीका—(अपरिग्रहो अणिच्छो भणिवो असणं च णिच्छदे णाणी) जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा, मूर्च्छा, ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रहवान् कहा गया है क्योंकि इच्छा अज्ञानमय भाव है इससे इसका होना ज्ञानी के सम्भव नहीं है अतः ज्ञानी के भोजन की भी इच्छा नहीं होती इसलिये वह (अपरिग्रहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि) आत्म सुख में सतुष्ट होकर भोजन व तत्संबन्धी पदार्थों में परिग्रह रहित होता हुआ जैसे दर्पण में आये हुये प्रतिबिम्ब के समान केवल आहार में गृहण करने के योग्य वस्तु का उस वस्तु के रूप से ज्ञायक ही होता है। किन्तु रागरूप से उसका गृहण करने वाला नहीं होता ॥ २२६ ॥

अपरिग्रहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी ।

अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २२७ ॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितः पानं च नेच्छति ज्ञानी ।

अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २२७ ॥

अर्थ—जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव किसी पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं करता है। इस कारण उसके पीने का भी परिग्रह नहीं होता है अतः वह तो उसका केवलमात्र ज्ञाता ही रहता है ॥२२७॥

तात्पर्यवृत्ति—अपरिग्रहो अग्निच्छो भगिदो पाण तु गिच्छेव जाणी अपरिग्रहो भगित् कोनो ? अग्निच्छ । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्व्येष्वकाकाया तृष्णा मोह इच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भाव स च ज्ञानिनो न सम्भवति अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणमो तेण सो होवि नन कारणात् स्वाभाविकपरमानन्दसुखे तुष्टो भूत्वा विविधपानकविषये निर्णयरुद्ध सन् दायमे बिम्बस्वयेव वस्तुस्वरूपेण जायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति ।

तथा चाक —

ए वलाउ साधु अट्ठ ण सरीरस्मय वयट्ठेनेजट्ठ, राणट्ठ, सजमट्ठ भाणट्ठ चेव भुजति ॥ १ ॥

अस्सामरकणिमित्त इसिणो भुजति पाणधारणणिमित्त, पाणा धम्मणिमित्त, धम्म हि चरति मोक्खट्ठ ॥२॥
अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपनहरति—

टीका—(अपरिग्रहो अग्निच्छो भगिदो पाण च गिच्छेदे गाणी) जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहलाता है अर्थात् जिसके बाह्य पदार्थों में इच्छा, मूर्च्छा व ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रह-वान कहा गया है । अत इच्छा जो अज्ञानमय भावरूप है वह ज्ञानी के कभी सम्भव नहीं है । अतएव उसके पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं हो सकती इसलिये (अपरिग्रहो दु पाणस्स जाणमो तेण सो होवि) स्वाभाविक परमानन्द मुक्त्य में सन्तुष्ट होकर नाना प्रकार के पानक के विषय में परिग्रह रहित होता हुआ ज्ञानी जीव तो दण में आये हुए प्रतिविम के समान वस्तु स्वरूप में उम पानक का जायक ही होता है-राग में उसका ग्राहक नहीं होता है ॥२७॥

विशेषार्थ—आचार्य देव ने इन गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि ज्ञानी जीव को इच्छा नहीं होती अत उसको किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं होता । वह तो निष्कचन होकर आत्मतल्लीन रहता है । इस पर शका हो सकती है कि ऐसा जीव इन छषम्यों में कौन है जिसके इच्छा बिल्कुल नहीं होती क्यों-कि गृहस्थ के तो अनेक प्रकार की इच्छा हर समय लगी रहती है और मुनि त्यागी तपस्वी के भी और नहीं तो भोजन की इच्छा ता होती है और वह आहार भी ग्रहण करना ही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मुनि जब अग्रमत्तरूप में आत्मध्यान में मग्न होता है उस समय उसके किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं होती है अत वास्तव में वहाँ ज्ञानी होता है, जैसा कि “आर्णणि लीणो मुनि गाणी” इस सिद्धांत के वाक्य से स्पष्ट है । रही मुनि के आहार ग्रहण करने की बात सो वह प्रसन्न सयत दशामे हुआ करता है । यह आहार लेना भी शरीर को मोटा ताजा सुन्दर बनाये रखने के लिये नहीं, किन्तु सयम के सम्पादन के लिये ज्ञानोपाजन के लिए एव ध्यान की सिद्धि के लिये होता है । जैसे गाड़ी चलाने के लिये उसके बाग लगाया जाता है वैसे ही केवलमात्र प्राण सधारण के लिये ऋषि लोग भोजन करते हैं और प्राणों का सधा-रण भी जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त हो उसे सम्पादन करने के लिये किया करते हैं । जैसा कि टीका कार के द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गाथाओं में लिखा हुआ है —

ए वलाउसाहणट्ठ ण सरीरस्स य वयट्ठेनेजट्ठ ।

राणट्ठ सजमट्ठ भाणट्ठ चेव भुजति ॥१॥

अस्सामरकणिमित्त इसिणो भुजति पाणधारण निमित्त

पाणा धम्मणिमित्त धम्म हि चरति मोक्खट्ठ ॥२॥ (युग्म)

अतः कारणमें कार्य का आरोप कर लेने से मुनि का आहार लेना भी परिग्रह न होकर बहु ज्ञान ध्यान रूप ही कहा जाता है। हा जो लोग चतुर्थं गुरुस्थानवर्ती असयत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी कह कर उसे भी इन्ही गाथाओं पर से अनिच्छक और निष्परिग्रह समझ बैठते हैं उनकी बात मेरी समझ मे नहीं आती, क्योंकि जो जीव छः खण्ड पृथ्वी को तो अपने पीछे लगाये बैठा है और अपने साधारण से स्वार्थ के लिये भोक्षगामी अपने भाई के ऊपर सुदर्शन चक्र चला देता है उसे ज्ञानी कहना ज्ञानी शब्द की विडम्बना ही है। उसे ज्ञानी तो नहीं किन्तु निष्परिग्रही ज्ञानी लोगो का श्रद्धालु उनका हृदय से समादर करने वाला कह सकते हैं। अन्यथा मिथ्यादृष्टि तो उनका नहीं मानने वाला एव विरोधी होता है। हाँ, यदि द्रव्य निक्षेप को अपेक्षा अत्रत सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञानी या अनिच्छक आदि रूप कहा जाय तो कहा जा सकता है क्योंकि आगे चलकर वह भी वैसा बनने वाला होता है। किन्तु गृन्थ की शब्द सरणो को देखते हुए यहा पर उसका प्रसंग नहीं है। उपर्युक्त गाथाओं मे ज्ञानी को बाह्य वस्तुओं का ग्राहक तो नहीं किन्तु ज्ञायक बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि जिस भवस्था को प्राप्त करके यह छद्मस्थ जीव ज्ञानी कहलाता है, वह अप्रमत्त दशा दो भागों में विभक्त होती है। एक सविकल्प और दूसरी निविकल्प। सविकल्प दशा मे शरीरादि बाह्य वस्तुओं को स्मरण करते हुए उनसे आपको पृथक् समझता हुआ वह दूसरे भाग मे स्वयं निविकल्प रूप से अपने आप मे स्थिर हो रहता है।

अब परिग्रह त्याग के व्याख्यान का उपसहार करते हैं—

इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।

जाणग भावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ ॥२२८॥

इत्यादिक्कास्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।

ज्ञायकभावो नियतः निरालंबश्च सर्वत्र ॥२२८॥

अर्थ—उपर्युक्त अनेक भावों आदि को लेकर और भी अनेक प्रकार के सब भावों को ज्ञानी जीव नहीं चाहता नही बाछा करता, किन्तु वह तो सब और से सब ठौर निरालंब होकर ज्ञायक ही रहना है ॥२२८॥

तात्पर्यवृत्ति।—इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी इत्यादिकान् पुण्यपापान्न पानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति। अनिच्छन् स कथं भूतो भवति? जाणग भावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ टाकोलीएंपरमानन्दज्ञायकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः। पुनश्च कथंभूतो भवति जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमितेष्व बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरब्रह्मे सर्वत्र निरालंबोऽपि, अतस्तज्ज्ञानादिगुरुस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालंबन एव तिष्ठतीति भावार्थः।

अथ ज्ञानी वर्तमानभावभोगेषु बाधान् न करोतीति कथयति—

टीका—(इव्वादु एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी) परमात्म तत्त्व का जानने वाला जीव ऊपर कहे हुए पुण्य, पाप और भोजन पानादि इन बाह्य मे होने वाले सभी भावों को कभी भी नहीं चाहता है। (जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ) क्योंकि वह तो नियम से टाकी से उकेरे हुए के समान सदा एकसा रहने वाला और परमानन्द स्वरूप ज्ञायक भाव है उस मय हो रहता है। वह ऊर्ध्व, मध्य और अधोरूप तीन जगत एव भूत, भावी, वर्तमान रूप तीनों कालों में होने वाले बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रूप चेतन अचेतनात्मक सभी पर पदार्थों मे मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना

से सर्वथा निरासब होकर अनतज्ञानादि गुणस्वरूप अपने स्वभाव में पूर्ण कलश के समान निष्फल अव-
लम्बन सहित ठहरता है ॥२२८॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी वर्तमान के व भविष्य के भोगों की इच्छा नहीं करता है —

उत्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं ।

कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२२९॥

उत्पन्नोदय भोगे वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं ।

कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२२९॥

अर्थ—उदय को प्राप्त हुए वर्तमान कम के भोगने में वियोग बुद्धि होने से ज्ञानी जीव आगामी काल में उदय होने वाले कर्म के भोगने की वाछा नहीं करता तथा भूत कालीन कर्म का भाग ना ग्राह्य ही नहीं है ।

तात्पर्यवृत्ति—उत्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्च उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये दष्टीमत्पन्थ्याभेद इति वचनात्' कामो निरीहवृत्तिर्भवति स्वसवेदनज्ञानी नित्य सर्वकाल क्लामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी म एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबध्नाविभागेदयस्या-
काश न कर्गानि । किं च विशेष य एव भोगोपभोगादित्तेन चित्तनयमस्तपद्भव्यतिगलबना भावपरिणाम म एव स्व-
सवेदनज्ञानगुणो भ्रम्यते । तेन ज्ञानगुणालम्बनेन य एव पुरुष क्षान्ति-पूजा लाभ-भागावासाहूपनिदानब्रवादि विभाविरहित सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यै कृतकारितानुमितैश्च विषयमुत्पन्नदासनावाप्तानि चित्त मुक्त्वा शुद्धात्म-
भावोत्पद्योत्तरागपरमानन्द मुनेन वामिन रजित मूर्च्छित परिणत तन्मय तृप्त रत सतुष्ट चित्त कृत्वा वर्तते स एव
मतिश्रुतावधिमान पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूप परमार्थशब्दामिधेय साक्षान्मोक्षकारणभूत शुद्धात्मसत्तिलक्षण परमात्म-
भाषया बीतरागधर्मध्यानयुक्तलघ्यानस्वरूप स्वसवेद्यशुद्धात्मपद परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्य । यादृश
परमात्मपदमनुभवति तादृश परमात्मपदम्बरूप मोक्ष लभते । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृश कार्यं भवति
यत कारणात् इति । एव स्वसवेदनज्ञानगुण विना मत्स्यादिपञ्चज्ञानविकल्पग्रहितमलखरपरमात्मपद न लभ्यते इति
सत्तेष्वप्याढयानमुक्त्यनेन सूत्राष्टक गत ।

अथानतर तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंत पुनरपि विशेषव्याख्यान करोति । तद्यथा-ज्ञानी सर्वद्वन्द्वेषु
बीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते स रागात्वादज्ञानी लिप्यते, इति प्रतिपादयति—

टीका—(उत्पण्णोदय भोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्च) उत्पन्न हुए कर्मोदय के भोगने में स्वसवेदन ज्ञानी जीव सदा ही वियोग बुद्धि एव हेयबुद्धि वाला होता है । (यहाँ गाथा में जो तस्य शब्द पड़ा है, वह षष्ठी का एकवचन है जो कि 'उत्पन्नोदय भोगे' इस सप्तमी के एक वचनात्मक पद का विशेषण है किन्तु साधारण नियमानुसार विशेषण और विशेष्य में एक विभक्ति होनी चाहिए । टीका-
कार ने इसका उत्तर यह दिया है कि षष्ठी और सप्तमी में कही अभेद भी होता है) । (क्लामणाग-
दस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी) वही ज्ञानी आगामी काल में उदय में आने वाले निदान बध स्वरूप भविष्य कालीन भोगों का उदय है उसकी वाछा कैसे कर सकता है ? अथात् नहीं करता । इसका स्पष्ट विवेचन यह है कि भोग, उपभोग आदि चेतन और अचेतनात्मक जितने भी पर द्रव्य हैं उन सबके

विषय में निरालबन रूप आत्मा के परिणाम हैं उसीका नाम स्वस्वेदन ज्ञान गुण है। इस स्वस्वेदन ज्ञान गुण के आलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ व भोगी की इच्छारूप निदानबध आदि विभाव परिणाम से रहित होता हुआ तीन लोक और तीन काल में भी अपने मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा विषयो के सुख में आनन्द की वासना से वासित होने वाले चित्त का त्याग कर अर्थात् विषय सुख की अभिलाषा से रहित चित्तवाला होकर शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग परमानन्द सुख के द्वारा वासित अर्थात् रजित व मूर्छित रूप में परिणत अर्थात् उसी रूप अपने मन को सतृप्त, सतृष्ट व तल्लीन बनाकर रहता है, वही जीव शुद्ध आत्मा की सविस्ती है लक्षण जिसका तथा जिसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान में भेद नहीं है, परमार्थ नाम से कहा जाने योग्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा जो परमागम की भाषा में वीतराग धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान स्वरूप कहा जाता है और अपने ही द्वारा सवेदन करने योग्य शुद्ध आत्मा का स्थान है ऐसे ज्ञान को परम समरसी भाव के द्वारा अनुभव करता है दूसरा जीव उसका अनुभव नहीं कर सकता है एव वह जैसे परमात्म पद का अनुभव करता है उसी प्रकार परमात्म पद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। क्योंकि उपादान कारण के समान ही कार्य हुआ करता है ऐसा नियम है। इ उपर्युक्त स्वस्वेदन ज्ञान गुण के बिना मत्यादि पांच ज्ञानों के विकल्प से रहित वह अखण्ड परमात्मपद को कभी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार संक्षेप से व्याख्यान करने की मुख्यता से आठ गाथाओं का वर्णन हुआ ॥२२६॥

अथानंतर इमी ही ज्ञानगुण का फिर चौदह गाथाओं द्वारा विशेष व्याख्यान करते हैं—

सबसे प्रथम यह बताते हैं कि ज्ञानी सभी द्रव्यों में रागरहित बीतरागी होता है इसलिए ज्ञान कर्मबन्ध नहीं करता किन्तु अज्ञानी जीव राग सहित होता है अतः कर्म बन्ध करता है—

पाणी रागप्पजहो सव्वदब्बेसु कम्ममज्झगदो ।

पो लिप्पदि रज्ज एण दु कद्दमज्झे जहा कण्ठां ॥२३०॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदब्बेसु कम्ममज्झ गदो ।

लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दमज्झे जहा लोहं ॥२३१॥ (युग्मं)

ज्ञानी रागग्रहायः सर्वं द्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

नो लिप्यते रजसा तु कर्बममध्ये यथा कनकं ॥२३०॥

अज्ञानी पुनः रक्तः सर्वं द्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।

लिप्यते कर्मरजसा तु कर्बममध्ये यथा लोहं ॥२३१॥

अर्थ—ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जग नहीं खाता है। किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिए कर्मों के फन्दे में फँसकर नित्य नये कर्म बध किया करता है। जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जग खा जाता करता है ॥२३०-२३१॥

सात्त्विक्यवृत्ति—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहित स्वसवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशील यत कारणात् ततः कर्दममध्यगत कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति। अज्ञानी पुन स्वसवेदनज्ञानाभावात् सर्वपञ्चेन्द्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्त कौशितो मूर्च्छितो माहितो भवति यत कारणात्, नत कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते, इति।

प्रथम सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्नं परिहारमाह—

टीका—स्वसवेदन ज्ञानी जीव हर्ष विषादादि विकल्प भावो की भ्रष्ट से रहित होता हुआ सभी द्रव्यों के प्रति होने वाले रागादि क विकारभावो का त्यागी होता है इसलिए कीचड़ में पड़े हुए सोने के समान वह नवीन कर्मरूप रज से लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी स्वसवेदन ज्ञान के न होने से पञ्चेन्द्रिय के विषयादि सभी प्रकार के परद्रव्यों में रागभाव युक्त आकाशायुक्त मूर्छावान एव मोही रहता है इसलिए वह कीचड़ में पड़े हुए सोहे के समान नवीन कर्मरूप रज से बध जाता है ॥२३०-२३१॥

विशेषार्थ—ज्ञानी को नवीन कर्म बन्ध नहीं होता, अज्ञानी ही कर्मबन्ध किया करता है। ऐसा बताते हुए उस ज्ञानी को स्वसवेदन करने वाला बतलाया है। यह स्वसवेदन क्या है? इसके विषय में आत्मानुशासन में भी एक श्लोक आया है—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वम्यं स्वेन योगिन।

तत्स्वसवेदनं प्राहुः, गत्मानोऽनुभव दृश ॥१६१॥

अर्थात् जहाँ पर योगी के ज्ञान में ज्ञेयपना जायकपना ये दोनों अपने आप में ही हो ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसवेदन है इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। अर्थात् सब परद्रव्यों में हट कर अपने आपके द्वारा आप में ही लीन होने का नाम स्वसवेदन है। यह योगी के अर्थात् त्रिगुणित रूप समाधि में निरत मुनि के ही होता है। यही बात यहाँ कही है सब ठौर हर्ष विषादादि से रहित होने वाले ज्ञानी को ससार में देह युक्त होते हुए भी नवीन कर्म बध नहीं होता किन्तु जिसके कही पर भी कुछ भी हर्ष विषाद रूप विभाव विद्यमान है तो उसके उपर्युक्त स्वसवेदन ज्ञान न होने से उसके राग भाव के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता ही है। यहाँ पर यह शका हो सकती है कि स्वसवेदन ज्ञान तो अत्रन सम्यग्दृष्टि के भी होता है। उसका उत्तर यह है कि उसको तो अपनी आत्मा का चेतन लक्षण के द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है जैसा कि धूम को देखकर उससे अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु योगी को हर्ष विषादादि रहित अपने शुद्धात्मा का जैसा मानसिक प्रत्यक्ष होता है वैसा नहीं होता, जिसको कि स्वानुभव कहा जावे। यही बात पञ्चास्तिकाय की गाथा १२७ की टीका में आई है—“यद्यप्यनुमानेन लक्षणतः परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा जायत तथापि रागादि विकल्प रहित स्वसवेदनज्ञान समुत्पन्न परमानन्द रूपानाकुलत्वं सुस्थित वास्तविक मुखामृत जलेन पूर्णकलशवत् सर्वप्रदेशेषु भ्रन्तिनावस्थाना परम योगिना यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तेष्वेतरैषान् भवति इत्यलिगं ग्रहणोऽस्ति ॥

ज्ञानी के बन्ध का अभाव हा जाने में पूर्व बद्ध कर्मों की निजरा होकर किम प्रकार मोक्ष होती है—

✽ नागफणीए मूलं नाइणि तोएण गन्धभागेण।

नागं होदि सुवर्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥२३२॥

नागफण्या मूलं नागिनी तोयेन गर्भनागेन।

नागं भवति सुवर्णं धम्ममानं भस्त्रावायुना ॥२३२॥

✽ यह गाथा आत्म कथाति में नहीं

तात्पर्यवृत्तिः—नागफणी नामोषधी तस्मा मूल नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोम मूल गर्भनाग सिन्दूरद्रव्य नाग सीसक । अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । कथंभूत सन् भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टात-गाथागता ।

अथ दाष्टानमाह—

अर्थ व टीका—नागफणी, गृह्य की जड़, हथिनी का मूल, गर्भनाग अर्थात् सिन्दूरद्रव्य और नाग अर्थात् सीसा धातु इनको धोकरनी से अग्नि पर तपाने पर यदि पुण्योदय हो तो स्वर्ण बन जाता है वैसे ही—

- ❖ कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥२३३॥
- ❖ झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समखादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमिदब्बो परमजोईहि ॥२३४॥

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः ।

सम्यक्स्वदर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं परमौषधमिति विजानीहि ॥२३३॥

ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणौ भस्त्रा समाख्याते ।

जीवो भवति लोहं धमितव्यः परमयोगिनिः ॥२३४॥

तात्पर्यवृत्ति —द्रव्यकर्म किट्टमज्ञ भवति रागादिविभावपरिणामा कालिकासज्ञा ज्ञानव्या सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्यत्रय भेदाभेदरूप परमौषध जानीहि इति ॥२३३॥

तात्पर्यवृत्ति —वीतरागनिविकल्पसमाधिरूप ध्यानमग्निर्भवति । द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या । आसन्न-भक्ष्यजीवो लोहं भवति । न च भक्ष्यजीव पूर्वोक्तसम्यक्त्वाधीषध्यानाग्निमया संयोग कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिनि धमितव्यो ध्यातव्यः । इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति सदेहो न कनव्यो भट्टचार्याकमतानुसारिभिरिति ॥२३४॥

अथ ज्ञानिन शालदृष्टतेन बधामाव दर्शयति—

अर्थ व टीका —द्रव्य कर्म तो कीट है, रागादि विभाव परिणाम कालिका है, भेदाभेदरूप सम्यग्-दर्शन ज्ञान, चारित्र्य नाम की परमौषधि है ऐसा जानो । वीतराग विकल्प रहित समाधिरूप ध्यान है वही अग्नि है और आसन्न भक्ष्य जीव रूप लोहा है । उस भक्ष्य जीव लोहे का पूर्वोक्त सम्यक्त्वादिरूप औषध तथा ध्यानरूप अग्नि के साथ संयोग मिलाकर परम योगी लोगो को धमना चाहिये इस प्रकार करने से जैसे स्वर्ण बन जाता है वैसे ही मोक्ष भी हो जाता है इससे भट्ट और चार्वाक मत वालो को सन्देह नहीं करना चाहिये ॥२३३-२३४॥

अब ज्ञानी के जो कर्म बन्ध नहीं होता उसे शल के दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

भुञ्जंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दब्बे ।

संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काऊं ॥२३५॥

❖ यह गाथा आत्म क्वाति में नहीं ।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्त मिस्सिये दब्बे ।
 भुंजंतस्सवि णाण णवि सक्कदि रागदो एदुं ॥२३६॥
 जइया स एव संखो सेदसहावं सय पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३७॥
 जह संखो पोगलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
 गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२३८॥
 तह णाणी विहु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
 अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२३९॥

भुंजानस्यापि विविधानि सच्चित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
 शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥२३५॥
 तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सच्चित्ताचित्त मिश्रितानि द्रव्याणि ।
 भुंजानस्यापि ज्ञानं नापि शक्यते रागतां नेतुं ॥२३६॥

यदा स एव शंखः श्वेतभावं स्वयं प्रहाय ।
 गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३७॥
 यथा शंखः पौद्गलिकः तदा शुक्लत्वं प्रहाय ।
 गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२३८॥
 तथा ज्ञान्यपि यदि ज्ञानस्वभावं स्वयं प्रहाय ।
 अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानता गच्छेत् ॥२३९॥

अर्थ—जैसे शंख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उन वस्तुओं के खाने मात्र से अपने श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञानी भी सचित्त, अचित्त व मिश्र द्रव्यों को भोग करते हुए भी उस ज्ञानी का ज्ञान रागरूप नहीं हो सकता है। किन्तु वही शंख श्वेतपने को छोड़कर कृष्णरूप में परिणामन करता है तब उसके श्वेतपना नहीं रहता। उसी प्रकार ज्ञानी भी यदि अपने उस ज्ञान स्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणामन करता है तो अवश्य अज्ञानी बन जाता है।

तात्पर्यवृत्ति—यथा सजीवस्य शखस्य श्वेतभावः कृष्णीकतु न शक्यते । किं कुर्वाणस्यापि ? भुजानस्यापि । कानि ? कर्मतापन्नसच्चित्ताचित्तमिश्राणि विविचद्रव्यासिनि व्यतिरेकदृष्टानमाथा गता ।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य बीतरागस्वसवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्व नेतु न शक्यते कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुं प्रशक्यतवात् । किं कुर्वाणस्यापि ? भुजानस्यापि । कानि स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ता-

चित्तनिष्ठाणि विविधद्रव्याणि । ततः कारणान्ध चिरतनबद्धकर्मनिर्बन्धेन, भवति । नवतस्म्य च स्रवर इति व्यतिरेक-
दाष्टातिगमा गतः । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिविधेयौ ज्ञातव्यौ इति ।

यथा यदा स एव पूर्वोक्त सजीवशः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात्, अतरंगस्वकीयोपादानपरिणामाधीन सन् श्वेत-
स्वभावत्वं विहाय कृष्णभाव गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टातया गता ।

तथैव च यथा निर्जीवशः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अतरंगोपादानपरिणामाधीन सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय
कृष्णभाव गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इति निर्जीवशःलक्षित द्वितीयान्वयदृष्टातया गता ।

तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुट स्वकीयप्रज्ञापरधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागा-
प्रज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्वभावच्युतः सप्रज्ञानत्वं गच्छेत् । तस्य सवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थः -
इत्यन्वयदाष्टातिगमा गता ।

अथ सरागपरिणामेन बध, तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टातवाष्टातिगमां समर्थयति—

टीका—जैसे भोगने में भ्रान्ते बाले सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों को खाने
वाले शख का श्वेतपना (किसी भी द्रव्य द्वारा) काला नहीं किया जा सकता है । यह व्यतिरेक दृष्टात
की गाथा हुई । उसी प्रकार ज्ञानी जीव का वीतराग स्वसवेदनरूप भेदज्ञान को प्रज्ञान रूप अर्थात् रागरूप
कोई नहीं कर सकता है भले ही वह अपने गुणस्थान अनुसार सचित्त, अचित्त या मिश्ररूप नाना प्रकार के
द्रव्यों का उपभोग करता है क्योंकि किसी के स्वभाव को नहीं बदला जा सकता है । एव जब वह ज्ञान-
स्वरूप ही रहता है, रागरूप नहीं होता तब उसके पहले बधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है नहीं बध
नहीं होता है । यह व्यतिरेक दाष्टाति गाथा हुई । जहां अन्वय और व्यतिरेक शब्द आते हैं वहां क्रमशः
विधिरूप निषेधरूप प्रर्थ लिया जाता है । ऐसा जानना चाहिए । हा, जहां वही पूर्वोक्त सजीव शः किसी भी
परद्रव्य के लेपके वश से अपने अतरंगरूप उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ श्वेतपने को छोड़कर
काला बनने चले तो श्वेतपन को छोड़ देता है । यह अन्वय दृष्टात गाथा हुई । इसी प्रकार निर्जीव शः
भी कृष्ण स्वभाव परद्रव्य के लेप के वश से अपने अतरंग उपादान परिणाम के आधीन होता हुआ
श्वेत स्वभाव को छोड़कर काला बनने चले तो श्वेतपने को छोड़ ही देता है । इस प्रकार निर्जीव शः
को निमित्त लेकर कही हुई अन्वय रूप दूसरी दृष्टात गाथा हुई उसी प्रकार उस शः के समान ज्ञानी
जीव भी अपनी बुद्धि को विगाड़ लेने से वीतराग ज्ञान स्वभाव को छोड़कर मिथ्यात्व तथा रागादिरूप
प्रज्ञानतया परिणत होता है तब अपने स्वभाव से च्युत होता हुआ प्रज्ञानपने को प्राप्त होता है यह
स्पष्ट ही है फिर उसके सवर पूर्वक निर्जरा भी नहीं होती है । यह दाष्टाति गाथा हुई ॥२३५-२३६-
२३७-२३८-२३९॥

विशेषार्थ—स्पष्टीकरण यह है कि कार्य में उपादान व निमित्त दो प्रकार के कारण होते हैं । जो
स्वयं कार्यरूप में परिणत हो उसे उपादान कहते हैं और जो उसके सहयोग दे उसे निमित्त कहते हैं । वहां
लौकिक दृष्टि से निमित्त की मुख्यता और परमार्थ दृष्टि में उपादान की मुख्यता होती है । यह शास्त्र
परमार्थी लोगों के लिए है सो यहाँ पर उपादान पर बल देते हुए सब का दृष्टात लेकर समझाया है
कि काली पीली वस्तुओं को खाकर भी शः सकेव ही रहता है क्योंकि उसका स्वभाव श्वेत
ही है । हा यदि वह आप भी काला बने तो बन सकता है । वैसे ही ज्ञानी जीव को विकारी
बनाने के लिए बाह्य निमित्त चाहे कितने ही क्यों न हो पर वे सब उसके (ज्ञानी जीव को) विकारी

नहीं कर सकते हैं। गजकुमार को बिगाने के लिए ब्राह्मण ने कितना बवडर किया उनके माथे पर सिंगडी जलादी फिर भी वे अपने ध्यान में ही रत रहे। किन्तु ज्ञानी जहाँ स्वयं ही बिगड़ने लगे और अपने उपयोग को बिगाड़े तो साधारण से निमित्त पर भी बिगाड़ सकता है। जैसे कि माधनन्दी आचार्य कुम्हार की लडकी को देखकर भ्रष्ट हो गये। इस प्रकार होने में तो ज्ञानी की स्वयं की ही भूल है और कोई क्या करे उसे तो सावधान रहना चाहिए।

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।

तो सोवि देदि राया विविहे भोगे सुहप्पादे ॥२४०॥

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।

तो सोवि कम्मरायो देदि सुहप्पादगे भोगे ॥२४१॥

जह पुण सो चेव णरो वित्तिणिमिमित्तं ण सेवदे रायं ।

तो सो ण देदि राया विविह सुहप्पादगे भोगे ॥२४२॥

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थ सेवदे ण कम्मरयं ।

तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहुप्पादे ॥२४३॥

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं ।

तत्तोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४०॥

एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं ।

तत्तोऽपि ददाति कर्मराजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४१॥

यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं ।

तत्तोऽपि न ददाति राजा विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् ॥२४२॥

एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।

तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२४३॥

धर्म—लोक में जैसे कोई पुरुष धार्मिकता के लिए राजा की सेवा करता है तब राजा उसके साधनभूत यथोचित पारितोषिक देता है। वैसे ही यह भ्रजानी जीव विषय सुख के लिये कर्मराजा की सेवा करता है तब वही कर्मरूपी राजा सुख को उत्पन्न करने वाले भोग देता है। किन्तु यदि वही पुरुष किसी प्रकार की फल की इच्छा बिना राजा की सेवा करता है तो राजा उसे पारितोषिक नहीं देता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि विरागी जीव विषयो के सुख के लिए कर्मरूपी राजा की सेवा नहीं करता है तब वही कर्मरूपी राजा नाना प्रकार के सुख पैदा करने वाले भोगों को नहीं देता है ॥ २४०-२४१-२४२-२४३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा कश्चित्सुरक्ष, वृत्तिनिमित्त राजान् सेवते तत् सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, काद् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिविषयेऽन्वयहृष्टातगाथा गता ।

एवमेवाज्ञानी जीवपुरुष शुद्धात्मोत्पन्नसुखात्प्रच्युत सन्मुदयागत कर्मरज्ज् सेवते विषयसुखनिमित्त तत् सोऽपि पूर्वोपाजितपुण्यकर्मराजा ददाति, काद् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिरूप्यान् शुद्धात्मभावानाविनाशकान् रागादिपरिणामान् इति ।

अथवा द्वितीयव्याख्यान—कोऽपि जीवोऽस्मिन्वपुष्यकर्मनिमित्त भोगाकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मनुष्ठान करोति सोऽपि पापानुबन्धिपुण्यराजा कालातरे भोगान् ददाति । तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरंपरा प्रापयतीति आचार्य । एवमज्ञानिजीव प्रत्यन्वयहृष्टातगाथा गता ।

यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्त न सेवते राजान् । तत् सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, काद् ? विविधाश्च सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकहृष्टातगाथा गता ।

एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः पूर्वोपाजितमुदयागत कर्मरज्ज् शुद्धात्मभावनोत्पद्योत्तरागसुखान्दात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्ध्या न सेवते न तत्तदपि कर्म न ददाति, काद् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपांश्च शुद्धात्मभावानाविनाशकान् रागादिपरिणामानि ।

अथवा द्वितीयव्याख्यान—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निश्चिकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषाय-वचनायै यद्यपि त्रतशीलदानपूर्वादिशुभकर्मनुष्ठान करोति तथापि भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मनुष्ठान न सेवते । तदपि पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्म भवातरे तीर्थकर-चक्रवर्ती-बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणाद्यागतस्य पूर्वमवभावितावेदविज्ञानावसावलेन शुद्धात्मभावानाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपांश्च रागादिपरिणामान् ददाति, भरतेश्वरादीनामिव । इति सज्ञानिजीव प्रति व्यतिरेकदाष्टौ तगाथा गता । एव मतिभ्रतावधिमेव पर्ययकेवलज्ञानावेदरूपपरमार्थ-शब्दवाच्य साक्षान्मोक्षकारणभूत शुद्धात्मसत्त्वितिलक्षण स्वसंबन्धे सवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारण पूर्वं यद्व्याख्यात परमात्मपद, तत्पद येन निर्विकारस्वभवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ।

इत उच्यते निश्चकाष्टष्टगुणकथन गायनवकपर्यंत व्याख्यान करोति । तत्र तावत् प्रथमगाथाया निजपरमात्म-पदार्थभावनोत्पन्नसुखाद्युत्तरसांस्वादतृता सत् सम्यग्दृष्टय, चोरोपसर्गेऽपि सतमयरहितत्वेन निर्विकारत्वानुभवस्वरूप स्वस्थभाव न त्यजन्तीति कथयति—

टीका—जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उस सेवक को नाना प्रकार की सुखदायक वस्तुये देता है । यह अज्ञानी जीव के विषय में अन्वय हृष्टान्त का वर्णन करने वाली गाथा हुई । इस प्रकार शुद्धात्मा से उत्पन्न होने वाले सुख से दूर होता हुआ अज्ञानी जीव भी विषय सुख के लिए कर्म रूपी राजा की सेवा करता है । अतः वह पूर्वोपाजित पुण्य कर्म राजा भी उसे विषय सुख को उत्पन्न करने वाले भोगों की अभिलाषा वाले एव शुद्धात्मा की भावना को नष्ट करने वाले रागादि परिणामों को उत्पन्न कर देता है । इसी गाथा का दूसरा अर्थ करते हैं कि कोई जीव नवीन पुण्य कर्म बन्ध के निमित्त भोगों की इच्छामय निदान भाव से शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह पापानुबन्धी पुण्य राजा कालान्तर में उसे भोग उत्पन्न कर देता है, परन्तु वे निदान बन्ध से प्राप्त हुए भोग रावण आदि के समान उसे अन्त में नरक में गिराने वाले होते हैं और उसे दुःखों की परम्परा को प्राप्त

कराते है। यह अज्ञानी जीव के प्रति अन्यत्र दृष्टांत गाथा हुई। अब यदि वही पुरुष किसी भी आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले भोग नहीं देता। यह ज्ञानी जीव के सबंध में व्यतिरेक दृष्टांत पूर्ण हुआ। इसी ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पहले के बाधे हुए एवं उदय में आए हुए कर्म को शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग सुख से दूर हटकर विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से अर्थात् प्रयत्न पूर्वक अपने विचार से उसे सेवन नहीं करता। इसलिए वह कर्म भी उसके लिए नाना प्रकार के सुख को उत्पन्न करने वाले तथा भोगों की अभिलाषारूप तथा शुद्धात्मीक भावना को नष्ट करने वाले रागद्वेषादिपरिणामों को नहीं उपजाता है इसी का अब दूसरे प्रकार से व्याख्यान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव निविकल्प समाधि के न होने से अशक्यानुष्ठान के रूप में विषय वपायों से वचने के लिए व्रत शील या दान पूजादि शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है किन्तु भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध के साथ उस पुण्य कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है तो वह पुण्यानुबन्धी पुण्य कर्म आगे के भव में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेवादि के अमृदयरूप में उदय में आया हुआ भी पूर्व भव में भाये हुए भेद विज्ञान की भावना के बल से शुद्धात्मा की भावना का मूलोच्छेद करने वाले भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध वाले ऐसे विषय सुखों को उपजाने वाले रागादि परिणामों को पैदा नहीं करता है। जैसा कि भरतेश्वर चक्रवर्ती आदि के पैदा नहीं किया। यह सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रति दाष्टांत गाथा पूर्ण हुई ॥२४०-२४१-२४२-२४३॥

विशेषार्थ—आचार्य श्री ने यहाँ यह बात बतलाई है कि अज्ञानी जीव फल प्राप्त करने की इच्छा में कार्य करता है परन्तु ज्ञानी फल की इच्छा के बिना ही करता है। इस पर यह शका हो सकती है कि जब फल पाने की इच्छा ही ज्ञानी के नहीं है तो फिर वह कुछ करता भी क्या है? इसका उत्तर यह है कि वह जो भी कुछ करता है वह पर प्रयोग वश होकर करता है। जैसे कि मुनि एक स्थान में दूसरे स्थान पर गमन करते हैं तो उन्हें परम आगम में एक स्थान पर अधिक ठहरने की आज्ञा नहीं है इसलिये गमन करते हैं। गृहस्थ यदि कहीं पर जाता है तो कुछ लाभ पाने के लिए या वहाँ का मौनार्थ्य आदि देखने के लिए जाता है तो वह देखकर या प्राप्त कर प्रसन्न होता है आदि। परन्तु मुनि में ऐसी बात नहीं है उन्हे इस स्थान से न तो द्वेष होता है और न उस स्थान में राग और न कोई सबंध ही रखते हैं। वे तो जैसा यहाँ बेटे थे वैसे ही वहाँ जा बैठते हैं, अपने आपमें प्रसन्न रहते हैं स्वस्थित रहते हैं इत्यादि। यही बात यहाँ बतलाई है।

इस प्रकार जिस परमात्मपद का वर्णन इन विशेषणों से किया जा चुका है वह मति श्रुत, अवधि मन पर्यय और केवल ज्ञान के भेदसे भी भेदको प्राप्त नहीं होता। जो परमाथंशब्द से कहा जाने योग्य है, जो साक्षात् मोक्ष का कारण भूत है, शुद्धात्मा का सवेदन होना ही जिसका लक्षण है जो अपने आपके द्वारा ही जानने योग्य है और सबर पूर्वक निर्जरा का उपादान कारण है, वह पद जिस विकार रहित स्वसवेदन लक्षण वाले भेद विज्ञान गुणके बिना नहीं प्राप्त किया जासकता है उसी भेद विज्ञान गुण का विशेष व्याख्यान इन चौदह गाथाओं में पूर्ण हुआ।

अब इसके आगे नव गाथाओं में नि शक्तिदि आठ गुणों का वर्णन करते हैं। उसमें भी सबसे प्रथम पहली गाथा में यह बताया है कि जो सम्यक्स्वी जीव निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुए सुखरूप अमृतमय के आस्वादन से समुत्पन्न रहते हैं वे छोर उपसंग के आने पर भी सात प्रकार के भय से रहित होने के कारण निविकार रूप स्वानुभव ही है स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाव का नहीं छोड़ते हैं उसीमें तल्लीन रहते हैं।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होति णिब्भया तेण ।

सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२४४॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निशंका भवन्ति निर्भयास्तेन ।

सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निशंका ॥२४४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि शक कहे गये हैं इसलिये निर्भय होते हैं । वे भयानादिरूप सप्त प्रकार के भय से रहित होते हैं यही उनके नि शक होने का अर्थ है ॥२४४॥

तात्पर्यवृत्ति—सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होति सम्यग्दृष्टयो जीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्मा-
राधन कुर्वाणा सतो निशंका भवति यस्मात् कारणात् । **णिब्भया तेन** तेन कारणेन निर्भया भवति **सत्तभयविप्प-
मुक्का जम्हा** यस्मादेव कारणात्, इहलोक-परलोक-अज्ञाण अगुप्ति-भयान-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितमत्तभयविप्रमुक्ता
भवति **तम्हा दु णिस्संका** तस्मादेव कारणात् धीरपरीयहापसर्गे प्राप्तेऽपि निशंका शुद्धात्मस्वरूपे निष्कपा सत
शुद्धात्मभावोत्थवीतरागमुखानन्दतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपाश्च प्रच्यवते पाडावादिवत् ।

अथानन्तर वीतरागसम्यग्दृष्ट्येनिशंकाकाष्ठदृष्ट्या नन्तरबन्ध निवारयन्ति तत कारणाद्विधो नास्ति किन्तु सवर-
पूर्विका निर्जरेव भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होति) सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप निर्दोष
परमात्मा का आराधन करते हुए नि शक होते हैं (णिब्भया तेण) इसी से वे भय रहित होते । (सत्तभय-
विप्पमुक्का जम्हा) क्योंकि इस लोक का भय, परलोक, भय, अज्ञाण (अज्ञान) अगुप्तिभय, वेदनाभय,
आर आकस्मिक भय इन सात भय से रहित होते हैं, (तम्हा दु णिस्संका) इसलिये वे धीर उपसर्गके
आपड़ने पर भी पाण्डवादि के समान नि-शक होते हैं अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप में निश्चल रहते हुए तथा
शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्द सुख उसमें तृप्त रहते हुए उस परमात्मस्वरूप से
च्युत नहीं होते हैं ॥२४४॥

विशेषार्थ—शंका शब्द के मुख्यता से दो अर्थ हैं । सन्देह और भय । आचार्य श्री ने यहाँ पर भय
अर्थ को लेकर प्रतिपादन किया है। समन्तभद्रादि ने अपने रत्नकरण्ड आदि ग्रंथों में 'सन्देह' अर्थ को लेकर
लिखा है जैसे— 'इदमेवेदंशमेव, तत्त्व नान्यत्र चान्यथा । इत्येकम्पायसाम्भोवत्सन्मागेंसशया हवि ॥
इसमें स्पष्ट है । वह सन्देह जहाँ नहीं होता वहाँ भय भी नहीं होता ऐसा नहीं है, सोही यहाँ पर भी
समझना चाहिए । देवो, अनादिकाल का अज्ञानी प्राणी शरीर और आत्मा को एक समझ रहा है अतः
शरीर को नष्ट होता हुआ देखकर आत्मा को भी नष्ट हुआ मान रहा है एव दुःखी हो रहा है । किन्तु
जब सन्तो का समागम प्राप्त करता है तो उनके कहने से कि हे भाई ! यह तेरा शरीर नाशवान् है जो
कि जड़ है किन्तु तेरा आत्मा तो इसमें रहता हुआ भी इससे भिन्न है जोकि अमूर्तिक, चैतन्य और नित्य
है । यह शरीर जो रूपादिमान् है वह तो यही पड़ा रह जायगा, किन्तु आत्मा तो अपनी करनी के अनुसार
अन्यत्र जाकर अपना ठाठ दिखाने लगेगा जैसा कि व्यन्तरादिक के मुह से सुनने में आता है इत्यादि ।
तब यह मानने लग जाता है कि जैसा कि श्री गुरु कहते हैं वह ठीक ही है । फिर भी इस शरीर से ममत्व

बनाये ही रहता है कि यह शरीर है तो भगवान् भजन आदि कर लेता हूँ। यदि यह अस्वस्थ रोगी आदि हो जाय तो मैं क्या करूँ इत्यादि रूप से भय बना ही रहता है। यह अन्नत सम्पद्गृष्टि की अवस्था है। जिसको कि लक्ष्य में लेकर रत्नकरण्ड आकाशचारा में निश्चितादि भगवत् लक्षण लिखा है परन्तु जब वही विरक्त होता है तो धन धान्यादि का त्याग करके एकान्त में आत्म ध्यानस्थ रहता है, वहाँ पर शरीर से निरपेक्ष होने के कारण उसे फिर वहाँ किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसी विरत सम्पद्गृष्टि को लक्ष्य में लेकर यहाँ इस प्रकार निश्चितादि आठ अंगों का वर्णन किया है। जैसा कि आत्म स्थापितकार के द्वारा लिखे गये सप्त भयों के वृत्तों में आये हुए अन्तिम चरण से स्पष्ट होता है—“निश्चयः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति” अर्थात् वह ज्ञानी सदा निरन्तर स्वयं सहज ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करता है अर्थात् आत्मध्यान में तल्लीन रहता है।

आगे कहते हैं कि बीनराग सम्पद्गृष्टि जीव के निश्चय आदि आठ गुण नवीन बंध का निवारण करते रहते हैं इसलिये उनके बन्ध नहीं होता अपितु सबर पूर्वक निर्जरा होती है —

जो चत्तारिवि पाए छिददि ते कम्म मोहबाध करे ।

सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुण्येव्वो ॥ २४५ ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्म मोह बाधाकरान् ।

स निश्चयः स्वेतयिता सम्पद्गृष्टि ज्ञातव्यः ॥ २४५ ॥

अर्थ— जो कोई कर्मबन्ध का करने वाला मोह भाव, व बाधा को उत्पन्न करने वाले, मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और शुभाशुभरूप योग इन चार पायों को उखाड़ डालता है वह आत्मा ही निश्चय सम्पद्गृष्टि होता है ॥ २४५ ॥

तात्पर्यवृत्ति — जो चत्तारिवि पाए छिददि ते कम्मोहबाधकरे य कर्ता मिथ्यात्वाविरति कपाययोग-लक्षणान् समारवृक्षस्य भूतभूतान् निष्कर्मात्मनस्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्याबाधमुखादिगुणनिक्षरुपपरमात्मपदार्थभ्रमत्वेन वा बाधाकरास्तान् आगमप्रसिद्धाश्चतुर पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्चयको भूत्वा स्वमवेदनज्ञानक्षेत्रेण छिनत्ति सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुण्येव्वो स चेतयिता आत्मा सम्पद्गृष्टिनिश्चयको मनस्य, तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शकाकृतो नास्ति बन्ध, किन्तु पूर्वबद्धकर्मणा निश्चित निर्जरेव भवति ।

टोका—(जो चत्तारिवि पाए छिददि ते कम्म मोहबाधकरे) जो कोई मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और शुभाशुभरूप योग भाव ही है लक्षण जिसका ऐसे समार रूप वृक्ष के जड़ सरीखे है एव निष्कर्म जो आत्मनस्त्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले है और अव्याबाध (बाधा रहित) सुख आदि गुणों का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उससे पृथक् होने के कारण बाधा पैदा करने वाले है ऐसे उन आगम प्रसिद्ध चारों पायों को शुद्धात्मा की भावना में शका रहित होकर स्वमवेदन नाम वाले ज्ञान रूप खड्ग के द्वारा काट डालता है (सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुण्येव्वो) वह चेतनस्वरूप आत्मा ही निश्चय सम्पद्गृष्टि माना गया है। उसके शुद्धात्मा के विषय में शका को पैदा करने वाला बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व बद्धकर्म की निजरा ही निश्चित रूप से होती है ।

विशेषार्थ—यहाँ पर भी आचार्य उसी बीनरागी सम्पद्गृष्टि को लक्ष्य में लेकर कह रहे हैं कि

जिसने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दिया है और कर्म बंध के करनेवाले चारों प्रत्ययों से दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में लगकर अपने स्वस्थ भाव का ही अनुभव कर रहा है। न कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि का जो अपने सहोदर भाई पर चक्र चला रहा है या भयके मारे घबराकर लोहे के कीलो से टकरा जाने के कारण मर जाता है। यही बात आगे की गाथाओं से भी झलकती है।

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तह्यसव्वधम्मसेसु ।

सो णिककंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४६॥

यो न करोति तु कांसां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।

स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४६॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मों के फलों में व सभी प्रकार के धर्मों में इच्छा नहीं करता है उस आत्मा को नि का-
क्षित (इच्छा रहित) सम्यग्दृष्टि सम्भन्ना चाहिये ॥२४६॥

तात्पर्यवृत्ति—जो ण करेदि दु कल कम्मफलेसु तह्य सव्वधम्मसेसु य कर्ता शुद्धात्मभावनासजानपरमा-
नन्दसुखे तृप्तो भूत्वा काक्षा बाछा न करोति केयु ? पंचेन्द्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु
अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोककाक्षारूपसमस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु ।
सो णिककंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टि ससारसुखे निष्काक्षितो मतव्यः । तस्य
विषयसुखकाक्षाहृन्तो नास्ति बंध किन्तु प्रवसचित्तकर्मणो निर्जरैव भवति ।

टीका—(जो ण करेदि दु कल कम्म फलेसु तह्य सव्वधम्मसेसु) जो आत्मा शुद्धात्मा की भावना से
उत्पन्न हुये परमानन्द सुख में सतुष्ट होकर काक्षा अर्थात् कुछ भी बाछा नहीं करता है अर्थात् पाचो
इन्द्रियों के विषय सुख रूप जो कर्मों के फल हैं उनमें तथा समस्त वस्तुओं के धर्मों में स्वभावोंमें या
विषय सुख के कारणभूत नानाप्रकार पुण्यरूप धर्मों में अथवा इस लोक व परलोक सबधी इच्छाओं के
कारणभूत समस्त परसमय (शास्त्र) हैं उनके द्वारा प्ररूपित कुधर्मों में भी कुछ भी इच्छा नहीं रखता
है (सो णिककंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो) वह आत्मा सम्यग्दृष्टि इच्छा व काक्षा रहित है ऐसा
जानना चाहिये । इस ज्ञानी जीव के विषयों के सुख की इच्छा नहीं होती इसलिये उसके बाछा जन्य बन्ध
नहीं होता किन्तु पूर्व सचित्त कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४६॥

जो ण करेदि दु गुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२४७॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां ।

स खलु निर्विविक्तिसः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४७॥

अर्थ—जो जीव सभी वस्तुओं के धर्मों में ग्नाति नहीं करता है वह ध्वस्य ही विविक्तिसा दोष रहित
सम्यग्दृष्टि मानने योग्य है ॥२४७॥

तात्पर्यवृत्ति—जो ए करेवि दु गु छ चेदा सव्वेसिमेव धम्माए यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावना-
बलेन जुगुप्सा निदा दोष विचिकित्सान करोति, केपा सबवित्तेन ? सर्वेषामेव वस्तुवर्माणा स्वभावानां, दुर्गन्धादिविषये
वा सो खलु णिच्चविदिग्धो सम्मादिट्ठी मूणेदब्बो न सम्मग्घट्टि निविचिकित्सि स्फुट मतब्बो जातब्ब सस्य च
परद्वयद्वेषनिमित्तो नास्ति बध । कि तु पूर्ववर्तितकर्मणो निर्जरं भवति ।

टीका—(जो ग करेदि दु गु छ चेदा सव्वेसिमेव धम्माए) जो चेतन आत्मा परमात्म तत्व को
भावना के बलसे सभी वस्तुओं के स्वभावों के प्रति जुगुप्सा भवति निश्चया वा विचिकित्सा नहीं करता,
दुर्गन्ध के विषय में भ्रान्ति नहीं करता (सो खलु णिच्चविदिग्धो सम्मादिट्ठी मूणेयब्बो) वह ही भ्रान्ति
रहित सम्यग्दृष्टि माना गया है । उसके पर पदार्थों से द्वेष निमित्तक बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्व सचित
कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२४७॥

जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।

सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मूणेयब्बो ॥२४८॥

यो भवति असंमूढ इचेतयिता सर्वेषु कर्मभावेषु ।

स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्यः ॥२४८॥

अर्थ—जो चेतन आत्मा सर्वकर्मों के उदयरूप भावों में मूढता (मोह ममता) धारण नहीं करता वह वास्तव
में अमूढ दृष्टि धरका धारी सम्यग्दृष्टि मानन योग्य है ॥२४८॥

तात्पर्यवृत्ति—जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि
श्रद्धानुज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनावलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वेषाऽऽमूढो
भवति सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मूणेदब्बो स खलु स्फुट सम्यग्घट्टिमूढदृष्टिर्मन्तव्यो जातव्य । तस्य च
बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बध परममममूढताकृतो वा । कि तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चित निर्जरं भवति ।

टीका—(जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु) जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा में
ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयमय भावना का बल है उससे समाधि परिणामोंसे
शुभ और अशुभ कर्मों से उपजाये हुये परिणाम स्वरूप इन बाह्य द्रव्यों के विषयों में सर्वथा असम्मूढ है
मोह ममता नहीं रखता है (सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मूणेयब्बो) वास्तवमें वही सम्यग्दृष्टि अमूढ-
दृष्टि धरका धारी माना जाना चाहिए । इस ज्ञानी जीव के बाह्य पदार्थों में मूढता-ममता से होने वाला
कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२४८॥

विशेषार्थ—इस गाथा के दूसरे चरण के आत्मरूपातिकार के पाठमें तथा तात्पर्यवृत्ति कारके
पाठ में थोडा सा अन्तर है । आत्मरूपाति कारका पाठ है 'चेदासदिट्ठी सव्वभावेसु' जिसका अर्थ होता है
विषय के सभी पदार्थों में समीचीन दृष्टि वाला किन्तु तात्पर्यवृत्ति में पाठ है "सव्वेसु कम्मभावेसु" शुभ
या अशुभ कर्मों के द्वारा उपजाये हुए शुभ अशुभ भावों में जिनका उपयोग होता है ऐसे सभी पदार्थों में
जो असम्मूढ है । इस प्रकार अर्थ पर दृष्टि डालने पर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । मूल मतलब
दोनों का एक है आत्मरूपातिकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव टकाराकीण एक ज्ञायक भाव मय होता

है अर्थात् शुद्धात्मध्यान में तल्लीन रहता है बाह्य पदार्थों से उसका विचार दूर हटा हुआ है। यही बात तात्पर्यवृत्ति कार कह रहे हैं अर्थात् दोनों के ही कहने में त्रिगुप्तिमय परम समाधि में निरत रहता हुआ मुनि ही वास्तव में समूहदृष्टि या सम्यग्दृष्टि है।

जो सिद्धभक्ति जुतो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।

सो उपगूहण गारी सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥२४६॥

जो सिद्धभक्ति युक्तः उपगूहनकस्तु सर्वं धर्माणां ।

स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि मन्तव्यः ॥२४६॥

अर्थ —जिसने सिद्ध भावना की भक्तिमें ही अपना उपयोग लगा रखा है अतएव सर्व विभाव धर्मों का ढकने वाला है वह उपगूहन भग का वारी सम्यग्दृष्टि मानना योग्य है ॥२४६॥

तात्पर्यवृत्ति —जो सिद्धभक्तिजुतो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्ति-युक्त मिध्यात्वरगादिविभावधर्माणामुपगूहक प्रच्छादको विनाशक सो उपगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो स सम्यग्दृष्टि, उपगूहनकारी मतव्यो ज्ञातव्य । तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति बध कि तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चित निर्जरेव भवति ।

टीका —(जो सिद्धभक्तिजुतो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं) जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति से युक्त है तो वह मिध्यात्व और रागादिरूप विभाव भावों का उपगूहक अर्थात् दबानेवाला है या नाश करने वाला ही है, (सो उपगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो) तो ऐसा वह सम्यग्दृष्टि उपगूहनकारी माना जाना ही चाहिए। उस जीवके दोषों को नहीं छिपाने रूप अनुपगूहन के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं होता किन्तु उसके तो निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२४६॥

विशेषार्थ —जिसने सिद्ध भगवान् की भक्ति में वास्तवमें अपना मन लगाया है—उसमें तन्मय हो गया है तो उसका उपयोग अन्य विभाव भावों पर कहा रहेगा वे तो सब दबे ही रहेगे अत वह दोषों का उपगूहक ही रहता है। उपगूहन का दूसरा नाम उपवृहण अर्थात् गुणों को बढ़ाना है जिसको आत्म-ख्याति कारने लिया है वह इस प्रकार है कि जब अपने उपयोग को सिद्धों के स्वरूप में लगा लिया तब आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिव्यक्त होती है, पुष्ट होती है, बढ़ती है, एव आत्म दुर्बलता से होने वाला बध न होकर निर्जरा ही होती है।

उम्मगं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं

सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥२५०॥

उन्मार्गं गच्छंतं शिवमार्गे यः स्थापयत्यात्मानं ।

स स्थितिकरणेन युक्तः सम्यग्दृष्टिमन्तव्यः ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव उन्मार्ग में जाते हुए अपने आप को भी बचाकर मार्ग में स्थापना करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण गुण सहित है, ऐसा समझना योग्य है ॥२५०॥

तात्पर्यवृत्ति—उन्मग्न गच्छत सिवमग्नो जो ठवेदि अप्पाण य कर्ता मिथ्यात्वरगादिरूपमुन्मार्गं गच्छत मनमात्मान परमयोगाभ्यासवनेन शिवमार्गं स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गं निश्चल स्थापयति सो ठिदि-करणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो म सम्यग्दृष्टि, स्थितिकरणयुक्तो मतव्यो ज्ञानव्य । तस्य चास्थितिकरण-कृता नास्ति बध कि तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चित निर्जरेव भवति ।

टीका—(उन्मग्न गच्छत सिवमग्नो जो ठवेदि अप्पाण) जो कोई मिथ्यात्व और रागादिरूप उन्मार्ग की ओर जाते हुये अपने आप को परम उत्तमरूप योगाभ्यास के बल से अपनी शुद्ध आत्मा की भावना स्वरूप मोक्ष मार्ग है, शिवमार्ग है उसमें निश्चलतया स्थापन करता है (सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मा-दिट्ठी मुणेयव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव स्थितिकरण गुण युक्त माना जाना चाहिये । उसके अस्थितिकरण रूप दोष का किया हुआ बन्ध नहीं हाता किन्तु निश्चितरूप से पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा ही होती है ॥२५०॥

जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि ।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५१॥

य करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूना मोक्षमार्गं ।

स. वात्सल्यभावयुक्त. सम्यग्दृष्टिर्मन्तव्य ॥२५१॥

अर्थ—जा मोक्ष मार्ग पर चलनवाले तीनों साधुओं के प्रति वात्सल्य भाव रखना है वह सम्यग्दृष्टि जीव वात्सल्य गुण का धारो माना जाना चाहिये ॥२५१॥

तात्पर्यवृत्ति—जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि य कर्ता मोक्षमार्गं स्थित्वा वत्सलत्व भक्ति करोति केया ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां, कथभूतानां साधूनां ? मोक्षमार्गं साधकानां श्रयवा व्यवहारं तदाधारभूतमाधूना सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो म सम्यग्दृष्टि वत्सलभावयुक्तो मतव्यो ज्ञानव्य । तस्य चावात्मन्यभावकृता नास्ति बध कि तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरेव भवति ।

टीका—(जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि) जो कोई मोक्ष मार्ग में ठहरकर मोक्ष मार्ग के साधन करने वाले इन तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र्य रूप अपने ही भावों की श्रयवा व्यवहार से उस रत्नत्रय के आधार भूत आचार्य, उपाध्याय और माधु इन तीनों की भक्ति करता है उसमें धार्मिक प्रेम करता है (सो वच्छल भावो जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो) वह सम्यग्दृष्टि जीव वत्सल भाव युक्त माना जाना चाहिये । उसके वात्सल्य भाव कृत बन्ध नहीं होता । किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निजरा ही होती है ॥२५१॥

विज्जारहमारुढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५२॥

विद्यारथमाहूढः मनोरथरयान् हन्ति यश्चेतयिता ।

स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातिव्यः ॥२५२॥

अर्थ—जो जीव आत्मानुभूति रूप विद्यास्पी रथ में आहूढ होकर मन स्वी रथ में बैगे को नष्ट करता है वह सम्यग्दृष्टि जिनन्द्र के ज्ञान की प्रभावना करने वाला मानना चाहिए ॥२५२॥

तात्पर्यवृत्तिः—विज्जारहमाहूढी मनोरथरयानु हणति जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोप-
सम्बिधस्वरूपविद्यारथमाहूढ सन् क्वातिपूजालाम्भोगाकाशरूपनिदानबधादिविभावपरिणामरूपान् इव्यत्वेनादिपञ्चप्रकार-
ससारदुःखकारणान् भद्रान् मनोरथरयान् वेगाधिचत्तकत्त्वोत्तान् स्वस्थभावसागधिवलेन हृदतरध्यानसङ्गो न हति । सो
जिणराणपहावी सम्माद्विद्दी भुणेदब्धो स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो
नास्ति बध कि तु पुर्वसच्चित्तकर्मणो निश्चित निर्जरेव भवति । एव सबरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारण-
भूताना शुद्धात्मभावनारूपाणा शुद्धनयमाश्रित्य निश्चकाष्टगुणाना व्याख्यातमुक्तत्वेन गायानयक गत ।

इदं तु निश्चकाष्टगुणव्याख्याय निश्चयनयमुक्तत्वेन व्याख्यात । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि
स्थितस्य सारागम्यद्दृष्टेरप्यजनबोगदिकवाक्येण व्यवहारनयेन यथासम्भव योजनीय । निश्चय व्याख्याय पुनरपि
किमर्थं व्यवहारनयप्रदायकान् ? इति चेन्नैव । अभिनुवर्णमापाणोरेव निश्चयव्यवहारनययो परस्परसाध्यसाधकभाव-
दर्शनार्थमिति तथाचोक्त —

जेइजिणममइ पउ जह तामा ववहारणिच्छए मुचह ।

एककेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च । इति

कि च—सबरपूर्विका निर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्त्वज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्य-
वृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति स च निश्चयरत्नत्रयलाभो बीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभसमबहि-
र्ब्रव्यतिरालम्बने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिर्तीव दुर्लभ । कस्मात् ? इति चेत् एकैश्चिद्विषयै-
र्द्वयपक्षेन्द्रियसंक्षिप्याप्यस्तन्मुन्यदेशकसंक्षेपद्वयपटुत्वनिर्ब्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्वर्गश्रवणसहृष्टारणश्रद्धानसयमविषयसुखव्या-
वर्तनक्रोधादिकपायविवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परपरादुर्लभानि यत । तदपि कस्मात् ? तत्प्रतिपक्षभूताना
निध्यात्वविषयकपायव्यातिपूजालाम्भोगाकाशरूपनिदानबधादिविभावपरिणामाना प्रबलत्वात् इति दुर्लभपरंपरा
ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्यः ।

इत्यतदुर्लभरूपा बोधि सञ्जा यदि प्रमादी स्यात् ।

संयुतिभीमारण्ये भ्रमति बराको नर. सुचिर । इति

तत्रैव सति श्रु गाररहितपानवत् शातरसरूपेण निर्जरा निष्कृता ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ गायान्तुष्टय पीठिका रूपेण,

गाथापञ्चक ज्ञानवैराग्यशक्तयो सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशक तयोरेव विशेष

विवरणरूपेण, गाथाष्टक ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथापञ्चदश

तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गायानवक निश्चकाष्टगुणकथनरूपेण

चेति समुदायेन पञ्चाशद्गाथानि. बह्मिरतराधिकारै

सप्तमो निर्जराधिकार समाप्त ।

टीका—(विज्जगृहमारुहो मणोरहरासु हरादि जो चेदा) जो चेतन आत्मा अपने शुद्ध आत्मा की उपलब्धि स्वरूप विद्यामई रथ पर आरुह्य हाकर मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा, लाभ तथा भागो की इच्छा को आदि नेकरनिदानबध आदि विभावस्वरूप परिणाम होता है जो कि द्रव्य, क्षणादि रूप पांच प्रकार सासारिक दुखो ककारण होते है एव जा आत्मा के शत्रु है ऐसे भोग्य के वेगो को चित्त की तरफो को स्वस्थ भाव समभाव रूप मार्गो के बल से आर दहत्य ध्यान रूप खड्ग के द्वारा नष्ट करदेता है (सो जिणत्ताराणपहावी सम्मा-दिट्ठी मुगदव्वो) वह समयदृष्ट जीव जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला माना गया है। अतः उसके अप्रभावना में होने वाला बध नहीं जाना किन्तु निश्चित रूप से पूर्व संचित कर्मो की निर्जरा ही होती ॥२५२॥

इस प्रकार शुद्ध नय का आश्रय लेकर सवर्ग पूर्वक जो भाव निर्जरा होती है उसके उपादान कारण रूप तथा शुद्धात्मा की भावना स्वरूप जो निश्चित आदि आठ गुण होते है उनके व्याख्यान करने की मुख्यता में नव गाथाय पूर्ण हुई ॥

यह निश्चितादि गुणो का जो व्याख्यान है वह निश्चयनय की प्रधानता से किया गया है। इस व्याख्यान को निश्चय रत्नत्रय का साधक जो व्यवहार रत्नत्रय है उसमें स्थित होने वाले सराग सम्यग्दृष्टि के ऊपर भी अज्ञान चांगदिक की कथारूप जा व्यवहारनय है उसके द्वारा यथा संभव लगा लेना ।

टीकाकार के इस कथन का लेकर सका पेदा हानी है कि निश्चयनय का व्याख्यान करने के बाद भी व्यवहारनय का व्याख्यान यथा क्या किया ? टीकाकार इसका उत्तर देते है कि सुवर्ग और स्वर्ण-पावाग में परम्पर काय कारणभाव है वसा ही कायकारण भाव निश्चयनय और व्यवहार नयमें है, व्यनहारनय कारण है ना निश्चयनय उसका कार्य है यह बात दिखलाने के लिए ही यथा यह प्रयास किया गया है जैसे कि—

जइ जिणसमइ पउजह ता मा ववहार गिच्छण भुवह, एक्केण विग्गा छिज्जई, तित्थ अण्णेण पुण तत्त्व । अर्थात्—यदि जिनमत का रहस्य प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय इन दोनों में से किसी को मत भूलो क्योंकि व्यवहारनय को छाड़ देने से अभीष्ट सिद्धि का मूल कारण जो तीर्थ है वह नष्ट हो जाता है और निश्चयनय का भुला देने पर समुचित वस्तु तत्व ही नहीं रह पाता है ।

सम्यग्दृष्ट जीव के जो सवर्ग पूर्वक निर्जरा हानी हुई बनाई गई है वह भी प्रधानतया निर्विकल्प समाधि के होने पर ही हानी है । जो कि निर्विकल्प समाधि, शुद्धात्मा के समीचीन (तन्मयस्वरूप) श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप हानी है तथा राग (आर्त्त और रोदभाव) से रहित धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मय होनी है और शुभ और अशुभ रूप बाह्य द्रव्यों के आलवन में सर्वथा रहित हानी है । यह निर्विकल्प समाधि वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि साधारण निगोद से निकल कर एकैन्द्रियपना, विकलैन्द्रियपना, पंचैन्द्रियपना, मज्जीपना, यज्ञो में भी पर्याप्तपना मनुष्यपना, उत्तमदेश, उत्तमकुल मुडोलशरीर, इन्द्रियो की पूर्णता, रागरहित आयु, भवोद्वाद्, समीचीन धर्म का मुनता, उसे विचार पूर्वक अपने मन में उतारना और धारण करना, उस पर विश्वास लाना, समय स्वीकार करना, वैषयिक सुखसे दूर रहना, आधादि कषायो को दूर करना, अनशनादिक तप की भावना का होना, एव समाधि पूर्वक मार्ग ये सब बात उत्तरोत्तर दुर्लभ है । क्योंकि उपर्युक्त बातों में रुकावट डालने वाले मिथ्यात्व विषय

कषायरूप विकारी परिणामो की प्रबलता रहती है जिससे क्याति पूषा, लाभ और भोगो की प्राकाशा रूप निदान बध प्रादि विषम परिणाम होने ही रहते हैं । इस प्रकार की दुर्लभता को जानकर समाधि के विषय मे किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

जैसा कि कहा भी है—

इत्यतिदुर्लभरूप बोधि लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।
समृतिभीमारुष्ये, भ्रमति वराको नर सुचिर ॥

अर्थात्—उपयुक्त प्रकार से जिसका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है उस बोधि भाव को प्राप्त करके भी यदि मनुष्य प्रमादी बना रहे और उसे हाथ से खोदे तो फिर वह बिचारा इस भ्रमकर ससाररूपबन्ध मे बहुत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा । इस प्रकार श्रु गार रहित पात्र की भांति ज्ञान्तर रस रूप जो निर्जरा है वह चली गई ।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप सक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद मे ४ गाथाये पीठिकारूप मे, ५ गाथाये ज्ञान और वैराग्य का सामान्य वर्णन करने के रूप मे, १० गाथाये उन्ही दोनो शक्तियो का विशेष वर्णन के रूपमे, ८ गाथाये ज्ञान गुण के सामान्य वर्णन करनेमे, १४ गाथाये उसी का विशेष वर्णन करनेमे फिर ६ गाथाये नि शक्तितादि गुणो का वर्णन करने मे इस प्रकार सब मिलाकर ५० गाथाओ द्वारा छह अन्तर अधिकारो मे सातवा निर्जरा नाम का अधिकार पूर्ण हुया ।

आठवां महा अधिकार (बंध तत्व)

तात्पर्यवृत्ति —अथ प्रविशति बध । तत्र जह्णाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादि कृत्वा पाठकभेदे पट्टपचाशद्गाथापर्यंत व्याख्यान करोति । तामु पट्टपचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथा-दशक । तदनंतर निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य सक्षणकथनरूपेण जो मण्येति हिंसासि इत्यादि गाथासप्तक । तत पर बहिरगद्व्यहिंसा भवतु, मा वा भवतु, निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण जो मरदि इत्यादि गाथापट्टक । अथानंतर निश्चयरत्नत्रयतक्षण यद्भेदविज्ञान तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यान-मुख्यत्वेन एवमलिपे इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वय । तदनंतर तस्यैव भावपुण्यपापकूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभमबधकारण-भूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन वरपु वरुण इत्यादि गाथात्रयोदश । एव समुदायेन पञ्चदश । तदनंतर निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण बवहारशब्धो इत्यादि सूत्रषट्क । अत पर रागद्वेषरहितज्ञानिना प्राणुकान पाताशाह्वारो, बधकारण न भवति इति पिङ्गुद्विव्याख्यानरूपेण आधाकम्पादीया इत्यादि सूत्रचतुष्टय । तदनंतर क्रोधादिकषाया कर्मबधनिमित्त भवति तेषा च चेतनाचेतनबहिर्भ्रंश निमित्त भवतीति प्रतिपादनरूपेण जह् कलिहम-रि विमुद्धो इत्यादि सूत्रषडक । तदनंतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यान च बधकारण भवति न पुन । शुद्धात्मेति व्याख्यान-मुख्यत्वेन अण्डिकमण इत्यादिगाथात्रय चेत ममुदायेन वट्टपचाशद्गाथाभिरष्टातराधिकारै बधाधिकारै समुदाय-पातनिका । तद्यथा बहिरात्मजीवसबधिनो बधकारणभूतस्य श्रु गारसहितपात्रत्वादीन्यस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशन् सत श्वातरसपरिगत योतरागसम्यक्त्वाविनामूर्त भेदज्ञानप्रतिषेध करोतीति उपदिशति ।

टीका—अब बध प्रवेश करता है। वहाँ 'जह्णाम कोवि पुरुषो' इत्यादि गाथा को घ्रादि लेकर पाठ क्रम से ५६ गाथाओं में इसका वर्णन है। उन ५६ गाथाओं में से भी सबसे प्रथम दश गाथाओं में मुख्यता से बध के स्वरूप की सूचना है। फिर 'जोमण्णदि हिसामिय' इत्यादि सात गाथाओं में हिसक और ग्रहिसक का स्वरूप है तत्पश्चात् बाहर में दीखनेवाली द्रव्य हिसा हो या ना हो किन्तु जहा हिसा का ग्रध्यवसाय हुआ गया वहा निश्चय से हिमा है ही इस प्रकार का प्रतिपादन 'जोमरदि' इत्यादि छह गाथाओं में हुआ है। फिर दो गाथायें गेमी है जिसमें निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जो भद विज्ञान उससे विलक्षणता रखने वाले जो व्रत और अन्न है उन्हों का 'एवमलिए' इत्यादि रूप से किया गया है। उसके भी बाद 'बन्धु पडुच्च' इत्यादि तेरह गाथायें हैं जिनमें शुभ व अशुभ बन्ध के कारण भूत भाव पुण्य और भाव पाप जो व्रत और अन्न उनका व्याख्यान प्रधानता से किया गया है। फिर 'बवहारणया' इत्यादि छह गाथायें हैं जिनमें यह बतलाया गया है कि निश्चय में स्थित होने पर ही व्यवहार का निषेध किया जा सकता है। इसके 'आधाकम्मादीया' इत्यादि चार सूत्र हैं जो पिण्ड शुद्धि का व्याख्यान करने वाले हैं उनमें यह बताया गया है कि प्राशुक अन्न पान रूप आहार का ग्रहण करना रागद्वेष रजित ज्ञानी जीवों के लिए बन्ध का कारण नहीं होता है। इससे भी आगे 'जह फलिह मण्णि विमुत्तो' इत्यादि पांच गाथायें हैं जिनमें बताया गया है कि क्राधादि कषायों ही कर्म बन्ध का निमित्त होती हैं जो कि चेतन और अचेतन बाह्य द्रव्यों के निमित्त से हुआ करती हैं। इसके आगे 'अण्णडिकमण' इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बताया गया है कि अप्रतिकर्मण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण हैं किन्तु शुद्धात्मा बध का कारण नहीं होती। इस प्रकार मिलाकर आठ अंतर अधिकारों और छप्पन गाथाओं के द्वारा बन्ध अधिकार पूर्ण होता है उसकी पातनिका हुई।

अब यह बताने हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव के कम बन्ध का कारण भूत जो मिथ्यात्व है जा कि शु गारमज्जित पाप स्थानीय है जो कि नाटक रूप में प्रवेश कर रहा है उसका प्रतिरोध करने वाला भेद विज्ञान है जो कि शान्त रस के परिणत होकर रहने वाला है और वीतराग रूप ममकत्व को साथ में लिए हुए होता है।

जह्णाम कोवि पुरिसो जेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
 ठाणम्मि ठाइव्वण य करेइ सत्थेहि वायामं ॥ २५३ ॥
 छिददि भिददि य तहा तालीतल कयलि बसंपिंडीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २५४ ॥
 उवघायं कुव्वत्तस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहि ।
 णिच्छयदो चित्तिज्ज ह कि पच्चयगो दु रयबन्धो ॥ २५५ ॥
 जो सो दु जेहभावो तद्धि णरे तेण तस्स रयबन्धो ।
 णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठीहिं सेसाहिं ॥ २५६ ॥
 एवं मिच्छाविट्ठी वट्ठन्तो बहुविहासु चिट्ठासु ।
 रायाई उवओगे कुव्वन्तो लिप्पई रयेण ॥ २५७ ॥ (पंचकम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाम्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रं ध्यायाम् ॥२५३॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदली बंशपिंडी ।
सच्चित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२५४॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ॥२५५॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्ने तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२५६॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधामु चेष्टामु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२५७॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष अपनी देहमें तैलादि लगाकर बहुत धूलवाले स्थानमें स्थित होकर नाना हथियारों से व्यायाम करता है । वहां वह ताड़ का वृक्ष केले का वृक्ष तथा बांस के पिण्ड इत्यादि को तोड़ मरोड़ता है, भेदता है और सच्चित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है । इस प्रकार नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा आघात करनेवाले पुरुष के जो धूल या मिट्टी लगनी है वह वास्तवमें क्यों चिपकी है ? कि उसने तैल लगा रखा है इसलिये उसके मिट्टी चिपक रही है शय काय चेष्टाओं से धूलका चिपकना नहीं है । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार की चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है वह अपने उपयोगमें रागादि विकारभावों को करता हुआ प्रवर्तता है इसलिये कर्मरज से लित होता रहता है ॥ २५३-२५४-२५५-२५६-२५७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जह्णाम कोवि पुरिसो इत्यादि व्याख्यान क्रियते—यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुष स्नेहाम्यक्त स रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रं ध्यायाममम्यास श्रम करोति इति प्रथमगाथा गता ।

छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतलकदलीवशाशोकसजाद् वृक्षविशेषान् तत्सबधिसच्चित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता ।

उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चित्यता विचार्यता किंप्रत्ययक किमिभित्तक रजोबंध ? इति पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रय गत । अतोत्तर—

य स्नेहभावस्तस्मिन्ने स पूर्वोक्तस्तेनाम्यगनरूपेण तेन तस्य रजोबंध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिब्यापार-चेष्टाभिः शेषामिरित्युत्तरगाथा । एष सूत्रचतुष्टयेन प्रबोद्धतरूपेण दृष्टातो गत । अथ दाष्टानभाह एष मिच्छादिद्वि-
बद्ध तो बहुविधामु चेष्टामु एव पूर्वोक्तदृष्टातेन मिथ्यादृष्टिर्जीव विविधामु कायादिब्यापारचेष्टामु वर्तमान-
रागादी उबध्नीमे कुर्वतो लिप्यति रयेण शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्प्रज्ञानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानाचारिणा-
णामभावात् मिथ्यात्वरगाद्युपयोगाद् परिणामाद् कुर्वाण सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः । एष यथा तैलघ्न-
श्रितस्य रजोबंधो भवति तथा मिथ्यात्वरगादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबंधो भवति इति बंधकारणतात्पर्येक्यनरूपेण सूत्रपक्षक गत ।

अथ गाथापक्षकेन दोतरागसम्यग्दृष्टैर्बन्धभाव दर्शयति—

टीका—(जहणाम कोवि पुरुषो) जैसे कोई भी पुरुष अपने शरीर में तैल आदि चिकना पदार्थ लगाकर बहुत सी धूल वाले स्थान में जाकर मुद्गरादि शस्त्रों से व्यायाम का अभ्यास करता है। यह एक गाथा का अर्थ हुआ। वह ताड़ का वृक्ष, तमालू का पौधा, केले का पेड़ बांसों का बीड़ा और अशोक वृक्ष आदि नाना वृक्षों को छेदता भेदता है एवं उनसे मबध रखने वाले सचेतन और अचेतन द्रव्यों का घात करता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। उन नाना प्रकार के उपकरणों द्वारा उपघात करते हुए उन जीव के जो धूली लगती है वह सोचो किस कारण से धूली लगती है? इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में तीन गाथाये हुई। उसका उत्तर यह है कि उसने अपने शरीर में तेल मालिश से चिकनापन कर रखा है उसीसे वह धूल उसके चिपकती है। यह चौथी उत्तर रूप गाथा हुई। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप चार सूत्रों द्वारा दृष्टांत कहा गया। (एव मिच्छादिद्वी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु) उपयुक्त दृष्टांत के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात् विरति रहित जीव नाना प्रकार की शारीरिक व्यापारमय चेष्टाओं में प्रवर्तमान होता है तब वहा पर वह (रागादि उवओगे कुवन्तो लिप्पइ रयेण) शुद्धात्म तत्व का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के न होने से मिथ्यात्व और रागादिरूप उपयोग को अर्थात् विकारी परिणामों को करता वह कर्म रूप रज से लिपजाता है बध जाता है ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार तैल लगाये हुए पुरुष के जैसे धूली चिपकती है वैसे ही मिथ्यात्व तथा रागादि रूप में परिणत जीव के कमबध होता है। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण का व्याख्यान करने के रूप में पाच गाथाये पूर्ण हुई ॥२५३-२५४-२५५-२५६-२५७॥

आगे वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के कम बन्ध नहीं होता है ऐसा पाच गाथाओं से बतलाते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
 रेणु बहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहि वायामं ॥२५८॥
 छिंददि भिददि य तहा तालीतल कदलि वंस पिण्डीओ ।
 सच्चित्ताचित्ताण करेदि दव्वाणमुवघाद ॥२५९॥
 उवघादं कुव्वतस्स, तरस णाणा विहेहि करणेहि ।
 णिच्छयदो चित्तिज्जहू किपच्चयगो ण रयबधो ॥२६०॥
 जो सो दु णेहभावो, तह्मिणरे तेण तस्स रयबंधो ॥
 णिच्छयदो विण्णेय ण कायचेट्ठाहि सेसांहि ॥२६१॥
 एव सम्मादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहेसु जोगेसु ।
 अकरन्तो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२६२॥

यथा पुन. स चंव नर. स्नेहे सर्वस्मिन्न पनीते सति ।
 रेणबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायाम ॥२५८॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतल कदली वंश पिंडीः ।

सचित्ताचिस्तानां करोति द्रव्याणमुपधात ॥२५६॥

उपधातं कुर्वन्तस्तस्य नानाविधैः करणैः ।

निश्चयतश्चित्यतां किं प्रत्ययिको न रजोबंध ॥२६०॥

यः सतुस्नेहभावस्तस्मिन् नरे तेन तस्य रजोबंधः ।

निश्चयतो विज्ञेयं न काय चेष्टाभिः शेषाभिः ॥२६१॥

एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।

अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२६२॥

अर्थ—हा, वही पूर्वोक्त पुरुष यदि अपने शरीर में लगी हुई बिकनाहट को दूर करके अर्थात् हटाकर बहुत मट्टी वाले स्थानमें भी नाना शस्त्रों द्वारा धनक प्रकार के व्यायाम करता है । ताडवृक्ष की जड़ को, केले के वृक्षको, बाम के बीड़े को छेदता है भेदता है, और सचित प्रचित द्रव्यों का उपधात भी करता है । इस प्रकार नानाविध उपकरणों के द्वारा उपधात करने वाले के भी नाना प्रकार की कायिक चेष्टा करने पर भी उसके धूलि नहीं चिपकती सा क्यों नहीं चिपकती ? इस प्रकार विचार करो तो समझमें आवेगा कि उस मनुष्य ने जो तेल लगा रखा था उसी से उसके धूल चिपकती थी, काय की अन्य चेष्टाओं से नहीं चिपकती थी, सो अब वह तैल नहीं है इसलिये नहीं चिपकती है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विरत जीव भी नाना प्रकार के योगों में प्रवर्तमान होता हुआ भी अपने उपयोग में रागादिकों को नहीं करता इसलिये कर्मरज से लिप्त नहीं होता है ॥ २५६-२५६-२६०-२६१-२६२ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा स एव पूर्वोक्तो नर स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाम, धन्यास धम करोतीति प्रथमगाथा गता । छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालनमालकदलीवश पिंडीसज्ञान् वृक्षविशेषान् । तदनबधिसचित्तिद्रव्याणामुपधात च करोति इति द्वितीयगाथा गता । उपधातं कुर्वाणस्य तस्य नाना-विधैर्विनालस्थानादिकरणविशेषं, निश्चयतश्चित्यतां विचार्यता किप्रत्ययक किमितिक्तक, तस्य रजोबंधो न भवति । एव प्रश्नरूपेण गाथाश्रय गत । अत्रोत्तर—य स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाम्यग्रूप, तेन न तस्य रजोबंध, इति निश्चयतो विज्ञेयं । न कायाद्रव्यापातचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बंधो नास्तीत्यभिप्राय, इत्युत्तरगाथा गता । एव सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टातो गत । अथ दाष्टीतमाह—

एव सम्माविष्टी वट्ट तो बहुविहेसु जोगेसु एव पूर्वोक्तदृष्टातेन सम्यग्दृष्टिर्जीव विविधयोगेषु नाना प्रकार-मनोज्ञनकायव्यापारेषु वर्तमान । अकरतो उबझगे रागादी निर्मलतत्त्वसम्यक्प्रज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचार्निगाणां सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाण सन् जेब बडझडि रयेण कर्मरजसा न बध्यते । एव तैनप्रज्ञाणामाये यथा रजोबंधो न भवति तथा बीनरागसम्यग्दृष्टिर्जीवस्य रागाद्यभावाद् बंधो न भवति, इति बंधा-भावकारणानुपपत्त्यर्थकथनरूपेण गाथापञ्चक गत । किं च यथात्र पातनिकायां भक्षित, सज्जानिजीवस्य शातरसे स्वामित्व, अज्ञानिनस्तु शृंगाराद्यष्टरसानां स्वामित्व, तथाध्यान्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरमानां स्वामित्व ज्ञातव्य । इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्तव्य गत ।

अथ बीनरागस्वस्वभाव मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षणं । तद्विपरीत सज्जानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति—

टीका—जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष शरीर से सर्व तैलादिरूप चिकने पदार्थ को सर्वथा दूर कर धूल भरे स्थान में भी अनेक हथियारों द्वारा व्यायाम परिश्रम करता है। यह प्रथम गाथा हुई। वहाँ वह ताल-तमाल (तम्बाकू), केला बास का बीड़ा आदि वृक्षों को छेदता है भेदता है, उनमें होने वाले सचित्त और अचित्त पदार्थों को विगाड़ता है। यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ। वैशाख स्थान आदि साधनों के द्वारा उपघात करते रहने वाले उस पुरुष के जो धूल नहीं चिपकती सो क्यों ? इस प्रकार प्रश्न करनेरूप में तीसरी गाथा हुई। उसका उत्तर यह है कि उस पुरुष के शरीर में तेल चुपड़ने रूप चिकनापन था उसीसे धूल चिपकती थी यह निश्चित बात है। उसी की अन्य शारीरिक चेष्टाओं से धूल नहीं चिपकती थी अब उसके शरीर में वह तैलादि जनित चिकनापन नहीं रहा इसलिये उसके धूल नहीं चिपकती यह सब उत्तररूप गाथा का अन्तिमार्थ हुआ। इस प्रकार चार गाथाओं में दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते हैं कि (एव सम्मादिष्टी वट्टन्ता बहुविहेसु जोगमु) पूर्वोक्त दृष्टान्त के अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विरत जीव भी विविध प्रकार के योगों में अर्थात् अनेक प्रकार के मन, वचन, और काय सबघो व्यापारों में प्रवृत्तमान होता हुआ भी (अकरतो उच्चोगे रागादी) निर्मल आत्मा का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही है स्वरूप जिसका ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का सद्भाव होने से रागादि के उपयोग स्वरूप विकारी परिणामों को नहीं करता है अतः (गुणं बज्जिदं रयेण) नूतन कर्मों में नहीं बन्धता है। इस प्रकार तैलादिक की चिकनाहट न होने पर जैसे धूल नहीं चिपकने पाती वैसे ही वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि विकार रूप भाव न होने से बन्ध नहीं हाता इस प्रकार बन्ध अभाव का कारण बतानेके रूप में ये पांच गाथाये आईं ॥ २५८-२५९-२६०-२६१-२६२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जो काम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी करता है वही काम सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भी करता है उसमें मिथ्यादृष्टि का बन्ध होता है और सम्यग्दृष्टि का बन्ध नहीं होता। इस पर से कोई व्यक्ति “हम भी भगवान के भक्त हैं, सम्यग्दृष्टि है, हम कुछ भी करे हमारे बन्ध नहीं होता” ऐसा सोचकर यदि स्वच्छन्द हो जाता है तो वह भूल करता है क्योंकि जो कोई कुछ भी करेगा तो उसके बन्ध होगा ही। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कुछ भी करता नहीं है इसलिए उसके बन्ध नहीं होता ऐसा स्वयं आचार्य श्री कर्ता कर्म अधिकार में बता ही आये हैं। यहाँ पर आचार्य श्री के कहने का इतना ही तात्पर्य है कि किसी २ कार्य में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों का सहयोग होता है तभी वह सम्पन्न होता है। वहाँ पर मिथ्यादृष्टि तो उस कार्य का चलाकर इच्छापूर्वक सम्पन्न करता है अतः उसके कम बन्ध हुए बिना नहीं रहता परन्तु सम्यग्दृष्टि तो वहाँ तटस्थ रहता है अतः उसके बन्ध नहीं होता। यहाँ उदाहरण में सुदर्शन मुनि और वज्र्या के प्रसंग को ही लिया जा सकता है। वज्र्याने सुदर्शन मुनिराज को प्रातःसह्या के बहाने में अपने घर पर ले जाकर उनके साथ तीन दिन तक भारी कुचेष्टा की एवं घोर पाप बन्ध किया किन्तु वही पण्डित श्री मुनिराज पूर्ण निर्विकार बने रहे ऐसे दशा में उन्हें कर्म बन्ध कैसे हा सकना था ? हा, यदि वहाँ पर थोड़ा सा भी भला बुरा पन मान करके भी तत्पश्चात् अपना कर्तापन का सबध जोड़ लेते तो मुनि भी अज्ञानी बन कर कम बन्ध के करनेवाले बन जाते क्योंकि कर्तापन और ज्ञानीपन दोनों एक साथ नहीं रहते जैसा कि अमृतचन्द्र आचार्य के निम्न वृत्ता से स्पष्ट है—

जानाति य स न करोति काराति यस्तु जानात्यय न खलु तत्किल कर्मराग ।
राग त्वबोधमयमध्यवसाय माहर्माध्याह्न स नियत स हि (च) बधहेतु ॥ १६७॥

अर्थात्—जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है क्योंकि कर्त्तापन उस कार्य के प्रति इच्छा हुए बिना नहीं होता । इच्छा रगभाव है और राग अज्ञानमय अध्यवसान भाव है जो कि नियमसे बन्ध का कारण होता है एव वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है अर्थात् जहा पर किञ्चित् भी इच्छा या राग भाव है मिथ्यादृष्टिपन है ऐसा आचार्यों ने कहा है । अस्तु

जैसा यहा पातनिका मे बताया था कि ज्ञानी जीव का स्वामीपना अर्थात् अधिकार तो एक शात रस पर होता है किन्तु अध्यात्म के विषय मे इस नाटकके प्रस्तावमे नवो रसो का स्वामीपना है ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार भ्रजानी के पाच तथा ज्ञानी के पाच मिलाकर दश गाथाओ मे यह बन्ध अधिकार का पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बतलाते हैं कि वीतरागरूप स्वस्थ भाव को छोड़कर हिंस्य हिंसक भाव रूप से परिणमन करना यह भ्रजानी जीव का लक्षण है उससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण है —

जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहि सत्तेहि ।

सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६३॥

यो मन्यते हिनस्मि हिंस्ये च परं सत्त्वं ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२६३॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है कि मैं किसी पर जीव को मार रहा हूँ या मार सकता हूँ और मैं पर जीवो के द्वारा मारा जा रहा हूँ या मारा जा सकता हूँ अर्थात् कोई भी मुझे मार रहे है या मार सकते है ऐसा समझने वाला जीव भ्रजानी है । ज्ञानी का विचार इससे उलटा होता है ॥ २६३ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहि सत्तेहि सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानह हिनस्मि, परं मत्तैरह हिंस्ये इति च योसो परिग्राम स निश्चितमज्ञान स एव बधहेतु, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी । णाणी एत्तोदु विवरीदो एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलामानाममुखदु ख शत्रु, मित्रनिन्दाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रत स ज्ञानीत्यर्थः ।

अथ कथमयमध्यवसाय पुनरज्ञान ? इति चेत्—

टीका — (जो मण्णदि हिंसामिय हिंसिज्जामिय परेहि सत्तेहि सो मूढो अण्णाणी) जो कोई ऐसा मानता है कि मैं पर जीवो को मारता हूँ तथा पर जीवो के द्वारा मैं मारा जा रहा हूँ, तो उसका यह भाव-विचार नियम से भ्रजान भाव है जो कि बध का कारण है । इस प्रकार जिस किसी के भी यह विचार भाव होता है वही भ्रजानी मूर्ख होता है (णाणी एत्तो दु विवरीदो) किन्तु जो इससे उलटे विचार वाला है जा कि जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख, शत्रु, मित्र तथा निन्दा और प्रशंसा आदि विकल्पो मे राग द्वेष नहीं करता हुआ शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुख उसका आस्वादन करना ही है स्वरूप जिसका ऐसे भेदज्ञान मे तल्लीन होता है अर्थात् उपर्युक्त समभाव से तन्मय होता है वह ही ज्ञानी जीव होता है ॥२६३॥

अब यह विचार ध्यान क्यों है सो बताते हैं -

आडक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरोंहि पण्णत्तं ।

आडं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसि ॥२६४॥

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥२६४॥

अर्थ व टीका—जब कि जीवों का मरण उनकी आयुके क्षयसे होता है ऐसा ही जिनेश्वर देवने कहा है । जब उनकी आयु का तू अपहरण नहीं कर सकता (और तेरी आयु का अपहरण वे नहीं कर सकते हैं) तो कैसे तुम्हारे द्वारा उनका मरण किया गया ॥२६४॥

तात्पर्यवृत्ति—आडक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरोंहि पण्णत्तं आयुक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं । आडं ण हरेसि तुमं कहते मरणं कद तेसि तेषामायुं कम च न हरमि त्वं तस्यायुषं स्वीकृत्योगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं ते त्वया तेषां मरणं कृतमिति ।

आडक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरोंहि पण्णत्तं ।

आऊं न हरंति तुहं कहते मरणं कयं तेहि ॥

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

आयुर्न हरंति तव कयं ते मरणं कृतं तैः ॥

अर्थ—जीवों का मरण आयु कर्म के क्षय में होता है ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है क्योंकि पर जीव तेरा आयु कर्म नहीं हरते इसलिए उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ।

(यह उपरोक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति में नहीं पर आत्मव्याप्ति को टीका में है)

विशेषार्थ—प्रत्येक प्राणी का जीवन उसकी आयु के ऊपर निर्भर है । यदि आयु निश्चय हो चुकी है तो वह कभी जीवित नहीं रह सकता और अभी शेष है तो वह किसी का मारा नहीं मर सकता क्योंकि कोई भी किसी की आयु का हड़प नहीं सकता है, वह तो उपभोग के द्वारा ही समाप्त होगी । हा, उसका उपभोग दो प्रकार से होता है उन्मत्त से और उदीरणा में । उदय से आयु का उपभोग होना समुचित मरण है और उदीरणा में उपभोग अकाल मरण कहलाता है परन्तु आयु का उपभोग होकर उसकी समाप्ति होना ही चाहिये तभी मरण होगा अन्यथा नहीं । यही निमित्त की बात सो निमित्त मिलने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होती तो किसी की साधारण निमित्त में भी मृत्यु हो जाती है तो तो कोई साधारण चाकू की चोट से ही मर जाता है तथा मरने वाला बिना चोट खाये भी मर जाता है । अतः ऐसे अनियमित निमित्त पर जानी महत्व नहीं देता है । शकान्तो फिर आपके कहने में हम

कुछ भी करते रहें बले ही बाल मीचकर भी बले तो कोई दोष नहीं है। उत्तर—हे भाई ! कुछ भी क्यों करते रहे। करना तो भ्रजान भाव है, बन्ध करने वाला है। इसके स्थान पर यो कहो कि कुछ भी नहीं करे निर्विकल्प समाधि में लग कर आत्म तल्लीन होकर नवीन बन्ध न होने से ज्ञानी कहलाने का अधिकारी बने रहे उस अवस्था में चाहे कुछ भी हो हमारा उसमें क्या चारा है यदि कोई भरता है तो अपने प्रायु की समाप्ति पर, और कोई जीवित है तो अपने प्रायु के बल पर पर क्योंकि हमारा तो उधर उपयोग ही नहीं है। परन्तु समाधि से अग्रुत होने पर यदि बहाविकल्प आवे तो उसे मारने का विकल्प न करके बचाने का विकल्प करना चाहिए जैसा कि बालि मुनि ने या विष्णुकुमार मुनि ने किया था ताकि कर्म बन्ध भी हो तो वह शुभ हो अनन्त ससार के कारणभूत प्रशुभ कर्म बन्ध से बच जावे।

जीवन का अध्यवसाय भी भ्रजान है सो बताते हैं—

जो मण्णदि ज वेमि य जीविज्जामि य परेह सत्तेहि ।

सोमूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरं सत्त्वः ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है—विचारता है कि मैं पर जीवो की जीवित रखता हूँ और ये दूसरे जीव भी मुझे जीवित रखते हैं तो वह मूढ है भ्रजानी है। ज्ञानी जीव तो इससे उलटा मानता है। (यह उपयुक्त गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका में नहीं है पर आत्मव्यक्ति की टीका में है)

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सम्बण्हू ।

आऊं च ण देसि तुमं कहं त ये जीवियं कयं तेसि ॥२६५॥

✽ आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सम्बण्हू ।

आऊं च ण दिति तुं ह कहं णु ते जीवियं कयं तेहि ॥

प्रायुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।

प्रायुश्च न वदसि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥२६५॥

प्रायुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः

प्रायुश्च न वदति तुम्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥

अर्थ—जीव अपनी प्रायु के उदय से ही जीवित है ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। सो हे भाई ! तू पर जीव को प्रायु तो देता नहीं है तो तूने उन जीवो को जीवित कैसे किया ? तथा पर जीव भी तुझे प्रायु नहीं दे सकते तो उन्होंने भी तुझे जीवित किया यह भी कैसे माना जा सकता है ? अर्थात् नहीं माना जा सकता ॥ २६५ ॥

✽ (यह गाथा तात्पर्यवृत्ति की टीका में नहीं है)

तात्पर्यवृत्ति—आउउदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू आमुत्तयेन जीवति जीव एव भणति सर्वता । आउ च ण देसि तुम कहं तए जीविद कद तेसि आयु कर्म च न ददासि त्व तेषां जीवानां तस्यायुष स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपाज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतं ? न कथमपि । किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसचित्तमश्रुत्रिगुणत्रिगुतिसमाधौ स्थातव्यं तावत् । तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन, अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चितयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, ग्रहं निमित्तमाश्रमेव जातं इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः ।

अथ दुःखमुक्त्वपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति—

टीका—(आउउदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू) प्रत्येक जीव अपनी आयु के उदयसे जीवित है । इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं तू (आउ च ण देसि तुम कहं तये जीविय कय तेसि) आयु कर्म ता उन्हे देता नहीं है क्योंकि उनकी आयु तो उनके शुभ तथा अशुभ परिणामों के अनुसार उपजी है तो फिर तूने उन्हे कैसे जीवित कर दिया । अर्थात् किसी भी प्रकार जीवित नहीं किया । इसलिये हो सके जहां तक इन सब विकल्पों को छोड़कर ज्ञानी जीव को स्वसंबेदन ही है लक्षण जिसका ऐसी त्रिगुप्ति रूप समाधि में लगा रहना चाहिये और जब इसका अभाव हा जाय अर्थात् उसका उपयोग उस समाधि से हट जावे तो उस असमर्थ अवस्था में प्रमाद के कारण से मैं इस जीव को मार रहा हूँ या जिला रहा हूँ “ऐसा विकल्प आवे तो मन में ऐसा विचारना चाहिए कि इसके ऐसा होने में प्रधान कारण इसके शुभ तथा अशुभ कर्म का उदय है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ, ऐसा विचार कर अपने मन में राग और द्वेष रूप अहंकार नहीं करना चाहिए इसका यही तात्पर्य है ॥२६५॥

आग कहते हैं कि मुप आग दुःख भी निश्चय से अपने ही कर्मों के उदय से हाते है—

जो अप्पणादु मण्णदि दुःखिदसुहिदं करेमि सत्तेति ।

सः मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो ॥२६६॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितं सुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरोतः ॥२६६॥

अर्थ—जो जीव अपने मन में ऐसा समझता है कि मैं उन पर जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ, तो ऐसा विचार करने वाला जीव मूढ़ है अज्ञानी है ज्ञानी का विचार तो इसमें उलटा होता है ॥२६६॥

तात्पर्यवृत्ति—जो अप्पणादु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति य कर्ता आत्मनः सबंधित्वेन मन्यते कि ? दुःखितसुखितान् मत्वात् कर्णम्यह । सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानं स एव ब्रह्मकारण स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा । एतस्माद्विपरोतं परमोपेक्षामयमभावनापरिणामभेदरत्नप्रथमसंगे भेदज्ञाने स्वतो ज्ञानीति ।

अथ परस्य सुखदुःखं करोमीत्यवयवसायकं कथमज्ञानी जान ? इति चेत्—

टीका—(जो अप्पणा दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति) जो कोई अपने मन में ऐसा मानता है कि मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ (सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु

विषयी) यह उपर्युक्त ग्रहकार रूप परिणाम नियम से अज्ञान भाव है जो कि बंध का कारण है और यह भाव जिसके है वह अज्ञानी बहिरात्मा है ज्ञानी जीव तो इससे विपरीत विचार वाला है वह परम उपेक्षा रूप सर्वथा निर्बलरूप जो समयभाव उसकी भावना में परिणत हो रहने वाला अभेद रत्नत्रय ही है लक्षणा जिसका ऐसे भेदज्ञान में स्थित होता है ॥२६६॥

अस्तु मैं पर को सुख या दुःख दे सकता हूँ इस प्रकार के परिणाम करने वाला अज्ञानी कैसे है ? तो कहते हैं -

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता ।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कदा ते ॥२६७॥

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता ।

कम्मं च ण देसि तुम कहं तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२६८॥

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सव्वे ।

कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं दुहिदो कदो तेहिं ॥२६९॥

कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सत्त्वाः ।

कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२६७॥

कर्मनिमित्तं सर्वे दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सत्त्वाः ।

कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं सुखितः कृतास्तैः ॥२६८॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।

कर्म च न ददासि त्वं कथं त्वं दुःखितः कृतस्तैः ॥२६९॥

अर्थ - अग्ने अपने कर्मोदय के निमित्त में ही सब जीव सुखी या दुःखी होते हैं ऐसा देखने में आ रहा है और तू उनको कर्म देता नहीं तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी या दुःखी किये गये । अब वे सब जीव तुम्हें कर्म तो देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुम्हें दुःखी किया यह भी कैसे बन सकता है । तथा उन्होंने तुम्हें सुखी किया यह भी कैसे कहा जा सकता है ? कभी नहीं कहा जा सकता ॥२६७-२६८-२६९॥

तात्पर्यवृत्ति — कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता यदि चेतु कर्मोदयनिमित्त सर्वे सत्त्वा जीवा सुखितदुःखिता भवन्ति ? कम्मं च ण देसि तुमं दुःखिदसुहिदा कहं कदा ते तहिं शुभाशुभकर्मं च न ददासि त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिता कृता ? न कथमपि ।

कम्मणिमित्तं सव्वे दुःखिदसुहिदा हवन्ति जदि सत्ता यदि चेतु कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवा सुखितदुःखिता भवन्ति **कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं** तहिं शुभाशुभकर्मं च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यं कथं त्वं दुःखीकृतस्तैः ? न कथमपि ।

कम्मोदयेण जीवा दुःखिदमुहिदा हवति जदि सव्वे यदि चेत् कम्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखित सुखिता भवति कम्मं च ण देसि तुम कह त दुहिदो कदो तेहि तहि शुभाशुभकर्म च न ददासि त्व न प्रयच्छसि तेम्मः कय दुखीकृतस्स ? न कयमपि ।

किं च तत्त्वज्ञानी जीवन्मावत् अन्त्यर्हम् परजीवाय सुखदुःखे ददामि, इति विकल्प न करोति । यदा पुनर्निविकल्प समाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चित्तयति—अस्य जीवस्यातरणपुण्यपापोदयो जात अह पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हपविपादपरिणामेन गर्बं न करोति, इति । एव परजीवानां जीवित-मरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यानमृष्यतया गाथासमकेन द्वितीयस्थल गत ।

अथ परोजन परस्य निश्चयेन जीविनमरणमुखदुःखं करानीति योसौ मन्यते स बहिरात्ममिति प्रतिपादयति—

टीका —(कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदमुहिदा हवति जदि सत्ता) यदि अपने आपने कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सब जीव सुखी और दुःखी होते हैं, (कम्म च ण देसि तुम दुक्खिदमुहिदा कह कदा ते) अतः जबकि वह कर्म तो उन्हें तुम देते नहीं हो फिर तुमने उन्हें दुःखी और सुखी कर दिये यह कैसे कहा जावे, नहीं कहा जा सकता है । (कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदमुहिदा हवति जदि सत्ता) और जब कि कर्मोदय को निमित्त लेकर ही सब समारी जीव दुःखी और सुखी होते हैं (यह नियम अटल है) (कम्म च ण देसि तुम कह त सुहिदो कदो तेहि) और इन समारी जीवों ने जब वह कर्म तुम्हें दिया नहीं फिर उन्होंने तुम्हें सुखी बना दिया यह कैसे बन सकता है ? (कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदमुहिदा हवति जदि सव्वे) कर्म के उदयसे ही सब जीव सुखी और दुःखी होते हैं (कम्म च ण देसि तुम कह त दुहिदो कदो तेहि) एव जब कि कर्म उन्होंने तुम्हें दिया ही नहीं उन्होंने फिर हमें दुःखी बना दिया यह भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता । इस प्रकार सोच समझकर तत्त्व ज्ञानी जीव 'मैं दूसरों का सुख दुःख दे सकता हूँ अथवा वे मुझे सुख दुःख दे सकते हैं' ऐसा विकल्प ही नहीं करता (वह निविकल्प समाधि में रत होरहता है) । जब कि प्रमाद से, उस समाधि के टूट जाने पर मैं किसी को सुखी या दुःखी करता हूँ इत्यादि विकल्प आता है तब वह मनमें ऐसा विचारता है कि इस जीव के ऐसा ही अतरण पुण्य या पाप का उदय हो आया है, उसी से ऐसा हुआ है, मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ । इस प्रकार विचार कर मनमें हर्ष विषाद परिणामों के द्वारा किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता ॥ २६७-२६८-२६९ ॥

विशेषार्थ —प्रद्युम्नकुमार को दुःखी करने का व मारने का कितना प्रयास किया गया परन्तु उसके पुण्यके उदयसे जहाँ भी गया वहाँ लाभ ही हुआ । इसलिए मानना पड़ता है कि किसी के भी हानि, लाभ, सुख या दुःख होता है उसके पुण्यके अनुसार ही होता है । अतः ज्ञानी जीव तो ऐसी उल-भन मे न पड़कर अपनी शुद्धात्मा के चित्तवन द्वारा पूर्व कर्मों को हलका करने में ही लगा रहता है । हा, जब वह समाधि से च्युत हो जाता है तब उस प्रमत्त समयत दशामे किसी के भी लिए अशुभ निमित्त न होकर शुभ निमित्त मात्र होने के कारण अपना कालक्षेप करता है ।

इस प्रकार दूसरे जीवों को जीवन दान करना, मार डानना, सुख देना और दुःख देना आदि का विचार करने वाली सात गाथाओं द्वारा यह दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ।

अब इसके आगे यह बताते हैं कि दूसरा कोई भी दूसरे को जिला सकता है मार सकता है सुख दे सकता है इस प्रकार जो मानता है वह निश्चय से बहिरात्मा होता है—

जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदु णहु मिच्छा ॥२७०॥
जोण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो ।
तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा ॥२७१॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ॥२७०॥
यो न म्रियते न च दुःखितो सोपि च कर्मोदयेन खलुजीवः
तस्मान्न मारितस्ते दुःखितो चेति न खलु मिथ्या ॥२७१॥

अर्थ—जो कोई भी मरता है या दुखी होता है वह सब अपने कर्म के उदयानुसार ही होता है अतः मैंने अमुक को मार दिया या दुखी कर दिया इस प्रकार का विचार है भाई क्या मिथ्या नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है । तथा जो नहीं मरता है या दुखी नहीं हो रहा है वह भी सब अपने कर्म के उदय से ही है इसलिये मैंने नहीं मरने दिया या मैंने दुखी भी नहीं होने दिया यह भी तेरा विचार क्या मिथ्या नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है ॥२७०-२७१॥

तात्पर्यवृत्ति—जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते तह्मा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा तस्मात्कारणात्, मया मारितो दुःखीकृतश्चेति त्वामिप्रायोय न खलु मिथ्या ? किन्तु मिथ्यैव । जो ण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति कोऽपि ? जीव खलु स्फुट स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव तह्मा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि णहु मिच्छा तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दुःखीकृतश्चेति त्वामिप्रायोय न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव अनेनापव्यानेन स्वस्थमावाच्युतो भूत्वा कर्मैव ब्रह्मातीति भावार्थः ।

अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बन्धकारण भवतीति कथयति—

टीका—(जो मरदि जोय दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो) जो कोई मरता है अथवा दुःखी होता है वह सब अपने कर्म के उदय से ही होता है अतः (तम्हा दु मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने अमुक को मार दिया या अमुक को दुखी कर दिया यह तेरा विचार है, हे आत्मन् ! क्या भू ठा नहीं है ? अपितु भू ठा ही है । तथा (जो ण मरदि ण य दुहिदो सोविय कम्मोदयेण खलु जीवो) जो नहीं मरता है या नहीं दुखी होता है वह भी अपने कर्मोदय के द्वारा ही होता है ऐसा स्पष्ट है (तम्हा ण मारिदोदे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा) इसलिए मैंने उसे नहीं मरने दिया अथवा मैंने उसे दुखी नहीं होने दिया इस प्रकार का विचार हे आत्मन् ! क्या भू ठा नहीं है ? अपितु यह भू ठा ही है ।

प्रत्युत इस अपध्यान के द्वारा तू अपने स्वस्थ भाव से च्युत होकर कर्म बन्ध ही करेगा यह इसका तात्पर्य है ॥२७०-२७१॥

विशेषार्थः—यह सब कथन उन त्यागी तपस्वी लोगों को लक्ष्य में लेकर किया गया है जिनका जीवन निश्चयनयन के ऊपर अवलम्बित है और शुद्धात्मा के ध्यान से ही प्रयोजन रह गया है। यदि वे इस उलभन में पड़ते हैं तो आर्त्तभाव और रोद्रीभाव को अपनाकर अपने ध्येय से च्युत होते हैं अतः मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहलाने के अधिकारी बन जाते हैं। बहिरात्मा शब्द के दो अर्थ हैं (१) पहला बाह्य शरीर पर हो है आत्मबुद्धि जिसकी (२) दूसरा बाह्य अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त इन दृश्यमान वस्तुओं पर मन है जिसका। आत्मा शब्द का अर्थ मन भी होना है सो यहां पर दूसरा अर्थ विवक्षित है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि शब्द के भी दो अर्थ होते हैं—(१) पहला मिथ्या अर्थात् झूठी या उल्टी है दृष्टि अर्थात् श्रद्धा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि (२) दूसरा मिथ्या अर्थात् भूलभरी दृष्टि अर्थात् विचार धारा जिसकी वह मिथ्यादृष्टि। यहां पर मिथ्यादृष्टि शब्द का भी यह दूसरा अर्थ ही विवक्षित है।

आगे कहते हैं कि पूर्व के दो सूत्रों में कहा हुआ मिथ्याज्ञान रूपी भाव मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण होता है —

एसा दु जामदी दे दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

एसा दे मूढमदी सुहासुह बंधदे कम्म ॥२७२॥

एषा तु या मतिस्ते दु खितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥२७२॥

अर्थः—हे आत्मन् ! तेरी जो ऐसी बुद्धि है कि मैं इन प्राणियों को सुखी या दुखी करता हूँ, यह तेरी मूढ़ बुद्धि है, मिथ्या बुद्धि या मोह बुद्धि है यह शुभ या अशुभ कर्मों को बध्ने वाली है ॥२७२॥

तात्पर्यवृत्ति—एसा दु जा मदी दे दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति एसा या मतिस्ते तब दु खितसुखितान् करोम्यह सत्त्वान् एसा दे मूढमदी सुहासुह बंधदे कम्म सेवा भवदीया मति हे मूढमते स्वस्थमायच्युतम्य शुभाशुभ कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति ।

अथ निश्चयेन रागाद्यध्वंसानभेव बन्धहेतुमवनि इति प्रणिपादनरूपेण तमेवार्थं हृदयनि—

टीकाः—(एसादे दु जा मदी दे दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति) हे आत्मन् ! मैं इन जीवों को सुखी या दुखी करता हूँ या कर सकता हूँ इस प्रकार की बुद्धि है (एसा दे मूढमदी सुहासुह बंधदे कम्म) यह तेरी मूढ़बुद्धि है जो कि तुझे स्वस्थभाव से दूर रख कर तेरे शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करने वाली है और इसका कुछ भी कार्य नहीं है ।

यह रागद्वेष रूप अध्वयसान भाव ही बन्ध करनेवाला है ऐसा आगे बतलाते हैं ।

दुखिखद सुहिदे सत्ते करेमि ज एस मज्झवसिदंते ।

तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बध्ग होदि ॥२७३॥

मारेमि जीवावेमिय सत्ते जं एव मज्झवसिदंते ।

तं पाव बंधगं वा पुण्यस्य य बंधगं होदि ॥२७४॥ (युग्मम्)

दुःखित सुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥२७३॥

मारयामि जीवयामि च सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।

तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य च बंधकं वा भवति ॥२७४॥

अर्थ—मैं इन ससारी प्राणियों को सुखी या दुखी करता हूँ या कर सकता हूँ तथा मार सकता हूँ या जिला सकता हूँ, इस प्रकार का जो अध्यवसान भाव है वही तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण होता है ॥ २७३-२७४ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—दुखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसितं रागाद्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावना-
प्युत्पत्त्यं सत्तं पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बंधकारणं भवति न चान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुं मायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य सुखदुःखपरिणामस्य जीवस्य स्वोपाजितशुभाशुभकर्माधीनत्वान् इति ।

मारयामि जीवयामि सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानुष्ठानानुष्ठानशून्यस्य सत्तं पापस्य पुण्यस्य वा तदेव बंधकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुं मायाति । कस्मात् ? इति चेत् तस्य परजीवस्य जीवितमरणोदये स्वोपाजितकर्मोदयोधीनत्वात् इति ।

अथैव निश्चनयेनहिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायात विचार्यमाण—

टीका—मैं इन दृश्य मान जीवों को दुखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ इस प्रकार जो अध्यवसित अर्थात् रागादिरूप विकार भाव तेरे होता है वही उस समय शुद्धात्मा की भावना से गिरा हुआ होने के कारण तेरे पाप या पुण्य के बंध का कारण बनता है । वही तुझे दुःख देता है इसके सिवाय और कोई भी तुझे दुःखादि देने के लिये नहीं आता क्योंकि जीव के सुख या दुःखरूप परिणाम होता है वह अपने से ही उत्पन्न किये हुए शुभाशुभरूप कर्मों के आधीन होता है । तथा मैं पर जीवों को मार रहा हूँ, मार सकता हूँ, एवं जिला रहा हूँ या जिला सकता हूँ ऐसा जो तेरा अध्यवसान है वह शुद्धात्मा के श्रद्धान्, ज्ञान और अनुष्ठान से रहित होने वाले तुझको केवल मात्र पाप व पुण्य के बंध का करने वाला है और तेरे इस विचारसे और कुछ भी होना जाना नहीं है क्योंकि पर जीव का मरना और जीना आदि तो उसीके उपाजित किये हुए कर्म के आधीन होता ॥ २७३-२७४ ॥

आगे कहते हैं कि निश्चयनय से विचार किया जाय तो यही हिंसा करने रूप जो द्वेष रूप अध्यवसान है सो ही हिंसा है —

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि मा व मारेहिं ।

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२७५॥

अध्यवसितेन बंधः सत्वात् मारयतु मा वा मारयतु ।

एष बंधसमाप्तो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२७५॥

अर्थ—निश्चयनय का कहना है कि जीवों को मारो या न मारो किन्तु जीवों के मारने रूप भाव से कर्मों का बंध तो होता है । यही बधनत्व का संक्षेप है ॥ २७५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—अध्यवसितेन बधो सत्ते मारे हि माद मारे हि अध्यवसितेन परिणामेन बधो भवति, सत्वात् मारय मा वा मारय एसो बधसमाप्तो एष प्रत्यक्षीभूतो बधसमाप्त बधसंक्षेप । तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानन्दकलक्षणनिरविकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमाप्त । केया ? जीवानां शिच्छयणयस्य जीवानां निश्चयनयस्येति । एव जीवितमरणसुखदुःखानि परेषा करोमत्वध्यवसाय एव बधकारण, प्राणव्यपरोक्षादिव्यापारो भवतु मा मा भवतु । एव सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यान त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रवद्वेकेन तृतीयस्थस्य गत ।

अथ हिमाध्यवसान पूर्वमुक्त तावत् इदानी पुन असत्याद्यव्रताध्यवसानं पाप सत्याद्यवसानैश्च पुण्य बधो भवतीत्याख्याति—

टीका—(अध्यवसितेन बधो सत्ते मारे हि मा व मारेहि) किसी जीव को मारो या न मारो परन्तु जहां किसी को मारने का विकल्प हुआ कि उस विकल्प (परिणामसे) से हिंसा होकर कर्मों का बंध होता ही है । (एसो बधसमाप्तो जीवानां शिच्छयणयस्य) जीवों के लिए निश्चयनय से यही प्रत्यक्षरूप बंध तत्त्व का संक्षेप है और इससे विपरीत उपाधि रहित चिदानन्दमई एक लक्षण को रखने वाली विकल्प रहित समाधि से मोक्ष होता है । यह मोक्ष तत्त्व का संक्षेप कथन है ॥ २७५ ॥

विशेषार्थ—श्री जिन शासन में मुख्य दो नय है—एक निश्चयनय व दूसरा व्यवहार नय । निश्चयनय स्वावलम्बी है स्वयं आत्मनिर्भर करता है और व्यवहार नय परावलम्बी है, बाह्य अन्त्य पदार्थों के आश्रय पर टिकता है । व्यवहारनय, जो कि मुख्यतया गृहस्थों के द्वारा अपनाने योग्य है—कहता है कि जब किसी के द्वारा कोई जीव मारा या पीटा जाता है, वहां हिंसा होती है क्योंकि उसके भाव को कौन जानता है कि मारने का उसका भाव था या नहीं । किन्तु निश्चयनय जो कि मुख्यतया ऋषियों के द्वारा ग्राह्य है अपने अधिकारियों को कहता है कि जब तुमने बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग ही कर दिया तो फिर बाह्य हिंसा करने की आवश्यकता भी क्या रह गई ? कुछ भी नहीं । परन्तु हे भाई ! मन बड़ा ही चपल, है अच्छा विचार करते करते ही बुरे विचार पर भी चला जाता है अतः इसे सभालकर रखो और दूसरे को मार डालने, या दुःख देने आदि का भी विचार कभी मत आने दो । यदि इस प्रकार के विचार भी मन में आगये तो तुम फिर हिंसा के दोष में बच नहीं सकते । फिर तुम यह कहकर कि हमने किसी भी जीव को मारा तो है नहीं ऐसा कहने से हिंसा से छूट नहीं सकते हो । इसलिए तुम्हें तो सदा ही स्वस्थ भाव में रहना चाहिए अर्थात् ज्ञान ध्यान में ही रहना चाहिए । इसी प्रकार मैं दूसरे जीवों को जीवन दान देना, मार डालना एवं सुख दुःख देना आदि कर सकता हूँ यह सब अध्यवसान है विचार हूँ वही बन्ध का कारण है किसी के प्राणों का अपहरण करनेरूप आदि चेष्टा हो, भले ही मत हो । ऐसा जानकर रागादि दुर्भावरूप अपध्यान का त्याग करना चाहिए ।

इस प्रकार का व्याख्यान करते हुए यह तीसरा स्थल ब्रह्म गाथाओं में पूर्ण हुआ ।

जिसमें हिंसाध्यवसान की बात कही गई वह विषय पूर्व में वर्णित कर दिया गया, अब आये यह बताते हैं कि असत्यादि अन्नत रूप विचारों से तो पाप बन्ध होता है और सत्य बोलना आदि विचारों से पुण्य बंध होता है—

एवमलिये अदत्ते अबंधचेरे परिग्गहे चेव ।

कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पांव ॥२७६॥

तह्य अचोज्जे सच्चे बंधे अपरिग्गहत्तणे चेव ।

कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२७७॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पापं ॥२७६॥

तथापि चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।

क्रियतेऽध्यवसानं यत्नेन तु बध्यते पुण्यं ॥२७७॥

अर्थ—जिस प्रकार हिंसा के विषय में किया हुआ विचार पाप बन्ध का कारण है उसी प्रकार कूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के विषय में किया हुआ विचार भी पाप बन्ध का कारण होता है जिस प्रकार अहिंसा के विषय में किया हुआ विचार पुण्य बंध करने वाला है वैसे ही सत्य बोलने चोरी न करने, ब्रह्मचर्य पालने और अपरिग्रह के विषय का विचार भी पुण्य के बंध का करने वाला है ॥२७६-२७७॥ यहाँ पर मूलार्थ और टीकार्थ में कोई अन्तर नहीं है ।

सात्पर्यवृत्ति —एवमसत्येऽचौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता ।

यथाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति अन्तर्गतविषये पुण्यपापा-
बधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वय गत । अतः परमिदमेव सूत्रद्वय परिणाममुद्धमत्वेन त्रयोवक्त्रगाथाभिनिर्विहस्योति तद्यथा—

बाह्य वस्तु रागादि परिणामकारण परिणामवस्तु बंधकारणमित्यादिदयति—

टीका —यहाँ मूलार्थ और टीका में कोई अन्तर नहीं है

विशेषार्थ —आचार्य श्री यहाँ बतला रहे हैं कि अन्नत रूप प्रवृत्ति करने में पाप बन्ध होता है और अन्नत रूप सदवस्था में पुण्य बंध होता है ।

शंका—पहले तो आचार्य श्री बतला आये हैं कि मात्र सम्यग्दर्शन होने पर ही किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता और यहाँ कहा जा रहा है कि महाव्रत अवस्था में भी पुण्य बंध होता है सो कुछ समझ में नहीं आया ।

समाधान—हे भाई, जहाँ आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि को निर्बंध कहा है वहाँ केवल वीतराग सम्यग्दृष्टि को लेकर कहा है जैसा कि 'वृत्तारि विपापे' इत्यादि गाथा से सुस्पष्ट है शेष अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के बन्ध उनके रागानुसार होता ही है क्योंकि राग ही बन्ध का कारण है ।

शका—आपने कहा सो ठीक परन्तु महाव्रतो से भी पुण्य बंध होता है यह कैसे ? क्योंकि फिर जो बन्ध नहीं करना चाहता वह क्या व्रत छोड़ दे ?

उत्तर—हे भाई ! महाव्रतो के दो रूप होते हैं—(१) सत्प्रवृत्तिरूप (२) निवृत्ति रूप । जैसे कि हिसा करना या किसी को भी कष्ट देना यह पाप है, अशुभ बन्ध का कारण है किन्तु हिसा नहीं करना अर्थात् सभी के सुखी होने की भावना करना यह सत्प्रवृत्तिरूप महाव्रत है यह पुण्य बंध करने वाला है और इसी का सम्पन्न रूप किसी से भी डरने डराने रूप भय सज्ञा से रहित स्वयं निर्भय होना यह पुण्य और पाप इन दोनों से भी दूर रहने वाला है । इसी प्रकार झूठ बोलना पाप, सत्य बोलना पुण्य किन्तु सर्वथा नहीं बोलना अर्थात् मौन रहना सो पुण्य और पाप इन दोनों से भी रहित । किसी को भी बिना दी हुई वस्तु लेना सो चोरी पाप, और उसका त्याग किन्तु श्रावक के द्वारा भक्ति पूर्वक उचित रूप से दिया हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करना सो पुण्य और आहार सज्ञा से रहित होना सो पुण्य व पाप इन दोनों से भी रहित । व्यभिचार तो पाप तथा स्त्री त्याग रूप ब्रह्मचर्य सो पुण्य किन्तु मैथुन सज्ञा से रहित होना यह पुण्य और पाप से रहित । इस प्रकार परिग्रह पाप, परिग्रह त्याग पुण्य किन्तु परिग्रह सज्ञा का नहीं होना सो शुद्ध रूप इस प्रकार महाव्रतो का पूव प्रारम्भात्मक रूप शुभ किन्तु उन्हीं का ही अपर रूप जो कि पूर्णतया उदासीनतामय एव चारो प्रकार की सज्ञाओं से भी रहित होता है । वह शुद्ध अतः प्रबन्ध कर होता है ऐसा जानना ।

इस प्रकार अव्रत पाप बंध करने वाला व व्रत पुण्य बंध करने वाला है ऐसा कथन करने वाली दो गाथाये पूर्ण हुई ॥२७६-२७७॥

अब इसके आगे परिणामों की मुख्यता से इन्हीं दो गाथाओं का तेरह गाथाओं से विशेष वर्णन करते हैं उममे पहले यह बताते हैं कि बाह्य वस्तु नो रागादि परिणामों के लिए कारण होती है नया रागादिरूप परिणाम बंध का कारण होते हैं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।

ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥२७८॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवाना ।

न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ॥२७९॥

अर्थ—इन सप्तागी जीवों के जो रागादि रूप अध्यवसान भाव होता है वह बाह्य वस्तु का निमित्त लेकर होता है वह अध्यवसान भाव ही बन्ध का कारण होता है किन्तु वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती ॥२७८॥

तात्पर्यवृत्ति—वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होइ जीवाण बाह्यवस्तुचेतनाचेतन पंचेन्द्रियविषय भूत प्रतीत्य आश्रित्य जीवाना तत्प्रसिद्ध रागाद्यध्यवसान भवति ण हि वत्थुदो दु बंधो न हि वस्तुन सकाशाबधो भवति । तद्विकेन बंध ? अज्झवसाणेण बंधोति वीतरागपरमात्मतत्त्व-मिश्रं न रागाद्यध्यवसानेन बंधो भवति वस्तुन सकाशाबधो कथं न भवतीति चेत् धन्यवद्व्यतिरेकाभ्या व्यभिचारात् । तथा हि बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बंधो भवतीति—अन्यथो नास्ति, तदभावे बंधो न भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति । तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्याग ? इति

चेत् रागाद्यध्यवसानानां परिहरार्थं । अथश्च भावार्थः । बाह्यपञ्चैवविषयभूते वस्तुनि सति, अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति तस्मादध्यवसानां बद्धोपबन्धोत्तिपारपणं वस्तु, बन्धकारणमवति न च साक्षात् । अध्यवसानं पुननिश्चयेन बन्धकारणमिति ।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्व दर्शयति—

टीका.—(वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होदि जीवाण) जीवों के रागादिरूप से प्रसिद्ध होने वाला विकारी भाव इन पचेन्द्रियों के विषयभूत चेतन और अचेतनात्मक बाह्य वस्तुओं के आश्रय से होता है (ण हि वत्थुदो दु बधो) फिर भी वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती । फिर बन्ध का कारण क्या है ? कि (अज्झवसाणेण बधोत्ति) बन्ध तो धी बीतराग परमात्मा तत्त्व से भिन्नता रखने वाला रागादिरूप अध्यवसान भाव विकारी परिणाम से होता है । वस्तु से बन्ध क्यों नहीं होता है ? ऐसा कहो तो उसका समाधान यह है कि वस्तु के साथ में बन्ध का अन्वय व्यतिरेक पूरी प्रकार नहीं बैठता उसमें व्यभिचार आता है । क्योंकि जहां बाह्य वस्तु हो वहां बन्ध भी अवश्य हो इस प्रकार तो अन्वय और जहां बाह्य वस्तु न रहे वहां बन्ध भी न होवे इस प्रकार का व्यतिरेक भी नहीं पाया जाता (देखो, एक समयी यत्ताचार से चल रहा है वहां सहसा टकराकर कोई जीव मर गया तो वहां बन्ध होने पर भी समयी के बन्ध नहीं, इसी प्रकार किसी को मारने के लिए किसी ने तलवार चलाई किन्तु उसके लगी नहीं वह बच गया तो बन्धों नहीं हुआ फिर भी उस तलवार चलाने वाले के कर्म बन्ध हो ही गया) इस पर शका होती है कि फिर बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि रागादिरूप अध्यवसान भाव को न होने देने के लिए बाह्य वस्तु के त्याग की आवश्यकता है क्योंकि पचेन्द्रियों की विषयभूत बाह्य वस्तु के होने पर ही अज्ञान भाव के कारण रागादिरूप अध्यवसान भाव होता है जिस अध्यवसान भावसे नूतन कर्म बन्ध होता है । इस प्रकार परम्परा से बाह्य वस्तु भी कर्म बन्ध का कारण होती है किन्तु साक्षात् बाह्य वस्तु ही बन्ध का कारण होती हो ऐसा नहीं है अपितु ऐसा माक्षात् सबन्ध तो अध्यवसान के ही साथ में है इसलिए निश्चय से बन्ध का कारण अध्यवसान भाव को ही माना जाता है ॥२७८॥

विशेषार्थ—यहां बाह्य त्याग का समर्थन किया गया है । आचार्य महाराज कहते हैं कि यद्यपि नूतन कर्म बन्ध आत्मा के रागद्वेष विकार भाव से होता है किन्तु वह विकार भाव बाह्य वस्तु के आलम्बन से ही होता है । जैसे कि सुभट है तो उसको मारने या बचाने का विचार हो सकता है किन्तु बारूक के पुत्र को मारने या बचाने का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि वह है ही नहीं । एवं जब बाह्य वस्तु का आलम्बन लेकर ही विकार भाव होता है तब उस विकार भावसे बचने के लिए छद्मस्थ को बाह्य वस्तु का त्याग करना भी परमावश्यक है । जब बाह्य वस्तु का मन, वचन, काय, कृत कारित, अनुमोदना से सर्वथा त्याग करके उनसे दूर हो जायगा तो उसका स्मरण भी कभी नहीं करेगा फिर उसके रागादिरूप विकार भाव कैसे होगा ? इसलिये बाह्य त्याग आवश्यक है ।

आगे बताते हैं कि कर्म बन्ध करनेवाला जो अध्यवसान भाव होता है वह अपना कार्य करने में असमर्थ होता है (अर्थात् मारने का विचार करने पर भी मार नहीं सकता) तब वह झूठा होता है —

दुःखिदमुहिदे जीवे करेमि बांधेमि तह विमोचेमि ।

जा एसो मूढमई गिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२७६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बंधयामि तथा विमोचयामि ।

या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥२७६॥

अर्थ—हे माई ! तेरी जो ऐसी मूढ बुद्धि है कि मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ, बाध सकता हूँ या छुड़ा सकता हूँ वह तेरी माह रूप बुद्धि है, निरर्थक है, मिथ्या हो हे इसमें तथ्य नहीं है ॥२७६॥

सात्ययंबुति—दुःखिदमुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बंधनामि, तथा विमोचयामि जा एसो तुज्झमवो गिरत्थया सा हु दे मिच्छा या एषा तव मति सा निरर्थिका निष्प्रयोजना हु स्फुट वे अहा तत् कारणात् मिथ्या वितथा व्यलोका भवति । कस्मान् ? इति चेत् भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातामातोदयाभावात् सुखदुःखाभाव स्वकीयाशुदुःशाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षभावश्चेति ॥

अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवती चेत्—

टीका—(दुःखिदमुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि) मैं इन जीवों को दुःखी या सुखी कर रहा हूँ, बाध रहा हूँ या छुड़ा रहा हूँ (जा एसो मूढमई गिरत्थया सा हु दे मिच्छा) यह जो तेरी बुद्धि है वह निरर्थक है, कोई भी प्रयाजन मिद्ध करने वाली नहीं है यह स्पष्ट है इसलिये यह मिथ्या है, झूठी है, व्यर्थ है । क्योंकि जब तक उन जीवों को साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय का उदय न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनको सुख या दुःख नहीं हो सकता है । इसी प्रकार जब तक उनका अपना विचार अशुद्ध या शुद्ध न हो तब तक तेरे विचार मात्र से उनका बंध जाना और मुक्त हो जाना नहीं हो सकता है ॥२७६॥

इस पर निम्न प्रश्न करता है यह उपरोक्त अध्यवसान क्रियाकारि क्यों नहीं है—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि ।

मुच्चन्ति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥२८०॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यते कर्मणा यदि हि ।

मुच्यन्ते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तर्हि किं करोषि त्वं ॥२८०॥

अर्थ—जब कोई भी जीव अपने २ अध्यवसान के निमित्त में कर्म में बंध को प्राप्त होता है और मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म से छूटते है (ग्रन्थवा नहीं ऐसा नियम है) तब तेरा विचार क्या काम आया ?

सात्ययंबुति—अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झन्ति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरगादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कम्मणा बध्यन्ते, इति चेत् मुच्चन्ति मोक्खमग्गे ठिदा य ते शुद्धात्मसम्यक्त्व-अदानज्ञानानुचरणरूपमिच्छय रत्नत्रयलक्षणं मोक्षमार्गं स्थिता पुनमुच्यन्ते यदि चेत्ते जीवा किं करोसि तुमं तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसान स्वार्थक्रियाकारि न भवति ।

अथ दुःखिता जीवा स्वकीयपापोदयेन भवति न च भवदीयपरिणामेनेति—

टीका.—(अज्भवसापणमित्त जीवा बज्झति कम्मणा जदि हि) जब कि सब ही ससारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अज्भवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बंध से जकड़ लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है (मुच्चति मोक्खमग्गे ठिदा य ते) शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र्य रूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान से तत्त्वीन होकर मुक्त हो सकते हैं तब (किं करोसि तुम) हे दुरात्मन् ! तू वहां क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं अपितु तेरा विचार तो व्यर्थ ही ठहरता है ॥ २८० ॥

इस प्रकार जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने पाप कर्म के उदय से होते हैं, तुम्हारे विचारानुसार नहीं, यह बतलाते हैं —

कायेण दुःखवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।

सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८१॥

वाचाए दुःखवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।

सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८२॥

मणसाए दुःखवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।

सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८३॥

सच्छेण दुःखवेमिय सत्ते एवं तु जं मदि कुणसि ।

सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८४॥ (चतुष्कम्)

कायेन दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।

सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥२८१॥

वाचा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।

सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिता कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥२८२॥

मनसा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।

सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥२८३॥

शस्त्रेण दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि ।

सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि जीवाः ॥२८४॥

अर्थ—मैं शरीर से प्राणियों को दुःखी करता हूँ यह जो तेरी बुद्धि है वह झूठी है क्योंकि जो जीव दुःखी होते हैं वे अपने २ कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं । मैं वचन से इनको दुःखी करता हूँ यह जो तू बुद्धि करता है

वह सब मिथ्या है क्योंकि जीव दुःखी होते हैं वे सब अपने २ कर्मों के उदय में दुःखी होते हैं । मैं मेरे मन से इन जीवों को दुःखी करता हूँ यह जा तेरी बुद्धि है वह मिथ्या है क्योंकि जीव जो दुःखी होने हैं वे सब अपने २ कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं इसीप्रकार मैं शम्भु के द्वारा प्राणियों का दुःखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है क्योंकि जीव जो दुःखी होते हैं वे सब अपने २ कर्मों के उदय से दुःखी होते हैं ॥ २८१-२८२-२८३-२८४ ॥

तात्पर्यवृत्ति —कायेण इत्यादि स्वकीयपापोदयन जीवा दुःखिता भवति यदि चेत् / तेषां जीवानां स्वकीय-पापकर्मोदयभावे भवतो किमपि कर्तुं नाशयति इति हेतोः मनोवचनवार्थं शम्भुश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिमिथ्या । परं किं तु स्वस्थभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमयं ब्रूनामि इति ।

अथ मुखितान् अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये गतिं भवन्तीति कथयति—

टीका—हे दुरात्मन् ! भोले प्राणी ! यदि जीव अपने ही पाप कर्म के उदय में दुःखी होते हैं एवं तुम उन जीवों के विषय में कुछ कर ही नहीं सकते हो । ना फिर मैं उन जीवों को मन में, वचन में, काय में और शस्त्रों के द्वारा भी दुःखी कर सकता हूँ या कर रहा हूँ यह जो तेरी बुद्धि है वह भ्रूठी है प्रत्युन ऐसी बुद्धि के द्वारा स्वस्थ भाव (सहज निराकुल आत्मभाव) से च्युत होकर तू पाप बंध ही करेगा ।

यह जीव सुखी भी निश्चय से अपने शुभ कर्म के उदय होने पर हाना है ऐसा बतलाता है —

कायेन च वायाइव मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।

एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८५॥

कायेन च वाचा वा मनसा मुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।

एवमपि भवति मिथ्या मुखितः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥२८५॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि ये प्राणी अपने २ कर्मों के उदय में सुखी होते हैं तब मैं मन, वचन, काय में उनको दुःखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है ॥२८५॥

तात्पर्यवृत्ति—स्वकीयकर्मोदयन जीवा यदि चेत् मुखितान् भवन्ति । न च त्वदीयपरिणामतः तर्हि मनावचन-कार्यजीवान् मुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिमिथ्या । एवं तवाध्यवस्थानं स्वायत्तं भवति । परं किं तु निस्वराग-परमत्त्वच्युतो निस्वभावे स्वशुद्धात्मनस्त्वमध्यवस्थानं त्वदीयाजानन् अनावयश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमग्नं ब्रूनामि इत्यर्थः ।

अथ स्वस्थभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवस्थानेन व्यहितं मग्नय जीरा समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति—

टीका—यदि सभी जीव सुखी भी अपने अपने कर्मोदय में होते हैं, न कि तेरे परिणामों से, तो निश्चय से मैं मन, वचन, काय में इन समाने प्राणियों को सुखी करता हूँ यह तेरी बुद्धि मिथ्या है । क्योंकि तेरे विचार से तो जीव सुखी होते नहीं हैं एवं तेरा विचार तो निरर्थक ही है प्रत्युन दूसरों को सुखी करने के विचार से तो तू बीतगग मय परम चेतन ज्योतिस्वरूप जो शुद्धात्म तत्त्व उसको नहीं जानता हुआ, नहीं मानता हुआ और नहीं अनुभव करता हुआ तू उस शुभ परिणाम से पुण्य को ही बाधता है इस प्रकार इसका अर्थ है ॥२८५॥

विशेषार्थः—जिसने सर्वप्रकार का परिग्रह त्याग कर महाव्रत धारण कर लिया फिर भी मैं अशुभ को मार रहा हूँ या बचा रहा हूँ इसी विचार में उलझा रहा तो उस जीव को लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि तेरे इस विचार मात्र से कोई भी जीव सुखी दुखी नहीं होता। सुखी दुखी होना तो उस जीव के शुभ व अशुभ कर्मोदय के अनुसार है तब तू क्यों व्यर्थ ही इस प्रकार के सकल्प विकल्प में फस रहा है ? तुझे तो इन सब प्रपञ्चों से दूर हटकर अपने शुद्ध आत्मा के ध्यान में लगकर अपने पूर्वकर्मों को हलका करना चाहिए ॥

आगे कहते हैं कि यह जीव अपने आत्मा में स्थितिरूप स्वस्थ भाव के विरोधी रागादिरूप अध्यवसान से मोहित होता है तब यह सब ही परब्रह्म को अपना मानने लगता है —

सत्त्वे करेदि जीवो अज्ज्ञवसाणेण तिरियणेरयिए ।

देवमुणये य सत्त्वे पुण्णं पावं च णेर्याविह ॥२८६॥

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।

सत्त्वे करेदि जीवो अज्ज्ञवसाणेण अप्पाणं ॥२८७॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्मैरयिकात् ।

देवमनुजान् च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥२८६॥

धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।

सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥२८७॥

अर्थ—यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव इत्यादि की एक लोक अलोक को इन सबको अपना लेता है अपने कर लेता है ॥२८६-२८७॥

तात्पर्यवृत्ति —उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितमावान् आत्मान करोति आत्मान सबधात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् ब्रह्म तन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनित विभावपरिणामान् आत्मानि योजयतीत्यर्थः ।

धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकजं यपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिचित्तविकल्पेनात्मान करोति, आत्मान सबधात् करोति त्यभिप्रायः । किं च यथा घटकारपरिणत ज्ञान घट इत्युपचारेणोच्यते । तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थ विषये धर्माऽऽ-स्तिकायादिधर्मित्यादि योऽसौ परिचित्तिरूपो विकल्प सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्मण्यते । कथं ! इति चेत् धर्मा विषयत्वात् । स्वस्थमावच्युतोभूत्वा यदा धर्मास्तिकायोग्यमित्यादिविकल्प करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ।

अथ निश्चयेन परब्रह्माविद्भ्रोजोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परब्रह्मे योजयति स मोहो येना नास्ति त तव तपाचेना इति प्रकाशयति—

टीका:—उदय मे ध्राए हुए नरकगति आदि कर्म के वश से यह जीव नारक, तिर्यच, मनुष्य और देवरूप अवस्थाओं को तथा पुण्य पाप रूप और भी सभी अवस्थाओं को जो कि कर्म जनित अवस्थाएँ हैं उनको अपने ध्राप के साथ लगा कर अपना लेता है, अपनी कर लेता है। अर्थात् निर्विकार रूप जो परमात्म तत्त्व उसके ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ वह उन उदयागत कर्म से उत्पन्न विभाव रूप परिणामों को भी नारकी है इत्यादि रूप से अपने ऊपर लाद लेता है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय जीव, प्रजीव लोक और अलोक रूप जो ज्ञेय पदार्थ है उनको भी अपनी परिच्छित्ति करने के विकल्परूप अध्यवसान के द्वारा अपने ध्राप से जोड़ करके अपना लेता है, अभिप्राय यह है कि जैसे घटाकार मे परिणत हुआ ज्ञान भी उपचार से अर्थात् विषय विषयी के सबब से छट कहा जाया करता है, वैसे ही धर्मास्तिकायादि ज्ञेय पदार्थों के विषय मे यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि परिच्छित्तिरूप (ज्ञानरूप) विकल्प है वह भी उपचार से धर्मास्तिकायादि कहलाता है क्या कि उस विकल्प का विषय धर्मास्ति कायादि है। अतः जब स्वस्थ भाव से श्रुत होकर यह आत्मा “मै धर्मास्तिकाय है इत्यादि” रूप विकल्प करता है उस समय उपचार से धर्मास्तिकाय ध्रावि ही किया हुआ होता है ॥२८६-२८७॥

विशेषार्थ—जैसे हिंसा के अध्यवसान से आत्मा हिंसक, ग्रहिंसा के अध्यवसान से ग्रहिंसक और उदय मे ध्राये हुए नारकादि अध्यवसान से नारकादिरूप, सुख दुःख ध्रादि अध्यवसान से पुण्य पाप रूप होता है उसी प्रकार ज्ञायमान धर्म द्रव्यादि के अध्यवसान से धर्मादि रूप स्वयं होता है अर्थात् तत्तदध्यवसान से आत्मा स्वयं विश्वरूप बन जाता है यह सब अध्यवसान मोहात्मक ही है अतः उससे नूतन बन्ध होता रहता है।

आगे यह बताते हैं कि निश्चय से यह आत्मा शरीरादि पर द्रव्य से मिल है किन्तु जिस मोह के प्रभाव मे यह अपने ध्रापको पर द्रव्य के साथ सबब जोड़ता है वह मोह भाव जिसके नहीं है वही तपोधन है -

एदाणि नत्थि जेसिं अज्जवसानाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी न लिप्यन्ति ॥२८८॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।

तेज्जामेन कुमेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यन्ते ॥२८८॥

अर्थ:—ये उपर्युक्त अध्यवसान तथा और भी इस प्रकार के अध्यवसान भाव जिनके नहीं हैं वे मुनि लोग ही बुध तथा प्रबुध दोनों प्रकार के कर्मों से नहीं लिपते हैं ॥२८८॥

तात्पर्यवृत्ति—एदाणि नत्थि जेसिं अज्जवसानाणि एवमादीणि एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबचनमित्युक्तानि न संति येषां ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी न लिप्यन्ति त एव मुनीन्वरा शुभाशुभकर्मणा न लिप्यन्ते। किं च विस्तरं शुद्धात्मसम्यक्प्रदानज्ञानानुचरत्वरूप निष्पत्त्यरत्नत्रयलक्षण भेदविज्ञानयदा न भवति तदाह जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसान नारकोहमित्यादि न कर्मोदयाध्यवसान, धर्मास्तिकायाद्यमित्यादि श्रेयपदार्थाध्यवसान च निर्विकल्पशुद्धात्मन सकाशाद्भूत्वा न जानातीति। तदज्ञानं हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहात्मनमभेदेन श्रद्धाति जानाति अनुचरति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति ततः

कर्मबन्ध' स्यात् । यदापुन पूर्वोक्त भेदविज्ञान भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति, सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यग्चारिणी भवति, तत कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थः ।

कियत कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्—

टीका — (एदाणि एत्थि जेसि अज्झवसाणाणि एवमादीणि) ये ऊपर बतलाये गये तथा इसी प्रकार के और भी जो अध्यवसान हैं वे ही कर्मबन्ध के निमित्त भूत होते हैं जो कि शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार के हैं, ये अध्यवसान भाव जिनके नहीं होते (ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ए लिप्पति) वे ही मुनीश्वर शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा का समीचीन रूप श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसा भेद विज्ञान नहीं होता तब उस समय वह जीव “मै इन जीवो को मारता हूँ” इत्यादि रूप से हिंसा के अध्यवसान को, “मैं नारक हूँ” इत्यादि कर्मोदय के अध्यवसान को ‘यह धर्मास्तिकाय है’ इत्यादिरूप से ज्ञेय पदार्थ के अध्यवसान को अर्थात् जो कि शुद्धात्मा से भिन्न वस्तु है, उसको जानता है तब उस समय में वह उस हिंसा अध्यवसान रूप विकल्प के साथ अपने आपको अभेदरूप अर्थात् एकमेक रूप से जानता हुआ वैसे ही श्रद्धान रक्ता अर्थात् जानता है, वैसे ही मानता है और वैसे ही आचरण भी करता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता है और मिथ्या चारित्री भी होता है इसीलिए उसके कर्म बन्ध होता है और जब पूर्वोक्त भेद विज्ञान होता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है और सम्यक् चारित्रवान् होता है उस समय कर्मका बंध नहीं होता है यह भावार्थ है ॥२८८॥

अब यह बताते हैं कि यह आत्मा इन पर पदार्थों को अपने ऊपर कब तक लावता है —

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणवि असुह सुह जणयं ।

अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिस्फुरइ ॥२८९॥

यावत्संकल्पविकल्पो तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं ।

आत्मस्वरूपा श्रद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति ॥२९०॥

अर्थ—जब तक यह छद्मस्थ जीव बाह्य वस्तुओं के सबब से सकल्प विवर्त्य करता है तब तक उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप के विषय का ज्ञान नहीं हो पाता अतः तभी तक वह शुभ और अशुभ जाति के कर्म भी करता है ॥२८९॥

तात्पर्यवृत्ति — यावत्काल बहिविषये देहपुत्रकलत्रादी ममेतिरूप सकल्प करोति अन्तर्ये तर्षविषादरूप विकल्प च करोति तावत्कालमनतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्यभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः ।

अध्याध्यवसानस्य नाममालामाह—

टीका — जब तक यह जीव शरीर, पुत्र, स्त्री आदिक बाह्य वस्तुओं के विषयमें ये सब मेरे हैं

इस प्रकार का तो सकल्प और उन्हे लक्ष्यमे लेकर प्रसन्नता तथा अप्रसन्नतारूप विकल्प को मनमे करता है तब तक यह जीव अनन्त ज्ञानादि स्वरूप आत्मा को हृदय से नहीं जानता है। और जब तक इस प्रकार की आत्मा इसके हृदय मे स्फुरायमान नहीं होती तब तक शुभाशुभ को उपजाने वाले कर्म करता ही रहता है ॥ २८६॥

विशेषार्थ—आचार्य श्री ने यहा आत्मोपलब्धि की बात कही है। वह आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है—(१) आगमिक आत्मोपलब्धि (२) मानसिक आत्मोपलब्धि (३) केवलात्मोपलब्धि। (१) गुरु की वाणी मे आत्मा का स्वरूप सुनकर उसपर विश्वास ले आना यह आगमिक आत्मोपलब्धि है। (२) आत्मा के शुद्ध स्वरूप को मन से स्वीकार करना अर्थात् मन को तदनुकूल परिणामा लेना यह मानसिक आत्मोपलब्धि है। (३) केवलज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्षरूप से आत्मा की प्राप्ति है वह केवलात्मोपलब्धि है। उनमें से केवलआत्मोपलब्धि की बात तो अपूर्व है वह ता परमात्मस्वरूप एव ध्येय रूप है ही, परन्तु यहा पर शेष आत्मोपलब्धियों मे से मानसिक आत्मोपलब्धि की बात है जहा पर श्रद्धा के साथ आचरण भी तदनुकूल होता है अर्थात् 'जैसी कथनी वैसी करणी' की बात है। जहा पर श्रद्धा के साथ २ मानसिक आत्मोपलब्धि के समय स्वयं मे भी हर्ष विषादादि विकारभावो का अभ्राव होता है अतः बहा शुभ या अशुभ किसी प्रकार के नूतन कर्मबन्ध का सञ्जाव नहीं होता। अतः वही महर्षियों की स्वीकार्य है तथा उसी का यहा इस अध्यात्म प्रकरण मे समग्रहण है एव उमी मानसिक आत्मोपलब्धि वाले को सम्यग्दृष्टि, ज्ञानो, निबन्ध आदि रूप से कहा गया है जहा आगमिक आत्मोपलब्धि की बात है बहा पर शुद्धात्मा के विषय का श्रद्धान तो होता है किन्तु आचरण तदनुकूल न होकर उससे उलटा होता है अर्थात् उसे यह विश्वास तो है कि आत्मा का स्वरूप हर्ष विषादादि करना नहीं है किन्तु स्वयं हर्ष विषादादि को लिए हुए रहता है और करता रहता है इस प्रकार "कथनी और व करणी और" वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला होने से उसे इस अध्यात्म शैली ग्रन्थ मे सम्यग्दृष्टि आदि न कह कर मिथ्यादृष्टि आदि कहा गया है जैसा कि ऊपर गाथा न २८८ मे व टीका मे लिखा गया है। हा, आगमिक लोग शुद्धात्मा की श्रद्धा मात्र से भी सम्यग्दृष्टिपन मानते है क्योंकि उनकी विचार धारा यह है कि इसके शुद्धात्मा होने रूप आचरण भले ही आज न सही किन्तु शुद्धात्मा की श्रद्धा तो इसके भी जगी है अतः सद्ग्राहकता के रूप से यह भी सम्यग्दृष्टि ही है—

अब आने की गाथा मे आचार्यदेव अध्यवसान के पर्याय नाम गिनते हैं—

बुद्धी व्यवसाओवि य अज्ञवसाणं मई य विण्णाणं ।

एकट्ठमेव सत्त्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२८७॥

बुद्धि व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं ।

एकाग्रमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२८७॥

अर्थ—बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक है ॥ २८७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—बोधन बुद्धि, व्यवसान व्यवसाय, अध्यवसानमध्यवसाय, यनन पर्यायान्धन मतिश्च, विज्ञायते

अनेनेति विज्ञान, चित्तन चित्त. भवन साध, परिणमन परिणाम, इति शब्दभेदेऽपि नाभेदः-किं तु सर्वोऽपि सममि-
रुद्धनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थ एव । कथं ? इति चेत् यथेदं शक्यं पुरन्दर इति । एव द्रव्यं पुण्यं भवति. पापमिति कथनेन
सूत्रद्वय पूर्वमेव व्याख्यात तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्य वस्तु रागाद्यध्यवसानकारण रागाद्यध्यवसानं तु
बन्धकारणमिति कथनमुक्त्यन्तेन त्रयोदश गाथा गताः, इति समुदायेन पंचवत्सूत्रैश्चतुर्यस्थस्य समाप्त ।

अतः परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति
कथनमुक्त्यन्तेन गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति—

टीका.—बोधन अर्थात् जानना मात्र सो बुद्धि, व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूपमे व्यवसाय सो
व्यवसाय, अध्यवसान अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय, मनन अर्थात् मान लेना स्वीकार करना सो
मति, विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान, चिन्तन अर्थात् स्मरण करना वह चित्त, भवन अर्थात्
चेतना का होना सो भाव, परिणमन अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम । इस प्रकार
यहां शब्द भेद तो है किन्तु अर्थ भेद नहीं है । यदि समभिरुद्धनय से देखें तो इन सब का अर्थ अध्यवसान
ही होता है जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरन्दर का एक ही देवराज ऐसा अर्थ होता है ॥ २६० ॥

इस प्रकार व्रतों के द्वारा पुण्य होता है और अव्रतों के द्वारा पाप इस प्रकार का कथन दो गाथाओं
में हुआ । उसी का विषेय वर्णन करने के लिये बाह्य वस्तु रागादिरूप अध्यवसान का कारण होती है
और रागादिरूप अध्यवसान है वह बन्ध का कारण होता है इस प्रकार के कथन को मुख्य लेकर शेष
तेरह गाथायें हुई । इस प्रकार पन्द्रह गाथाओं में यह चतुर्य स्थल पूर्ण हुआ ॥

अब इसके आगे यह कथन करते हैं कि अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि है स्वरूप जिसका ऐसे उस
निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक जो व्यवहार नय है वह बन्ध दिया जाता है इस प्रकार के कथन की मुख्यता से छह
गाथाओं में वर्णन करते हैं —

एवं व्यवहारणो पडसिद्धो जाण निच्छयणयेण ।
निच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावन्ति निज्वाणं ॥२६१॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनय संलीना मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणं ॥२६१॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार सविकल्प जो व्यवहार नय है वह निर्विकल्प रूप निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध करने
योग्य है । इस निर्विकल्प रूप निश्चय नय में तल्लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२६१॥

तात्पर्यवृत्ति—एवं व्यवहारणो पडसिद्धो जाण निच्छयणयेण एव पूर्वोक्तप्रकारेण परब्रह्माभितत्वाद्
व्यवहारनय प्रतिषिद्ध इति जानीहि । केन ? कर्तुं भूतेन शुद्धात्पदव्याप्तिनिश्चयनयेन । कस्मात् ? निच्छयणयस-
ल्लीणा मुणिणो पावन्ति निज्वाणं निश्चयनयमालीना आश्रिता स्थिता. सतो मुनयो निर्वाणं लभते यतः कारणा-
दिति । किञ्च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थाया निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनय सप्रयोजनस्-
तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थिताना निष्प्रयोजन इति भावार्थः । कथं निष्प्रयोजन ? इति चेत् कर्म-
भिरमुच्यमानेनामव्येनाप्याश्रयमाणत्वात् ।

टीका:—(एव व्यवहारणयो पडिसिद्धो जाग णिच्छयणयेण) हे आत्मन् ? उपर्युक्त व्यवहारनय जो कि पराश्रित है वह शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने वाले निश्चयनय से हटा देने योग्य है ऐसा तुम समझो क्योंकि (णिच्छय णय सत्त्वोणा मुणिणो पावात णिव्वारा) निश्चय नय का आश्रय लेने वाले उसमें लीन रहने वाले, स्थित रहने वाले मुनि लोग ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। भावार्थ यह है कि यद्यपि व्यवहार नय निश्चयनय का साधक है इसलिए प्रारम्भ में, प्रथम सविकल्पदशा में, प्रयोजनवान् हैं। उसे प्राप्त करना आवश्यक है फिर भी जा लांग विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप जो शुद्धात्मा उसमें स्थित हैं चिगते नहीं है, उनको व्यवहारनय से कोई प्रयोजन नहीं होता है ॥२६१॥

विशेषार्थ—व्यवहार नय से यहाँ पर व्रत, समिति आदि रूप बाह्य क्रियात्मक दशा को और निश्चय नय से आत्म तल्लीनतारूप निर्विकल्प समाधि दशा को लिया गया है। अब जो जीव भनादि कालीन सासारिक उलझन से मुक्त होना चाहता है वह अब मैं हिसा नहीं करके ग्रहिसा का पालन करूँगा इत्यादि रूप से महाव्रत धारण करता है ताकि निराकुल बन कर आत्मानुचितन द्वारा अपने मन के मूलको धो डालता है बिना ऐसा किये वह सीधा ही आत्मानुचितन रूप समाधि में नहीं लग सकता व मन के मूल को नहीं धो सकता इसलिए व्रत का धारण करना परम आवश्यक है। किन्तु व्रत धारण करने पर भी आत्मानुमनन रूप समाधि नहीं प्राप्त की जा सके तो भी उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि उसका साक्षात् कारण तो आत्म समाधि ही है। जिसने आत्मानुभवरूप समाधि दशा रूप निश्चयनय को प्राप्त कर लिया उसके लिए फिर बाह्य व्रत पालन रूप क्रियात्मक दशापर आनेका कोई प्रयोजन नहीं रहता। यह बात दूसरी है कि उपयोग की दुर्बलता से आत्मानुभव पर अधिक देर नहीं टिका रहने के कारण उसे वहाँ से हटकर बाह्य महाव्रतादि के पालने में प्रवृत्त होना पड़ता है वह भी इसलिए कि उसे ऐसा करके फिर आत्मानुभव रूप समाधि को पुन प्राप्त कर सके इसीलिए व्यवहार नय निश्चय नय के द्वारा प्रतिषेध्य है। सार यही है कि मुनि को निर्विकल्प समाधि के प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए तभी मुनिपना सफल है अन्यथा नहीं।

शका:—फिर आजकल तो मुनि नहीं बनना चाहिये क्योंकि इस समय तो निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है ? ऐसा मुना जाता है।

समाधान—कौन कहता है कि आजकल निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है ? विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं (१) ध्येय ध्याता प्रादि रूप विकल्प (२) इष्ट अनिष्टादि रूप विकल्प। जहाँ मैं ध्यान करने वाला हूँ और अमुक अहन्तादि का ध्यान कर रहा हूँ इस प्रकार का ध्याता और ध्येय प्रादि का विकल्प न हो जैसा कि छहठाला में लिखा हुआ है।

जह ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहा। चिद्भाव कम चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तथा ॥ तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध, उपयोग की निश्चल दशा। प्रगटी जहा, दृग, ज्ञान व्रत ये, तीन धा एक हि लसा ॥ ऐसा एकाकार ध्यान जिसको आगम भाषा में शुक्ल ध्यान कहते हैं वह तो उत्तम सहनन वाले के ही होता है अत इस समय नहीं हो सकता है किन्तु जहा पर यह मेरा और यह पराया अथवा यह अच्छा और यह बुरा इस प्रकार के आर्तरीद्विभावात्मक सकल्प विकल्प न होने पावे ऐसा धर्म्य ध्यान तो हो सकता है। जैसा कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—

अज्जवित्तरयण सुद्धा, अप्पा भ्राऊण जाति सुरलोए ।

लोयन्तिय देवत्त, तत्थचुदा णिव्वुदि जति ॥७७॥ (मोक्षपाहुड)

अर्थात् भ्राज भी ऐसे जीव हैं जिनका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय निर्दोष व शुद्ध है अतः वे अपनी आत्मा का ध्यान करके उसके बल पर यहाँ से ब्रह्म स्वर्ग में जाकर लौकालिक देव हो जावे और वहाँ से आकर अनुप्य हो मुनि बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लें। इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय को पालन करने की, एवं सीधा यहाँ से लौकालिक पद पाने जैसी योग्यता मुनि बनने पर हो हो सकती है अतः भ्राज भी मुनि बनना निरर्थक नहीं है, सार्थक ही है यदि वह समाधि के लिये है।

अन्यथा कोरे व्रतादिक तो अग्रम्य भी स्वीकार करता है जो कि कर्मों से मुक्त नहीं होता ऐसा बताते हैं:-

वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरोहिं पण्णत्तं ।

कुब्बंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२६२॥

व्रतसमितिगुस्यः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।

कुर्वन्नप्यमव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२६२॥

अर्थ-देवो, श्री जिन भगवान् ने बताया है कि उन व्रत, समिति, गुति शील, और तपो को करता हुआ भी अग्रम्य जीव भ्रजानी तथा मिथ्यादृष्टि बना रहता है ॥२६२॥

तात्पर्यवृत्ति-—वदसमिदि गुत्तीओ सीलतव जिणवरोहिं परिकहिद व्रतसमितिगुतिशील तपश्चरणादिक जिनवरैः प्रज्ञप्त कथित कुब्बंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ मदमिथ्यात्वबदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यमव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति । कस्मात् ? इति चेत् मिथ्यात्वादिसतप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयामावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानामावात् । इति

अथ तस्यैकादशागश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी ? इति चेत्

टीका — (वदसमिदिगुत्तीओसीलतव जिणवरोहिं परिकहिद) श्री जिन भगवान् के द्वारा बताये हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपश्चरण आदि को (कुब्बंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी ओ) मिथ्यात्व तथा कषाय का मन्द उदय होने से, करता रहने पर भी अग्रम्य जीव भ्रजानी तथा मिथ्या-दृष्टि बना रहता है। क्योंकि उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों को उपशम, क्षय वा क्षयोपशम नहीं हो पाता, इसलिये शुद्ध आत्म तत्व ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान् उसके नहीं होता। यद्यपि उसके प्यारह अग तक का ज्ञान हो जाता है फिर भी वह भ्रजानी बना रहता है ऐसा नीचे बताते हैं:-

मोक्खं असद्धहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।

पाठो ण करेदि गुणं असद्धहंतस्स णाणं तु ॥२६३॥

मोक्षमश्रद्धानो ऽमव्यसत्त्वस्तु बोध्योऽसीति ।

पाठो न करोति गुणमश्रद्धानस्य ज्ञानं तु ॥२६३॥

धर्म—धर्मव्य जीव यदि शास्त्र भी पढ़ता है पर शुद्ध ज्ञानमय आत्म स्वरूप मोक्ष तत्व का अध्यान न होने से उसका वह शास्त्र पढ़ना भी गुणकारी नहीं होता है ॥२६३॥

तात्पर्यवृत्ति:—मोक्षं असद्वृत्तो अभवियसतो दु जो अधीयेज्ज मोक्षमश्रद्धान सन्नमव्यजीवो यद्यपि क्वातिपूजानामार्थमेकादशांगश्रुताध्ययनं कुर्यात् पाठो ण करेदि पुरां तथापि तस्य शास्त्रपाठं शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं पुरां न करोति किं कुर्वन्तस्तस्य ? असद्वृत्तस्य ग्राह्यं तु अश्रद्दहतोऽरोचमानस्य । किं ज्ञानं । कोऽर्थः ? शुद्धात्मसम्यक्-अज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पमम, जिना प्राप्य गम्य शुद्धात्मस्वरूपमिति । कस्मान्न अद्वत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनी-योपशमक्षयोपशमक्षयामावात् । तदपि कस्मात् । धर्मव्यत्वादिनि भावार्थः --

अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्—

टीका —(मोक्ष असद्वृत्तो अभवियसतो दु जो अधीयेज्ज) मोक्षका जिसको अध्यान नहीं है (अर्थात् अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो सकती है इस प्रकार की आत्म विमुक्ति पर जिसका विश्वास नहीं जमता है) ऐसा धर्मव्य जीव यद्यपि अपनी क्वाति, पूजा, लामादि के लिए ग्यारह अंग श्रुत का अध्ययन भी करता है तो करे (पाठो न करेदि पुरां) तो भी शास्त्र का पढ़ना उसके लिये शुद्धात्मा के परिज्ञान रूप गुण का करनेवाला नहीं होता । (असद्वृत्तस्य ग्राह्यं तु) क्योंकि वह ज्ञान पर अपनी रुचि नहीं लाता है, विश्वास नहीं लाता है, अर्थात् वह शुद्धात्मा के अध्यान, ज्ञान, और अनुष्ठानरूप जो निर्विकल्प समाधि है उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य, जानने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है उसको नहीं मानता नहीं स्वीकार करता है क्योंकि उसके दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार के मोहनीय कर्म का उपशम क्षयोपशम व क्षय नहीं होता । उसका भी यह कारण है कि वह धर्मव्य है यह भावार्थ है ॥ २६३ ॥

किर यहा सका होती है कि वह पुण्य रूप धर्मादि को क्यों मानता है ?

सद्वृत्ति य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो ह फासेदि ।

धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मखयणिमित्तं ॥२६४॥

अद्वधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्चस्पृशति ।

धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥२६४॥

धर्म—वह धर्मव्य जीव धर्म का अध्यान करता है, उसे प्रतीति में लाता है, उसमें रुचि रखता है, एवं उसे धारण करता है, सो वह कर्मों को नष्ट करने के लिए नहीं किन्तु भागों को प्राप्त करने के लिए करता है ॥२६४॥

तात्पर्यवृत्ति:—सद्वृत्ति अद्वत्ते च पत्तेदिय ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीति परिच्छिन्ना करोति रोचेदिय विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च तह पुराणो वि फासेदिय तथा पुन स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण क । धम्म भोगनिमित्तं अहमिन्द्रादिपदवीकारगत्वादिनि मत्वा भोगाकाक्षारूपेण पुण्यरूप धर्मं ण दु सो कम्मक्षयणिमित्तं न च कर्मक्षय-निमित्तं शुद्धात्मसवित्तलक्षणं निश्चयधर्ममिति ।

अथ कीदृशी तो प्रतिषेध्यप्रतिषेधकी व्यवहारनिश्चयनयाविनि चेत्—

टीका—(सद्वृत्तिय) अध्यान करता है, उसे (पत्तेदिय) ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है, उसकी जानकारी प्राप्त करता है (रोचेदिय) विशेष रूप से विश्वास लाता है (तह पुराणो वि फासेदिय) तथा उसे

कृता है अर्थात् आचरण में लाता है। कौन से धर्म को लाता है! कि (धम्मं भोगणिमित्तं) अहमिन्द्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगों का विशेष रूप से साधन है उस पुण्य रूप धर्म को भोगों की अभिलाषा से ही धारण करता है (ण दु सो कम्मस्यणिमित्तं) किन्तु बुद्धात्मा की सविधि है अर्थात् जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मों के नाश करने में निमित्त होता है उस धर्म को नहीं मानता नहीं जानता आदि ॥२६४॥

विशेषार्थ—जैसे कि किसान अन्न को पृथ्वी पर डालता है वह इसलिए नहीं कि यह बेकार है अपितु वह उसे इसलिए डालता है कि ऐसा करने पर यह मुझे कई गुणा अधिक होकर फल देगा। इसी प्रकार अभव्य मुनि भी वर्तमान भोगों का त्याग करता है वह वैराग्य से नहीं, परन्तु मैं इन मानव उचित भोगों को छोड़ दूंगा तो मुझे स्वर्गीय दिव्य भोग प्राप्त होंगे इसलिए करता है शरीर से काय क्लेशादि तप करता है वह भी इसलिए कि इस चिन्तावने शरीर को तप मे लगा दूंगा तो मुझे विक्रियादि श्रद्धिवाला दिव्य शरीर मिलेगा अपितु इसलिए नहीं कि मैं अशरीरी बन जाऊंगा क्योंकि अशरीरी बन रहने का तो उसे महत्व ही मालूम नहीं है इसलिए उसका वह श्रद्धान, ज्ञान आचरण ठीक न होकर मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

आगे प्रविष्टय जो व्यवहार नय व प्रतिषेधक जो निश्चय नय उसका क्या स्वरूप है सो बताते हैं—

आयारादी णाणं जीवादी वंसणं च विण्णेयं ।

छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२६५॥

आदा खु मज्झ णाणं आदा मे वंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाने आदा में संवरे जोगे ॥२६६॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं ।

षड् जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२६५॥

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।

आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा में संवरो योगः ॥२६६॥

अर्थ—आचारादि आदि शास्त्र का पढ़ना ज्ञान है, जीवादि नव पदार्थों का जानना दर्शन है और छह काय के जीवों की रक्षा करना सो चरित्र है इस प्रकार व्यवहार नय कहता है। किन्तु वास्तव में मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चरित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ऐसा निश्चय नय कहता है ॥२६५-२६६॥

सात्पर्यवृत्ति — आचारादीणां आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशांशशाब्दशास्त्र ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति । जीवादी वंसणं च विण्णेयं जीवादिनवपदार्थं श्रद्धानविषयं सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति । छज्जीवाणं रक्खा भणति चरित्तं तु व्यवहारो षड्जीवनिकायरक्षा चारित्र्याश्रयत्वाद् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चरित्रं भवति एव पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गं प्रोक्त इति ।

ब्रह्मा कृ मञ्जु गणने स्वशुद्धात्मा ज्ञानम्याश्रयत्वात्निमित्तत्वान्निश्चयनयनं मम सम्यग्ज्ञानं भवति । **ब्रह्मा मे दंशणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणात्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति **चरित्से य** शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति **ब्रह्मा पचचक्षणे** शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्याप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति । **ब्रह्मा मे सबरे** शुद्धात्मा स्वस्वगोपननिश्चयेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसवरस्याश्रयत्वात्निश्चयेन सवरो भवति **जोगे** शुभाशुभचित्तानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दाध्ययनस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः । एव व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितं तत्र निश्चय प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य उच्यते । कस्मादिति चेत् निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च । कथं न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपपन्नमोक्षमार्गमात्मकाणां शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो न भवति । यदि पुन सप्तप्रकृत्युपपन्नाहमावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति । तदपि कस्मात् ? सप्तप्रकृत्युपपन्नाहमावे सति, अनतज्ञानादियुगस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धा यत् नारणात् । यस्तु नाहमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धां तस्य सप्तप्रकृत्युपपन्नादिकं न विचिन्ते स तु मग्धो भवति । यस्य पुन पूर्वोक्तशुद्धात्मानस्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपपन्नादिकं न विचिन्ते इति ज्ञातव्यं । मिथ्यादृष्टिर्गमो तेन बाह्येनात्मन्यप्येवमिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपपन्नादिकं कदाचिदपि न समभवति उच्यते भावार्थः । किं च निर्विचल्यममाधिष्ठेतिश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यं, किं तु तस्यास्त्रिगुणावस्थाया व्यवहार स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः । एव निश्चयनयने व्यवहार प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण पदमूर्धं पञ्चम स्थल गतः ।

अथाहारविषये मरमविमस्मानापमानार्नादिचिन्तास्पर्शगण्डोपकारणाभावादाहारयद्रगजुतो जानिना वधो नास्ति इति कथयति—

टीका — (आयागदी गाण) आचार्याग मूत्रकृताग आदि ग्यारह अंग रूप जो शब्द शास्त्र है वह ज्ञान का आश्रय होने के कारण व्यवहार में सम्यग्ज्ञान है । (जीवादी दमग चविष्णये) जीवादि स्वरूप नव पदार्थ जो श्रद्धा का विषय है वही सम्यक्त्व का आश्रय है निमित्त है इसलिए व्यवहार में वही सम्यक्त्व है । (छज्जीवाण रक्ता भगति चरित्र तु ववहारां) छह कार्य के जीवों की रक्षा करना चारित्र का आश्रय होने से, कारण होने से व्यवहार नय से चारित्र है । इस प्रकार यह मोक्षमार्ग का स्वरूप हुआ । किन्तु (आदा ग मञ्जुगाग अपर्ना शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है, निमित्त है इसलिए निश्चयनयन में मेरी आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है । (आदा मे दमगे) मेरी शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है हेतु है इसलिए निश्चयनयन में वही सम्यग्दर्शन है (चरित्तय) मेरी शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है, हेतु है इसलिए निश्चयनयन में वही सम्यक्चारित्र है । (आदा पचचक्षणां) शुद्धात्मा ही, रागादि के परित्याग स्वरूप जो प्रत्याख्यान उसका आश्रय है, कारण है इसलिए निश्चयनयन से वही प्रत्याख्यान है । (आदा मे सबरे) शुद्धात्मा ही, स्वरूप का उपलब्धि के वश से हर्ष विषाद आदि का न होना ही लक्षण जिसका ऐसे सवर का आश्रय होने से, निश्चयनयन में वही सवर है । (जोगे) शम और अशुभ रूप जो चित्ता उसका निरोध करके रखना वही है लक्षण जिसका ऐसा परम ध्यान शब्द से कहा जाने योग्य है उसका आश्रय होने से, हेतु होने से, शुद्धात्मा ही परम योग है । इस प्रकार स्वशुद्धात्मा के ही आश्रय होने से यह निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप कहा । वही निश्चय मोक्ष मार्ग तो प्रतिषेधक है और व्यवहार मोक्ष मार्ग (निश्चय मोक्षमार्ग से) प्रतिषेध्य है । क्योंकि निश्चय मोक्ष मार्ग में स्थित है इनको नियम से मोक्ष

होता है किन्तु व्यवहार मोक्ष मार्ग में स्थित होने वालों को मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता है । क्यों कि यदि मिथ्यात्व आदि (तीन मिथ्यात्व की और चार अनतानुबन्धी की) सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने से शुद्धात्मा को उपादेय मान कर वह व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होता है तब तो मोक्ष होता है । और यदि उन्हीं सात प्रकृतियों के उपशमादि के न होने पर शुद्धात्मा को उपादेय न मानकर ही वह व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हुआ है तो उसके फिर कभी मोक्ष नहीं हो सकता है सो उससे मोक्ष नहीं होने का यही कारण है कि उसमें मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिभाव न होने से अनत ज्ञानादि गुण स्वरूप शुद्धात्मा है उसकी उपादेयता वहा नहीं होती । हा, जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय मानता है उसका विश्वास करना है (अर्थात् जो कोई रागद्वेष मिटाना चाहे तो मिटाकर सदा के लिए वीतराग रूप बन सकता है) तो उसके मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशमादि भी अवश्य होता है वह भव्य जीव होता है । किन्तु जो पूर्वोक्त शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं मानता उस पर विश्वास नहीं रखता, तो उसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादि भी नहीं है एवं वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा समझना चाहिए । अभव्यजीव भी वही होता है जिसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादिकन है और न हो सकेगा यह भावार्थ है । हा, यहा यह बात आई है कि निश्चय मोक्ष मार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है उस त्रिगुणित रूप मोक्ष मार्ग में स्थित होने पर प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्ष मार्ग में पहुँच कर व्यवहार छोड़ दिया जाता है उसका भी अर्थ यह है कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि रूप है इस त्रिगुणित रूप मोक्षमार्ग में स्थित होने पर प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्षमार्गस्वयं नहीं रहता यह इन गाथाओं का तात्पर्य है इस प्रकार निश्चय नय में व्यवहार के प्रतिषेधरूप कथन की मुख्यता से छह सूत्रों से पचम स्थल पूर्ण हुआ ॥२४५-२४६॥

विशेषार्थ—मोक्ष शब्द का अर्थ छाड़ देना-त्याग कर देना होता है । उसका मार्ग अर्थात् त्याग करने का उपाय आचार्य श्री ने निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार कहा है । बाह्य सर्व वस्तुओं का त्याग कर आत्मा को ही मानना, उसे ही जानना, और उसी में ही तल्लीन होना यह तो निश्चय मोक्षमार्ग है जोकि एक ही प्रकार का है उसमें भेद नहीं है । जीवादि नव पदार्थों के स्वरूप को भिन्न भिन्न रूप से अच्छी प्रकार समझकर उस पर विश्वास लाना और हिसाब पांच पापों का त्याग करना व्यवहार मोक्षमार्ग होता है वह दो प्रकार में होता है । एक भव्य के द्वारा आराध्य और दूसरा अभव्य द्वारा आह्व । भव्य जीव स्वयं अशरीरी बन रहने के लिये उसे ध्याना करना है और उसका पालन करके उसके द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग में लगकर अशरीरी बन जाता है । किन्तु अभव्य का विश्वास अशरीरी पन पर नहीं होता, वह तो सामारिक वैभव प्राप्ति करने के लिये ही ग्रहण करता है अतः अवैयक में जो जन्म लेता है ।

आगे कहते हैं कि आहार लेने के विषय में मान, अपमान, सरस, नीरस, आदि की चिन्ता रूप रागद्वेष न करने के कारण आहार लेने हुए भी जानी जीव के आहार कुतः बंध नहीं होता—

आधाकम्मादीया पुगलदव्वस्स जे इमे दोसा ।

कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं ॥२६७॥

आधाकम्मादीया पुगलदव्वस्स जे इमे दोसा ।

कह मणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा पररस गुणा ॥२६८॥

आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।

कथं तां करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणाः खलु ये नित्यं ॥२६७॥

आधाकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः ।

कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणा परस्य गुणाः ॥२६८॥

सात्पर्यवृत्ति —स्वयं पाकेनोत्पन्न आहार अथ कर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति-अधःकर्माद्या ये इमे दोषा, कथभूता ? शुद्धात्मन सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणा । पुनरपि कथभूताः ? तस्य-बाह्यपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपा तान्निश्चयेन कथं करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथाय । अनुमोदयति वा कथं मिति द्वितीय गाथायं परेण गृहस्थेन क्रियमाणाद्, न कथमपि । कस्मात् ? निविकल्पसमाधौ सति आहारविषयमनो वचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्यथ कर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गत ।

आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते तेनोपदेशिकेन सह तदेवाथ कर्म पुनरपि गाथाद्वयं कथ्यते

अर्थ व टीका —स्वयं अपने बनाने से सम्पन्न हुआ आहार आधाकर्म शब्द से कहा जाता है । उसी को प्रथम लेकर कहते हैं कि आधाकर्मादिक जो दोष हैं वह सब शुद्धात्मा से पृथग्भूत आहाररूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं क्योंकि वह सब उसी आहार रूप पुद्गल द्रव्य के पकने पकाने आदि क्रियारूप होते हैं अतः निश्चय से ज्ञानी उन्हें कैसे कर सकता है ? एव किसी दूसरे गृहस्थ के द्वारा उन सबकी वह अनुमोदना भी कैसे कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता । क्योंकि ज्ञानी के तो निविकल्प समाधि होती है उसके होने पर उसके आहार विषयक मन, वचन, काय, और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है । इस प्रकार आधाकर्म दोष के व्याख्यान रूप में दो गाथाये कही गई ॥ २६७-२६८ ॥

इसी प्रकार आहार ग्रहण करने से पहले उम पात्र को निमित्त लेकर जो कुछ अन्न पान सम्पन्न किया जाता है वह औद्देशिक दोष कहलाता है इस औद्देशिक दोष के साथ उमी आधादोष का वर्णन फिर दो गाथाओं में करते हैं-

आधाकर्म उद्देशियं च पोगलमय इमं दव्वं ।

कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ॥२६९॥

आधाकर्म उद्देशियं च पोगल मय इमं दव्वं ।

कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचदेणं वुत्तं ॥३००॥

आधाकर्मापदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं ।

कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥२६९॥

आधाकर्मापदेशिकं च पुद्गलमय मेतद् द्रव्यं ।

कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥३००॥

अर्थ—पर के उद्देश्य से किया हुआ यह आचार्य पुद्गलमयी द्रव्य है तथा नित्य ही भवेत्तन है ऐसा कहा गया है तो यह मेरी की हुई कैसे हो सकती है अथवा मेरी कराई हुई कैसे हो सकती है ॥ २६६-३०० ॥

तात्पर्यवृत्ति—यदि आहार कपुद्गलद्रव्यमयः कर्मरूपमीपदेशिक च चेतनमुद्रात्माद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतनमभ्युत्थितं तत्कथं भवा कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि । कस्माद्धेतो ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुबननाभावात् । इत्यौपदेशिकव्याख्यानमुख्यत्वेन च साधारणं गतं ।

अथमत्राभिप्राय परमात्सर्व सप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृतकारितानुवृत्तरूपेणैव भवितुं कथं युद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बंधो नास्ति यदि पुन परकीयपरिणामेन बंधो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाण नास्ति । तथा चोक्त ।

एवकोटिकम्मसुद्धो पच्छापुरदोय सपदियकाले ।

परसुहुदुखसिगमिति बन्धमिदि जदि एत्थि सिग्वाण ॥

एव ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बंधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थल गत ।

अथ रागादयः किं कर्मबन्धकारणं भणित्वा, तेषां पुन किं कारणं ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

टीका—जो अधःकर्मरूप तथा औद्देशिकरूप आहारमय पुद्गलद्रव्य है वह चेतनात्मक शुद्ध आत्मद्रव्य से पृथक् होने के कारण सर्वथा अचेतन कहा गया है तब वह मेरे द्वारा किया हुआ कैसे हो सकता है ? कराया हुआ भी कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है । क्योंकि निश्चय रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के होने पर आहार के विषय में मन, वचन, काय और कृत कारित और अनुमोदना का अभाव होता है । इस प्रकार औद्देशिक दोष के व्याख्यान की मुख्यता से दो गायार्थ पूर्ण हुई । तात्पर्य यह है कि बादमे पहले या वर्तमान में कभी भी योग्य आहार आदि के विषय में मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदनारूप नव प्रकार के विकल्पो से जो शुद्ध है, रहित है उनके दूसरे के द्वारा बनाये हुए आहारादि विषयक बन्ध कभी नहीं हो सकता है । यदि दूसरे के परिणामो द्वारा बन्ध हो जाय तब कभी भी किसी का निर्वाण नहीं हो सकेगा, सो कहा भी है—

एव कोटि कम्म सुद्धो पच्छा पुर दोय सपदिय काले ।

पर सुहु दुख सिगमिति बन्धमिदि जदि एत्थि सिग्वाण ॥

अर्थात्—त्रिकाल सबधी कार्यों से मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदनारूप नव कोटि-तया जो दूर है ऐसा जीव भी दूसरो के सुख दुःख का निमित्त लेकर यदि बन्धता होवे तब तो किसी की भी मुक्ति नहीं हो सकेगी । अतः जो ज्ञानी जीव हैं अर्थात् जो आत्म-समाधि में लीन हैं उनके आहार ग्रहण करने से होने वाला बंध भी नहीं होता (क्योंकि वे उस प्रपञ्च से ही दूर हैं) । ऐसी व्याख्यान वाली चार गाथाओं से यह छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ ॥ २६६-३०० ॥

अब यह बताते हैं कि बिना रागादिनामों से आत्मा को बन्ध होता है सो रागादि विकारी भाव कैसे बनते हैं ?—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।

राइज्जवि अण्णेहिं दु सो रत्तावीहिं वब्बेहिं ॥ ३०१ ॥

एवं जाणी शुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥३०२॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
 रज्यतेऽन्येस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥३०१॥

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
 रज्यतेऽन्येस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥३०२॥

अर्थ व टीका—जैसे स्फटिक मणि जो कि निर्मल होता है वह किसी बाहरी लगाव के बिना अपने आप ही लाल आदि रूप परिणमन नहीं करता है किन्तु जपा पुष्पादि बाह्य दूसरे २ द्रव्य के द्वारा वह लाल आदि बनता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी उपाधि से रहित अपने चिच्छमत्कार रूप स्वभाव से वह शुद्ध ही होता है जोकि जपा पुष्प स्थानीय कर्मोदय रूप उपाधि के बिना रागादिरूप विभावो के रूप में परिणमन नहीं करता है । हा, जब कर्मोदय से होने वाले रागादिरूप दोष भावो से अपनी सहज स्वच्छता से च्युत होता है तब वह रागी बनता है । इससे यह बात मान लेनी पड़ती है कि रागादिक है वे सब कर्मोदय जनित है किन्तु ज्ञानी जीव के स्वयं के भाव नहीं है ॥ ३०१-३०२ ॥

इस प्रकार बिदानद ही है एक लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वभाव को जानता दुष्प्रा (अनुभव करता दुष्प्रा) ज्ञानी जीव रागादि नहीं करता है इसलिए वह तूतन रागादि की उत्पत्ति के कारण भूत कर्मों का कर्ता भी नहीं होता ऐसा प्राये बतलाते है—

णवि रागदोसमोहं कुब्बदि जाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥३०३॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभाव वा ।
 स्वयमेवात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ॥३०३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव स्वयं ही अपने आप में रागद्वेष द्वेष मोह भाव को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को नहीं करता है इसलिए वह उन भावो का करने वाला नहीं होता है ॥३०३॥

तात्पर्यवृत्ति—णवि रागदोसमोहं कुब्बदि जाणी कसायभाव वा ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोष-रहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभाव वा । कय न करोति ? सयं स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारण बिना । कस्य सर्वाधत्वेन ? अप्पणो आत्मन ए सो तेण कारगो तेसि भावाण तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति ।

अज्ञानी जीव शुद्धस्वभावकामात्मानमजानन् रागादीन् करोति तत म भाविरागादिजनकनवतरकर्मणा कर्ता भवतीत्युपदिशति—

टीका—(णवि रागदोष मोह कुब्जदि शाणी कसायभाव वा) रागादि दोषों से रहित जो शुद्धात्मा उसके स्वभाव से पृथक् रहने वाले रागद्वेष मोह भावों को तथा किसी भी प्रकार के कषाय भाव को क्रोधादि रूप परिणाम को ज्ञानी जीव नहीं करता क्योंकि वह (सममप्यणो एण सो तेण कारयो तेसि भावाण) कर्मोदय रूप सहकारी कारण के बिना अपने आप ही अपने उन विकार भावों का कर्त्ता शुद्ध भाव के द्वारा नहीं हो सकता ॥३०३॥

विशेषार्थ—यहां पर आचार्य श्री ने २६७-२६८-२६९ गाथाओं में स्पष्ट कर बताया है कि यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाव है स्वभाव को छोड़ कर विभाव रूप में परिणमन करने वाला है किन्तु वह अपने आप विभाव रूप कभी परिणमन नहीं करता। हा, जब कर्मोदयात्मक पर द्रव्यों का संयोग पाता है तभी विभाव रूप में परिणमन करता है। जैसे कि स्फटिक मणि श्वेत होता है वह लाल पीला आदि भी बनता है फिर भी श्वेत स्वच्छ तो अपने आप होता है किन्तु लाल पीला आदि तो वह डाक का सबंध पावे तब ही बनता है। आत्मा को भी ऐसी ही बात है। ज्ञानी इसको भली प्रकार जानता है इसलिए वह सब विकल्पो से दूर हटकर अपने आप, आत्मस्वरूप में तल्लीन रहता है, अब उसके लिए बाह्य निमित्त तो कोई रहा नहीं फिर अपने आप रागद्वेष मोहरूप कषाय भाव करे तो कैसे करे? इसलिए ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार के कषायभाव का करने वाला नहीं होता अर्थात् उसकी आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता।

श्ला—हमने तो सुना है कि ज्ञानी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं करता है इतर कषाय होने पर भी उसके ज्ञानी पन में कोई भी बाधा नहीं आती है।

समाधान—यहां पर तो आचार्य महाराज ने ऐसी कोई छटनी नहीं की है अपितु यहां तो स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञानी तो वह है जो किसी भी प्रकार की कषाय नहीं करता। और यह कहना ठीक भी है क्योंकि ज्ञानी को बंध इष्ट नहीं होता। क्योंकि सभी प्रकार के कषाय भाव से बन्ध होता है अतः ज्ञानी को फिर कोई भी कषाय कैसे इष्ट हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती! जैसाकि आत्मव्याप्ति के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है—ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, तत्तत्कालोत्कीर्णकजायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेष मोहादिभावानामकर्त्त वेति नियमः” अर्थात् ज्ञानी निर्विकल्परूप अपने शुद्ध स्वभाव से नहीं च्यवता इसलिए रागद्वेषमोहादि भावों से न तो अपने आप परिणमन करता है और न कोई दूसरा भी उसे उन विकारी भावों से परिणाम सकता है। क्योंकि वह तो टाकी से उकीरा हुआ भाव जैसा है सदा एकसा रहता है एक घटल जायक भाव मय बना रहता है इसलिए वह रागद्वेषमोहादि भावों का अकर्त्ता होता है ऐसा नियम है।

जब यह जीव शुद्ध स्वभाव रूप आत्मा को नहीं जानता हुआ अज्ञानी होता है तब रागादिकों को करने लगता है तो वह उनसे रागादिकों को पैदा करने वाले नवीन कर्मों का कर्त्ता बनता है ऐसा बताते हैं—

रायद्विषय य दोसद्विषय कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।

तेहिं दु परिणममाणो रायाई बंधवि पुणोवि ॥३०४॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चेव ये भावाः ।

तेस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥३०४॥

अर्थ—हा, रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूपमें परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बान्धने लगजाता है ॥३०४॥

तात्पर्यवृत्ति—रागद्वेष दोसद्विषय कषायकर्मसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते मति स्वम्यभावाव्युत्तस्य तदुदयनिमित्तेन य जीवगनरागादिभावा परिणामा भवति । तेहि दु परिणममानो रागादि बध्नि पुणोवि ते कृत्वा रागादिद्विषयभेदेनार्हमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषा रागादीनामज्ञानी जीव कर्ता भवतीति । तमवार्थं वृद्धयति ।

टीका—(रायद्विषय दोसद्विषय कषायकर्मसु चेव जे भावा) रागद्वेषादि कषायरूप द्रव्य कर्म के उदय आने पर अपने सहज भाव से चिग हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि भाव अर्थात् विकारी परिणाम होने हैं (तेहि दु परिणममानो रागादी बध्नि पुणोवि) उनमें मैं रागादि-रूप हैं इस प्रकार के भ्रम को लिये हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेष रूप होता हुआ वह फिरसे भावी रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्य कर्मों का बन्ध करने लग जाता है । इस प्रकार वह भ्रमानी जीव उन रागादिकों का कर्ता बनता है ॥३०४॥

इसी बात को आगे की गाथा में वृद्ध करते हैं—

रायद्विषय दोसद्विषय कषायकर्मसु चेव जे भावा ।

ते मम दु परिणमन्तो रागादी बध्ने चेदा ॥३०५॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चेव ये भावाः ।

तन्मम तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥३०५॥

अर्थ—रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मरे हैं इस प्रकार में परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है ॥३०५॥

तात्पर्यवृत्ति—पूर्वगाथायामह रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावाव्युत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तं । अथ तु शुद्धात्मभावनागरहितत्वेन मदीयो राग इति मन्वेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेष ? । किं च विस्मय—पञ्च मोहुरागद्वेषाद्याख्यायते तत्र मोहजब्देन दर्शनमोहः, मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यः । रागद्वेषजब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकक्षारित्रमोहा ज्ञातव्यः । अत्राह जिण्य—मोहजब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषा नास्ति रागद्वेषजब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते ? इति पूर्वपक्षे परिहार ददाति—कषायवेदनीयमिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानो द्वेषागो द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभो रागागो रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसजाचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुत्रपुत्रसर्ववेदनयहाम्यरतय पञ्च लोकपाया रागाया रागोत्पादकत्वात्, अस्तिभय शोकजुगुप्सा मत्ता चत्वारो द्वेषागो द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहजब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्व भण्यते, राग द्वेषजब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यः । एव कर्मबन्धकारणं रागादयः, रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापञ्चक यत् ।

अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—

टीका.—इससे पहली गाथा में तो मैं स्वयं रागादिरूप हूँ इस प्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणामन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न करने वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है ऐसा बता आए हैं, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं कि बुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह रागभाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ संबध करता है इतनी विशेषता है। हा, यहाँ पर यह बात जान लेने की है कि जहाँ पर रागद्वेष और मोह ये तीनों एक शब्द एक साथ आये वहाँ पर मोह शब्द से दर्शन मोह जोकि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिए और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्र्य मोह को समझना चाहिए। यहाँ शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक ही है इसमें दोष नहीं है किन्तु रागद्वेष शब्दसे चारित्र्य मोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नामवाले चारित्र्य मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अग्र है और माया और लोभ ये दोनों राग जनक होने से रागरूप हैं। इसी प्रकार नो कषाय वेदनीय नामक चारित्र्य मोह में स्त्री, वेद, पुरुष वेद, तपु सक वेद, हास्य, रति ये पांच नो कषाय रागोत्पादक होने से राग में आगई शेष भरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारो नो कषाय द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग द्वेष शब्द से चारित्र्य मोह, ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए। इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस सातवें स्थल में पांच गाथाये कही गई ॥३०५॥

सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि विकारी भावों का भ्रकर्ता कैसे है? सो बताते हैं —

अपडिकमणं दुविहं अपञ्चकल्लखाणं तथेव विण्णेयं ।

एदेणुं वदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा ॥३०६॥

अपडिकमणं दुविहं दब्बे भावे तहा अपञ्चजल्लखाणं ।

एदेणुवदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा ॥३०७॥

जाव ण पञ्चकल्लखाणं अपडिकमणं च दब्बभावाणं ।

कुव्वदि आदा तावदु कत्ता सो होदि णादब्बं ॥३०८॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिकर्मणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।

एतेनोपवेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०६॥

अप्रतिकर्मणं द्विविधं ब्रह्मे भावे तथैवाप्रत्याख्यानं ।

एतेनोपवेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥३०७॥

यावन्न प्रत्याख्यानमप्रतिकर्मणं च ब्रह्म भावयोः ।

करोत्यात्मा तावत्तु कर्त्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥३०८॥

अर्थ—अप्रतिक्रमण यी दो प्रकार का है, अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है इस आगम के उपदेश से जान लेना चाहिये कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है। अप्रतिक्रमण द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी द्रव्य और भावके भेद से दो प्रकार का है इस आगम के उपदेश से आत्मा कर्मों का प्रकर्ता कहा गया है। क्योंकि जब तक आत्मा द्रव्य और भावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तबतक आत्मा कर्मों का करने वाला होता है ऐसा जानना चाहिये ॥३०६-३०७-३०८॥

तात्पर्यवृत्ति—अपडिक्कमण बुविहं अपच्चक्खत्ताण तद्देव विष्णुय पूर्वानुभूतविषयानुभवागादिस्मरणरूपप्रतिक्रमण द्विविध, भाविरागादिविषयाकाक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविध **एदेषुबवेसेण तु प्रकारगो बण्णिदो चेवा** एतेनोपदेशेन परमागमेन जायते कि जायते? चेति यितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति। **अपडिक्कमण बुविहं इव्वे भावे अपच्चक्खत्ताणपि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणम् प्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति **एदेषुबवेसेण तु प्रकारगो बण्णिदो चेवा** तदेव बधकारणमित्युपदेश आगम तेनोपदेशेन जायते, किं जायते? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणत शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीव स कर्मणा कारकः। तद्विपरीतोऽज्ञानी चेति यता पुनरकारक इति। तमेवार्थं दृढयति-**जाव ए पच्चक्खत्ताण** यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वभाववित्तलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति **अपडिक्कमणं तु इव्वभावाणं कुब्बदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति **आवा तावहु कत्ता सो होवि जावच्छो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीव कर्मणा कारको भवतीति ज्ञातव्यः। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणा कर्तुं, न च ज्ञानी जीव। यदि स एव कर्ता भवति? तदा सर्वदेव कर्तृत्वमेव। कथमातु? इति चेत् जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न भवदेव। तेन किं मिदं? यदा स्वस्थभावच्युतं सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानान्मां परिणमति तदा कर्मणा कारको भवति। स्वस्थभावे पुनरकारक इति भावार्थः। एवमज्ञानी जीव-परिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बधकारणं न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुक्त्यन्तेनाष्टमस्थने गाथात्रयं गतः।

अथ निर्विकल्पसमाधि रूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बधो मणितं स च हेयस्थानोपस्य नारकादिदुःखस्य कारणत्वाद्देवः। तस्य बधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—

सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं उदामोऽहं निरजनिनिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानुज्ञानानुष्ठानरूप-निश्चयरस्तत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंज्ञातवातरागमहं ज्ञानरूपमुखानुभूतिमात्रलसनेन स्वसंवेदनज्ञानेन सर्वेषां गम्य प्राप्य मरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार-भाव-कर्म-द्रव्यकर्म-लोकर्म-कथानि-पूजा-लाभ-दृढश्रुतानुभूतमोगाकाक्षारूपनिदानमायामिध्याणलक्ष्यत्रयादिसर्वविभावपरिणाम-रहितं शून्योऽहं, जगत्त्रये कानत्रयपि मनोवचनकार्यं कृत्नकारितानुमत्तैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवा इति निरतरं भावनां वत्तव्याः।

इति श्री जयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिनिराख्यायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण अहं एवमं कोवि पुरिसो इत्यादि मिध्याहण्टिमहण्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकः। निश्चयार्थहंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं अततत्रनानि पापपुण्यबधकारणानि त्यादिकथनेन गाथापच-दश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिदशुद्धमुखत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बधकारणमिति प्रति-पादनरूपेण गाथात्रयमित्येव समुदायेन षट्पञ्चाशद्गाथाभिरहमरितरागविकारं, अहमो बधाधिकारं समाप्तः।

टीका — (अपडिक्कमण दुविह अपच्चक्खण तहेव विण्णोयं) पूर्वकाल में अनुभव किये हुए विषयों का अनुभवन करने रूप रागादि का स्मरण करना सो अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। एवं आगामी काल में होनेवाले रागादि के विषयों की आकांक्षा रूप जो अप्रत्याख्यान वह भी दो प्रकार का है। (एदणुबदेसेण दु अकारगो वणिणदो चेदा) इस प्रकार के परमागम के उपदेश से जाना जाता है कि आत्मा दोनों प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानो से रहित है इसलिये वह कर्मों का प्रकर्ता है (अपडिक्कमण दुविह दब्बेभावे अपच्चक्खणपि) द्रव्य और भाव के रूप में अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी दो २ प्रकार के हैं। (एदणुबदेसेण य अकारगो वणिणदो चेदा) वह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही तो बन्ध का कारण है ऐसा आगम का उपदेश है जिससे यह जान लिया जाता है कि द्रव्य और भावरूप जो अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान है उसमें परिणत होता हुआ आत्मा शुद्धात्मा की भावना से च्युत होता है वह अज्ञानी ही कर्मों का करनेवाला होता है किन्तु उससे विपरीत स्वभाववाला अर्थात् शुद्धात्मा की भावना में लीन रहता हुआ प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मय जो ज्ञानी है वह बन्ध कारक नहीं होता है, इसी बात को दृढ़ता से कहते हैं कि (जावण पच्चक्खण) जितने काल तक द्रव्य और भावस्वरूप प्रत्याख्यान जो कि विकार रहित स्वस्वेदन लक्षण वाला है वह नहीं होता है (अपडिक्कमण दु दव्वभावाण कुब्बदि) और जितने काल तक द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण भी करता रहता है (आदा ताव दु कत्ता सो होदि णायव्वो) तब तक परमसमाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो कि कर्मों का करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है—जीव की अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप परिणति हो कर्मों को करने वाली होती है। ज्ञानी जीव (जोकि नियम से उस परिणति से रहित होता है) कर्मों का करने वाला नहीं होता यह बात स्पष्ट है। यदि वह (ज्ञानी जीव) कर्ता हो तो कर्तापन सदा ही बना रहे क्यों कि जीव (जोकि ज्ञान स्वभाव वाला है) तो सदा ही बना रहता है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रूप भाव रागादि विकल्प भाव हैं अतः वे अनित्य हैं, क्योंकि वे स्वस्थभाव से च्युत हुए जीवों के ही होते हैं इसलिये सदा नहीं होते हैं। इससे यह बात सिद्ध होगई कि जब यह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के रूप में परिणत होता है उस समय में कर्मों का करने वाला होता है, और स्वस्थ भाव में रहने पर फिर अकर्ता होता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार अज्ञानी जीव की परिणतिरूप जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है वही बन्ध का कारण है किन्तु ज्ञानी जीव बन्ध का कारण नहीं। इस कथन की मुख्यता से इस आठवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥ २०६-२०७-२०८ ॥

अब निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान इन दोनों से रहित जो जीव हैं उनके बन्ध बताया गया है वह त्यागने योग्य सम्पूर्ण नरक आदि के दुखों का कारण है इस लिये हेय है अतः उस बन्ध के नाश के लिए जो भावना होती है उसे कह रहे हैं कि—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द रूप एक स्वभाव वाला हूँ, विकल्प रहित हूँ, उदासीन हूँ, निरजन जो निज शुद्धात्मा उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो निश्चय रत्नत्रय है उस रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहजानन्द रूप सुख उसकी अनुभूति मात्र ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वस्वेदन के द्वारा सवेद्य है, जानने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है वह मैं हूँ, अरित अर्थात् सत्पुष्ट अवस्था वाला हूँ, राग, द्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं पचेन्द्रियों के विषयों में होने वाला व्यापार मन, बचन और काय का व्यापार तथा भावकर्म, लोकर्म, द्रव्यकर्म, क्ष्याति, लाभ, पूजा, एवं देखे गये, सुने गये तथा अनुभव में लाए गये जो भोग उनकी आकांक्षा रूप निदान शल्य, माया शल्य, और मिथ्या शल्य इन तीनों शल्यों से

रहित तथा और भी सब प्रकार के विभाव परिणामों से रहित है, शून्य है, तीन लोक और तीन काल में मन, वचन, काय और कृत कारित-श्रमुमोदना द्वारा शुद्ध निश्चयनय से तो मैं ऐसा ही हूँ और ऐसे ही सब जीव हैं इस प्रकार की भावना निरन्तर करनी चाहिये ।

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुभूति के लक्षण वाली श्री समयसार जी की तात्पर्य नाम की टीका के हिन्दी रूपान्तर में जैसा कि लिख आये है “जह गाम कोवि पुरिसो” इत्यादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की व्याख्या में दश गाथायें, निश्चय-हिंसा के कथन में मान गाथायें निश्चयसे रागादि विकल्प ही हिंसा है ऐसा कथन करने वाली छह गाथायें, अन्नत पाप बन्धक है तो व्रत पुण्य बन्धक इत्यादि कथन पन्द्रह गाथाओं में, निश्चयनय में स्थित होने पर व्यवहारनय छूट जाता है ऐसा कथन मुख्यता से छह गाथाओं में, पिण्डशुद्धि की मुख्यता से चार गाथाओं में, निश्चयनय से रागादिक है सो कर्म जनित है यह कथन मुख्यता से पांच गाथाओं में, निश्चयनय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बन्ध के कारण है यह कथन तीन गाथाओं में, इस प्रकार समुदाय से छापन गाथाओं में आठ अन्तर अधिकारों द्वारा यह आठवा बधाधिकार समाप्त हुआ ।

नवाँ महाधिकार (मोक्ष तत्व)

तात्पर्यवृत्ति — तत्रैव सति पावस्वानीयशुद्धात्मनः सकाशात्पुण्यश्रुत्वा शृ गारस्थानीयस्यो निष्कृत ।
अथ प्रविशति मोक्ष —

जहगाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादि कृत्वा यथाश्रमण द्विविजतिगाथापर्यन्तं माक्षपरायं व्याख्यानं करानि—तत्रादौ माक्षपदायस्य सत्त्वैषव्याख्यानरूपेण गाथामग्नय, तदनन्तरं माक्षकारणभूतभेदविज्ञानसत्त्वैषसूचनार्थं बधाण च सहाव इत्यादि सूत्रचतुष्टय अतः परं तन्मयं भेदज्ञानस्य विशेषप्रविबर्गगाथा पण्णाए घेतब्बो इत्यादि सूत्रपञ्चक तदनन्तरं बीतरागचारित्रजनहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणाधिक विषकुम्भ सरागचारित्रस्याभूतकुम्भ इति युक्तिसूचन-मुख्यत्वेन ते यादौ अचराहे इत्यादि सूत्रपट्क कथयन्तीति द्विविजतिगाथाभिः स्थलचतुष्टय माक्षाविरार समुदायपान्तिका तथा विविगटभेदज्ञानावष्टमेन बधात्मना पृथक्करणं मोक्ष इति प्रणिपादयति—

वहा पात्र के स्थान पर जो शुद्धात्मा है उसके पास मैं से शृ गारस्थानीय जो बंध है वह तो चला गया है । अब मोक्ष प्रवेश कर रहा है सो “जहगाम कोवि पुरिसो” इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके बावीस गाथा पर्यन्त मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान कर रहे हैं । वहा सबसे पहले सात गाथाओं में मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान है । तत्पश्चात् मोक्ष के कारणभूत भेद विज्ञान की सूचना देने के लिये ‘बधाण च सहाव’ इत्यादि चार गाथायें हैं । फिर उसी भेद विज्ञान का विशेष वर्णन करने के लिये ‘पण्णाए घेतब्बो’ इत्यादि पांच गाथायें हैं । पश्चात् बीतरागचारित्र वाले जीव के लिये द्रव्य प्रतिक्रमणादिक विषकुम्भ है किन्तु सराग चारित्र वाले के लिये वही अभूतकुम्भ है इस प्रकार की युक्ति की मुख्यता लेकर ‘ते यादौ

भवरोहे' छह गाथायें हैं। इस प्रकार बाबीस गाथाओं से बार स्थल वाले मोक्ष अधिकार की यह समुदाय पातनिका है।

यहा विविष्ट भेदज्ञान के बल से बन्ध और भ्रामा को पृथक् करना, सो मोक्ष है ऐसा बताते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणियद्धि चिरकालपडिबद्धो ।

तिव्वं मंदसहावं कालं च विद्याणवे तस्स ॥३०६॥

जइ णवि कुव्वदि छेदं ण मुंचदि तेण कम्मबंधेण ।

कालेण वहुएणवि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥३१०॥

इय कम्मबंधणाणं पयेसपयडिट्ठिवीय अणुभागं ।

जाणंतोवि ण मुंचदि मुंचदि सब्बे जदि विसुद्धो ॥३११॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकाल प्रतिबद्धः ।

तीव्रं मंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥३०६॥

यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन कर्म बंधेन ।

कालेन बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ॥३१०॥

इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिभेदमनुभागं ।

जानन्नपि न मुंचति मुंचति सर्वान् यदि विशुद्ध ॥३११॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बन्धन में बंधा हुआ है तथा उस बन्धन के तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है कि यह इतने दिन से है, फिर भी यदि उस बन्धन का छेद नहीं करता है तो वह बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बहुत काल हो जानेपर भी उससे मुक्त नहीं हो सकता है उसी प्रकार कर्म के बन्धनो की बात है। उनके भी प्रदेश, स्थिती, प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं उनको जानता हुआ भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है। यदि रागादि को छोड़कर शुद्ध होता है तो वही बन्धन से छूट सकता है ॥३०६-३१०-३११॥

तात्पर्यवृत्ति—जह णाम इत्यादि यथा कश्चित्पुरुष बंधनके चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बन्धस्य तीव्रमद-स्वभाव जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता। जानन्नपि यदि बन्धच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबंधविशेषेणामुच्यमानं सत् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टातो यतः। अथ इय कम्मबधराणां पदेसपयडिट्ठिवीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि एव ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न-कर्मबंधनानां प्रदेश प्रकृतिस्थिति, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुंचति। मुंचदि सब्बे जदि विसुद्धो यदा मिथ्यात्व-रागादिरहितो भवति तदाऽननज्ञानादिमुष्णस्फुटपरमात्मस्वरूपे स्थितं सर्वान्कर्मबंधान् मुंचति। अथवा पाठांतर मुंचदि सब्बे जदि स बन्धे मुच्यते कर्मणा यदि किं सिध्यति क्षिनति कायं? सर्वबंधान्। अनेन व्याख्यानं ये प्रकृत्यादिबधपरिज्ञानमात्रेण सत्पुष्टास्ते प्रतिबोध्यते। कथं? इति चेत् बधपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपनिबिड्यरूपवैतराग-

चारित्ररहितानां स्वर्गादिमुखनिमित्तभूत पुण्यबधो भवति न च मोक्ष इति दाष्टांतगाथा गता । एतेन व्याख्यानं कर्मबन्ध-
प्रपञ्चरचनाविषये । धर्मात्मापरिजानेन सतुष्टा निराक्रियते ।

टीका.—(जह गाम इत्यादि) जैसे कोई पुरुष चिरकाल से बन्धन में बधा हुआ उसके तीव्र या मन्द स्वभाव को भी जानता है एवं उसके काल को भी जानता है । यह एक गाथा हुई । इस प्रकार से जानता हुआ भी यदि वह बन्ध को नहीं छेदता है तो उससे वह नहीं छूटता है एवं उस बन्धन से नहीं छूटता हुआ वह पुरुष चिरकाल तक भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है । यह दो गाथाओं में दृष्टांत हुआ । (इय कम्मबधणाण पदेसपयडिट्ठिदीय भग्गुभाग जागतो वि ए मुच्चच्च) उसी प्रकार ज्ञानावरणादि भूलोत्तर प्रकृतियों के भेद से नाना भेद वाले जो कर्मों के बन्धन हैं उनके प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्म से मुक्त नहीं होता है । (मु च्चिद सव्वे जदि विसुद्धो) जब कि मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाता है तो अनन्तज्ञानादि गुणात्मक परमात्मा के में स्वरूप स्थित होता हुआ वह सभी कर्मों को छोड़ देता है उनमें रहित हो जाता है । इसका दूसरा पाठ यह है कि (मु च्चिद सव्वे जदि म बधे) हा, यदि उन सभी कर्मबन्धों को छेद डालता है तो कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है । इस कथन से आचार्यदेव ने जो प्रकृति स्थिति आदि रूप कर्म बन्ध के परिज्ञान मात्र से सतुष्ट हुए बैठे हैं (हमको कर्म बन्ध का ज्ञान तो है परंतु हमने कुछ नहीं करना है क्योंकि ज्ञानमात्र से मोक्ष होता है ऐसा बताया है) उनको समझाया है कि हे भाई ! स्वरूप की उपलब्धिरूप बीतराग चारित्रसे रहित जीवों के बन्ध के परिज्ञानमात्र से स्वर्गादिक के मुख का निमित्तभूत पुण्य बन्ध ही होता है मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार यह दाष्टांत की गाथा हुई । इस कथन में उन लोगों का निराकरण किया है जो कर्मबन्ध की प्रपञ्च की रचना (बन्धोदयादिरूप) के विषय में चिन्ता कर लेने रूप ज्ञान मात्र से सतुष्ट हुए बैठे हैं ॥ ३०६-३१०-३११ ॥

इमो का और स्पष्ट करते हैं —

जह गंधे चित्ततो गधणबद्धं ण पावदि विमोक्ख ।

तह गंधे चित्ततो जीवोवि ण पावदि विमोक्ख ॥३१२॥

यथा बंधान् चित्तयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधान् चित्तयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्ष ॥३१२॥

धर्म—जैसे बन्धन में बधा हुआ कोई पुरुष इन बन्धों के विषय में विचार करने मात्र से बन्धन मुक्त नहीं होता पाता है वैसे ही जीव भी कर्म बन्धनों के विषय में चिन्तन करने मात्र से उनसे मुक्त नहीं हो सकता है ॥३१२॥

तात्पर्यवृत्ति—जह बधे चित्ततो बधणबद्धो ण पावदि विमोक्ख यथा कश्चित्पुरुषो बधनबद्धो बध चित्तयमानो मोक्षं न लभते तह बधे चित्ततो जीवोवि ण पावदि विमोक्ख तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-
बध चित्तयमान स्वशुद्धात्मावाप्तिवशः मोक्षं न लभते । किं च ममस्तं शुभाशुभबहिर्द्वय्यावबन्धरहितचिदानन्दैकशुद्धात्म-
वलम्बनस्वरूपबीतरागमध्यानशुक्लमध्यानरहितो जीवः, बधप्रपञ्चरचनाचिंतारूपसरागमध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिमुख-
कारणपुण्यबन्धं लभते न च मोक्षमिति भावात् ।

अथ कस्तहि मोक्षहेतुरिति प्रश्न प्रत्युत्तर ददाति—

टीका — (जह बन्धे चिन्ततो बंधण बढो एण पावदि विमोक्ख) जैसे बंधन से बंधा हुआ कोई भी पुरुष उनके विषय में विचार करने मात्र से ही बंधन मुक्त नहीं हो जाता है । (तह बन्धे चिन्ततो जीवोविण पावदि विमोक्ख) उसी प्रकार जीव भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बंध के विषय का मात्र विचार करता हुआ हो स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका उस मोक्ष को कभी प्राप्त नहीं हो सकता है । भावार्थ यह है कि समस्त शुभ और अशुभ बाह्य द्रव्यों के आलम्बन से रहित चिदानन्दरूप शुद्धात्मा के आलम्बन स्वरूप जो वीतराग धर्म्यध्यान या शुक्ल ध्यान से रहित जीव, बंधप्रपञ्च की रचना की चित्तरूप सराग धर्म्य ध्यान स्वरूप शुभोपयोग से, स्वर्गादि सुख का कारणभूत पुण्यबंध प्राप्त करता है परन्तु मोक्ष नहीं पाता है ॥३१२॥

इस पर प्रश्न होता कि फिर मोक्ष कैसे होगा? इसका उत्तर देते हैं —

जह बंधे मुत्तूण य गंधण गंधो उ पावदि विमोक्खं ।

तह गंधे मुत्तूणय जीवो संपावइ विमोक्खं ॥३१३॥

यथा बंधांश्छित्त्वा च बंधनबद्ध स्तु प्राप्नोति विमोक्षं ।

तथा बंधांश्छित्त्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ॥३१३॥

अर्थ—जैसे बंधन से बंधा हुआ पुरुष उस बंधन को काट कर मुक्त होता है वैसे ही जीव भी कर्मबंध को काट कर ही मोक्ष पामकता है और प्रकार नहीं ॥३१३॥

तात्पर्यवृत्ति — जह बन्धेमुत्तूणय बंधणबद्धोय पावदि विमोक्ख तह बन्धे मुत्तूणय जीवो संपावदि विमोक्ख यथा बंधनबद्ध कश्चित्पुरुषो रज्जुबद्ध शुक्लत्वय काष्ठिनिगलबध्वा कमपिबध्दं छित्त्वा कमपि मित्वा कमपि मुक्तत्वा स्वकीयविज्ञानपौषवबलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानायुधेन बध्दं छित्त्वा द्विषाकृत्वा मित्वा विदार्य मुक्त्वा छाटयित्वा च निज शुद्धात्मोपलभस्वरूपमोक्षं प्राप्नोतीति । अत्राह शिष्यं प्राप्नुतमग्रे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तत्र घटने कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते—सत्तात्त्विकानुरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमन निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञान निर्विकल्पं भण्यते परन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न, किंतु स्वरूपेणैव सन्निकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारकश्चित्सन्निकल्पमपि च कश्चिन्निर्विकल्पं च । तथापि यथा विषयामदरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंविन्निकल्प-रूपेण मविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथापि स्वशुद्धात्ममवित्तिरूपं वीतराग स्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंविन्नकारिकविकल्पेन सन्निकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते यत् एवैवापूर्वस्वसंवित्पाकारानुभूत्यप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहित सूक्ष्मविकल्पा अपि सति तत् एवकारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धं इदं निर्विकल्पमविकल्पस्य । तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतत्कंशास्त्रानुसारेण विज्ञेयेण व्याख्यायते नदा महान् विस्तरः भवति नचाध्यात्मशास्त्रत्वात् कृतं । एव मोक्षपदार्थसंश्लेषसूचनार्थं प्रथमस्थले गायामत्तकं गतं ।

अथ किमयमेव मोक्षमार्गं ? इति चेत्—

टीका—(जह बधे छित्पूण य बधण बधो दु पावदि विमोक्ख) जैसे बधन मे बधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के बध को, साकल के बध को, व काठ को बेड़ी के बध को किसी को तोड़कर, किसीको फोड़कर एव किसी को खोल कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बधन से छुटकारा पाता है (तह बधे छित्पूण य जीवो सपावइ विमोक्ख) उसी प्रकार यह जीव भी बीतराग एव विकल्प रहित स्वसवेदन-ज्ञान के बल से बध को छेद कर, उसे दो रूप कर अर्थात् भिन्न २ कर, खोलकर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलभ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि इस प्राभृत ग्रन्थ मे निर्विकल्प स्वसवेदन ज्ञान होता हुआ बताया गया है वह तो किसी भी प्रकार घटित नहीं होता है क्योंकि चक्षु, श्रादि के द्वारा दर्शन होता है जो कि सत्ता मात्र अवलोकन स्वरूप है उसे जैनमत मे निर्विकल्प कहा है। हा, बौद्धमत मे ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है, किन्तु वह भी उत्तर क्षण मे विकल्प का जनक होता है परन्तु जैनमत मे ज्ञान विकल्प का उत्पादक न होकर अपने स्वरूप से ही सविकल्प तथा स्व पर प्रकाशक कहा गया है। इसका उत्तर यह है कि जैनमत अनेकान्तात्मक है इसलिए ज्ञान को कथञ्चित् सविकल्प और कथञ्चित् निर्विकल्प कहा गया है। जैसे विषयानुदरूप सराग स्वसवेदन ज्ञान होता है वह सराग सवित्ति के विकल्प रूप तो सविकल्प होता है किन्तु वही पर शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पो का सद्भाव होने पर भी वहा पर उनकी मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहा जाता है। वैसे ही अपने शुद्धात्मा की सवित्तिरूप बीतराग स्वसवेदन ज्ञान होता है वह भी स्वसवित्तिरूप एक आकार से तो सविकल्प होता है फिर भी वहा पर बाह्य विषयो के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं उनके होने पर भी उनकी वहा मुख्यता नहीं होती इसलिए उसे निर्विकल्प भी कहते हैं। और ईहापूर्वक स्वसवित्त्याकार जो अन्तर्मुख प्रतिभास होता है वही पर बहिर्विषयो के भी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी होते हैं इसलिए वह स्व पर प्रकाशक भी होता है, यही निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञान का तथा स्व पर प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान स्पष्ट मिद्वि है। इसीका आगम अध्यात्म तर्क शास्त्र के अनुसार विशेष व्याख्यान किया जावे तब तो बहुत विस्तार हो जावे सो इस अध्यात्म शास्त्र मे नहीं किया गया है ॥३१३॥

इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की संक्षेप सूचना करते हुए सात गाथाओं द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ। (गाथा न० ३१३ मे जह बधे छित्तगय, जह बधे भित्तगय, जह बधे मुत्तूणय इत्यादि इस प्रकार तीन प्रकार से पाठ पाया जाता है इस प्रकार पांच गाथाओं के स्थान मे सात गाथाये समझ लेना चाहिए)

क्या यही मोक्ष का माग है इसका ममावान करने है।

बंधाणं च सहाव वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।

गंधेसु जो ण रज्जदि सो कम्मविमोक्खण कुणई ॥३१४॥

बंधानां च स्वभाव विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।

बंधेषु यो न रज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥३१४॥

अर्थ—बध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव का ज्ञान कर जो पुरुष विरक्त होता है वही कर्मों को काट सकता है ॥३१४॥

तात्पर्यवृत्ति — बंधारणं च सहायं वियागिदुं भावबंधानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा कथं ज्ञात्वा ? मिथ्यात्वस्वभावो हेतुोपादेयतत्त्वविषये विपरीतमिनिबोधो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पञ्चेन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति न केवलं बधस्वभावं ज्ञात्वा अर्पणो सहाय च अनतज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावः च ज्ञात्वा बंधेषु जो न रज्ज्वि द्रव्यबधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबधेषु निविकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते सो कम्मविमोक्षरणं कुराणं स कर्म विमोक्षणं करोति ।

अथ केन कृत्वात्मबंधो द्विधा भवति ? इति चेत् ।

टीका — (बंधारणं च सहायं वियागिदुं) भावबंधं मिथ्यात्व और रागादिक हैं उनके स्वभाव को जानकर हेय उपादेय के विषय में विपरीत मान्यता (अर्थात् हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझना) मिथ्यात्व कहलाता है । पञ्चेन्द्रियो के विषय में इष्ट और अनिष्ट का विचार होना रागादिक का स्वभाव है उसे जानकर (अर्पणो सहाय च) केवल बध स्वभाव को ही नहीं परन्तु आत्मा के अनत ज्ञानादि स्वभाव को जानकर (बंधेषु जो ए रज्ज्वि) द्रव्यबध के हेतुभूत मिथ्यात्व और रागादिरूप भाव बध है उनमें निविकल्प समाधि के बल से रजायमान नहीं होता (सो कम्मविमोक्षरणं कुराई, वह कर्मों का नाश करता है ॥३१४॥

इस पर प्रश्न होता है कि आत्मा और बन्ध को किस प्रकार भिन्न भिन्न किया जाय ?

जीवो बंधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि गियएहि ।

पण्णाछेदणएण तु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥३१५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्यते स्वलक्षणाम्यां नियताम्यां ।

प्रज्ञाद्येवकेन तु छिन्नो नानात्वमापन्नो ॥३१५॥

अर्थ—जीव और बन्ध इन दोनों को निश्चित अपने अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छेनी से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये कि ये नानापन को प्राप्त हो जावें ॥३१५॥

तात्पर्यवृत्ति — जीवो बधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि गियएहि यथा जीवस्तथा बधश्चंती द्वौ छिद्यते पृथक्क्रियेते, काम्या कृत्वा ? स्वलक्षणरूपाम्या निजकाम्या पण्णाछेदणएण तु छिण्णा णाणत्तमावण्णा प्रज्ञाछेदनं कलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नी सती नानात्वमापन्नी इति । तथाहि—जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, बधस्य लक्षणं मिथ्यात्वरागादिकं, ताम्यां पृथक्कृती । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदेनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञं च छेप्येव छुरिका तया एवेत्यर्थः । छिन्नी सती नानात्वमापन्नी ।

आत्मबधयोर्द्विधाकरणे किं साध्य ? इति चेत्—

टीका — (जीवो बधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि गियएहि) जैसे जीव और बध यह दोनों अपने अपने लक्षणों द्वारा पृथक् किये जाते हैं (पण्णाछेदणएण तु छिण्णा णाणत्तमावण्णा) उसी प्रकार प्रज्ञा-रूपी छेनी है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा भिन्न किये हुए भिन्नता को प्राप्त हो जाते हैं । क्योंकि जीव का लक्षण शुद्ध चैतन्य है और बध का लक्षण मिथ्यात्व रागादिक है उनके द्वारा भिन्न भिन्न

कर लिये जाते हैं। किससे पृथक् किये जाते हैं? कि शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा वही है छेदने वाली छूरी उससे पृथक् किये जाते हैं। छिन्न २ होने पर वह नानापन को प्राप्त हो जाते हैं ॥३१५॥

आत्मा और बन्ध इन दोनों का पृथक्करण होने पर क्या मिटि होती है?—

जीवो बंधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि नियएहि ।

माघोछेदेदब्बो सुद्धो अप्पा य घेत्तब्बो ॥३१६॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्या नियताभ्यां ।

बंधश्चेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥३१६॥

अर्थ—जीव और बन्ध इन दोनों का निश्चित अपने ० लक्षणों द्वारा इस प्रकार पृथक् करना कि बन्ध तो छिदकर भिन्न हो जाय और आत्मा मात्र रह जाय वह ग्रहण किया जाय ॥३१६॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवो बंधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि नियएहि जीवबन्धो दो पूर्वोक्ताभ्या स्वलक्षणाभ्या निजकाम्या । छिद्येते पूर्ववत् । ततश्छेदानंतर कि माध्य ? बंधो छेदेदब्बो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मनत्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचररूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिका मिथ्यात्वगगादिरूपा बंधश्चेत्तव्य शुद्धात्मन सकाशात्पृथक्कतव्य । सुद्धो अप्पाय घेत्तब्बो बीतरागसहजपरमानन्दलक्षणं सुखसमरसीमावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्राय ।

इदमेवान्मबन्धयोर्निर्घाकरणे प्रयोजनं यद्द्वयपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति—

टीका—(जीवो बंधो य तथा छिज्जन्ति सलक्खणेहि नियएहि) जीव और बन्ध ये दोनों पूर्वोक्त अपने ० लक्षणों द्वारा ऊपर लिखे अनुसार पृथक् कर लिये जाते हैं उसका फल यह है कि (बन्धो छेदेदब्बो) विशुद्ध ज्ञान और दर्शन ही है स्वभाव जिसका ऐसे परमात्म तत्व का समोचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय, तत्त्वरूप जा भेद विज्ञान वही हुई छुरी उसके द्वारा मिथ्यात्व और रागादिभ्य बन्ध वह ता छेद डाला जावे, शुद्धात्मा से पृथक् कर दिया जावे (सुद्धो अप्पा य घेत्तब्बो) किन्तु बीतराग सहज परमानन्द है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा का सुख समरसी भाव के द्वारा ग्रहण कर लिया जावे यही आत्मा तथा बन्धको पृथक् करने का प्रयोजन है ।

आत्मा तथा बन्ध को पृथक् करने का प्रयोजन यह है कि बन्ध को त्याग कर शुद्धात्मा ग्रहण कर लिया जावे ऐसा भाग्य बताते हैं ।

कहसो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।

जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णाएव घित्तब्बो ॥३१७॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।

यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य ॥३१७॥

अर्थ—विषय पूछना है कि शुद्धात्मा कंग ग्रहण किया जाता है तो उत्तर मिलता है कि प्रज्ञा के द्वारा ही वह

ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा वह बंध से विभक्त किया गया है वैसे ही प्रज्ञा के द्वारा वह ग्रहण के योग्य भी है ॥३१७॥

तात्पर्यवृत्ति—कह सो घिप्पदे अण्णा कथं स गृह्यते आत्मा हृष्टिविषयो न भवत्यभूत्तात्वात्, इति प्रश्न ? पण्णाए सो दु घिप्पदे अण्णा प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तर । कथं ? इति चेत् जह पण्णाए विभत्तो यथा पूर्व-सूत्रे प्रज्ञया विभक्त, रागादिभ्यः पृथक्कृत तह पण्णाएव घित्तव्वो तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य । ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्य ? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्य शुद्धस्यात्मन स्वयमात्मानं गृह्णतीति विमज्जत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य ।

कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

टीका—(कह सो घिप्पदे अण्णा) आत्मा तो भ्रमूर्त है अतः वह हृष्टि का तो विषय नहीं है तब फिर वह कैसे ग्रहण किया जा सकता है, ऐसा प्रश्न, होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि (पण्णाए सो दु घिप्पदे अण्णा) वह बुद्धि के द्वारा, भेद ज्ञान के द्वारा ही, ग्रहण किया जा सकता है (जह पण्णाए विभत्तो) जैसे पूर्व सूत्र में प्रज्ञा के द्वारा ही वह विभक्त किया गया है रागादि से पृथक् किया गया है (तह पण्णा एव घित्तव्वो) उसी प्रकार प्रज्ञा से ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिये । तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा कैसे प्राप्त किया जाय ? उसका एक ही उत्तर है कि विवेक बुद्धि से ही शुद्धात्मा प्राप्त किया जाय क्योंकि जैसे शुद्धात्मा का विभक्त करने के लिये आत्मा के पास विवेक बुद्धि ही कारण है वैसे ही उसे ग्रहण करने के लिये भी उसके पास वही एक कारण है । इसलिये जैसे विवेक बुद्धि के द्वारा उसे पृथक् किया वैसे ही उसी से उसे ग्रहण कर लेना चाहिये ॥३१७॥

इम आत्मा को प्रज्ञा से कैसे ग्रहण करना सो बताते हैं—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहन्तु निञ्चयदो ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेति णादव्वा ॥३१८॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥३१८॥

अर्थ—जो चेतनावान है सो नियम से मैं हूँ उसके सिवा जितने भी भाव हैं वे मम मेरे से भिन्न हैं इम प्रकार विवेक बुद्धि से शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिये ॥३१८॥

तात्पर्यवृत्ति—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावान्ते मम परे इति ज्ञातव्या । यो हि निश्चयतः स्वलक्षणवलम्बित्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अग्नये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवहृत्यमाणाभावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायातोऽन्यतमतो मिश्रास्ततोऽहमेव मयैव मज्जमेव मत् एव, मयैव मामेव शुक्लामि, यत् किल शुक्लामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानयैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमान

चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रोपायोऽस्ति । भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते चिन्मुद्राकितनिविभाग-
महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहमिदं यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यता न भिदास्ति काचन विनो भावे
विशुद्धे चिति ॥१॥

टोका—नियम से स्वलक्षण का अवलम्बन करने वाली ऐसी बुद्धि से चेतन स्वरूप आत्मा प्रविभक्त
हुआ—(जाना गया, पहिचाना गया) वही मैं है और जो शेष अपने २ लक्षण से लखे जाने वाले भाव हैं जो
कि व्यवहार में आते हैं, किन्तु व्यापक चेतनतापन के व्याप्यपने को प्राप्त नहीं होते हुए चेतन से शून्य
है वे सब भाव मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं । इसलिये मैं ही मेरे द्वारा ही मेरे लिये ही, मेरे से ही मुझ में ही
और मुझ को ही ग्रहण करता हूँ जो कुछ ग्रहण करता हूँ वह सब आत्मा के एक चेतना ही क्रिया है,
इसलिये चेतना ही है चेतना हुआ ही चेतता है चेतते हुये के द्वारा ही चेतता है, चेतते हुये के लिये ही
चेतता हूँ, चेतते हुये से ही चेतता हूँ, चेतते हुये को ही चेतता हूँ । अथवा न तो चेतता ही हूँ, न चेतता
हुआ ही चेतता हूँ, न चेतने हुये द्वारा ही चेतता हूँ, न चेतते हुये के लिये ही चेतता हूँ, न चेतते हुये से ही
चेतता हूँ, न चेतते हुये में ही चेतता है और न चेतते हुये को ही चेतता हूँ । तो फिर कैसा हूँ ? कि सब
विशुद्ध चेतन्यमात्र भाव हूँ । जैसा कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी लिखते हैं—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते ।
चिन्मुद्राकितनिविभाग महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं ॥
भिद्यते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यता न भिदास्ति काचन विनो भावे विशुद्धे चिति ॥

अर्थ—ज्ञानी जीव सोचता समझता है कि जिनको भिन्न किया जा सकता है उन सब परभावों को
निज लक्षण के बल से पृथक् करके चेतन्य चिह्न से चिह्नित एवं विभाग रहित महिमावाला मैं तो शुद्ध
चेतन्यमात्र ही हूँ, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारक भेद तथा सत्त्व, असत्त्व, तिन्यत्त्व, अनित्यत्त्व,
एकत्व, अनेकत्व आदि धर्म भेद और ज्ञानदर्शन आदि गुणभेद किये जाते हों तो किये जावें किन्तु उन
सब में व्यापक होकर रहनेवाले भावस्वरूप परम शुद्ध चेतन्य प्रभु में उनसे कोई भेद नहीं होता ॥३१८॥

विशेषार्थ—पराधिन रूप प्राप्त्यभाव से दूर होने के लिये पहले तो ज्ञानी जीव कर्ता कम आदि षट्
कारकों को अपने आप में ही घटित करता है फिर उस भेदभाव से भी दूर होकर अपने आप अवलम्ब स्वरूप
हो जाता है इसी बात का यहाँ बताया है ।

उसी चेतन्य के ज्ञातृत्व व दृष्टत्व य दो धर्म हैं उनको लेकर कथन करते हैं—

पण्णाए धित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु निच्छयओ ।

अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥३१९॥

पण्णाए धित्तव्वो जोणावा सो अहं तु निच्छयदो ।

अवसेसो जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥३२०॥ (युग्मं)

प्रजया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।

अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥३१९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।

प्रवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥३२०॥

अर्थ—विवेक बुद्धि के द्वारा भगीकार करना कि नियम से जो देखने वाला है वह मैं हूँ किन्तु प्रवशेष जितने भी भाव हैं वे सब मेरे से परे हैं । इसी प्रकार विवेक बुद्धि के द्वारा यह भी स्वीकार करना कि जो ज्ञाता है वह तो नियम से मैं हूँ, उसके सिवाय जितने भी भाव हैं वे सब मेरे नहीं हैं किन्तु मुझसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१९-३२० ॥

तात्पर्यवृत्ति—प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः, प्रवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्या । प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः, प्रवशेषा ये भावा ते मम परा इति ज्ञातव्या चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पा-नतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व चारमन स्वलक्षणमेव । ततोह द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि । यत्किंल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यत-मेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यत पश्यामि, न पश्यत पश्यामि । किं तु सर्वविशुद्धो दृष्ट्वाभावो भावोऽस्मि । अपि च ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किंल गृह्णामि तज्ज्ञानमेव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानतमेव जानामि । अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानत जानामि, न जानत जानामि । किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिभावनो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दानज्ञानविकल्पो नातिक्रामति येन चेतयिता दृष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तुना सामान्य-विशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, तत सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातितावत्त्वाच्चेतनैव भवति । तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयादर्शनज्ञानातिमर्कं चेतनाम्युपगतव्या ।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्, तत्सामान्यविशेषरूपपरिहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।

तस्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चातमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥१॥

एकचित्तचित्चिन्मय एव भावो, भावा परे ये किल ते परेषां ।

आद्यस्तत्तचित्चिन्मय एव भावो, भावा परे सर्वत एव हेया ॥२॥

निश्चयतोऽप्रवशेषा ये रोगादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानन्दैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्या । अत्राह जिह्व—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदो न स, एकैवचेतना तनो ज्ञाता दृष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति ? अत्र पूर्व-पक्षे परिहार—सामान्यब्राह्मक दर्शन विशेषब्राह्मक ज्ञान । सामान्यविशेषात्मक च वस्तु । सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात् । चेतनाया अभावे आत्मनो जडत्व चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावा वा भवति । नचात्मनो जडत्व दृश्यते, नचाभावः ? प्रत्यक्षविरोधान् ? तत स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्य-विशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः ।

अथ शुद्धबुद्धं कस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः न च रागादय इत्याख्याति—

टीका—जो भी चेतना है वह या तो दर्शन रूप या ज्ञान रूप होती है इन दोनों को छोड़कर चेतना पृथक् नहीं होती । इसलिये चेतयितापन ही दृष्टापन या ज्ञातपन है जो कि आत्मा का स्वलक्षण है

इसलिये मैं आत्मा को द्रष्टारूप में ग्रहण करता हूँ। ग्रहण करता हूँ, इसका अर्थ यह है कि मैं देखता ही हूँ, देखता हुआ ही देखता हूँ, देखने हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखने वाले के लिए ही देखता हूँ, देखने वाले से ही देखता हूँ, देखने वाले में ही देखता हूँ, देखने वाले को ही देखता हूँ, अथवा यो कहो कि मैं नहीं देखता हूँ, न देखता हुआ देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, और न देखते हुए को देखता हूँ किन्तु मैं तो सब प्रकार से विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। तथा ज्ञातृस्वरूप आत्मा को ग्रहण करता हूँ, ग्रहण करता हूँ अर्थात् जानता ही हूँ। जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ, तथा जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा मैं नहीं जानता हूँ, नहीं जानता हुआ जानता हूँ न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, नहीं जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, नहीं जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु सब ओर से विशुद्ध ज्ञप्ति मात्र भाव हूँ। इस पर शिष्य प्रश्न करता है कि चेतना दर्शन और ज्ञान इन दोनों भेदों को छोड़कर क्यों नहीं रहती? क्योंकि आप ऐसा कहते हैं कि जो चेतनियता वही द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है। उसका समाधान करते हैं कि चेतना प्रतिभास स्वरूप है अर्थात् पदार्थों के स्वरूप को भ्रलकाने वाली है और जितने भी पदार्थ हैं वे सामान्य विशेषात्मक हैं इसलिये द्विरूपपन का उत्पन्न नहीं करते हैं अतः चेतना भी द्विरूपपन को नहीं छोड़ती है। एव उस चेतना के दो रूप हैं उन्हीं का नाम दर्शन और ज्ञान है इसलिये वह इन्हे नहीं छोड़ती है क्योंकि यदि वह इन्हे छोड़दे तो सामान्य और विशेष से अतिक्रान्त होजाने के कारण चेतना ही न रहे। ऐसी दशा में दो दोष उत्पन्न होते हैं—एक तो यह है कि चेतन का अपना गुण चेतना नहीं रहा तब वह अचेतन ठहरेगा, दूसरा अथवा व्यापक चेतनत्व के नहीं रहने पर फिर चेतन भी नहीं रहेगा उसका अभाव ही हो जायगा। इसलिये इन दोनों दोषों से बचने के लिए ज्ञान दर्शन स्वरूप ही चेतना को मानना चाहिये। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य भी कहते हैं—

अद्वैतार्पित्वं चेतना जगति चैदृग्जप्तिरूपं त्यजेत् । तत्सामान्यं विशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्स्यामेव जडता चित्तोपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चातमुपैति तेन नियतदृग्जप्तिरूपास्तुचित्

॥१८३॥

अर्थ—जगत में निश्चय में चेतना अद्वैत है अखण्ड रहने वाली है, फिर भी वह दर्शन ज्ञानरूप को छोड़दे तो सामान्य और विशेष के अभाव में वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ दे। उसके अस्तित्व के छोड़ देने पर चेतन के जडपना हो जावे। अथवा व्याप्य आत्मा व्यापक चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जावे अर्थात् उसका अभाव ही हो जावे इसलिये चेतना नियम से दर्शन ज्ञान स्वरूप ही है। और तब फिर—

एकाश्वत्ताश्चिन्मय एव भावो भावा परे ये किन्तु ते परेषां ।

आह्यस्तनश्चिन्मय एव भावो भावा परे सर्वत एव हेया ॥१८४॥

अर्थ—चेतन्य का तो एक चिन्मय भाव ही है। दूसरे भाव हैं वे प्रगत रूप में पर के भाव हैं। इसलिए एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव हैं वे सभी त्यागने योग्य हैं। अर्थात् चेतन्यभाव के अतिरिक्त जो रागादिरूप भाव हैं वे विभाव परिणाम हैं और वे चिदानन्द स्वरूप जा भेदे भाव हैं उसमें पर है ऐसा जानना चाहिए। यही शिष्य कहता है कि चेतना के ज्ञान और दर्शन ये दो भेद नहीं हो सकते क्योंकि चेतना जब एक है तो उसकी आत्मा ज्ञाता द्रष्टा के रूप में दो भेद वाली यह कैसे बन सकती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि प्रत्येक वस्तु

सामान्य विशेषात्मक होती है अतः उसका सामान्य शाहक अथ दर्शन और विशेष शाहक अथ ज्ञान होता है। इस प्रकार सामान्य विशेषात्मक यदि चेतना में न हो तो चेतना का अभाव ही ठहरे और उसका अभाव होने पर या तो आत्मा को जड़पना प्राप्त हो अथवा चेतना लक्षण विशेष गुण के न होने पर उसका अभाव ही ठहरे, किन्तु न तो आत्मा का अभाव ही है और न उसमें जड़ता ही देखी जाती है क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष से विरोध आता है। इसलिये यह बात निश्चित हुई कि यद्यपि अभेद नय से चेतना एक रूप है फिर भी वह सामान्य और विशेष को विषय करने वाली है अतः विषय के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप है। यही आचार्यों का अभिप्राय है ॥३१६-३२०॥

आगे बताते हैं कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमात्मा का एक शुद्ध चैतन्य रूप एक ही भाव है, रागादिक नहीं है—

को नाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे परोदये भावे ।

मज्झमिणं तिय वयणं जाणतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३२१ ॥

को नाम भणोद् बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परोदयान् भावान् ।

ममेदमिति वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३२१ ॥

अर्थ—वह कौनसा ज्ञानी है जो उपर्युक्त एक चिन्मात्रभाव के सिवाय इन और सभी भावों को परके जान कर भी तथा शुद्धात्मा को जानता हुआ भी इन सबको वे भेदे हैं ऐसा कहता रहे? अर्थात् कोई भी नहीं है।

तात्पर्यवर्तिता—को नाम भणिज्ज बुहो को ब्रूयाद्बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् । मज्झमिणतियवयणं ममेति वचनं किं कृत्वा ? पूर्वं णादुं निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? सव्वे परोदये भावे सर्वान् मिथ्यास्वरागादिभावान् विभावपरिणामान् । कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मनः मवाशान् परम कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? जाणतो अप्पयं सुद्धं जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्, क ? आत्मानं । कथंभूत ? शुद्ध, भाववर्मद्वयकर्मनोकर्मरहित । केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणो भेदज्ञानेनेति । एव विषयभेदभावनाध्यादयानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपत्रक गतः ।

अथ मिथ्यास्वरागादिपरभावस्वीकारेण बध्यते बीजरागपदमचैनन्यलक्षणस्वभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—

टीका—(को नाम भणिज्ज बुहो) कौन ज्ञानी विवेकी बुद्धिमान ऐसा कहे ? कोई भी नहीं कहे (मज्झमिणतिय वयणं) कि ये सब भेदे हैं ऐसा वचन कहे । क्या करके ? कि (णादुं) निर्मल आत्मा को अनुभूति बही है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान के द्वारा ज्ञान कर, किनको जानकर ? कि (सव्वे परोदये भावे) सभी मिथ्यास्व और रागादिरूप विभाव परिणामों को जानकर । कैसे जानकर ? कि परोदयान् अर्थात् शुद्धात्मा से पृथक् जो कर्मोदय उससे ये सब पैदा हुए हैं ऐसा जानकर । क्या करता हुआ ? कि (जाणतो अप्पयं सुद्धं) परम समरसीभाव के द्वारा जानता हुआ, अनुभव करता हुआ । किसको ? कि आत्मा को, कौसी आत्मा को ? भाव कर्म, द्रव्य कर्म और नो कर्म रहित शुद्धात्मा को, किससे जानता हुआ ? कि शुद्धात्मा की भावना में परिणत जो अभेद रत्नत्रय वही है लक्षण जिसका उस भेद ज्ञान के द्वारा जानता हुआ ।

विशेषार्थः—प्राचार्य महाराज कहते हैं कि शुद्धात्मा को जानता हुआ विद्वान् जब सब बाह्य वस्तुओं को पर जान चुका है तब ये मेरी है इस प्रकार से नहीं बता सकता है। यदि बाह्य वस्तुओं को अपनी बताता है तो उसे अभी शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं हुआ है। अर्थात् व आगम की बात तो दूर रहे किन्तु ग्राम जनता मे भी जो बुद्धिमान है वह पर के धनादि को अपना नहीं कहता है फिर एक सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा इन पर पदार्थों को अपना कहता रहे यह बात कभी बन नहीं सकती है अपितु पर पदार्थों को अपना कहने वाला का ज्ञान वास्तविक सम्यग्ज्ञान नहीं है।

इस प्रकार विशेष भेदभावना के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल में पांच सूत्र कहे गये हैं।

प्राये प्रकाश करते हैं कि मिथ्यात्व व रागद्वेषादि पर भावों को अपना मानने से यह जीव कर्मों से बधता है और वीतराग परम चैतन्य नहीं है लक्षण जिसका ऐसे स्वस्थ भाव को स्वीकार करने से मुक्त होता है—

तेयादी अवराहे कुब्बवि जो सो ससंकिदो होवि ।

मा बज्जेऽहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि विचरंतो ॥३२२॥

जो ण कुणवि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि ।

ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिन्ता उप्पज्जदि कयावि ॥३२३॥

एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।

जो पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥३२४॥ (त्रिकलम्)

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स शक्तो भवति ।

मा बध्ये केनापि चोर इति जने विचरन् ॥३२२॥

यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जन पदे भ्रमति ।

नापि तस्य बद्ध, यच्च चित्तोत्पद्यते कदाचित् ॥३२३॥

एवं हि सापराधो बध्येऽहं तु शक्तिश्चेतयिता ।

यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥३२४॥

अर्थ—जो पुरुष चोरी आदि अपराधों को करता है वह शकाशीन होकर भटकता फिरता है कि लोगों में पूरे भते हुए किसी के द्वारा बाध न लिया जाऊँ। तथा जो अपराधों को नहीं करता है वह पुरुष जनपद में (देश में) निश्शंक होकर घूमता है उसका बन्ध जाने की शका कभी नहीं उपजती। इसी प्रकार मैं यदि अपराध सहित हूँ तो बधूंगा ऐसी शकायुक्त आत्मा होना है और यदि निपराध हूँ तो मैं निश्शंक कभी नहीं बधूंगा इस प्रकार सोचकर ज्ञानी निश्चिन्त होता है ॥३२२-३२३-३२४॥

तात्पर्यवृत्ति—तेयादी अवराहे कुब्बवि जो सो ससंकिदो होवि यस्तेयपरदारोपपराधान् करोति स पुरुष सशक्तो भवति। केन रूपेण? मा बज्जेऽहं केणवि चोरोत्ति बराहो विचरतो जने विचरन् माह बध्ये केनापि तलवरादिना। कि कृत्वा? चोर इति मत्वा। इत्यन्वयहृदयानुगाथा मता।

जो ण कुणदि अवरारो सो णिस्सको दु जणवदे भमदि मस्तेयपरदारोअपराधं न करोति स निशको जनपदे लोके भ्रमति । अथि तस्स बज्झिदुं जे चित्ता उप्पज्जवि कयावि तस्य चित्ता नोत्पद्यते कदाचिदपि जे अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चित्ता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चोर इति मत्वा । एव व्यतिरेक दृष्टातगाथा गता । एवंहि सावरारो बज्झामि अहं तु सकिदो चेदा यो रागादिपरद्वन्द्वग्रहण स्वीकार करोति स स्वस्थभावच्युतः सन् सापराधो भवति सापराधोऽत्र शक्तो भवति । केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मपेप्सो ज्ञानावरण- विकर्मणा । तत्र कर्मबधभीत प्रायश्चित्तप्रतिक्रमणरूपं दण्डं ददाति जो पुण णिरवरारो णिस्सकोह ए बज्झामि यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबध्वादिसमस्तविभावपरिणामरहितोभूत्वा निशको भवति । केन रूपेण ? इति चेत्—रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदण्ड विनाप्यन्त-ज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति इत्यन्वयव्यतिरेकदाष्टीतगाथा गता ।

अथ को हि नामायमपराध ? इति पृच्छति ।

टीका — (तेयादी अपराधे कुण्वादि सो सकिदो होवि) जो पुरुष चोरी परदार गमनादि अपराधो का करने वाला है वह सशक्ति रहता है । किस प्रकार से सशक्त रहता है ? कि (मा बज्झेऽहं केणचि चोरोति जणम्म विचरतो) लोगों में विचरण करता हुआ मैं चोर समझा जाकर किसी कोटपाल आदि के द्वारा कभी बान्धन न लिया जाऊँ । इस प्रकार यह अन्वय दृष्टात की गाथा हुई । (जो एण कुणदि अपराधो सो णिस्सको दु जणवदे भमदि) किन्तु जो कोई चोरी आदि अपराध नहीं करता वह निशक होता हुआ दुआ गाव मे लोगों के बीच मे घूमता रहता है (ए वि तस्स बज्झिदुं जे चित्ता उप्पज्जवि कयावि) क्योंकि वह निरपराध है इसलिए उसके कभी कोई चित्ता नहीं उपजती कि मैं चोर समझकर किसी के द्वारा बाधा जा सकता हूँ ऐसा समझा हुये होता है । यह व्यतिरेक दृष्टात हुआ । (एव हि सावरारो बज्झामि अहं तु सकिदो चेदा) इसी प्रकार जो कोई जीव रागादि रूप पर द्रव्यो को ग्रहण करता है स्वीकार करता है वह स्वस्थ भाव से च्युत होता हुआ अपराध युक्त होता है और अपराधयुक्त होने के कारण शकाशील भी होता है । किस प्रकार शकाशील होता है कि मैं ज्ञानावरणादि कर्म के द्वारा बाधा जा रहा हूँ । इसलिये कर्म बन्ध के भय से प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त नाम दण्ड देता है अर्थात् उसे भोगता है । (जो पुण णिरवरारो णिस्सकोह ए बज्झामि) किन्तु जो निरपराध है वह तो देखे गये सुने गये और अनुभव मे आये ऐसे भोगो को आकांक्षा रूप निदान बध्वादिसमस्त विभाव परिणामो से रहित होने के कारण निशक होता है ? किस प्रकार निशक होता है ? कि मैं तो रागादि रूप अपराध से रहित हूँ इसलिये मैं किसी भी कर्म से नहीं बध्न सकता हूँ इसलिये वह प्रतिक्रमणारूप दण्ड विधान के बिना भी प्रनन्त ज्ञानादि रूप निर्दोष परमात्मा की भावना के द्वारा ही शुद्ध हो जाता है । इस प्रकार यह अन्वय व्यतिरेक रूप दाष्टीत गाथा हुई ॥३२२-३२३-३२४॥

विशेषार्थ —यहां यह स्पष्ट बताया है कि जो मुनि आत्म आराधना रूप समाधि मे स्थित है उसे प्रतिक्रमणादि की चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह तो अपने आप मे है निरपराध है । प्रतिक्रमणादिक का दण्ड विधान तो उनके लिये विधेय है जो कि अपराधवान हैं । हा, जब उसका उपयोग समाधि से उचट कर बाह्य बातों की ओर है तब अपराधवान है अर्थात् प्रमादवान है अर्थात् प्रमाद के प्रति विधान रूप दण्ड के रूप मे यथा समय यथारीति प्रतिक्रमणादि नहीं करता है तो वह अपराधी ही नहीं किन्तु महा अपराधी है । समयी न होकर असमयी है ।

भाये अपराध शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

**संसिद्धिराधसिद्धि साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३२५॥**

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चकार्यं ।

अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३२५॥

अर्थ—संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्यवाचक है इसलिये जो आत्मा राध से रहित हो वह आत्मा अपराध होता है ॥३२५॥

साध्यव्यवृत्ति—संसिद्धिराधसिद्धी साधिवमाराधिवं च एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकपा-
याविभिभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधि स्थित्वा निजशुद्धात्मापराधन सेवन राध इत्युच्यते संसिद्धि सिद्धिरिति
साधि समित्याराधित च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि । **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होइ अवराहो**
अपगतो विनष्टो राध शुद्धात्मापराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवा भेदेन भवत्यपराध । अथवा अपगतोविनष्टो
राध शुद्धात्मापराध शुद्धात्मापराधना यस्य रागादिबिभावपरिणामस्य स भवत्यपराध सहापराधेन वर्तते यः स सापराध ,
चेतयितात्मा तद्विपरीत त्रिगुणसमाधिस्थो निरपराध इति ।

अर्थ—हे भगवन्, किमनेन शुद्धात्मापराधनाप्रयामेन यत् प्रतिक्रमणानुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा,
कस्मात् ? इति चेत् सापराधस्याप्रतिक्रमणादेश्छब्दवाच्यपराधाविनाशकत्वेन विष्णु भवेति प्रतिप्रमणा
देश्छब्दवाच्यपराधाविनाशकत्वेनामुक्तं भवात् इति तथा चान् चिरननप्रायश्चित्तप्र ६—

अपडिक्कमण अपडिसरण अपडिहारा अधारणा चेव ।

अणियत्तीय अणिदा अगग्हा मोहीय विमकु मा ॥१॥

पत्तिकमण पडिसरण पडिहरण धारणा णियत्तीय ।

णिदा अगग्हा मोही अट्टविहो अभयकु मो दु ॥२॥

अत्र पूर्वपक्षे परिहार —

टीका—(संसिद्धिराधसिद्धि साधिवमाराधिवं च एयट्ठो) तीन काल में होने वाले मिथ्यात्व,
विषय कषायादि परिणाम से रहित होने के द्वारा निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपनी शुद्ध
आत्मा का आराधन सेवन, वह राध कहलाता है, संसिद्धि, सिद्धि साधित तथा आराधित ये शब्द उस राध
के पर्यायवाची नाम हैं । (अवगदराधो जो खलु चेदा सो होइ अवराहो) अपगत अर्थात् नष्ट हो गया है
राध अर्थात् शुद्धात्मा का आराधन जिस पुरुष का वह पुरुष ही अभेद विवक्षासे अपराध ठहरता है ।
अथवा अपगत है अर्थात् नष्ट हो गया है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना जिसके वह रागादि बिभाव
परिणाम वही अपराध है और उस सहित जो है वह सापराध है । किन्तु उससे विपरीत जो आत्मा
त्रिगुणित रूप समाधि में स्थित होता है वह निरपराध है । इस पर शिष्य कहता है कि हे भगवन् ! शुद्धात्मा
की आराधना के प्रयास करने का क्या प्रयोजन है, जब कि प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान से ही आत्मा
निरपराध हो जाता है । क्योंकि अपराधी के जो अप्रतिक्रमणादिक है वे दोष शब्द का वाच्य जो अपराध

उसके नष्ट न करने वाले होने से विषकुम्भ स्वरूप कहे जाते हैं किन्तु प्रतिक्रमणादिक हैं व दोष शब्द के वाच्य अपराध का नाश करने वाले होने से अमृत कुम्भ स्वरूप कहे जाते हैं । जैसा कि पुराने प्रायश्चित्त नाम के ग्रन्थमें कहा गया है —

अपडिकमणं अपडिसरणं अपडिहारो अपधारणा चैव ।
अणियत्तीय अणिदा अगुरुहाऽसोहीय विसकुम्भो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय ।
णिदा गुरुहा सोही अट्टविहो अमयकुम्भो दु ॥२॥

अथ आचार्य महाराज इस शका का निवारण करते हैं —

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय ।
णिदा गुरुहा सोही अट्टविहो होइ विसकुम्भो ॥३२६॥
अपडिकमणं अपडिसरणं अपडिहारो अपधारणा चैव ।
अणियत्तीय अणिदाऽगुरुहाऽसोही अमयकुम्भो ॥३२७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ॥३२६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृत कुम्भः ॥३२७॥

अर्थ—(ज्ञानी समाधिस्थ के लिये) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निदा, गर्हा और शुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार तो विष कुम्भ है क्योंकि इसमें कर्तापिनी की शुद्धि होती है और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अपधारणा, अनिवृत्ति, अनिदा, अगर्हा, और अशुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार ये अमृत कुम्भ हैं क्योंकि यहाँ कर्तापिनी को छोड़कर आत्मतल्लीनता पर जोर दिया है अतः ज्ञानी को निर्बन्धने के लिये यह उपयोगी पड़ता है ॥ ३२६-३२७॥

तात्पर्यवृत्ति — पडिकमणमित्यादि पडिकमणं प्रतिक्रमणं कृतदोषनिवारणस्य । पडिसरणं प्रतिमरणं सम्यक्त्वादित्युक्त्यु प्रेरणं । पडिहरणं प्रतिहरणं मिथ्यास्वरागादिदोषेषु निवारणं धारणा पञ्चमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादिबहिर्गम्यावलम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा । णियत्तीय बहिरंगविषयकवा-यादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः । णिदा आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निदा गुरुहा गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा । सोहीय दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः । इत्यष्टविकल्परूपमुपोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकवायपरिणतिरूपमुपोपयोगापेक्षया सविकल्परसरागचारित्रावस्थायाममृतकुम्भो भवति । तथापि रागद्वेषमोहकृत्यातिपूर्वात्तामहृष्टश्रुतानुभूतिभोगाकांक्षाकल्पनिदानबन्धादिसमस्तपद्मव्यालम्बनविभाषपरिणामशून्या, चिदानन्दैक-स्वभावविशुद्धात्मासम्बन्धपरितावस्था निर्विकल्परूपद्वयोपयोगलक्षणा, अपडिकमणं इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानवनाशित-निश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया बीतरागचारित्रस्थितानां गुरुधारा विषकुम्भ एवेत्यर्थः ।

किं च विशेष—अप्रतिक्रमण द्विविध भवति ज्ञानिजनाश्रित, अज्ञानिजनाश्रित चेति । अज्ञानिजनाश्रित यद-
प्रतिक्रमण तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमण तु शुद्धात्मसम्बन्धवशदानजानानुष्ठानलक्षण-
त्रिगुस्तिरूपं । तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षयायद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि
वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं । कस्मात् ? इति चेत् समस्तशुभाशुभालवदोषनिराकरणरूपत्वादिति ।
तत स्थित तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं व्यवहारप्रतिक्रमणापक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारण
भवति । व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन
विषयकषायवचनायै करोति तदपि परंपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुखनिमित्तपुण्यकारणमेव ।
यत्पुनरज्ञानिजनसंबन्धि मिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्तरकादिदुःखकारणमेव । एव प्रतिक्रमणाद्यष्ट-
विकल्परूपं शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पा वस्थायाममृतं कुम्भो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूप-
समापेक्षया विषकुम्भ एवेति व्याख्यानमुक्त्यन्तेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गत ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृताया समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुष्ठानलक्षणाया, नाट्यवृत्ती द्वावशति-
गाथामिश्रचतुर्विंशतराशिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

टीका—पडिक्रमणमित्यादि । प्रतिक्रमण—किये हुए दोषों का निराकरण करना, प्रतिशरण—सम्य-
क्त्वादि गुणों में प्रवृत्त होना, प्रतिहरण—मिथ्यात्व तथा रागादि दोषों का निवारण करना, धारणा—पञ्च
नमस्कार भन्नादि भज तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना, निवृत्ति—बहि-
रंग विषयकषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना, निदा—अपने आपको साक्षी
से दोषों का प्रकट करना, गृही—गृही को साक्षी से दोषों को प्रकट करना, शुद्धि—कोई भी प्रकार का दोष
होजाने पर प्रायश्चित्त लेकर उसका शोधन करना । इन आठ शुभ विकल्पों वाला शुभ उपयोग यद्यपि
मिथ्यात्वादि विषय कषाय परिणति रूप अशुभ उपयोग की अपेक्षा तो विकल्पसहित सराग चारित्र की
अवस्था में तो अमृतकुम्भ ही है । तो भी जो अवस्था राग द्वेष और मोहभाव तथा क्लृप्ति, पूजा, लाभ व
देखे हुये, सुने हुये और अनुभूति में आये हुये ऐसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध इत्यादि समस्त पर
द्रव्यों के आलम्बन से होने वाले सब ही प्रकार के विभाव परिणामों से शून्य है तथा जो चिदानन्दैक
स्वभाववाले विशुद्ध आत्मा के आलम्बन से भरी रहती है और निविकल्परूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली है
एव जो “अपडिक्रमण इत्यादि” गाथा में कहे हुये क्रम से ज्ञानीजनों के द्वारा आश्रय करने योग्य जो
निश्चय प्रतिक्रमणादि रूप जो तीसरी अवस्था है उसकी अपेक्षा लिये हुये जो वीतराग चारित्र में स्थित
हो रहे है उन लोगों के लिये तो उपर्युक्त द्रव्य प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं । इसका स्फटीकरण इस
प्रकार है—अप्रतिक्रमण दो प्रकार है एक तो ज्ञानीजनों के आश्रयरूप दूसरा अज्ञानी लोगों के द्वारा
आश्रित । उसमें अज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय कषाय की परिणतिरूप होता है किन्तु ज्ञानी
जनाश्रित अप्रतिक्रमण तो शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप त्रिगुणित्य हाता है ।
वह ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सराग चारित्र है लक्षण जिसका ऐसे शुभोपयोग की अपेक्षा तो
अप्रतिक्रमण कहा जाता है किन्तु वीतराग चारित्र की अपेक्षा उसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण है क्योंकि
वही शुभ और अशुभ आलम्बरूप दोष के निराकरण रूप हाता है इसलिये यही निश्चय प्रतिक्रमण है ।
यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द के द्वारा कहा जाकर भी ज्ञानीजनों के लिये मोक्ष
का कारण होता है । व्यवहार प्रतिक्रमण तो यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर उसी निश्चय प्रतिक्रमण
का साधक होने से विषय कषायों से बचने के लिये करता है तो वह परम्परा मोक्ष का कारण होता है

अन्यथा वह फिर स्वर्गादि के सुख का निमित्तभूत पुण्य का ही कारण होता है । अज्ञानीजन संवन्धी अप्रति-
क्रमण तो मिथ्यात्व और विषय कथायों को परिणित रूप होने से नरकादि के दुःख का ही कारण है ।

इस प्रकार प्रतिक्रमण आदि अष्ट विकल्प रूप भुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृत कुंभ
होता है तो भी सुख दुःख आदि में समताभाव मय परमोपेक्षारूप समय की अपेक्षा से तो वह विषकुंभ
ही है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चतुर्थ स्थल में धाट गाथायें हुई ॥३२६-३२७॥

इति श्री जयसेना चार्य की बनाई शुद्धात्मा की अनुभूति रूप सक्षण वाली श्री समयसार की
तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका के हिन्दी अनुवाद बाईस में गाथाओं द्वारा चार अन्तराधिकारों में यह नवम
मोक्ष नाम का अधिकांश समाप्त हुआ ।

दसवां महाधिकार [१०] सर्व विशुद्ध ज्ञान (मोक्षतत्त्व चूलिका)

तात्पर्यवृत्ति—तत्र च सति शुगाररहितपात्रवद्गाथादिरहितशान्तरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्कांत ।
अथ प्रविशति सर्वं विशुद्धज्ञानं-संगारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्वमोक्तत्त्वबन्धमोक्षादि-
परिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वं विशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण शुद्धद्वैतार्थिकनयेन कर्तृत्वमोक्तत्त्व
बन्धमोक्षादिकरणभूतपरिणामभूत्य एवेति । द्रवियं च उपपन्नं च इत्यादिगाथाभिहितं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यंत मोक्ष-
पदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति । तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुक्तत्वेन सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं शुद्धस्यापि यदज्ञाना-
वरणप्रकृतिबन्धो भवति तदज्ञानस्य ग्राह्यत्वमिति कथनार्थं वेदाहु पयडिभट्ट इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयं । अत
पर निश्चयेन मोक्तृत्वा भावजापनार्थं अण्णारणी कम्मकलं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण
विकृण्णि इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकाया समुदायपातनिका ।

अथ निश्चयेन कर्मसा कर्ता न भवति—इत्याख्याति—

टीका—वहा इस प्रकार शुगार रहित पात्र के समान रागादि रहित शान्तरस में परिणत
शुद्धात्मा के रूप में मोक्ष भी यहा से जला गया ।

अब यहा 'सर्वं विशुद्ध ज्ञान' प्रवेश करता है । वहा ससार पर्याय का आश्रय लेकर यह जीव
अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि कर्तापन, भोक्तापन एवं बन्ध और मोक्षादि परिणाम
सहित है तो भी सर्वं विशुद्ध पारिणामिक रूप परमभाव का ग्राहक जो शुद्ध द्वैतार्थिक नय है जो कि
शुद्ध उपादान रूप है उससे कर्तापन, भोक्तापन, बन्ध या मोक्ष आदि कारण भूत परिणामों से रहित
है । इसलिये 'द्रवियं च उपपन्नं च' इत्यादि गाथा को आदि लेकर १४ गाथाओं पर्यन्त मोक्ष पदार्थकी

चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहा सबसे प्रथम कर्म कर्त्तापन के भाव की मुख्यता से चार गाथायें कही हैं। उसके पश्चात् ऐसा कथन करने के लिये कि शुद्ध के भी जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बन्ध होता है वह भ्रजान का ही माहात्म्य है इसे कहने के लिये 'वेदा दु पयडि भट्ट इत्यादि चार प्राकृत श्लोक हैं। तत्पश्चात् निश्चय से भोक्तापन का भ्रभाव बताने के लिये "भ्रष्टाणाणी कम्मफल" इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके पश्चात् मोक्ष चूलिका का उपसंहार करते हुये 'विकुलादि' इत्यादि दो सूत्र हैं। इस प्रकार मोक्ष पदार्थ की चूलिका की यह समुदाय पातनिका है।

अब यहां कहते हैं कि निश्चय से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है—

दवियं जं उपज्जवि गुणेहिं तं तेहिं जानसु अणण्णं ।

जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३२८॥

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।

तं जीवमंजीबं वा तेहि मणण्णं वियाणाहि ॥३२९॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।

उप्पावेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण सो होदि ॥३३०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।

उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दिस्सवे अण्णा ॥३३१॥ (चतुष्कम्)

ब्रह्मं यदुत्पद्यते गुरुंस्तत्तर्जनीह्वानन्यत् ।

यथा कटकविभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥३३२॥

जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।

ते जीवमजीबं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३३३॥

न कुतश्चिप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।

उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥३३४॥

कर्म प्रतीत्य कर्त्ता कर्त्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।

उत्पद्यते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽभ्या ॥३३५॥

अर्थ—जो ब्रह्म अपने गुणों से उपजता है वह उन गुणों से कभी अन्य अर्थात् भिन्न नहीं होता ऐसा है ब्रह्म ! तू जान । जैसे स्वर्ण अपने कड़े आदि पर्यायों से इस लोक में अन्य नहीं है कड़ा आदि ही है। इसी प्रकार सूत्र में जो जीव और अजीव के परिणाम कहे हैं, उन परिणामों से जीव या अजीव को अन्य समझो अर्थात् जिस ब्रह्म के जो परिणाम हैं वे उस ब्रह्म स्वरूप ही हैं। अब जब आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न ही हुआ है इसलिये वह किसी

का किया हुआ कार्य नहीं है और न किसी धन्य की उत्पन्न की करता है इसलिये वह किसी का कारण भी नहीं है । क्योंकि कर्म का आशय लेकर तो कर्ता होता है और कर्ता का आशय लेकर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है । धन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती है ।

तात्पर्यवृत्ति.—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायं सहानन्यदमिन्न भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति । कै सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तदद्रव्य तैर्गुणै सहानन्यदमिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता । **जीवस्सा-जीवस्स य जे परिणामा दु वेसिदा सुत्ते** जीवस्य भजीवस्य च जे परिणामा पर्याया देसिता. कथिता' सूत्रे परमा-यमे तं सह तेनैव पूर्वोक्तसुबर्णदृष्टातेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदमिन्न विज्ञानीहीति द्वितीयगाथा गता । **कस्माच्चुद्ध-** निश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनिता' तेन कारखेन कर्मनोकर्मणि-यात्मा कार्यं न भवति । न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण कस्मिंश्चित्पदादयति तेन कारखेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यत कर्मणा कर्ता मोचकश्च न भवति तत' कारणद्वयमोक्षयो शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते थियमा यत'** पूर्वं जणित सुबर्णद्रव्यस्य कु डनपरिणामेनेव सह जीवपुद्गलयो स्वपरिणामं सहेवानन्यत्वमभिन्नत्व । पुनरुक्ता कर्मनोकर्मण्या कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणी नोत्पादयति ततो जायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीव कर्मकर्ता । तथा कर्माणि चोत्पद्यते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् सदेहो नास्ति **सिद्धीं दु स विस्सदे अण्णा** धनेन प्रकारेण, अनन कोडमं ? परस्परनिमित्तभाव विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकवृत्तविषये । सिद्धिनिष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्णमायोषपुद्गलात् न कर्मत्वं न दृश्यते ततः स्थित शुद्धनिश्चयनयेनकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता । एव निश्चयेन जीव कर्मणा कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय गत ।

अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिनिर्वद्वचो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति ज्ञानावधिति—

टीका'—जैसे स्वर्ण यहा पर अपनी कटकादि पर्यायो से अनन्य अर्थात् मिश्र नहीं है वैसे ही द्रव्य भी जो उत्पन्न होता है, परिणामन करता है, वह अपने गुणों के साथ अनन्य अर्थात् अभिन्नरूप से ही उत्पन्न होता है यह पहली गाथा हुई । (जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते) जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य के भी परिणाम या पर्याय जो सूत्ररूप परमाण्व में बताये हैं, उपर्युक्त दृष्टात के अनुसार उन परिणामों के साथ यह जीव या अजीव द्रव्य अनन्य अभिन्न ही होता है ऐसा है अथवा । तुम समझो यह दूसरी गाथा हुई । क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव नरनारकादि विभाव पर्यायों के रूप में पैदा नहीं हुआ अर्थात् कर्मों के द्वारा आत्मा पैदा नहीं हुआ है इसलिये आत्मा कर्म नो कर्मों का कार्य नहीं है । वैसे ही आत्मा उपादान के रूप में किसी भी कर्म और नो कर्म को भी उत्पन्न नहीं करता है इसलिये कर्म और नो कर्मों का कारण भी वह नहीं है । क्योंकि आत्मा कर्मों का कर्ता भी नहीं है तो मोचक भी नहीं है इसलिये आत्मा शुद्ध निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष दोनों का ही कर्ता नहीं है । यह तीसरी गाथा का अर्थ हुआ । (कम्म पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते य थियमा) जैसाकि पहले कहा है कि स्वर्ण का कुण्डलादि रूप परिणाम के साथ में अभिन्न सब्ध है वैसे ही जीव और पुद्गल का भी अपने परिणामों के साथ अभिन्नपना है । और कर्तारूप कर्म और नोकर्म के द्वारा जीव पैदा नहीं किया जाता है वैसे ही कर्म और नोकर्म को जीव पैदा नहीं करता है । इस पर से यह जाना जाता है कि कर्म को प्रतीतिमें लाकर उपचार से जीव कर्म का कर्ता होता है तथा जीव को कर्तारूप में आश्रय करके उपचार से कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है निश्चय है इसमें संदेह नहीं है । (सिद्धी

दु एा दिसदे घण्णा) इस प्रकार परस्पर के निमित्त भाव को छोड़कर शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध निश्चयनय से जीव के कर्म कर्तापने के विषय में सिद्धी नहीं होती है अर्थात् बात घटित होती नहीं देखी जाती, तथा कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलो को भी कर्मपना और प्रकार से नहीं देखा जाता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि शुद्ध निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है यह चौथी गाथा हुई। इस प्रकार निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्ता नहीं है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल मे चार गाथायें पूर्ण हुईं ॥ ३२८-३२९-३३०-३३१ ॥

विशेषार्थ—निश्चयनय तादात्म्य सबध को लेकर वर्णन करता है उसकी दृष्टि में संयोग सर्वध गौरा होता है। ज्ञानावरणादि कर्म और आत्मा का यदि कोई सबध है तो वह संयोग सबध है इसलिये निश्चयनय की दृष्टि मे वह नहीं है। अतः निश्चयनय की दृष्टि मे कर्म नहीं है और आत्मा उनका कर्ता नहीं है अपितु इस दृष्टि मे तो आत्मा का स्वयं का परिणाम ही उसका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है क्योंकि उसका उसी के साथ तादात्म्य सबध है।

ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का आत्मा के साथ बध है वह भ्रान्त का ही माहात्म्य है ऐसा बताते हैं—

चेदा वु पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सदि ।

पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जवि विणस्सदि ॥३३२॥

एवं बंधोदु दुण्हं पि अण्णोणप्पच्चया ह्वे ।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥३३३॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।

प्रकृतिरपि चेतकार्यमुत्पद्यते विनश्यति ॥३३२॥

एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययोर्भवेत् ।

आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३३३॥

अर्थ—चेतयिता आत्मा तो ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के निमित्त से उपजता है और नाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी इस चेतनेवाले आत्मा के लिये उपजती है और नाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से उसी प्रकार परिणमती है। इस प्रकार दोनों आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बध होता है और उस बध से संसार उत्पन्न होता है ॥३३२-३३३॥

तात्पर्यवृत्तिः—**चेदा** आत्मा स्वस्वभाववद्भूत सत् प्रकृतिनिमित्त कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते। विनश्यति च विभाव-परिणामं पर्याप्तं। प्रकृतिरपि चेतयितुं कार्यं जीवसंबधिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैरुत्पद्यते विनश्यति च। एव पूर्वोक्तप्रकारेण बधो जायते द्वयो—स्वस्वभाववद्भूतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायास्यपुद्गलविद्वक्षाया ज्ञानावरणादि-प्रकृतेः। कथंभूतयोर्द्वयो ? अन्योन्यप्रत्ययो, परस्परनिमित्तकारणभूतयो। एव रागाद्यज्ञानाभावेन बधो भवति तेन बधेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्युक्तं भवति।

अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंविधिच्युतः सत् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुञ्चति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति—

टीकाः—स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा प्रकृति के निमित्त से अर्थात् कर्मोदय का निमित्त पाकर अपने विभाव परिणामो से उत्पन्न भी होता है और नाश को प्राप्त होता है । प्रकृति भी इस चेत-यिता के लिये जीव संबंधी रागादि परिणामो का निमित्त पाकर ज्ञानावरणारूप कर्म पर्यायो के द्वारा उपजती है और नाश को प्राप्त होती है । इस प्रकार स्वस्थभाव से च्युत आत्मा का और कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि प्रकृति का भी पूर्वोक्त रीति से बंध होता है । उनका बंध कैसे होता है ? कि अन्योन्य रूप से एक दूसरे में परस्पर निमित्त कारण रूप वालो का बंध होता है इस प्रकार रागादिरूप अज्ञान भाव से बंध होता है और उस बंध से संसार होता है । तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप से बंध नहीं होता है ॥३३२-३३३॥

विशेषार्थ—प्राचायं देव ने बतलाया है कि परमार्थ से तो आत्मा के और प्रकृति के कर्ता कर्म पने का अभाव है तो भी परस्पर में निमित्त नैमित्तिक रूप से कर्ता कर्मपना भी है जिससे बंध है एव उसी से संसार है ।

आगे यह बताते हैं कि शुद्धात्मा की सविति से च्युत हुआ जीव जब तक प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाले रागादिविभाव को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञानी रहता है किन्तु उन रागादि के अभाव में ज्ञानी होता है ।

जा एस पयडोयट्ठं चेया नेव विमुञ्चए ।

अयणाओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३३४॥

जया विमुञ्चए चेया कम्मफल मणंतयं ।

तया विमुक्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३३५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति ।

अज्ञायको भवेत्तावन्मिच्छादृष्टिरसंयतः ॥३३४॥

यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकं ।

तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३३५॥

अर्थ—यह जीव जब तक उपजुक्त प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय से होने वाली रागादिरूप परिणिति को नहीं छोड़ता है तब तक अज्ञायक रहता है, मिच्छादृष्टि तथा प्रसयत होता है । जब यह आत्मा धनत भेद वाले कर्म के फल को छोड़ देता है, उसे नहीं भोगता है, उस समय बंध से रहित हुआ जाता, दृष्टा और तयमी होता है ॥३३४-३३५॥

तात्पर्यवृत्तिः—यावत्कालमेव चेतयिता जीवः, चिदानंदस्वभावपरमात्मसम्यक्बुद्धानज्ञानानुभवरूपानां सम्यग्दर्शनज्ञानपरिणामाभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुञ्चति, तावत्कालं रागादिरूपभारमानं श्रद्धाति ध्याना-

त्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असयतश्च भवति, तथा भूत-सन् मोक्ष न लभते । यथा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूप कर्मफल शक्तिरूपेणानत विशेषेण सर्वप्रकारेण भु चति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् सामान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्धयाति जानात्यनुभवति च । तत सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति सयतो मुनिश्च भवति तच्चाभूत सन् विशेषेण द्रव्यभावगत-मूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति । एव वक्ष्यमात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्व-रागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टय गत—

अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलमोक्तृव जीवस्वभावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञानस्वभावात्वात्—इति कथयति—

टीकाः—जब तक यह चेतक स्वभाववाला जीव चिदानन्द एक स्वभाव है जिसका ऐसे परमात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और साम्यक् चारित्र के अभाव से प्रकृति के अर्थ को अर्थात् कर्मोदय रूप रागादिक को नहीं छोड़ता है तब तक वह आत्मा को रागादिरूप ही मानता है, रागादिरूप ही जानता है, और रागादिरूप ही अनुभवता है इसलिये मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असयत होता है इस प्रकार होता हुआ वह मोक्ष को नहीं पाता है । किन्तु जब वही चेतयिता शक्ति रूपसे अनन्त विशेष भेदवाले मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मफल को सर्व प्रकार से छोड़ देता है उस समय शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव जो आत्म तत्त्व उसका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र के सद्भाव होने से मिथ्यात्व और रागादि से भिन्न आत्मा को मानने, जानने और अनुभव करने लगता है तब वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, और सयत मुनि होता है । ऐसा होता हुआ विशेष प्रकार से वह द्रव्य और भाव रूप से होनेवाली मूल और उत्तर प्रकृति के नाश से मुक्त हो जाता है । यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से देखें तो आत्मा कर्ता नहीं है फिर भी अनादि कालीन कर्मबंध के वश से मिथ्यात्व और रागादि रूप अज्ञान भाव के द्वारा कर्म बंध करता ही है । इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य बतलाने के लिये चार गाथाएँ कही गई ॥ ३३४-३३५ ॥

आगे यह बतलाते हैं कि शुद्ध निश्चयनय में कर्मफल को भोगते रहना जीव का स्वभाव नहीं है क्योंकि वह तो अज्ञान भाव है —

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि ।

जाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥३३६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।

ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३३६॥

अर्थ—अज्ञानी (प्रमादी) जीव कर्म के फल को प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता हुआ भोगता है परन्तु ज्ञानी (प्रमाद रहित) जीव उदय में आये हुए कर्म के फल को जानता मात्र है भोगता नहीं है ॥ ३३६ ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरहितत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावाद्दज्ञानी जीव उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफल वेदयत्यनुभवति । राणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि

ज्ञानी पुनः तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् बीतरागसहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदवतीति ।

अथाज्ञानी जीवः सापराधः सशक्तिः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानीसः कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति—

टीकाः—(अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि) विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले आत्मतत्त्व के समीचीन भ्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप भेदज्ञान के न होने से (न रहने से) अज्ञानी जीव उदय में आये हुए कर्म प्रकृति के स्वभाव में अर्थात् सुख दुःख रूप में स्थित होकर हर्ष विषादमय होकर उस कर्म के फल को वेदता है, अनुभव करता है । (आणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिद ण वेदेदि) और ज्ञानी तो पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भावात् बीतराग सहज परमानन्दस्वरूप सुखरस के आस्वादन द्वारा परम समरसी भाव रूप में परिणत होता हुआ, उदय में आये हुए फल को वस्तु का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार जानता ही है । किन्तु हर्ष विषादमय होकर उसे वेदता अर्थात् भोगता नहीं है ॥ ३३६ ॥

विशेषार्थः—ज्ञानी उदय में आये हुए कर्म फल को जानता है किन्तु अज्ञानी उसे वेदता है । यहां प्रश्न हो सकता है कि जानना और वेदना दोनों का अर्थ यदि एक है तो फिर अन्तर क्या है ? उत्तर यह है कि अमृक वस्तु घड़ी आदि है, यह तो जानना हुआ पर इसमें अच्छे बुरेपन की मान्यता या विचार आता है वह उसका वेदना या भोगना कहलाता है । अज्ञानी जीव राग द्वेषवान् होता है अतः वह जिस वस्तु को भी देखता जानता है उसे अच्छी या बुरी मानकर उसमें हर्ष विषाद कर बैठता है एवं नूतन कर्म बन्ध करता हुआ संसार में फंसा ही रहता है । किन्तु ज्ञानी विरागी जीव प्रसंग प्राप्त वस्तु को देखता जानता मात्र है पर उसमें अच्छा बुरापन न मानकर हर्ष विषाद नहीं करता अतः नूतन कर्म बन्ध नहीं करता यही अन्तर है ।

अज्ञानी जीव अपराधी होता है इसलिये वह सशक्ति होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है किन्तु निरपराध ज्ञानी (समाधि स्थित) होता है वह कर्मोदय होने पर क्या करता है सो बताते हैं—

जो पुण निरवराहो चेदा जिस्सकिदो दु सो होदि ।

आराहणाए णिच्चं वट्ठि अहमिदि वियाणंतो ॥३३७॥

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।

आराधनया नित्यं वसन्ते अहमिति विजानन् ॥३३७॥

अर्थ—जो अपराध रहित आत्मा होता है वह निश्चक होता है वह अपने आपको जानता अनुभव करता हुआ निरन्तर आराधना में ही सत्वर होता है ॥ ३३७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो पुण निरवराहो चेदा जिस्सकिदो दु सो होदि यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निश्चको भवति । निश्चको भूत्वा किं करोति ? आराहणाए णिच्चं वट्ठि अहमिति

विद्यास्तो निर्दोषपरमात्माप्राधान्यस्या निश्चयाराधनया नित्य सर्वकाल वर्तते । किं कुर्वद् ? अनतज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधी स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्बन्धान् परमसमरसी भावेन-बानुभवति इति ।

अज्ञानी कर्मणा नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति—

टीका — (जो पुरा गिरवराहो चेदा निस्सकिदो दु सो होदि) जो चेतयिता ज्ञानी जीव निरपराध होता हुआ परमात्मा के आराधन में निश्चक होता है । वह निश्चक होकर क्या करता है ? कि (आराहणाए णिच्च वट्टदि अहमिदि वियाणतो) निर्दोष परमात्मा की आराधना तत्स्वरूप जो निश्चय आराधना उससे युक्त होकर निरन्तर सदा काश रहता है । क्या करता हुआ रहता है कि मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ इस प्रकार विचार करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शुद्ध आत्मा को अन्धरी प्रकार से जानता हुआ वह परम समरसी भाव के द्वारा उसी का अनुभव करता रहता है ॥३३७॥

अब यहाँ बताते हैं कि अज्ञानी जीव नियम से कर्मों का वेदक ही होता है —

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइदूण सत्थाणि ।

गुडुदुद्वंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा ह्वंति ॥३३८॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठुवपि अशीत्य शास्त्राणि ।

गुडुदुधमपि पिबंतो न पन्नगा निविषा भवंति ॥३३८॥

शर्ष—शास्त्रो को अन्धरी प्रकार पढ़ करके भी अभव्य जीव कर्मोदय के स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् उसकी प्रकृति नहीं बदलती जैसे गुड सहित दूध को पीते हुये भी सर्प निविष नहीं होते हैं ॥३३८॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा पन्नगा सर्पा शर्करासहित दुग्ध पिबतोऽपि निविषा न भवति तथा ज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरगादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभाव न मुचति । किं कृत्वापि ? अशीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि । कथं सुदुष्टुपि सुष्टिद्वयपि । कस्मान्न मुचति ? बीतरागस्वसवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरगादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति ।

ज्ञानी कर्मणा नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति—

टीका—जैसे पन्नग अर्थात् साप शक्कर सहित दूध पीकर भी विष रहित नहीं होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादिरूप कर्म प्रकृति के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता है । क्या करके नहीं छोड़ता है कि शास्त्रो को अन्धरी प्रकार पढ़ करके भी अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ता है क्योंकि उसके बीतराग स्वसवेदन ज्ञान का अभाव रहता है इसलिये कर्मोदय के होने पर मिथ्यात्व और रागादि में तन्मय होता है ॥ ३३८ ॥

ज्ञानी जीव नियम से निश्चय से कर्मफल का वेदक नहीं होता है यह बतलाते हैं —

णिव्वेयसमावण्णो जाणी कम्मफलं वियाण्णइ ।

महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण पण्णत्तो ॥३३९॥

निर्वेद समापन्नो ज्ञानी कर्म फलं विद्यानाति ।

मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन प्रज्ञप्तः ॥३३६॥

अर्थ—ज्ञानी जीव निर्वेद समापन्न अर्थात् वैराग्य सहित होता है इसलिये वह यद्यपि भीठा या कटुवा आदि अनेक प्रकार वाले कर्मफल को जानता है फिर भी वह उसका भोक्ता अर्थात् अनुभव करने वाला नहीं होता है ॥३३६॥

तात्पर्यवृत्ति—(ए) वेद समापन्नो ग्राणी कर्मफलं विद्यानाति परमतत्त्वज्ञानी जीवः ससारशरीर-भोगरूपविषयवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलप्रदयागत वस्तु, वस्तुस्वरूपेण विशेषण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो मिश्रत्वेन जानाति । कथं भूत जानाति ? मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन पण्यतो अशुभकर्मफलं निवकाजीर-विषहलाहलरूपेण कटुक जानाति । शुभकर्मफलं बहुविधं शुद्धलङ्शर्करामृतरूपेण मधुर जानाति । न च शुद्धात्मोत्पत्तसहज-परमानन्दरूपमतीन्द्रियमुख विहाय पञ्चेन्द्रियमुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः । एष ज्ञानी शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्म फलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टय गत ।

अथ निरूपणं शुद्धात्मानुभूति लक्षणं वेद ज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयति इति प्रकाशयति.—

टीका—(ए) वेद समापन्नो ग्राणी कर्मफलं विद्यानाति परमतत्त्वज्ञानी जीवः ससार शरीर और भोग इन तीनों से वैराग्य संपन्न होकर उदय में आये हुए शुभाशुभ कर्म के फल को जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उसी रूप से ठीक प्रकार जानता है किन्तु निर्विकार अपनी शुद्धात्मा से विशेष रूप से भिन्न जानता है । कैसे जानता है कि (मधुर कटुक बहुविधमवेदको तेन पण्यतो) अशुभ कर्म के फल को नीम, काजी, विष और हलाहल के रूप में कटुवा जानता है और शुभ कर्म के फल को अनेक प्रकार का गुड़, लाल्ट, शक्कर और अमृत के रूप में मीठा जानता है । फिर भी वह शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए सहज परमानन्द रूप प्रतीन्द्रिय मुख को छोड़कर पञ्चेन्द्रिय के मुख में कभी परिणमन नहीं करता इसलिये ज्ञानी जीव उसका वेदक अर्थात् भोक्ता नहीं होता यह नियम है । इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से (अर्थात् परम समाधि में लगे रहने से) ज्ञानी जीव शुभ या अशुभ कर्म के फल का भोक्ता नहीं होता इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस तीसरे स्थल में चार सूत्र कहे गये ॥३३६॥

विशेषार्थ—ज्ञानी तो परम समाधि में निरत रहता है तब उसने आत्मानुभव के सिवा और सब कुछ करना छोड़ ही दिया है । रही भोक्तापन की बात सो वह जब शुद्धात्मा के अनुभव में तल्लीन है तब इतने सब बाह्य पदार्थों से अत्यन्त विरक्त है ऐसी दशा में भोक्तापन भी कैसे सम्भव हो सकता है । इस प्रकार जब कर्त्तापन और भोक्तापन भी नहीं है तब वह तो जानता मात्र है सो वह उसका सहज स्वभाव है एव वह सब प्रकार को भ्रमणों से मुक्त होकर आत्मतल्लीन रहता है जैसाकि श्री अमृतचन्द्राचार्य भी अपने कलश में बताते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमय किञ्च तत्स्वभाव ।

आनन्द्यर करणवेदनयोश्चभावात् शुद्ध स्वभाव नियत स हि मुक्त एव ॥१६८॥

भाव इसका ऊपर स्पष्ट है ।

राज रहित शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसा वेदज्ञानी जीव न कर्मों को करता है और न भोगता है:—

न वि कुब्जदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।

जाणवि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३४०॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।

जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥३४०॥

अर्थ—ज्ञानी अनेक प्रकार के कर्मों को न तो करता ही है और न भोगता ही है परन्तु कर्म के बंधको तथा कर्मफल पुण्य और पाप को जानता ही है ॥३४०॥

तात्पर्यवृत्तिः—णवि कुब्जवि णवि वेदवि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ त्रिगुणितुल्यबलेन क्वातिपूजा-
लाभहृत्तानुभूतभोगाकांक्षारूपा निदानबधादिसमस्तपरद्व्यालवनशून्येनानतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण साधवने मरिता-
वत्ये निर्विकल्पसमाधि स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदमिच्छानि निश्चयनयेन करोति
न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? ज्ञाणवि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च परमात्म-
भावनोत्पद्यते तु सो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबधादिभेदमिच्छ
पुनः कर्मबंध, सद्बन्धमायुर्नाशगोत्ररूप पुण्य, घटोऽन्यदसद्बन्धादिरूप पापं वेति ।

तमेव कर्तृत्वमोक्षतत्त्वमात्रं विशेषेण समर्थयति—

टीका —(णवि कुब्जदि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ) ज्ञानी त्रिगुणितुल्य बल के द्वारा क्वाति, पूजा, लाभ, एव देखे, सुने और अनुभूति में आये ऐसे भोगों की आकांक्षारूप निदानबध हत्यादिरूप समस्त परद्वय के आलम्बन से शून्य ऐसा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यस्वरूप के द्वारा भरे हुये के समान स्वावलम्बन ऐसी निर्विकल्प समाधि में जो स्थित है वह ज्ञाना प्रकार के ज्ञानावरणादि रूप मूल प्रकृति एव मतिज्ञानादि रूप उत्तर प्रकृति के भेद से जो विभिन्न प्रकार के हैं उन कर्मों को निश्चय नय के द्वारा न तो करता ही है और न तन्मय होकर उसको वेदता अनुभवता ही है । फिर क्या करता है ? कि (ज्ञाणवि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च) परमात्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखमे तृप्त होकर जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है उस रूप से जानता है । किसको जानता है ? कि सुख दुःख स्वरूप कर्म के फल को, प्रकृति बधाधिके भेद से अनेक प्रकार होने वाले कर्म के बंध को, तथा साता वेदनीय, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्ररूप पुण्य को व इससे अन्य विपरीत असाता वेदनीय आदि रूप पाप को भी जानता है ॥३४०॥

अब इसी कर्तृत्व व मोक्षत्व के प्रभाव का दृष्टांत पूर्वक समर्थन करते हैं—

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।

जाणवि य बंधमोक्खं कम्मदयं णिज्जंरं चेव ॥३४१॥

दृष्टिः स्वयमपि ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चेव ।

जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चेव ॥३४१॥

अर्थ—जैसे चक्षु देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उसका कर्ता तथा भोक्ता नहीं होता है उसी प्रकार ज्ञान भी बंध, मोक्ष, कर्मोदय के उदय, तथा कर्मों की निर्जरा को जानता ही है, कर्ता भोक्ता नहीं होता ॥३४॥

सात्पर्यवृत्तिः—विद्वी सयपि एषां प्रकारयं तह अवबेदयं चैव यथा दृष्टि कर्त्री दृश्यमग्नि रूपं वस्तुसंयुतं पुरुषवत् करोति तमेव च सत्ताय पिंडवदनुभवरूपेण न वेववति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठांतर विद्वी सयपि एषां तस्य व्याख्यान—न केवलं दृष्टि क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणांकारक तर्पका वेदकमपि । तथाभूतं सद् किं करोति ? **आत्मवि ब्रह्ममोक्षं जानाति च कौ ?** ब्रह्ममोक्षो न केवल ब्रह्ममोक्षो **कम्मुदयं पिण्डजर चैव** शुभाशुभरूप कर्मोदय सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरा चैव जानाति इति । एष सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावमाहत्केल शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्याधिकनयेन कर्तृत्व—मोक्षतृत्व—ब्रह्म-मोक्षादिकारणपरिणामभूत्यो जीव इति सूचित । समुदायपातनिकायां पश्चाद्-गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविचरणं कृत । पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्कर्तृत्वनिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यभिरयज्ञानानसामर्थ्यकचनरूपेण विशेषविचरणं कृत । पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्यामोक्षतृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृत । तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वब्रह्ममोक्षादिकारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गत ।

इति श्री जयसेनाचार्य कृतायां समयसारक्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिजनकया **सात्पर्यवृत्ती बोधव्यवहारसंबन्धिनी** चूलिका समाप्ता । अथवा द्वितीयव्याख्याननाम मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

टीका—(विद्वी सयपि एषां प्रकारयं तह अवबेदयं चैव) जैसे चक्षु अग्निरूप दृश्य को देखता है किन्तु जलाने वाले पुरुष के समान वह उसे जलाता नहीं है, तथा तत्पायमान लोहपिंड के समान वह उसे अनुभवरूप से वेदता भोक्ता भी नहीं है । वैसे शुद्ध ज्ञान भी अथवा अभेद विवक्षा से शुद्धज्ञान में परिणत हुआ जीव भी शुद्ध उपादान रूप से (अग्न्य द्रव्यो को) न करता ही है और न वेदता ही है (अनुभवता ही है) । अथवा दूसरा पाठ यह है (विद्वी सयपि एषां) इसका अर्थ यह है कि केवल मात्र दृष्टि ही नहीं किन्तु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय रूप से कर्मों का नहीं करने वाला और नहीं वेदनेवाला (अनुभवनेवाला) होता है । ऐसा होता हुआ वह क्या करता है ? कि (जाणुदि य ब्रह्म मोक्षं) ब्रह्म और मोक्ष को जानता है । केवल ब्रह्म मोक्ष को ही नहीं किन्तु (कम्मुदयं पिण्डजर चैव) शुभाशुभ रूप कर्म के उदय को, तथा सविपाक अविपाक रूप अथवा सकाम और अकाम रूपसे होनेवाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है । इस प्रकार शुद्ध पारिणामिकरूप परमभाव का ग्राहक एवं जो उपादान स्वरूप है ऐसे शुद्ध द्रव्याधिक नय के द्वारा कर्तपन, भोक्तापन, ब्रह्म, मोक्षादि का कारण भूत परिणामसे रहित यह जीव है ऐसा सूचित किया है । इस प्रकार समुदाय पातनिका में पीछे की चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तृपनगुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य वर्णन किया है । फिर चार गाथाओं में यह बताया है कि निश्चयसे शुद्ध जीवके भी जो कर्म प्रकृतियों का बंध होता है वह अज्ञानका माहात्म्य है इस प्रकार अज्ञान की सामर्थ्य का विशेषरूप से वर्णन किया है । फिर चार गाथाओं में जीवके अमोक्षापन के गुणका व्याख्यान मुख्यता से है । तत्पश्चात् कर्तपन ब्रह्म मोक्षादि का कारणभूत परिणाम का निषेध १२ गाथाओं में हुआ है जो कि शुद्ध निश्चयनयसे किया गया है उसीका उपसंहार दो गाथाओं में हुआ है ॥३४॥

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य की बनाई हुई शुद्धात्मानुसूति लक्षणवाली तात्पर्य नामकी श्री समयसारजी की व्याख्या के हिन्दी अनुवादमें मोक्षाधिकार से सबब रखनेवाली यह चूलिका समाप्त हुई । अथवा दूसरे व्याख्यान के द्वारा मोक्ष अधिकार समाप्त हुआ ॥३४१॥



सात्पर्यवृत्ति—किं च विशेष—श्रीपशमिकादिपञ्चभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते । श्रीपशमिकक्षायोपशमिकक्षाधिकौदयिकभाववस्तुष्वयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति । तच्च परस्पर-सापेक्ष इव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भव्यते । तत्र तावज्जीवत्वमव्यक्तत्वमव्यक्तव्यक्तिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्व शक्तिलक्षण । यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्याधिकनयाधितत्वात्किरावरण शुद्धपारिणामिकभावसंग ज्ञातव्यं तत्तुबधमो-क्षपर्यायपरिणतिरहितं । यत्पुनर्दशप्रणरूप जीवत्व मव्यामव्यत्वद्वयं तात्पर्यायाधिकनयाधितत्वाद्दुष्टपारिणामिकभाव-संगमिति । कथमशुद्धमिति चेत् ? ससारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वत्रैव दशप्रणरूपजीवत्वमव्यामव्यत्वद्वयमाभा-विति । तस्य प्रवृत्त्य मध्ये मव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासमयं च नवयस्त्वादिजीवगुणघातक देशघातिमर्बाघातिसंग मोहादिकर्मसामान्य पर्यायधिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं । तत्र च यदा कालादिलम्बित्वेन प्रवृत्त्यशक्तोव्यक्ति-मवति तदाय जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्पक्त्वज्ञानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति । तच्च वरिणमनात्ममन्त्रार्थोपशमिकक्षाधिकनयाधितत्वात् किं वाच्यं भव्यते । अध्यात्मभावया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरि-णाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंगं नमते । न च पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्पर्यवर्तिनः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात् । शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति । यद्येकातेनाशुद्धपारिणामिकादिसंगो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाश प्राप्नोति, न च तथा । ततः स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूप यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तारागादिरहित-त्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात्मोक्षकारण भवति न च शुद्धपारिणामिक । यस्तु शक्तिरूपो मोक्ष स शुद्धपारिणामिकपूर्व-मेव तिष्ठति । अथ तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते । तथा बोधतः सिद्धति—‘निष्कियशुद्धपारिणामिक’ निष्कियइति कोऽर्थः ? बध कारणभूता या क्रिया रागादिपरिणति, तद्रूपो न भवति । मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनपरिणति-स्तद्रूपवत् न भवति । ततो ज्ञाते शुद्धपारिणामिकभावो व्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् । तथा योगीन्द्रदेवैरुक्तं—

अथि उपज्जहं अथि मरड, बधग मोक्खू करेड ।

जिउ पुमत्थे जोडया, जिणवर एउ भगोड ॥ १ ॥

किं च विधितैकदेशशुद्धनयाधितेय भावना निवारिकस्वमवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्ति-रूपा भवति तथापि ध्याता पुरुष यदेव सकलनिरावरणमगमदं कप्रत्यक्षप्रतिभासमयविनिश्चय शुद्धपारिणामिकपरमभाव-लक्षण निजपरमात्मद्रव्य तद्देहाहमिति भावयति न च स्वज्ञानरूपमिति भावार्थः । इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमा-ध्यात्मनयद्वयमिन्द्राविरोधेनैव कथितं सिद्धयतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ।

अर्थ—अथ यहा पर विचार किया जाता है कि जीव के श्रीपशमिक आदि पांच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है । सो वहा श्रीपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ऐसे चार भाव सो पर्यायरूप है और एक शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है । पदार्थ परस्पर अपेक्षा लिये द्रव्य पर्याय रूप है । वहा जीवत्व, अव्यक्त और अभव्यक्त तीन प्रकार का पारिणामिक भाव है । उसमें भी शक्ति

लक्षण शुद्ध जीवत्व पारिणामिक भाव है वही शुद्ध द्रव्याधिक नयका आश्रय होने से निरावरण शुद्ध पारिणामिक भाव है नाम जिसका ऐसा जानना चाहिये जो कि बंध और मोक्षरूप पर्याय की परिणति से रहित है। और दश प्राण रूप जीवत्व अभ्यत्व और अभ्यत्व ये सब पर्यायाधिक नयके आश्रय होने से अशुद्ध पारिणामिक नाम वाला है। यहा प्रश्न होता है कि अशुद्ध पारिणामिक क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि दश प्राणरूप जीवत्व, अभ्यत्व और अभ्यत्व इन तीनों का सिद्धो में तो सर्वथा अभाव है, किन्तु ससारी जीवो में भी शुद्ध निश्चय नयसे अभाव है वहा इन तीनों में से अभ्यत्व लक्षणवाला पारिणामिक भाव है उसका तो पर्यायधिक नयसे मोहादिक कर्म सामान्य आच्छादक है जो देशघाती और सर्वघाती नाम वाला है एव सम्यक्त्वादि जीवके गुणोका घातक है ऐसा समझना चाहिये। वहां जब काल आदि लब्धियों के बंध से अभ्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् अदान, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप में परिणामन करता है उसी ही परिणामन को आगम भाषा में औपशमिक क्षायोपशमिक, और क्षायिक भाव इन तीनों नामों से कहा जाता है। वही अभ्यात्म भाषा में शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम कहलाता है जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरूप नामसे कहते हैं। वह शुद्धोपयोगरूप पर्याय भी शुद्ध पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्म द्रव्य से कथञ्चित भिन्न रूप होती है क्योंकि वह भावनारूप होती है। किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव भावनारूप नहीं होता है। यदि इस भावनारूप परिणाम को एकान्तरूप से शुद्ध पारिणामिक भावसे अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावना रूप परिणामका तो मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाता है तब उसके नाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिक भाव का भी नाश हो जाना चाहिये सो ऐसा है नहीं। इसलिये वह निश्चित है कि शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में जो भावना है उसरूप जो औपशमादिक तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावों से रहित होनेसे शुद्ध उपादान के कारणरूप है इसलिये मोक्षके कारण होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है। हा, जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्ध पारिणामिकरूप पहले से ही प्रवर्तमान है किन्तु यहा पर तो व्यक्तिरूप मोक्षका विचार चल रहा है, ऐसा ही सिद्धान्त मे लिखा हुआ कि “निष्क्रिय शुद्ध पारिणामिक” अर्थात् शुद्ध पारिणामिक भाव तो निष्क्रिय होता है। निष्क्रिय कहने का भी क्या अर्थ है कि रागादिमय परिणतिवाली एव बंध की कारणभूत क्रियासे रहित है तथा मोक्षके कारणभूत जो क्रिया शुद्ध शुद्ध स्वरूप की भावनारूप परिणति है उससे भी रहित है। इससे यह जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं है क्योंकि विनाशशील है। जैसाकि योगिन्द्र देव ने भी अपने परमात्मप्रकाश मे लिखा है —

‘एवमिदं उज्ज्वलं निर्विकारं दृश्यं मुक्त्तुं करेह, जिह्वा परमत्वे जोड्या जिह्वावर एव भरोह ।’
अर्थात्—हे योगी। सुन, परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह जीव न तो उपजता है, न भरता है, न बंध ही करता है, न मोक्ष ही प्राप्त करता है ऐसा भी जिनैन्द्र भगवान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा मे ली हुई एक देश शुद्ध नय के आश्रित होने वाली भावना निर्विकार स्वस्वेदन ही है लक्षण जिसका ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान से पृथक्पने के कारण यद्यपि एक देश व्यक्ति रूप है फिर भी ध्यान करने वाला पुरुष यही भावना करता है कि जो सभी प्रकार के आवरणों से रहित अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय तथा नाश रहित और शुद्ध पारिणामिक लक्षणवाला निज परमात्मा द्रव्य है वही मैं हूँ अपितु खंड ज्ञान रूप मैं नहीं हूँ, यह सब व्याख्यान यहा परस्पर की अपेक्षा को लिये हुये जो

आगम और अध्यात्मनय इन दोनों का विरोध नहीं करने से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार विवेकी ज्ञानियों को समझना चाहिये।

विशेषार्थ—टीकाकारने यहाँ बतलाया है कि काल आदि लब्धि के बल से इस जीव को भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तभी यह जीव अपने परमात्मद्रव्य का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान करने रूप में परिणमन करता है। उस परिणमन को ही आगम भाषा में औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव नाम से कहा जाता है व अध्यात्म भाषा में वही शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम स्वरूप शुद्धोपयोग नाम पाता है। इस टीकाकार के उल्लेखसे चतुर्थगुणस्थान में ही शुद्धोपयोग हो जाना सिद्ध होता है क्योंकि वहाँ दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम, या उपशम हो जाता है, तो फिर क्या चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग मान लेना चाहिये क्योंकि तज्जन्य औपशमादिक भाव भी उस गुणस्थान में होते ही हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ इस अध्यात्मशास्त्र में दर्शन मोह, व चारित्र मोह को. पृथक् २ न लेकर मोह नाम भूलका लिया गया है। फिर वह भूल चाहें दर्शन सबधी हो, या चारित्र सबधी हो, भूल तो भूल ही है। इस प्रकार वह भूल जिसके उपयोगमें न हो वही सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी यहाँ पर लिया गया है और जैसा स्वयं टीकाकार श्री जयसेनाचार्यने भी अनेक स्थलों पर बतलाया है कि यहाँ पर पचम गुणस्थान से ऊपर वाले को ही सम्यग्दृष्टि शब्द से लिया गया है अर्थात् चारित्र सहित सम्यग्दृष्टि को ही यहाँ पर सम्यग्दृष्टि माना गया है। अथवा वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही यहाँ सम्यग्दृष्टि लिया है एव उसका औपशमादिक भाव शुद्धोपयोग है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवाले का औपशमिक भाव और बारहवें गुणस्थानवाले का क्षायिक भाव। ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचेवाले मुनिका क्षयोपशमिक भाव शुद्धोपयोग है यह कहना भी ठीक ही है। वह शुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है—एकतो शुद्ध धर्मध्यानात्मक जो कि सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिको होता है और दूसरा शुक्ल ध्यानात्मक शुद्धोपयोग जो कि आठवें आदि गुणस्थानो में होता है। सातवें गुणस्थानसे नीचे वाले मुनिके भी ध्यान को वास्तविक धर्मध्यान न कहकर यहाँ पर शुभ सकल्प विकल्पात्मक होनेसे औपचारिक धर्मध्यान नामसे या* प्रशस्त आर्त्तध्यान के नाम से लिया गया है जो कि औदयिक भावरूप हुआ करता है और इसीलिये आचार्यदेवने उसे छोड़ देने का बार-बार उपदेश किया है।

समयसार चूलिका

तात्पर्यवृत्तिः—अतः, पर जीवादिनवाधिकाः ये जीवस्य कर्तृत्वमोक्षत्वत्वादिस्वरूप यथास्थान निश्चयव्यवहार-विभागान् सामान्येन मत्पूर्वं सूचितं, तत्पूर्वं विशेषविवरणार्थं लोकोत्सं कुण्डलिं विह्वल इत्यादि गाथायां कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं कराति—

चूलिकाशब्दस्यार्थं कथ्यते तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तवर्णनव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दास्त्वर्थो जातव्यः । तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृस्वनिराकरणमुच्यत्वेन लोकोत्सं

*१ ज्ञानार्थं प्रहाविज्ञ प्रकारः

मुक्त्योपशमभेदेन द्वौ मुनि स्वामिनो मतौ । प्रप्रव्रतप्रमत्ताभ्यो धर्मस्वैतो यथायथम् ॥२५॥

कुण्डलि विष्णुः इत्यादि गाथासप्तकं च भवति । तदनन्तरं, भग्न्यं कर्ता, भुंक्ते भग्न्यं—इत्येकांतिनिषेधरूपेण बीडमत्ता-
नुसारिणिष्यसंबोधनार्थं केहिदु पञ्जयोहि इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । अतः परं साध्यमत्तानुसारिणिष्यं प्रति, एकांतेन जीवस्य
भावनिष्पत्त्यवकाशं स्वनिराकरणार्थं **मिच्छतां जहि पयडो** इत्यादि सूत्रपञ्चकं । ततः परं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिभावान्
कर्मवैकान्तेन करोति नचास्तेति पुनरपि सारभ्यमतनिराकरणार्थं—**कम्मोहि अण्णाणी** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि ।
अथानन्तरं कोऽपि प्राथमिकनिषेधं शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयानां विनाशं कर्तुं बाधति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य
घातं करोमीति विशेषविषेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं **इंसणपाणचरिसं** इत्यादि सूत्रसप्तकं । तदनन्तरं यथा
सुवर्णकारादिगिल्पी कुडलादिकम् हस्तकुट्टकाद्युपकरणं करोति । तत्फलं भूत्यादिकं भुंक्ते च तथापि तन्मयो न
भवति । तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **जह सिप्पियो हु**
इत्यादि गाथा सप्तकं । ततः परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निष्पत्त्येन तन्मयो
न भवति । तथा जीवोऽपि व्यवहारेण श्रेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्धां च तथापि निष्पत्त्येन तन्मयो
न भवति इति ब्रह्माहं तमतानुसारिणिष्यसंबोधनार्थं **जहसेडिया** इत्यादि सूत्रदशकं । ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिष्पत्त्य-
प्रतिक्रमण—निष्पत्त्यप्रत्याख्यान—निष्पत्त्यालोचना—निष्पत्त्यचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन **कम्मं जं पुब्बकयं** इत्यादिसूत्र-
चतुष्टयं । तदनन्तरं रागद्वेषादौ विषयेऽज्ञानरूपस्पर्शकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं नचाचेतनशब्दादिविषय इति कथनार्थं
णिदवि सुं बुदि वयपाणि इत्यादि गाथादशकं । अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिवं मया कृतं च
मन्यते स्वस्वमावभूत्य मुक्तितो बुद्धितश्च भवति यं स पुनरप्यष्टविधं कर्मं दुःखं बीजं ब्रज्जातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन
वेदतो कम्मकलं इत्यादि गाथान्त्यं । तदनन्तरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतैर्द्रियविषयद्रव्यकर्मं चर्याचर्यानां कामकाला-
शुद्धनिष्पत्त्येन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सच्छं णाणं ज हववि** इत्यादि पञ्चदश
सूत्राणि । ततः परं यस्य शुद्धनयस्यमिप्रा वेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्यामिप्रायेण कर्मनोक्तमहिरहितं इति व्याख्यानरूपेण
अण्णा जस्स अमुत्तो इत्यादि गाथान्त्यं । तदनन्तरं देहाभितद्रव्याणि निबिकल्पसमाधिलक्षणमावलिगारहितं यतीना-
मुक्तिकारणं न भवति भावलिगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाण्डो लिगारिण्य**
इत्यादि सूत्रसप्तकं । पुनश्च समयप्राप्ताभ्यन्तरफलकचनरूपेण अथसमाप्त्यर्थं **जो समय पाहुडिण** इत्यादि सूत्रमेकं
कथयतीति त्रयोदशभिरन्तराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारेसमुदायपातनिका—

इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—एकांतेनात्मनः कर्तारं ये मन्यते
तेषामज्ञानजनकमोको नास्तीत्युपदिशति—

टीका—इसके आगे जीव आदि नव अधिकारो मे जीवका कर्त्तापन और भोक्तापन आदि के
विषय से निश्चयनय और व्यवहारनय के विभागद्वारा सामान्यपने जो पूर्व में वर्णन किया है उसी का
अब विशेष वर्णन करने के लिये “लोगस्स कुणदि विण्हु” इत्यादि गाथा को आदि लेकर पाठक्रम से
६६ गाथाओ मे चूलिका का व्याख्यान करने हैं ।

चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं—“विशेष व्याख्यान, कहे हुये और न कहे हुये का व्याख्यान,
तथा कहा हुआ और न कहा हुआ से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार से व्याख्यान चूलिका शब्द
से कहा जाता है ।

वहा इन ६६ गाथाओ मे सबसे पहले ७ गाथाओ मे यह बतलाया है कि देवादि पर्यायो को करने
वाला विष्णु नहीं है इस प्रकार “लोगस्स कुणदि विण्हु” आदि सात गाथाये हैं । इसके बाद अन्य कर्ता
है अन्य भोक्ता है इस प्रकार के एकात का निषेध करते हुए ‘केहिदु पञ्जएहि’ इत्यादि ४ गाथायें बीडमत्ता-

मत के अनुयायी शिष्य को समझाने के लिये कही हैं। इसके पश्चात् साख्यमतानुसारी शिष्य को लक्ष्य में लेकर एकान्त से जीव के भाव मिथ्यात्वका कर्त्तापन निवारण करने के लिये “मिच्छता यदि पयङ्गि” इत्यादि पांच सूत्र हैं। इसके आगे ज्ञान, अज्ञान तथा सुख, दुःख आदि भावों का करने वाला एकान्तसे कर्म है, आत्मा कर्त्ता नहीं ही इस प्रकार साख्यमत के निराकरण करने के लिये “कर्महि अण्णाणी” इत्यादि तेरह गाथा सूत्र है। इसके आगे कोई नवीन शिष्य शब्द आदि पाचो इन्द्रियों के विषयों को नष्ट करना चाहता है किन्तु मन में तिष्ठे हुये विषयों के अनुगम को नाश करना चाहिये ऐसे विवेक से रहित है उसको संबोधन करने के लिये ‘दसराग रागाग चरित्’ इत्यादि ७ सूत्र है। उसके आगे ‘जह सिप्पियो डु’ इत्यादि सात गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि जैसे स्वर्णकारादि शिल्पकार हथोड़े आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डल आदि वस्तुये बनाता है और उनसे उसे जो फल मिलता है, मूल्य आदि उसे भोगता है किन्तु उससे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी द्रव्यकर्म करता है और उसके फलको भोगता है किन्तु उससे तन्मय नहीं हो जाता। इसके बाद दस गाथायें हैं जिनमें ब्रह्म अद्वैत मतानुसारी शिष्य को समझाने के लिये ‘जह सेडिया’ इत्यादि रूपसे बताया है कि जैसे श्वेत भिट्टी भोत आदि को सफेद करती है फिर भी निश्चयसे देखा जाय तो इससे वह तन्मय नहीं होती। इसी प्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेय भूत द्रव्य को जानता है देखता है, दूर करता है, श्रद्धान करता है तो भी निश्चय से वह उसमें तन्मयी नहीं होता है। इसके आगे ‘कम्म ज पुव्वकव’ इत्यादि चार गाथायें हैं जिसमें शुद्धआत्मा की भावना रूप निश्चय प्रति क्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचनारूप निश्चय चारित्र का व्याख्यान किया गया है। इसके आगे रागद्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञानरूप अपनी बुद्धि का दोष ही कारण है अचेतन शब्द आदि विषय रागद्वेष की उत्पत्ति में कारण नहीं है ऐसा कथन करने के लिये “णिदिद सधुव वयणाणि” इत्यादि दश गाथायें हैं। इसके आगे “वेदतो कम्मफल” इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बतलाया है कि उदय में आये हुये कर्म के फल को भोगता हुआ ऐसा मानता है कि यह मेरा है, यह मुझसे किया गया है एव स्वस्थ भाव से शून्य होकर मुखी या दुखी होता है ताकि दुःख के बीज प्राण प्रकार के कर्म का फिर से बंध कर लेता है। इसके बाद “सच्छ राण ण हवदि” इत्यादि पन्दरह गाथाओं में यह बतलाया है कि शुद्ध निश्चय नय से आचारोंग, सूत्र कृतांग आदि द्रव्यश्रुत स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषय, तथा द्रव्यकर्म धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व कालद्रव्य एव रागादि विभाव ये सब भी जीवका स्वरूप नहीं है। इसके आगे “अपा जस्स अमत्तो” इत्यादि तीन गाथायें हैं जिनमें बताया है कि जिस शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा अमृत है उसी नय अभिप्राय से कर्म, नाकर्म आहार से भी रहित है। इसके आगे “पावडो लिगाणिय” इत्यादि सात सूत्र हैं इनमें मुख्यतः यह बतलाया है कि देहाश्रित जितने भी लिग हैं निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव लिग में रहित यती लोग हैं उनका द्रव्यालंग मुक्ति का कारण नहीं किन्तु भावलिग सहित यतियों का ही द्रव्यालंग मुक्ति का सहायक कारण है। इसके पश्चात् इस समय प्राभूत ग्रन्थ के अध्ययन का फल बतलाते हुये इस ग्रन्थ को समाप्त करने के लिये ‘जो समय पाहुड मिण’ इत्यादि एक सूत्र है। इस प्रकार १३ अन्तर अधिकारों में समयसारजी की चूलिकाके अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई।

आगे इन तेरह अधिकारों का क्रमसे व्याख्यान किया जाता है।

अब यहाँ बताते हैं कि जो एकान्त से आत्माको कर्त्ता मानने है उनका भी मोक्ष अज्ञानी लोगों के समान नहीं समझना चाहिये —

लोगस्स कुणवि बिह्लू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
 समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥३४२॥
 लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण विस्सदि विसेसो ।
 लोगस्स कुणवि विण्हू समणाणं अप्पो कुणवि ॥३४३॥
 एवं ण कोवि मुखो दीसइ दुण्हं पि समण लोयाणं ।
 णिच्च कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे ॥३४४॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् ।
 श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधात् कायात् ॥३४२॥
 लोकश्रमणानामेवं सिद्धांतं प्रति न दृश्यते विशेषः ।
 लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३४३॥
 एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषां ।
 नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरसहितलोके ॥३४४॥ (त्रिकलम्)

अर्थ—भ्राम लोगो का ऐसा मन्तव्य है कि सुर, नारक, तिर्यं च, और मनुष्य नाम के प्राणियों को विष्णु भ्रयान् परमात्मा बनाता है । इस प्रकार यदि यतियों का भी यही विश्वास हो कि छह काय के जीवों को भ्राता करता है तो फिर लोगों का तथा श्रमणों का एक ही सिद्धान्त ठहरा इसमें कोई भी विशेषता नहीं है क्योंकि लोगों की मान्यता में जैसे विष्णु करता है उसी प्रकार श्रमणों की मान्यता में भ्राता करता है । इस प्रकार कर्ता के मानने में दोनों समान है इसलिये लोक और धम्म इन दोनों में से किसी का भी मोक्ष नहीं दीखता क्योंकि जो देव, मनुष्य और भ्रमुर सहित लोगों को नित्य दोनों ही करते रहेगे तो मोक्ष कैसी ?

तात्पर्यवृत्ति—लोगस्स कुणवि बिह्लू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते लोकस्य मते विष्णु करोति । कात् ? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए श्रमणाना मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् कात् ? षट्जीविकायातिरिक्ते लोगसमणाणमेव सिद्धंतं पडि ण विस्सदि विसेसो एव पूर्वोक्त-प्रकारेण सिद्धांतं प्रति, भ्राममं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेष कयो सब्बो ? लोकश्रमणयो कस्मात् । इति चेत्—लोगस्स कुणवि विण्हू समणाणं (वि) अप्पो कुणवि लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुषविशेष करोति । श्रमणाना मते पुनरात्मा करोति, तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते आत्मसंज्ञा, नास्ति विप्रतिपत्तिर्नार्थः । एवं एव कोवि मुखो दीसवि दुण्हं पि समणलोयाणं एव कर्तृत्वे सति को दोष ? मोक्ष कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोक-श्रमणयो । किं विणिष्टयो ? णिक्ख कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे नित्य सर्वकाल कर्म कुर्वतो । क्व ? लोके । कथं भूते ? देवमनुष्यासुरसहिते । किंच—रागद्वेषमोहरूपेण परिणामनभेव कर्तृत्वमुच्यते । तत्र रागद्वेषमोहपरिणामने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्बुद्धानुज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाप्यवबन्धनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः । एव पूर्वपक्षरूपेण गथाश्रय गत ।

अथोत्तर नश्ययेनात्मन युद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसम्बन्धो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति—

टीका.—(लोगस्स कुणदि विण्ह सूरनारयतिरियमाणुसे सत्ते) लोको के मत मे तो विण्णु देव, नारक, तिर्यच और मनुष्य नाम के जीवो को करता है। (समणानपि य अप्पा जदि कुव्वदि छन्विहे) काए) उसी प्रकार श्रमणो के मत मे आत्मा छह काय के जीवो को करता है। (लोग समणानमेव सिद्ध त पडि ण दिस्सदि विससे) इस पूर्वोक्त रीति से लोक और श्रमणो मे सिद्धान्त के प्रति और आगम के प्रति फिर कोई भेद नहीं दिखता है। (लोगस्स कुणदि विण्ह समणान्ण अप्पओ कुणदि) क्योंकि लोगो के मत मे तो कल्पित किया हुआ विण्णु नाम का पुरुष विशेष करता है और श्रमणो के मत मे आत्मा करता है सो वहा करने वाले का नाम विण्णु है और श्रमणो के मत मे उस करने वाले का नाम आत्मा है। नाम भेद है पर अर्थ मे कोई भेद नहीं है। (एव ए कोवि मुक्खो दोसदी दुण्हपि समणलोयाण) इस प्रकार के कतृत्व मे दोष क्या आता है ? कि फिर लोक और श्रमणा मे मोक्ष होना नहीं ठहरता है। कब और कहा ? कि (णिच्च कुव्व ताण सदेवमणुआसुरे लोगे) निरंतर सब ही काल मे कर्म करते हुआ को देव मनुष्य और असुर सहित लोक मे मोक्ष नहीं ठहरता। भावार्थ यह है कि रागद्वेष और मोह के रूप मे परिणामन करने का नाम ही कर्त्तापन है रागद्वेष और मोहरूप परिणामन होने पर शुद्ध स्वभाव आत्मतत्व का समोचन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो निश्चय रत्नत्रय तद्रूप जो मोक्षमार्ग उससे च्युत होता है तब वहा मोक्ष नहीं होता है ॥ ३४२-३४३-३४४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष रूप से तीन गायाये हुई ।

विशेषार्थ—यहा पर आचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि कोई ममूक्ष अर्थात् मुनि होकर भी अपने आप को कर्त्ता मानता रहेगा तब फिर वह मुक्त नहीं हो सकता है। क्यों कि जा आपको कर्त्ता मान रहा है वह तो कुछ न कुछ करता ही रहेगा अब जब कर्त्ता रहेगा तो उसका फल भी भोगता रहेगा, ऐसी दशा मे मुक्त होने की बात कैसे ? हाँ, इसके साथ यह बात भी समझ लेना चाहिये कि गृहस्थपन मे कर्त्तापन से दूर नहीं हो सकता क्योंकि गृहस्थपन का कर्त्तापन के साथ अविनाभाव संबध है। गृहस्थपन मे रहकर बुरा न करे तो भला करे किन्तु कुछ तो करना ही होगा अकर्त्ता नहीं रह सकता। फिर भी अकर्त्ता पन की श्रद्धावाला हो सकता है। किन्तु स्वयं अकर्त्ता बनने के लिये गृहत्याग की एव मुक्त हो जाने के लिये अकर्त्तापन की आवश्यकता होती है।

अब पूर्वपक्ष के उत्तर मे कवन करने है कि निश्चयसे आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथमे कर्त्ताकर्म संबध नहीं है तब आत्मा कैसे कर्त्ता बनता है ? —

ववहार भासिदेण दु परदव्व मम भणंति विदिदत्था ।

जाणंति णिच्छयेण दु णय इह परमाणुमित्त मम किं चि ॥३४५॥

जह कोवि णरो जपदि अहं गामविसयणयररट्ठं ।

णय होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३४६॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो ।

जो परदव्वं मम इदि जाणतो अप्पयं कुणदि ॥३४७॥

तद्भा ण मेति णच्चा दोह्वं वि एयाण कत्त ववसाओ ।
परद्वये जाणंतो जाणिज्जो विट्ठी रहिदाणं ॥३४८॥ (चतुष्कम्)

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणति विदितार्थाः ।

जानंति निश्चयेन तु न चेह परमाणुमात्रमपि किञ्चित् ॥३४५॥

यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं ।

न च भवंति तस्य तानि तु मणति च मोहेन स आत्मा ॥३४६॥

एवमेव मिथ्यादृष्टिज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः ।

य परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥३४७॥

तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं ।

परद्रव्ये जानन् जानीयादृष्टि रहितानां ॥३४८॥

अर्थ—जिनहोने पदार्थ का स्वरूप जान लिया है ऐसे लोग भी व्यवहार की भाषा द्वारा यह (पीछी कमण्डलु आदि) पर द्रव्य मेरा है ऐसा कहते हैं परन्तु निश्चयनय के द्वारा वे लोग यह जानते हैं कि इन बाह्य वस्तुओं मे परमाणु मात्र भी कुछ मेरा नहीं है । जैसे कोई पुरुष कहे कि अग्रुक ग्राम, नगर, प्रात और देश मेरा है तो उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं होजाते हैं किन्तु जीव मोह के वश से मेरा मेरा कहता है इसी प्रकार पर द्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ भी जानी जीव 'यह मेरा है यह मेरा है' ऐसा कहता है उस परद्रव्य को अपना बनाता है तो उस समय वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि है । इसलिये परद्रव्य मेरा नहीं हो सकता है ऐसा जानकर परद्रव्य के विषय मे लौकिक जन और जानी (मुनि) जन इन दोनों के ही इस कर्तापन के व्यवसाय को जानता हुआ जानी जीव तो उसे मिथ्यादृष्टियों का ही व्यवसाय जाने ॥ ३४५-३४६-३४७-३४८ ॥

तात्पर्यवृत्ति — व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणति विदितार्थाः पर द्रव्य मम भणति । के ते ? विदितार्था — ज्ञातार्था तत्त्ववेदिन । केन कृत्वा भणति ? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन । जाणंति शिष्ययेण तु शय इह परमाणुमिह मम किञ्चि निश्चयेन पुनर्जानति । कि ? नचेह परद्रव्य परमाणुमात्रमपि ममेति । अह कोषि शरो जंपदि अह्माणं ग्राम विसयपुरदृष्टं तथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति । कि जल्पति ? वृथावृत्तो ग्राम, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधान पुर, देशैकदेशसञ्च राष्ट्रमस्माकमिति । शय इहं ति ताणि तस्स तु भणदिय मोहेण सौ अथा नच तानि तस्य भवति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीय ग्रामादिकमिति दृष्टात । अय दार्ष्टां त — एव पूर्वोक्तदृष्टातेन जानी व्यवहारमूर्खो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयो भणति तदा मिथ्यात्व प्राप्त सन् मिथ्य दृष्टिर्भवति निस्संशय निश्चिन सदेहो न कर्तव्य इति । तद्भा इत्यादि तद्भा तस्मात् परकीयग्रामानि दृष्टातेन स्वानुभूतिमात्रनाच्युत सन् योऽसौ परद्रव्य व्यवहारेणात्मीय करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणित पूर्वं तस्मात्कारणाज्जायते दुह्वं एवाण कत्तववसाओ परद्रव्ये तयो पूर्वोक्तलौकिकजैनयो आत्मा परद्रव्य करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसाय । कि कृत्वा ? पूर्वं च ममेति शक्या निविकारस्वपरपरिक्लिप्तिज्ञानेन परद्रव्य मम सबधि न भवति इति ज्ञात्वा जाणंतो जाणिज्जो विट्ठिरहिदाणं इम लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्व-व्यवसाय—अन्य कोऽपि तृतीयतद्रव्य पुरुषो जानन् सन् जानीयात् । स कचभूत जानीयात् ? वीतरागसम्यक्संज्ञायां

तु निश्चयवह्निस्तद्विहितानां व्यवसायोऽयमिति । ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मोपबद्धं सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि भ्लेच्छाज्ञाना भ्लेच्छमाश्रित्य प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसृत्य । प्राथमिकजनप्रतिबोधनकाल विहाय कतकफलवदारमशुद्धिकारकां शुद्धयत्नयुक्तोभूत्वा यदि परद्रव्यमात्मोप करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति । किं च विशेष लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया प्रणिता । नचानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मावामहेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति । कथमिति चेत् सर्वोऽपि लोकस्त्वादिकेन्द्रियादिजीवैर्भू-
तस्तिष्ठति । तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपययिण ब्रह्मपययिण महेश्वरपययिण जिनपययिण च परिणमनशक्ति-
रस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णु, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वर, आत्मैव जिन । तदपि कथमिति चेत् कोऽपि जीव पूर्वं मनुष्यमवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकाशानिदानबन्धेन पापानुबन्धिपुण्य कृत्वा स्वर्गं समुत्पद्य तत्रमादागत्य मनुष्यमवे त्रिब्रह्माधिपतिरिदं चक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुमज्ञा नचापर' कोऽपि लाकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति । तदा चापर कोऽपि जीवो जिनदीक्षा गृहीत्वा रत्नशय्याराजन्या पापानुबन्धिपुण्योपाज्जनं कृत्वा विद्यानुवादसज्जं दशमपूर्वं पटित्वा वरिष्ठ-
भोहोदयेन तपश्चरणय्युक्तो भूत्वा हुण्डावमपिणीकालप्रमावेण विद्याबन्धेन लोकस्याहं कर्त्तव्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मय कृत्वा महेश्वरो भवति न सबावमपिणीषु । सा च हुण्डावपिणी सख्यातीनां तत्पिण्यवसपिणीषु गतासु समुपयानि तथा चात्त —

मयानीदमपिणि गयासु हुडावसपिणी एव ।

परसमयह उपात्तो नहि जिणवर एव पमगोड ॥ १ ॥

नचान्य कोऽपि जगत्कर्त्ता महेश्वरामिधानं पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तदा चापर कोऽपि पुरुषो विनिष्टनपश्च-
रण कृत्वा पञ्चासप प्रमावेण स्त्रीविययनिमित्तं चतुमुखा भवति तस्य ब्रह्मा मज्ञा । नचान्य कोऽपि जगत कर्त्ता
ध्यापकैरूपो ब्रह्मामिधानोऽस्ति । तथैवापर कोऽपि दशनाविबुद्धिचिनयसपन्नतेत्यादि पौडगमावना कृत्वा देवैर्ब्राह्मि-
निमित्तपचमहाकल्याणपूजायाय तीर्थकपुण्य समुपाद्य निश्च'गमिणो बोधरागसर्वंशो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्य ।
एव यद्येकातेन कर्त्ता भवति तदा मोक्षमात्र इति विष्णुदृष्टातन गावानयेन पूवपक्ष कृत्वा माध्याचतुष्टयेन परिहार-
व्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रमन्तरं गत ।

अथ द्रव्याधिकनयन य एव कम करानि स एव भुक्त । पर्यायविकनयेन पुनरन्य करोत्यन्यो भुक्ते इति च
योऽनो मयनेम सभ्यदृष्टिभवनानि प्रतिपादयति—

टीका — (व्यवहार भासिदेगदु परद्रव्य मम भगानि विदिदच्छा) जो विदितार्थ है—तत्त्व के
ज्ञानने वाले हैं वे लोग भी परद्रव्य का मम है ऐसा व्यवहारनय के द्वारा व्यवहार की भाषा में कहा करते
हैं । (जाणति रिणच्छयेण दुण य इह परमाणु मित्त मम किंचि) किन्तु निश्चयनय से जानते हैं कि यहाँ जो
परद्रव्य है उनमें से परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है । (जहकोविणरो जपदि ब्रह्माण गामविसयपुर रट्ठु) जैसे
कोई पुरुष ऐसा स्पष्ट कहे बाड़ी से घिरा हुआ ग्राम, देशनामवाला विषय, नगर है नाम जिसका वह पुर,
देश का एक हिस्सा वह राष्ट्र ये सब हमारे हैं । (गय हु ति तारिण तस्स दु भणदि य मोहेण सो भण्पा)
उसके कहने मात्र से वे सब उसके नहीं होते हैं जो कि ग्रामादिक उस देश के राजा के हैं फिर भी
मोहभाव के निमित्त से वह ऐसा कहता है कि अमुक ग्रामादिक मेरे हैं यह तो दृष्टांत हुआ । अब दार्ष्टांत
कहते हैं—इसी प्रकार पूर्वोक्त दृष्टांत के द्वारा ज्ञानी जीव भी व्यवहार विमूढ होकर यदि परद्रव्य को
अपना कहता है तो उस समय मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ वह अवश्य मिथ्यादृष्टि हो जाता है इसमें
संदेह नहीं करना चाहिये । तम्हा इत्यादि चौथी गाथा का अर्थ यह है कि परकीय ग्रामादि दृष्टांत के द्वारा
ही स्वात्मानुभूति की भावना पर से च्युत हुआ जीव पर द्रव्यको व्यवहार से अपना कहता है वह मिथ्यादृष्टि

होता है ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। इस कारण से जाना जाता है कि (दुष्ट एवमप्य कतिव्यवसाय) पर द्रव्य अर्थात् आत्मा से इतर वस्तुओं के बारे में पूर्वोक्त लौकिक जन और जैन जन इन दोनों का ही आत्मा पर द्रव्य को करता है इस रूप से जो कर्त्तापिन का व्यवसाय है उसको कोई तीसरा तटवर्ती पुरुष (ए भमेति णच्चा) विकार रहित जो स्व और पर परिच्छिन्नी रूप ज्ञान के द्वारा पर द्रव्य मेरा सबधी नहीं हो सकता इस बात को जानकर (जाणं तो जाणिज्जो विट्ठीरहिदाण इम) लौकिक जन और जैन जन इन दोनों के पर द्रव्य के बारे में होने वाले कर्त्तापिन के व्यवसाय को जानता हुआ इस प्रकार जाने कि वीतराग सम्यक्त्व है नाम जिसका ऐसी निश्चय दृष्टि जिनके नहीं है उन लोगों का यह अध्यवसाय है। इस पर शका होती है कि ज्ञानी होकर भी व्यवहार से जो पर द्रव्य को अपना कहता है वह भ्रमानी कैसे हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि व्यवहार तो प्राथमिक लोगों को संबोधन करने के लिये उस समय ही अनुसरण करने योग्य है जैसे कि भ्लेच्छों को समझाने के लिये भ्लेच्छ भाषा बोली जाती है। प्राथमिक जनके संबोधन काल को छोड़कर अन्य काल में भी यदि कोई ज्ञानी जोव कतक फल के समान आत्मा का संबोधन करने वाला शुद्धनय उससे च्युत होकर पर द्रव्य को अपना करता है कहता है उस समय वह मिथ्या दृष्टि होता है। अब इसका विस्तार से वर्णन करते हैं—जैसा पहले की तीन भाषाओं में कह गये हैं कि लोगों के मत में विष्णु ही सृष्टि का कर्त्ता है सो वह लोक व्यवहार को लेकर कही हुई बात है किन्तु अनादि स्वरूप इस देव मनुष्यादि प्राणियों से भरे हुये लोक का विष्णु या महेश्वर नाम का कोई भी एक कर्त्ता नहीं है। क्योंकि यह सारा लोक ही एकेन्द्रियादि जीवों से भरा हुआ है उन सभी जीवों में निश्चयनय से विष्णु के रूप से, ब्रह्म के रूप से, महेश्वर के रूप से और जिनके रूप से परिणामन करने की शक्ति विद्यमान है इसलिये आत्मा ही विष्णु है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही महेश्वर है और आत्मा ही जिन भो है। वह कैसे है सो बताते हैं—देखो, कोई जीव अपने पूर्व मनुष्य भवमें जिन दीक्षा लेकर भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंधके द्वारा पापानुबन्धी पुण्य करके स्वर्ग में जा उत्पन्न हुआ, वहासे आकर मनुष्य भव में तीन खण्ड का अधिपति अर्द्धचक्रो बनता है उसी ही की विष्णु सज्ञा होती है और कोई लोकका कर्त्ता विष्णु नहीं है। इसी प्रकार कोई जिन दीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना द्वारा पापानुबन्धी पुण्य उपाजन करके विद्यानुवाद नाम के दशवे पूर्व को पढ़कर चारित्र्य मोह के उदय से तपश्चरण से भ्रष्ट होकर हु डावसपिणी काल के प्रभाव से और अपनी विद्या के बल से मैं इस लोकका कर्त्ता हूँ ऐसा चमत्कार दिखाकर मूढ लोगों में आश्चर्य पैदा करके महेश्वर बनता है सो यह सभी अवसर्पिणीयों में नहीं होता किन्तु हुण्डावसर्पिणी में होता है जो कि असंख्यत उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीतने पर ही आया करता है। जैसा कि लिखा हुआ है—

सखातीदव सप्पिगी गयासु हुण्डावसर्पिणी एड ।

पर समयह् उपत्ती तहि जिणवर एव पभणेइ ॥१॥

अर्थात् असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है जिसमें जेनेतर मत्तो की भी उत्पत्ति हो जाती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं तो उसी में महेश्वर पैदा होता है इसके सिवाय जगत् का कर्त्ता महेश्वर नाम का पुरुष नहीं है। इसी प्रकार कोई एक विशिष्ट तपश्चरण करके पश्चात् इस तपश्चरण के प्रभाव से स्त्री विषय का निमित्त पाकर चारमुख वाला हो जाता है उसी का ब्रह्मानाम है, और कोई व्यापक एक रूप वाला होकर जगत् का कर्त्ता हो ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है। इसी प्रकार कोई एक दर्शन विशुद्ध विनय सम्पन्नता आदि सोलह भावना को भाकर द्वेवेन्द्रादि द्वारा की

हुई पंच महाकल्याण पूजा के योग्य तीर्थंकर नाम पुण्य को उपाज्जनकर जिनेश्वर नाम वाला बीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा वस्तु का स्वरूप है सो जानना चाहिये ॥३४५-३४६-३४७-३४८॥

विशेषार्थ—यहा पर यह बताया है कि जो पर द्रव्य को पर द्रव्य ही नहीं मानते वे तो मिथ्या दृष्टि हैं ही, किन्तु जो पर द्रव्य को पर द्रव्य जानते हुये भी व्यवहार के वश उसे अपना कहते हैं वह भी भ्रजानी एव मिथ्या दृष्टि हैं। जैसे कोई पुरुष अपना परिचय पूछने पर कहता है कि मैं भ्रमुक नामवाला हूँ और भ्रमुक मेरा गाव है। वहा वह यह तो अवश्य जानता है कि वह गाव तो मेरा नहीं है भ्रमुक नाम वाले राजाका है फिर भी वह वहा रहने वाला है इसलिये उसे अपना कहता है किन्तु रहते तो वहा और भी बहुत हैं। एव वह उसे अपना कहता है तो भ्रजानी है मिथ्या दृष्टि है। वैसे ही जो मुनि यह जानकर कि यह पीछी मोर पक्षी की है और यह कमण्डलु काठ का है किन्तु उन्हे अपने पास में रखे हुए है अत व्यवहार से उन्हे अपने कहता है तो वह भ्रजानी मिथ्यादृष्टि है। अपितु उसे तो चाहिये कि वह अपने उपयोग को उनसे भी हटाकर आत्मोन्मुखी करले आत्मतन्त्रीन बन रहे तभी वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है अन्यथा नहीं। अर्थात् यहा पर तो सर्वथा परावनम्ब का त्याग कर स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी है क्योंकि यहा पर तो एक मात्र मुक्ति का ही लक्ष्य है।

आत्मा को यदि एकान्त से कर्ता मान लिया जाय तो मोक्ष का अभाव ठहरता है इस बात का विष्णु दृष्टात के द्वारा तीन गाथाओं में पूर्व पक्ष करके चार गाथाओं द्वारा उसका परिहार करने रूप वर्णन वाला सात गाथाओं में पहला स्थल पूर्ण हुआ ॥ ३४५-३४६-३४७-३४८ ॥

आगे यह बताते हैं कि द्रव्याधिक नयसे जो कर्म करना है वही उन फल को भोगता है और पर्यायाधिक के नयसे अन्य ही कर्ता है और अन्य ही भोगता है इस प्रकार जा बड़ी मानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है—

केहिं चि दु पज्जेर्योहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४९॥
केहिंचिदु पज्जेर्योहिं विणस्सए णेव केहिं चिदु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३५०॥
जो चेव कुणइ सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५१॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३५२॥

कंश्चित्तु पर्यायविनश्यति नैव कंश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥३४९॥
कंश्चित्तु पर्यायविनश्यति नैव कंश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥३५०॥

यश्चैव करोति स चैव वेदको यस्यैव सिद्धांतः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३५१॥

अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते यस्य एष सिद्धांतः ।

स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३५२॥

अर्थ—क्योंकि जीवनामा पदार्थ अपनी कितनी ही पर्यायोंसे बिनाश को प्राप्त होता है, किन्तु कितनी ही पर्यायों से वह नष्ट नहीं होता है, इसलिये वह ही कर्त्ता होता है अथवा दूसरा कर्त्ता होता है इस विषय में एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है । इसी प्रकार जब जीव कुछ पर्यायों से तो नष्ट होना है और कुछ पर्यायों से नष्ट नहीं होता है इसलिये वही जीव भोक्ता होता है अथवा दूसरा भोक्ता होता है ऐसा भी एकान्त नहीं है किन्तु स्याद्वाद है । अब जिनका ऐसा मत है कि जो जीव कर्त्ता है वही भोगनेवाला होता है तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अर्हन्त मत का मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये । इसी प्रकार जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि कर्त्ता तो कोई दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि है अर्हन्त मतका मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्तिः—केहिचिदु पज्जयेहि विरास्सवे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित्पर्यायं पर्यायाधिकनयविभागै-
र्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीव । न नश्यति कैश्चिद्द्रव्याधिकनयविभागै । अहम् । यस्मादेव नित्यानित्यस्वभाव जीवरूप
तस्मात्तत्कारणात् कुब्बवि सो वा द्रव्याधिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव क ? इति चेत् ? यो भुङ्क्ते ।
अण्णो वा पर्यायाधिकनयेन पुनरन्यो वा । णियतो नर्चैकातोऽस्ति । एव कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता ।
केहिचिदु पज्जयेहि विरास्सवे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित् पर्यायं पर्यायाधिकनयविभागै देवमनुष्यादि-
रूपैर्विनश्यति जीव न नश्यति कैश्चिद्द्रव्याधिकनयविभागै । अहम् । यस्मादेव नित्यानित्यस्वभाव जीवरूप तस्मात्
तस्मात्कारणात् वैश्वि सो वा निजशुद्धात्मभावनात्त्वमुत्तमसास्वादमलममान स एव कर्मफल देवदयनुभवति ।
स एव क ? इति चेत् ? येन पूर्वकृत कर्म । अण्णो वा पर्यायाधिकनयेन पुनरन्यो वा णियतो नर्चैकातोऽस्ति । एव
भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा गता । किं च येन मनुष्यभवे शुभाशुभ कर्म कृत स एव जीवो द्रव्याधिकनयेन देव लोके
नरके वा भुङ्क्ते । पर्यायाधिकनयेन पुनस्तद्भाषेक्षया बालकाले कृत यौवनादिपर्यायातरे भुङ्क्ते । प्रतिसंक्षेपेण
अतमुहूर्त्तान्तरे च भुङ्क्ते । अभातारापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृत देवादिपर्यायेण भुङ्क्ते इति भावार्थः । एव
गाथाद्वयेनानेकात्मव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिं कृता ।

अर्थकातेन य एव करोति स एव भुङ्क्ते । अथवा अन्य करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टि-
रित्युपदिशति—

जो खेव कुण्वि सोखेव वेदको जस्स एस सिद्धांतो य एव जीव शुभाशुभ कर्म करोति स एव चैकातेन
भुङ्क्ते न पुनरन्य, यस्यैव सिद्धान्त—प्रागम । सो जीवो स्यादव्यो मिच्छादिद्वौ अस्मत्परिहृदो स जीवो
मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्य । कथं मिथ्यादृष्टि ? इति चेत् यदेकातेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टकोत्कीर्णः सांख्यमतवत्
तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतिमात्रं पापकर्मकृत स्वर्गगतिर्योग्य पुण्यकर्म कृत तस्य जीवस्य नरके स्वर्गं वा गमन
न प्राप्नोति । तथा शुद्धात्मनानुष्ठानेन मोक्षश्च कुत ? नित्यैकात्मत्वादि । अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजहि जस्स
एस सिद्धांतो अन्य करोति कर्म भुङ्क्ते चान्य, यदेकातेन भूते सो जीवो जादव्यो मिच्छादिद्वौ अस्मत्परिहृदो
तदा येन मनुष्यभवे पुण्यकर्म कृत पापकर्मकृत मोक्षार्थं शुद्धात्मनानुष्ठानं वा तस्य पुण्यकर्मणां देवलोकैः कोऽपि
भोक्ता प्राप्नोति न च स जीव । नरकेऽपि तथैव । केवलज्ञानादिस्थितिरूप मोक्ष चान्य कोऽपि लभते ततश्च

पुण्यपापमोक्षानुष्ठान वृत्तेन बौद्धमनुष्यस्य, इति गाथाद्वयेन नित्यैकान्तक्षणिकैकात्म्येन निराकृतं । एव द्वितीयस्थले सूत्र चतुष्टय गत । अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैरुत्पन्नत्वात् कर्मणामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणा स देव कर्ता न च पुद्गल इत्याख्याति— अत्र गाथापत्रकेन प्रत्येक गाथा पूर्वार्धेन साध्यमतानुसारिणिष्य प्रति पूर्वपक्ष, उत्तरार्धेन परिहार इति ज्ञातव्य—

टीका — (केहिचिदु पज्जयेहि विरास्सदे णेव केहिचिदु जीवो) पर्यायाधिक नय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी देव मनुष्यादि पर्यायो के द्वारा यह जीव नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्याधिकनय के द्वारा जिनका विभाग किया जाता है ऐसी कुछ अवस्थाओं के द्वारा नाश को प्राप्त नहीं होता । (जम्हा) क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य और अनित्य स्वभाव वाला है (तम्हा) इसलिये (कुव्वदि सो वा) द्रव्याधिकनयकी दृष्टि से तो वही जीव काम करने वाला है । वही कौन ? कि जो कि भोगता है वही (अण्णो वा) किन्तु पर्यायाधिक नयसे दूसरा करने वाला होता है (णेतो) इस विषय में एकात्म नहीं है । (के हि चिदु पज्जयेहि विरास्सए णेव केहिचिदु जीवो) पर्यायाधिक नय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन कुछ देव मनुष्यादि अवस्थाओं के द्वारा तो यह जीव नष्ट होता है किन्तु द्रव्याधिकनय के द्वारा जिनका ग्रहण होता है उन अवस्थाओं के द्वारा नष्ट नहीं होता अर्थात् बना रहता है । (जम्हा) जबकि जीवका स्वरूप इस प्रकार नित्यानित्यात्मक है (तम्हा) इस कारण (वेददि सो वा) अपनी शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो सुखामृत रस उसको नहीं प्राप्त होने वाला जीव है वही जीव कर्मफल को वेदता है अनुभव करता है । वही कौनसा जीव ? जिसने पहले कर्म किया है (अण्णो वा) किन्तु पर्यायाधिकनय से दूसरा ही जीव कर्म के फलको भोगता है (णेतो) इस प्रकार इस विषय में भी एकात्म नहीं है । इस प्रकार भोगता की मुख्यता लेकर यह दूसरी गाथा का अर्थ हुआ । भावार्थ—यह है कि जिसने मनुष्य जन्म में जो शुभागुण कर्म किया था वही जीव द्रव्याधिकनय की अपेक्षा इस लोक में नर्क में जाकर उसके फलको भोगता है और पर्यायाधिकनय से उसी भव की अपेक्षा से अपने बालकाल में किये हुए कर्मको यावनादि अवस्थाओं में भोगता है अतिसंक्षेप से कहा जाय तो अन्तर्मुहुत के बाद भोगता है किन्तु भवांतर की अपेक्षा देख तो मनुष्य पर्याय में किये हुए कर्म को देव पर्याय में जाकर भोगता है । इस प्रकार इन दो गाथाओं में अनेकान्त को व्यवस्था करते हुये आचार्य देवने अपने स्याद्वाद की सिद्धि की । अब इसके आगे जो एकान्त से ऐसा मानता है कि जो कर्ता है वही भोगता है अथवा जो ऐसा मानता है कि कर्ता दूसरा है व भोक्ता दूसरा है इस प्रकार जो एकान्त करता है वह मिथ्यादृष्टि है इस प्रकार कथन आगे कर रहे हैं । (जो चैव कुण्दि सो चैव वेदगो जस्स एस सिद्धतो) जिसका एकात्म से ऐसा सिद्धांत है कि जो शुभ या अशुभ कर्म करता है वही उसके फल को भोगता है दूसरा नहीं (मो जीवो णादब्बो मिच्छादिद्वी अण्णारिहदो) वह जीव मिथ्यादृष्टि है अर्हत् मत का मानने वाला नहीं है ऐसा जानना चाहिये । वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? कि यदि जीव एकात्म से नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टकोत्कीर्ण ही मान लिया जाय जैसा कि साख्यमत में माना जाता है तो फिर जिस जीवने मनुष्य भवमें नरक गति के योग्य पापकर्म किया या स्वर्गगति के योग्य पुण्यकर्म किया उस जीवका नरक में या स्वर्ग में गमन नहीं हो सकता तथा शुद्धात्मा के अनुष्ठान के द्वारा फिर उसका माक्ष भी कहा ? क्योंकि यहाँ तो एकात्म नित्यता है । (अर्थात् जीव जैसा है वैसा सदा रहता है इसमें कुछ भी फेरफार होता ही नहीं) (अण्णो करेइ अण्णो परिभु जदि जस्स एस सिद्धतो) एकात्म से जो ऐसा कहता है कि कर्म तो कोई अन्य ही करता है और फल उसका कोई अन्य ही भोगता है (मो जीवो णादब्बो मिच्छादिद्वी अण्णारिहदो)

तो फिर मनुष्य भव में जिसने पुण्यकर्म किया या पापकर्म किया अथवा मोक्ष के लिये शुद्धात्मा की भावना का अनुष्ठान किया तो उसके उस पुण्य कर्म के फल का देवलोक में कोई भी भोगने वाला बन जायगा अपितु वह जीव भोगता नहीं होगा। इसी प्रकार नर्क में भी उसके पापकर्म का भोक्ता वह न होकर दूसरा हो जायगा तथा केवलज्ञानादि व्यक्ति रूप मोक्ष को भी कोई अन्य जीव ही प्राप्त करेगा ऐसी दशा में पुण्य, पाप और मोक्षका अनुष्ठान व्यर्थ ही ठहरेगा। इस प्रकार से बौद्धमत में दूषण बतलाया और इन दो गाथाओं के द्वारा नित्य एकातवादी के मत का और क्षणिक एकातवादी के मत का निराकरण किया। ३४६-३५०-३५१-३५२॥

विशेषार्थ—प जयचन्दजी का भावार्थ-वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्य पर्याय स्वरूप कहा है इसलिये पर्याय अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा से नित्य है ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्य पर्याय स्वरूप है, इसलिये पर्याय अपेक्षा कर देखा जाय तब तो कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्याय में शुभाशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्यायों में भोगा। परन्तु द्रव्य दृष्टि कर देखा जाय तब जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है, जैसे कि मनुष्य पर्याय में जो जीव द्रव्य था जिसने शुभ तथा अशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय में गया वहा उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्त रूप सिद्ध होने पर भी शुद्ध नय में तो सशय नहीं और शुद्ध नय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल में जो एक अशय था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्र नय का एकात पकड़ कर जो ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह भोगता नहीं है अन्य भोगता है। और जो भोगता है वह करता नहीं है अन्य करता है। ऐसे मिथ्या दृष्टि अरहत के मत के नहीं है। क्योंकि पर्याय के क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चेतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञान से ऐसा जाने कि जो बालक भवस्था में मै था वही भव तरुण भवस्था में तथा वृद्ध भवस्था में हू। इस प्रकार जो अनुभव गोचर स्वमवेदन में आये तथा जिनवाणी में भी ऐसा कहे उसको जो न माने वही मिथ्या दृष्टि कहलाता है, ऐसा जानना।

इस प्रकार इस दूसरे स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।

आगे कहते हैं कि यद्यपि शुद्धनयसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप होने से यह जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है तो भी अशुद्ध नयसे रागद्वेषादि भाव कर्मों का वह ही कर्त्ता ह पुद्गल नहीं है। यहा पाच गाथाएँ हैं इनमें प्रत्येक गाथा के पूर्वार्ध में साध्यमत के अनुसार चलने वाले शिष्य का पूर्व पक्ष है तथा उत्तरार्ध से उसीका परिहार है ऐसा जानना चाहिये—

मिच्छता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा वे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३५३॥
सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा वे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३५४॥

अह्वा एसो जीवो पोगलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं ।
 तद्वा पोगलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥३५५॥
 अह जीवो पयडी विथ पोगलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
 तद्वा दोहिकदत्तं दोहिवो भुंजंति तस्स फलं ॥३५६॥
 अह ण पयडी ण जीवो पोगलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
 तद्वा पोगलदव्वं मिच्छत्तं तंतु णहु मिच्छा ॥३५७॥ (पंचकम्)

मिथ्यात्वं यदि प्रकृति मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं ।
 तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥३५३॥
 सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यादृष्टिं करोत्यात्मानं ।
 तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥३५४॥
 अथर्वणः जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं ।
 तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥३५५॥
 अथ जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं ।
 तस्माद्वाभ्या कृत द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ॥३५६॥
 अथ न प्रकृतिर्न च जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।
 तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥३५७॥

अर्थ—यहा जीव के जो मिथ्यात्व भाव होना है उसको निश्चय से कौन करता है इस बात का विचार करते हैं—यदि मिथ्यात्व नाम की मोह कर्म की प्रकृति जो कि पुद्गलद्रव्यमय है वही आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है (जैसा कि साध्यमत में माना गया है वैसा मान लिया जाय) तो वहा जो प्रकृति है वह तो स्वयं अचेतन है सो वह अचेतन प्रकृति जीव को मिथ्यात्व भाव को करनेवाणी हो जाय दसी प्रकार यदि सम्यक्त्व नाम की मोह प्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि बनाती है तो निश्चयसे अचेतन कर्म प्रकृति को कर्तापन प्राप्त हो जाय पर ऐसा बनता नहीं । और यदि ऐसा माना जावे कि यह जीव ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ, जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा सो भी ठीक नहीं होता । और यदि ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों ही पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप करते हैं तो दोनों के द्वारा किये हुए का फल भी फिर दोनों को ही होना चाहिये सो बनता नहीं । और यदि ऐसा मानिये कि पुद्गल द्रव्य को मिथ्यात्वरूप न तो प्रकृति ही करनी है और न जीव ही करता है तो फिर पुद्गल द्रव्य स्वयं मिथ्यात्व रूप हुआ कहना होगा सो ऐसा मानना तो भूल भरा है इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व नामा जीव का जो भाव है उसका कर्ता तो अज्ञानी जीव है और उसके निमित्त से पुद्गल परमाणु पिण्ड में मिथ्यात्वरूपकर्मरूप बनने की शक्ति आजाती है ॥३५३-३५४-३५५-३५६-३५७॥

तात्पर्यवृत्ति—मिच्छता अवि पयडी मिच्छादिट्ठी करेवि अप्पाणु द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति कर्ता यथात्मानं स्वयमपरिणामिन दृष्टान्मिथ्यादृष्टिं करोति तद्वा अचेतनादे पयडी णणु कारनो पत्तो तस्मात्कारणादचेतना तु या

द्रव्यमिध्यात्वप्रकृति सा तव मते नन्वहो भावमिध्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवस्वकतिनाकर्ता प्राप्य । ततश्च कर्मबन्धभाव , कर्मबन्धभावे ससाराभाव । स च प्रत्यक्षविरोध । सम्मत्ता ऋषि पयडौ सम्भाविद्वौ करेदि प्रत्यार्णं सम्य-
क्त्वप्रकृति कर्त्री यद्यात्मान स्वयमपरिणामिन सम्यग्दृष्टि करोति तस्माद् भवेदरावे पयडो गणु कारगो पत्तो तस्मा-
त्कारणात् भवेतना प्रकृति वे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवस्वकतेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तैति ततश्च वेदकसम्य-
त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे सायिकसम्यक्त्वाभाव ततश्च मोक्षामाव । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह
शिष्य — प्रकृतिस्तावत् सर्वविशेष स च सम्यक्त्वमिध्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्य प्रथमविकल्प
स च कर्मविशेष कथं सम्यक्त्व भवति ? । सम्यक्त्व तु निविकारसदानदैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीज-
हेतुर्भ्यजिवपरिणाम इति । परिहारमाह — सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषोभवति तथापि यथा निविषीकृत विष मरण न
करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मन्त्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिध्यात्वशक्ति सत् क्षायोपशमिक्रि-
दितविशेषकजनितप्रथमीपशमिकसम्यक्त्वानतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावा तत्त्वांश्रद्धानरूप जीवपरिणाम न हति तेन
कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्व भण्यते स च तीर्थकरनामकर्मवत् परपरया मुक्तिकारण
भवतीति नास्ति दोष । अत्राह एसो जीवो पुगलदब्धस्स कुणवि मिच्छत्त अथवा पूर्वदूषणमयादेष प्रत्यक्षीभूतो जीव ,
द्रव्यकमरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभितिवेषजनक भावमिध्यात्व करोति, न पुनः स्वय भावमिध्यात्व-
रूपेण परिणमति इति मत तस्मात् पुगलदब्ध मिच्छाविद्वौ ए पुण जीवो तद्वयंभातेन पुद्गलद्रव्य मिध्यादृष्टिन
पुनर्जीव । कर्मबन्ध तस्यैव, ससारोऽपितस्यैव, न च जीवस्य, स च प्रत्यक्ष विरोध इति । अत्र जीवो पयडोभिय
पुगलदब्ध कुणति मिच्छत्त अथ पूर्वदूषणमयाजीव प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्य कर्मात्पन्न भावमिध्यात्व कुष्ठ — इति
मत तस्माद् बोहिकदत्त तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृत तन्मिध्यात्व । दुष्णवि भुजति
तस्स फल तद्दिदो जीवपुद्गलो तस्य फल भुजति ततश्चाभितनाया प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्त स च प्रत्यक्षविरोध
इति । अत्र ए पयडो ण जीवो पुगलदब्ध करेदि मिच्छत्त अथ मत न प्रकृति करोति न च जीव एव एकातेन ।
किं ? पुद्गलद्रव्य कर्मात्पन्न । कथंभूत । न करोति ? मिध्यात्व भावमिध्यात्वरूप तस्मात् पुगलदब्ध मिच्छत्त तनु
एतद् मिच्छा तद्दि यदुक्त पूर्वसूत्रे अत्राह एसो जीवो पुगल दब्धस्स कुणवि मिच्छत्त तद्वचन तु पुन ह् स्फुट
किं मिध्या न भवति ? अपि तु भवेत्येव । किं च — यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायाधिकनयेन कथञित्परि-
णामित्वे सत्पनादिकर्मादयवज्ञाद्रागाद्युपाधिपरिणाम शृङ्गाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकातेन परिणामी भवति तदोपाधि-
परिणामो न घटति । जपापुष्पापाधिपरिणमनशक्तौ सत्या स्फटिके जपापुष्पमुपाधि जनयति न च काष्ठादौ, कस्मादिति
चेत् तदुपाधिपरिणामनशक्त्यभावात् इति । एव यदि द्रव्यमिध्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकातेन यदि भावमिध्यात्व करोति तदा
जीवो भावमिध्यात्वस्य कर्त्ता न भवति । भावमिध्यात्वाभावे कर्मबन्धभावा ततश्च ससाराभाव. स च प्रत्यक्षविरोध ।
इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चक गत ।

अथ ज्ञानाज्ञानमुखदुःखादिकर्मकातेन कर्मैव करोति नचात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदति तान्प्रति पुनरपि नय-
विमोक्षेनात्मन कथञ्चित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति —

तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मवैकातेन कर्तुं भवति इति कथनमुख्यत्वेन कर्मैहि वु प्रवृत्ताणी इत्यादि सूत्रचतु-
ष्टय । तत पर सांख्यमतेष्वेव भणितमस्ते — इति सबावदर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेन पुरुषसिद्धिमाहिलासौ
इत्यादि गाथाद्वय । अहिसाक्षापनमुख्यत्वेन जप्ता छावेदि पर इत्यादि गाथाद्वय । प्रकृतेरेव कर्तृत्वं नचात्मन इत्येकात-
निराकरणार्थं — अस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसहाररूपेण एव स खुब्देस इत्यादि गार्थका इति सूत्रपञ्चकसमुदायेन
द्वितीयमतस्थश्च । तदनन्तरं — आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितयावाञ्छा कित्वामान करोतीत्येकगाथाया पूर्वपक्षो गाथा-
त्रयेण परिहार इति समुदायेन अत्राह भण्यसि मयम् इत्यादि सूत्रचतुष्टय । एव चतुरातराधिकारे स्थलत्रयेण
समुदायपातनिका ।

टोका—(मिच्छता जदि पयडी मिच्छादिद्वी करेदि अण्पाण) जो आत्मा स्वयं नहीं परिणमन करने वाला है उसको द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति हटात् मिथ्यादृष्टि बना देती है (तम्हा अचेदणादे पयडी णगु कारणो पत्तो) तब हे सारूपमतिन् । तेरे मत से तो अचेतनरूप यह द्रव्य मिथ्यात्व नाम की प्रकृति है वही भाव मिथ्यात्व की करने वाली ठहरी, जीव तो फिर सर्वथा प्रकर्त्ता ही ठहरा । तब फिर उसको तो कर्म बध नहीं होना चाहिये, और जब कर्म बध नहीं तो समार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है । इसी प्रकार (सम्मत । जदि पयडी सम्मादिद्वी करेदि अण्पाण) सम्यक्त्व नाम वाली प्रकृति स्वयं नहीं परिणमन करनेवाले आत्मा को सम्यग्दृष्टि बना देती है (तम्हा अचेदणा दे पयडी णगु कारणो पत्तो) तो फिर चेतन्य शून्य प्रकृति ही तेरे मतमें कर्त्ता ठहरी जीव तो सम्यक्त्व परिणामका कर्त्ता नहीं ठहरे अपितु अकर्त्ता ही रहा तो वेदक सम्यक्त्व का अभाव ही रहा, और वेदक सम्यक्त्व के अभावमें क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव ठहरे और उसमें मोक्ष का भी अभाव हुआ तब यह प्रत्यक्ष विरोध व आगम विरोध हुआ । इस पर प्रश्न होता है कि सम्यक्त्व प्रकृति तो कर्म का भेद है जो कि सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यक् मिथ्यात्व के भेद से तीन प्रकार के होने वाले दर्शन मोह का प्रथम भेद है वह सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्य जीव का परिणाम होता है जो कि निर्विकार सदानन्द रूप है लक्षण जिसका ऐसा जा परमात्म तत्त्व उस आदि लेकर जीवादि सातो तत्वों के श्रद्धान रूप होकर मोक्ष का बीज भूत होता है । इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति कर्म विशेष है यह ठीक है किन्तु निर्विष किया हुआ विष जैसे मारने वाला नहीं होता है वैसे ही मन्त्र स्थानीय विशुद्धि विशेष मात्र शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम के द्वारा नष्ट करदी गई है मिथ्यात्व शक्ति जिसकी ऐसा वह सम्यक्त्व नामकर्म विशेष है वह क्षायोपशमिक आदि पाच लब्धियों के द्वारा उत्पन्न हुआ प्रथमोपगम सम्यक्त्व उसके प्रनन्तर उत्पन्न जो वेदक सम्यक्त्व उसका स्वभाव जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप आत्म परिणाम उसको नष्ट नहीं करता है, इसलिये उपचार से सम्यक्त्व का हेतु होने के कारण यह कर्म विशेष भी सम्यक्त्व कहा जाता है, जो कि तीर्थंकर नामकर्म के समान परम्परा से मुक्ति का कारण भी होता है । इसमें कोई दोष नहीं है । (अहवा एसो जीवा पुगलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्त) अब यदि उपर्युक्त दूषण से बचने के लिये यह कहा जाय कि यह प्रत्यक्षभूत जीव द्रव्य कमरूप पुद्गल द्रव्य के शुद्धात्म तत्वादिक के विषय में विपरीत अभिप्राय को पैदा करने वाले भाव मिथ्यात्व को कर देता है किन्तु स्वयं भाव मिथ्यात्व रूप परिणमन नहीं करता है ऐसा तेरा मत है (तम्हा पुगलदव्व मिच्छादिद्वी एण पुण जीवो) तो फिर एकात रूप से वह पुद्गल द्रव्य ही मिथ्या दृष्टि होना चाहिये, जीव मिथ्या दृष्टि नहीं होना चाहिये । ऐसी दशा में कर्मबध भी उसीके होना चाहिये, ससार भी उसी के, अपितु जीव के तो फिर कुछ नहीं होना चाहिये यह प्रत्यक्ष विरोध है । (अह जीवो पयडी विय पुगल दव्व कुणत्ति मिच्छत्त) फिर इस दूषण से बचने के लिये भी यह कहा जाय कि जीव और प्रकृति दोनों कर्म रूप पुद्गल द्रव्य को भाव मिथ्यात्व रूप कर देते हैं (तम्हा दोवि कदत्त) तो उपादान कारणभूत उन दोनों के द्वारा किये हुये उस मिथ्यात्व के (दुष्णिगवि भुजति तस्स फल) फल को जीव और पुद्गल दोनों ही भोगे ऐसा होना चाहिये सो इसमें अचेतन रूप प्रकृति के भी भोक्तापन का प्रसंग आया यह प्रत्यक्ष में विरोध है । (अह ए पयडी ए जीवो पुगलदव्व करेदि मिच्छत्त) यदि ऐसा कहा जाय कि एकात से न तो प्रकृति ही करती है और न अकेला जीव ही इस कर्म को भाव मिथ्यात्व रूप करता है (तम्हा पुगलदव्व मिच्छत्त त तु ए हु मिच्छा) तब पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व ठहरा सो ऐसा कहना क्या मिथ्यापन नहीं है ? किन्तु मिथ्या ही है क्योंकि यह “अहवा एसो जीवो पुगलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्त ” इस पूर्वोक्त वाक्य से विरुद्ध ही है ।

स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध हो है फिर भी पर्यायाधिक नय से कथञ्चित् परिणामीपना होने पर अनादि काल से धारा प्रवाह रूप से चले आये कर्मों के उदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। यदि एकात से यह अपरिणामी ही हो तो फिर इसमें उपाधि रूप परिणाम कभी छटित नहीं हो सकता है। स्फटिक पाषाण में जपा पुष्प की उपाधिके द्वारा परिणमन कर जाने की शक्ति है इसलिये जपापुष्प उस स्फटिक में उपाधि पैदा कर देता है किन्तु वही जपापुष्प काष्ठादिक में उपाधि पैदा नहीं करता क्योंकि वहाँ उपाधि रूप से परिणमन शक्ति का अभाव है। ऐसी ही बात जीव के विषय में है। इस प्रकार एकान्त से यदि ऐसा मान लिया जाय कि द्रव्य रूप मिथ्यात्व प्रकृति ही कर्त्ता बनकर भाव मिथ्यात्व को कर देती है तब फिर जीव भाव मिथ्यात्व का कर्त्ता नहीं ठहरता है, एव जीव में भाव मिथ्यात्व के न होने पर कर्म का अभाव आ जाता है और कर्म के अभाव से ससार का अभाव आता है सो यह प्रत्यक्ष विरोध है। इत्यादि रूप से व्याख्यान द्वारा तृतीय स्थल में पाच गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥३५३-३५४-३५५-३५६-३५७॥

आगे ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि कर्म एकात से कर्म ही करता है, आत्मा नहीं करता, ऐसे साख्यमत के अनुसार चलने वाले कहते हैं। उन्हीं के प्रति नय विभाग से यह सिद्ध करते हैं कि यह जीव कथञ्चित् कर्त्ता है। इसकी तरह गाथायें हैं इनमें कर्म ही एकात से कर्त्ता होता है इसकी मुख्यता से 'कर्महेतु दुःखिणी' इत्यादि चार सूत्र हैं। उसके बाद साख्य मत में भी ऐसा कहा गया है इस सवाद को बतलाने के लिये ब्रह्मचर्य के स्थापन की मुख्यता से "पुरुषमिच्छोयाहिलासी" इत्यादि दो गाथायें हैं। ग्रहणा की स्थापना की मुख्यता से "जह्मा धादेदि पर" इत्यादि दो गाथायें हैं। प्रकृति के ही कर्त्तापन है आत्मा के नहीं इस एकात के दूषण को दूर करने के लिये इसी ही चार गाथाओं का ही दिखाया हुआ सकोच रूप "एव सखुवदेस" इत्यादि एक गाथा है। ऐसे पाच सूत्रों के समुदाय से दूसरा अंतरस्थल हुआ। उसके बाद आत्मा कर्म व कर्म जनित भाव नहीं करता किन्तु अपने आपको करता है इस प्रकार कहते हुये एक गाथा में पूर्व पक्ष है और तीन गाथाओं में उसका परिहार है इस प्रकार समुदाय रूप से "ग्रहवा मण्यसि मज्झ" इत्यादि चार सूत्र हैं। इस प्रकार चार अन्तर अधिकार में तीसरे स्थल के द्वारा समुदाय पातनिका हुई।

कम्महेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्महेहिं ।

कम्महेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्महेहिं ॥३५८॥

कम्महेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्महेहिं ।

कम्महेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदिय असंजयं चेव ॥३५९॥

कम्महेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयम्मि ।

कम्महेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेतियं किंचि ॥३६०॥

जह्मा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदित्ति हरदि जं किंचि ।

तह्मा सव्वे जीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३६१॥

पुरसिच्छयाहिलासी इच्छी कम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
 एसा आयरियपरंपरागदा एरिसि दु सुदी ॥३६२॥
 तह्मा ण कोवि जीवो अबंभचारो दु तुह्ममुवदेसे ।
 जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं अहिलसदी जं भणियं ॥३६३॥
 जह्मा घादेदि परं परेण घादिज्जदेदि सापयडी ।
 एदेणच्छेण दु किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥३६४॥
 तह्मा ण कोवि जीवो उवघादगो अत्थि तुह्म उवदेसे ।
 जह्मा कम्मं चेवहि कम्मं घादेदि जं भणियं ॥३६५॥
 एवं संखुवदेसं जेदु परूविति एरिसं समणा ।
 तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे ॥३६६॥
 अह्वा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाण अप्पणो कुणदि ।
 एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं भणंतस्स ॥३६७॥
 अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
 णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियोव कादुं जे ॥३६८॥
 जीवस्स जीवरूवं विच्छरदो जाण लोग मित्तं हि ।
 तत्तो किं सो हीणो अहियोव कंद भणसि दव्वं ॥३६९॥
 जह् जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं ।
 तह्मा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥३७०॥

कर्ममिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
 कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥३५८॥
 कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
 कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥३५९॥
 कर्मभिर्भ्राम्यते उर्द्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
 कर्मभिश्चैव क्रियते शुभानुभं यार्वाक्चिच्च ॥३६०॥

यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किञ्चित् ।

तस्मात् सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥३६१॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।

एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु भ्रुतिः ॥३६२॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे ।

यस्मात् कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति यद्भ्रमणितं ३६३॥

यस्माद्वति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।

एतेनार्थेन तु किल भण्यते पर घातनामेति ॥३६४॥

तस्मान्नकोऽपि जीव उपघातकोऽस्ति युष्माकमुपदेशे ।

यस्मात् कर्मैव हि कर्म हंतीति भ्रणितं ॥३६५॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशंः श्रमणाः ।

तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३६६॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।

एष मिथ्यास्वभावस्तर्बैतन्मन्यमानस्य ॥३६७॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रवेशो दर्शितस्तु समये ।

नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३६८॥

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीही लोकमात्रं हि ।

ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्वयं ॥३६९॥

अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं ।

तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३७०॥

अर्थ—यह जीव कर्मों के द्वारा ही अज्ञानी किया जाता है, और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी भी होता है, कर्मों के द्वारा ही सुलाया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरण पाता है। कर्मों के द्वारा ही सुखी और दुःखी भी होता है। कर्मों के द्वारा ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और कर्मों के द्वारा असत्य को प्राप्त होता है। कर्मों के द्वारा ही उर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में परिभ्रमण करता है। जो कुछ शुभ और अशुभ हो रहा है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया हुआ हो रहा है। क्योंकि कर्म ही तो करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है, सब कुछ कर्म ही करता है इसलिये जीव तो सब ही अकारक है कुछ भी करने वाले नहीं हैं। यह प्राचायों की परम्परा से भाई हुई बात है कि पुरुषवेद कर्म तो स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद नाम कर्म पुरुष की इच्छा करता है। इसलिये कोई भी जीव आपके मत में ब्रह्मचारी नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्म को चाहता है ऐसा शास्त्र में कहा है। क्योंकि दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह भी कर्म ही है इसलिये उसे

परघात नाम प्रकृति कहते हैं। इसलिये आपके मतमें तो कोई भी जीव उपघात करने वाला नहीं है, क्योंकि कर्म ही कर्म को घातता है ऐसा कहा है। इस प्रकार जो कोई भी श्रमण साध्यमत के अनुसार उपदेश करते हैं उनके यहाँ प्रकृति ही सब कुछ करती है, जीव तो सब प्रकारक ही हैं। (तब फिर उनके विचार से जिनवाणी में जो आत्माको कर्ता बताया है वह कैसे बनेगा ?) यहि कहा जाय कि आत्मा तो अपने आपको ही करता है तो ऐसा कहना भी झूठा है क्योंकि आत्मा तो नित्य असंख्यता प्रवेशी सिद्धान्त में बतलाया है सो वह उससे हीन या अधिक नहीं किया जा सकता है। जीव का अपना स्वरूप विस्तार की अपेक्षा से लोकाकान प्रमाण है उससे हीन या अधिक क्या कमी किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया सकता। तथा आत्मा को ज्ञायक भाव है वह ज्ञान स्वभाव ही रह रहा है इसलिये आत्मा अपने आपको करता है यह नहीं बनता है (इसलिये आत्मा अज्ञान दशा में कथञ्चित् अपने अज्ञान भावरूप कर्मका कर्ता होता है) ॥ ३५८ से ३७० तक॥

सात्ययुक्तिः—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकतेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः। स्वाप निद्रा नीयते जागरण तथैवेति प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः। कर्मभिश्च मिथ्यात्व नीयते तथैवासयम चैवैकातेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोद्धाविषस्तिर्यग्लोक च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभ यदन्यदपि किञ्चिदिति तृतीयगाथा गता यस्मादेव भाणिन कर्मव करोति कर्मव वदाति कर्मव हरति यत्किञ्चिच्छुभाशुभ तस्मादेकातेन सर्वे जीवा प्रकारका प्राप्ता, ततश्च कर्माभाव कर्माभावे ससाराभाव सच प्रत्यक्षविरोध—इति कर्मकात-कर्तृत्वदूषणमुत्पत्तेन सूत्रचतुष्टय गत कर्मव करोत्येकातेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकु दकु दाचार्यदेवा साध्यमतसंवाद दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयति। यद्य ज्ञो द्वेषेणैव न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पु वेदाख्य कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्म-मिलाप करोति, स्त्रीवेदाख्य कर्म पु वेदकर्ममिनापत्येकातेन नच जीव। एवमाचार्यपरंपरायाः समागता श्रुतिरहोमी। श्रुति कोऽर्थं ? आगमो भवता साध्यानामिति प्रथमगाथा गता। तथा सति कि दूषण चेति ? एव न कोपि जीवो-ऽस्त्यब्रह्मचारीयुष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवति तथैकातेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पु वेदाख्य कर्म स्त्रीवेदाख्य कर्माभिलषति नच जीव इत्युक्त पूर्वं सच प्रत्यक्षविरोध। दूष-ब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वय गत। यस्मादकारणात् पर कर्मस्वरूप प्रकृति कर्त्री हति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः। एतान्धेन किल जैनमते परघातनामकमेति भण्यते। पर किंतु जैनमते जीवो हिस भावेन परिणमति परघातनाम सहकारिकाण्य भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता। तस्मात्कि दूषण ? शुद्धपरिणामिकपरमभावप्राहकेण शुद्धद्रव्याधिकनयेन तावदपरिणामी हिसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथित, कथ ? इति चेत् सखे सुद्धा द् शुद्धराणा इति वचनात् व्यवहारेण तु परिणामीति। भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन चाशुद्धनयेनाप्युपघातको हिमक कोऽपि नास्ति। कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकातेन कय चैवहि स्फुटमन्यत् कर्म हति, नचात्येति पूर्वमूर्ते भणितमिति। एवं हिसाविचारमुत्पत्तेन गाथाद्वय गत। एव सखुवसे जे दु पर्खवति एरिससमणा एव पूर्वोक्त साध्योपदेशमोहशमेकातरूप ये केचन परमागमोक्त नयविभागमज्ञान समणा श्रमणासासा प्रवर्तुल्लिग्न-रूपयति कथयति। तेसि पयडि कुखवि अप्पाय प्रकारया सखे तेया मतेनैकातेन प्रकृति कर्त्री भवति। आत्मानश्च पुनरकारका सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभाव, कर्माभावे ससाराभाव। ततो मोक्ष प्रसंग। स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुन परस्परभाषेनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वे षटत इति नास्ति दोष। एव साध्यमत-संवाद दर्शयित्वा जीवत्येकातेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपञ्च गत। अहवा भण्यसि भज्जे अप्पा अप्पाचमप्यसो कुणवि हे साध्य। अथवा भण्यसे त्व पूर्वोक्तकर्तृत्वदूषणमप्यान्वीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च, कर्मकर्तृत्व न षटते यत कारणादज्ञानिना कर्मबन्धो भवति। किंत्वाया कर्ता आत्मान कर्मातापन्व आत्मना करणभूतेन करोति तत कारणादकर्तृत्वे दूषण न भवति ? इति चेत् एसो भिज्जसहावो तुह्म एव भण्यसेस भयमपि मिथ्यास्वभाव एव भण्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षागाथा गता।

अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह कस्मान्मिध्यास्वभाव ? इति चेत् ज्ञेयत्वात् कारणात् अप्या ग्लिच्छास्तं लेखजपदेसो वेदितो दु समयमिध्या आत्मा इध्याधिकनयेन निरूप्यताया वासक्यमात्रप्रवेशो वेदितः समये परमागमे तत्प्राप्तमनः । मुद्राचैतन्यान्वयतत्तद्व्यवस्थं तथैवासाध्यातप्रदेशश्च च पूर्वमेव तिष्ठति ण्वि सो सककवि तत्तो हीनो ग्रहिणो च कावुं जे तद्रूप्यप्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिक हीन वा कतुं नायाति इति हेतोरत्मा आत्मान करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ गत असक्यातमान जघन्यमध्योक्तृभेदेन बहुभेद तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्योक्तृरूपेणासक्या- तप्रदेशत्वं जीव करोति तदपि न घटते यस्मात्कारणात् जीवस्स जीवरूपं विस्तरवो जाण लोगमित्त हि जीवस्य जीवरूप प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यत सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्य- मावगाहगरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसहारवन्नेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुट ततो सो किं हीनो ग्रहिणो च कावुं जे तद्रूप्यप्रदेशत्वं तस्मात्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीव किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्व गणसि प्राप्त । इध्या कृत कितु नैवेति । ग्रह जाणो दु भावो जाणसहावेण अस्थि देविमव अथ हे गिण्य ! जायको भावः पदार्थ आत्मा ज्ञानरूपेण त्वमेवास्तीति मत । सम्मत्समेव तस्या ण्वि अप्या अप्यय तु समयमप्यणो कुण्वि यस्मा- त्त्रिमनानदैकज्ञानस्वभावमुद्रात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मान कर्मातापन्न स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोती- त्येक दूषण । द्वितीय च निर्विकारपरमत्तत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते । एव पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयातर स्थल गाथाचतुष्टय गत । कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना भिमिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? अथ भिन्नास्तहि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायत ? तत्रापि हिंसा नास्तीति । नन्व, कायादिप्राणै सह कषाचिद्भेदाभेद । कथं ? इति चेत् तत्प्राय पिबद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कतुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद । निम्बन्धेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छति तेन कारणेन भेद । यद्येकानन भेदो भवति तहि यथा परकीये कायं छिद्यमान मिद्यमानेऽपि दुःख न भवति । तथा स्वकीयकायेऽपि दुःख न प्राप्नोति । न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्त भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माक सम्मतमेव । तस्मात्कारदि दुःख भवतामिष्ट चेत्तहि हिंसा कुरत । भोतिरस्ति ? इति चेत् तहि त्यज्यतामिति । तत स्थितमेतत् एकातेन साध्यमतत्त्वकर्ता न भवति किं तहि रागादिविक्लपरहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मण कर्ता न भवति ज्ञेयकाले कर्तुं व्याख्यानमुच्यतयान्तर- स्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ।

अथ यावत्काल निजमुद्रात्मानमात्मत्वेन न जानाति पञ्चेन्द्रियविषयादिक परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्यय जीव- तावत्काल रागद्वेषाभ्या परिणामतीत्यावेदयति—अथवा बहिरगपचेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविचित्तचित्तमात्रोत्पन्न- निर्विकारमुत्पन्नसात्त्वावबन्धेन विषयकर्मकायाना विघात करोम्यहमिति—प्रजानन् स्वसवित्तिरहितकायवन्नेशेनात्मान दमयति तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धात प्रयच्छति—

टीका—यह जीव एकान रूप से कर्मों के द्वारा अज्ञानी होता है और कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी होता है । कर्मों के द्वारा ही निद्रालु बना लिया जाता है और कर्मों के द्वारा ही जागरूक । इस प्रकार पहली गाथा हुई । कर्मों से ही सुखी किया जाता है और कर्मों से ही दुःखी किया जाता है । और एकात रूप से कर्मों से ही मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है और कर्मों के द्वारा ही असयत को प्राप्त होता है । यह दूसरी गाथा हुई । कर्मों के द्वारा ही उर्ध्वलोक, अधोलोक और त्रियंग्लोक में परिभ्रमण करता है, और भी जो कुछ शुभ या अशुभ होता है वह सब कर्मों के द्वारा ही किया गया होता है । यह तीसरी गाथा हुई । जहां एकात से ऐसा कहा गया है कि जो कुछ शुभ या अशुभ करता है वह कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है तो फिर जीव सब अकारकपने को प्राप्त हुये, इसमें जीव के कर्मों का

अभाव आया, कर्म के अभाव होने पर ससार का अभाव आया सो यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध हुआ। इस प्रकार एकान्त से कर्म को ही कर्त्ता मान लेने पर दूषण बताने की मुख्यता से चार गाथाएँ हुई। कर्म ही करता है इस प्रकार का उपर्युक्त सिद्धान्त साख्यमतवादियों का है ऐसा बताकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव फिर भी उसका समर्थन इस प्रकार करते हैं कि हम यह बात केवल मात्र द्वेष के वश होकर ही नहीं कहते हैं। आपके मत में ऐसा लिखा हुआ है कि पु वेद नाम का कर्म स्त्रीवेद कर्म को अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नाम का कर्म एकान्त रूप में पु वेद नाम कर्म को अभिलाषा करता है, जीव ऐसी अभिलाषा नहीं करता है। इस प्रकार यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। श्रुति है इसका क्या अर्थ है कि आप साख्य लोगो का यह आग्रह है। इस प्रकार फिर यह पहली गाथा हुई। अब ऐसा होने पर क्या दूषण आयागा ? कि आपके मत में (साख्यमत में) कोई भी जीव व्यभिचारी नहीं ठहरेगा किन्तु जैसे शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं वम ही एकान्त रूप से अशुद्ध निश्चयनय से भी वे सब ब्रह्मचारी ही ठहरेगे क्योंकि स्त्रीवेद नाम वाले कर्म की अभिलाषा तो पु वेद नाम का कर्म करता है जीव तो कुछ करता नहीं है यह पूर्व में कहा है सो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध पड़ता है। इस प्रकार दोगाथाओं में अब्रह्मचर्य का कथन किया गया है। और क्योंकि किसी दूसरे कर्म के स्वरूप को जो प्रकृति नाश करती है वह प्रकृति भी किसी दूसरे कर्म के द्वारा नष्ट कर दी जाती है अर्थात् जीव नष्ट नहीं किया जाता है। इस ऐसे अर्थ को लिये हुए ही जैन मत में परघात नाम का कर्म कहा गया है किन्तु ऐसा कहकर भी जैन मत में तो वहापर जीव ही हिंसा के रूप में परिणमन करता है, परघात नाम का कर्म तो उसका सहकारी कारण होता है, इसलिये वहा कोई विरोध नहीं है। यह पहली गाथा हुई। यद्यपि जैन मत में शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव का ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्याधिकनय है उसके द्वारा जीव हिंसा परिणाम से रहित अपरिणामी कहा गया है जैसे कि “सर्वे सुद्धा हु सुदणया” इस सूक्त से स्पष्ट होता है, फिर भी व्यवहार में वही जीव परिणामी भी माना गया है। किन्तु आप साख्यों के मत में तो वह जेमें शुद्धनय से वैसे ही अशुद्धनय में भी उपघातक या हिंसक रूप कभी कोई भी जीव नहीं होता है, क्योंकि आपके यहा तो स्पष्ट एकान्त रूप में कर्म ही कर्म को मारता है किन्तु आत्मा नहीं मारता ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है। इस प्रकार हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथाएँ कही गईं। (एव सखुवदेस ज दु पन्विनि णमि समग्गा) इस प्रकार पूर्वाक्त साख्यमत के उपदेश को लेकर जो द्रव्य लिंगी धर्मणाभास परमागम में कहे हुए नय विभाग को नहीं जानने वाले हैं वे लोग एकात पकड़ कर उसका कथन करने हैं। (तेसि पयडो कुब्बदि अण्णाय प्रकाग्गा सर्वे) तब उनके एकान्त मत के द्वारा प्रकृति ही सब कुछ करने वाली होती है, आत्मायें तो कुछ भी करने वाली नहीं ठहर्ती हैं। इस प्रकार जब आत्मा के कर्तापन का अभाव आता है तो वहा उसके कर्म का भी अभाव आता है और कर्म का अभाव होने पर ससार का भी अभाव हो जाता है। तब मोक्ष का प्रमग भी नहीं। इन सबका न होना प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। किन्तु जैन मत में तो परम्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा यह सब बात घट जाती है इसमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार साख्यमत के सवाद को दिखला कर जीव को एकान्त रूप से अकर्त्ता मानने में जो दूषण आता है उसका कथन पांच गाथाओं में हुआ। (अह्वा मण्णसि मज्ज अण्णा अण्णामण्णो कुण्णदि) आचार्य देव उसी साख्य मत को लक्ष्य में लेकर फिर कहते हैं कि पूर्वाक्त दूषण के भय से तू ऐसा कहे कि मेरे मत में तो जीव जानी ही है और जब जानी ही है तो वहा कर्म के कर्तापन की कोई बात हो नहीं घटती है क्योंकि कर्म बध तो अज्ञानी के होता है। किन्तु आत्मा कर्ता है वह आत्मा को ही करता है और करणभूत आत्मा के द्वारा ही करता है इसलिये हमारे यहा आत्मा को अकर्त्ता मानने में कोई दोष नहीं आता तो (एसो मिच्छ सहावो तुह्वा एव मुणत्तस्स) इस प्रकार मानने

वाले तेरा यह भी मिथ्यात्व भाव ही है। इस प्रकार यह पूर्वपक्ष गाथा हुई। अब इसके आगे तीन सूत्रों से इसका परिहार करते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तेरा मिथ्यात्व भाव क्यों है? कि (अप्याणिष्वासब्जेष्वपदेशो देसिदोदु समयम्मि) द्रव्याधिक नय से आत्मा नित्य है और वह असत्स्थात प्रदेशी है ऐसा परमागम में कहा गया है सो उस आत्मा का असत्स्थात प्रदेशीपना और शुद्ध चैतन्यपने का अन्वय ही है लक्षण जिसका ऐसा द्रव्यपना भी उसमें पहले से ही है (ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादु जे) सो उस असत्स्थात प्रदेशीपन तथा द्रव्यपन का उस परिमाण से हीनाधिक तो किया नहीं जा सकता इसलिये आत्मा आत्मा को करतो है यह वचन मिथ्या ही रहा। इस पर यदि यह कहा जाय कि असत्स्थात का परिमाण तो जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट के भेद से बहुत प्रकार का है अतएव यह जीव उस असत्स्थात प्रदेशपने को जघन्य मध्यम उत्कृष्ट के रूप में अनेक प्रकार से करता रहता है तो इस प्रकार का कहना भी घटित नहीं होता क्योंकि (जीवस्स जीवरूव वित्थरदो जाण लोगमिस्स हि) जीव का जो जीव रूप है वह प्रदेशों को अपेक्षा से जब विस्तार को प्राप्त हो तब महामत्स्य के काल में, या लोक पूरण काल में, और जघन्य रूप से सूक्ष्म निगोदिया के शरीर के काल में, अथवा नानाप्रकार के मध्यम भ्रवगाहनावाले शरीरों के ग्रहण के काल में दीपक के प्रकाश के समान विस्तार और उपसंहार के वक्ष में होकर भी लोकमात्र प्रदेशवाला ही रहता है ऐसा जानना चाहिये। (तत्तो सो कि हीणो अहियो व कद भणसि दब्ब) ऐसी दशा में जीव लोकमात्र प्रदेश के परिमाण से भी हीन या अधिक किया जा सकता है क्या जिससे कि तू आत्म द्रव्य को किया गया हुआ कह रहा है? किन्तु आत्मा तो कभी हीन या अधिक नहीं होता, लोक प्रमाण प्रदेश वाला होकर रहता है। (जह जाणओ दु भावो णाणसहावेण अत्थिदेदि भद) और हे भाई! ज्ञायक भाव अर्थात् पदार्थ जो आत्मा है वह तो ज्ञान रूप में पहले से सदा से ही है यह बात भी मानी हुई है। (सम्मत्तमेव तद्वा एवि अप्पा अप्पथ तु समयम्पणो कुणदि) और जब निर्मल और आनन्द रूप एक ज्ञान ही है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्मा तो पहले से ही ही तब फिर आत्मा को अपने आप आत्मा के द्वारा करता हैयह नहीं कहा जा सकता एक दोष तो यह हुआ। दूसरा दोष तुम्हारे कहने में यह है कि निर्विकार परमत्व का जानने वाला जीव कर्ता नहीं होता यह भी पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार जो शिष्यने प्रश्न किया था उसका परिहार करते हुये इस तीसरे स्थल में चार गाथायें कही गईं।

अब यहा कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न। यदि जीव से प्राण अभिन्न हैं तब तो जैसे जीव का नाश नहीं होता वैसे ही प्राणों का भी नाश नहीं होना चाहिए तो फिर हिंसा कैसे? यदि प्राण जीव से भिन्न है ऐसा कहा जाय तो प्राणों के घात होने पर भी आत्मा का क्या बिगाड़ हुआ अतः फिर भी वहा हिंसा नहीं है? अब इसका आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि कायादि रूप प्राणों के साथ इस जीव का कर्वावत् भेद और कथञ्चित् अभेद है। कैसे है? सो बताते हैं—जैसे तप्तायमान लोहे के गोले में से उसी समय अग्नि को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिये व्यवहार नय के द्वारा तो कायादि प्राणों का जीव के साथ अभेद है किन्तु निश्चयनय से यह जीव मरणकाल में जब परलोक जाता है तो कायादि प्राण इस जीव के साथ नहीं जाते इसलिये कायादि प्राणों के साथ जीव का भेद भी है। यदि एकान्त से भेद ही मान लिया जाय तब तो फिर दूसरे के शरीर के छिन्न भिन्न होने पर किसी को दुःख नहीं होता उसी प्रकार अपने शरीर के छिन्न भिन्न होने पर भी दुःख नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध आता है। इस पर फिर शकाकार का कहना है कि फिर जो हिंसा

हुई वह व्यवहार से ही हुई निश्चय से नहीं। आचार्य उत्तर देते हैं कि यह ठीक बात है अर्थात् तुमने ठीक ही कहा है कि व्यवहार से ही हिंसा होती है, और पाप भी व्यवहार से ही होता है, नारकादिकों का दुःख भी व्यवहार से ही होता है यह बात तो हमको मान्य ही है। हाँ, वह नारकादिकों का दुःख तुम्हें इष्ट है तो हिंसा करते रहो और यदि नरकादिक से तुम्हें डर लगता है तो हिंसा करना छोड़ दो। बस इस सारे विवेचन से यह बात सिद्ध हुई कि साख्यमत के समान जैनमत में आत्मा एकांत से अकर्ता नहीं है किन्तु रागादि रूप विकल्प से रहित जो समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान के समय में तो आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं होता अवशेष काल में वह कर्मों का कर्ता होता है।

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस चौथे स्थल में तीन अन्तर्स्थलों के द्वारा तेरह गाथाये पूर्ण हुई ॥ ३५८ से ३७० तक ॥

विशेषार्थ—प जयचन्दजी का भावार्थ—साख्यमती गुरुष को एकान्तकर अकर्ता शुद्ध उदासीन चैतन्य मात्र मानते हैं। ऐसा मानने में पुरुष के ससार का अभाव आता है। प्रकृति को ससार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है उसके मुख दुःख आदि का संवेदन नहीं है इसलिये किसका ससार? इत्यादि दोष आते हैं क्योंकि सर्वथा एकांत वस्तु का स्वरूप नहीं है इस कारण वे साख्यमती मिथ्या दृष्टि हैं। उसी प्रकार जो जैनों भी मानते हैं तो वे मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि साख्य-मतियों की तरह जनी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो। जहाँ तक आप और परका भेद विज्ञान न हो तब तक तो रागादिक अपने चैतन्य रूप भाव कर्मों का कर्ता मानो, भेद विज्ञान हुये पश्चात् (समाधि काल में) शुद्ध विज्ञान धन समस्त कर्तापन के अभाव कर रहित एक जाता ही मानो। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्ता और अकर्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से मिश्र होते हैं। यह स्याद्वाद्वा जैनियों का है तथा वस्तु स्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा मानने से पुरुष के ससार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकांत मानने में सब निश्चय व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना।

आगे कहते हैं कि जब तक अपने शुद्ध आत्मा को आत्मार्थ से नहीं जानता है और पाचो इन्द्रियों के विषय आदिक परद्रव्य को अपने से भिन्न परस्पर नहीं जानता है तब तक यह जीव रागद्वेषों से परिणमन करता है। अथवा बाहर के पाचो इन्द्रियों के विषय त्याग की महायत्ना में क्षीम रहित चित्त की भावना में पैदा हुआ जो विकार रहित सुखमई अमृत रसका स्वाद उनके मन में है इन्द्रियों के विषय, कर्म और शरीर का घात कर इस बात का नहीं जानता हुआ स्वसंवेदन ज्ञान से रहित वायकनश के द्वारा जो अपना दमन करता है उस जीवको भेद ज्ञान की प्राप्ति होने के अर्थ सिद्धान्त को कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे विसए ।

तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३७१॥

दंसणणाण चरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।

तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कम्मेसु ॥३७२॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेदणे काये ।

तह्मा किं घादयदे चेदयिता तेसु कायेसु ॥३७३॥

जाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
 णवि तह्मि कोऽवि पुग्गलदब्बे घादो दु णिट्ठिठो ॥३७४॥
 जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दब्बेसु ।
 तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥३७५॥
 रागो दोसो मोहो जीवस्सेवदु अणण्ण परिणामा ।
 एदेण कारणेण दु सहादिसु णत्थि रागादो ॥३७६॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
 तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥३७१॥
 दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
 तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कर्मसु ॥३७२॥
 दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
 तस्मात्किं घातयति चेतयिता तेषु कायेषु ॥३७३॥
 ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।
 नापि तत्र कोऽपि पुद्गलद्रव्यस्य घातस्तुनिर्विष्टः ॥३७४॥
 जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
 तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥३७५॥
 रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
 एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥३७६॥

अर्थ—आत्माके दर्शन ज्ञान और चरित्र हैं वे अचेतन विषय में तो कुछ भी नहीं है इसलिये उन विषयों में आत्मा उसका क्या घात करे क्योंकि वहा घातने के लिये कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार दर्शन ज्ञान और चरित्र ये अचेतन कर्म में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कर्मों में भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योंकि वहा घातने के लिए कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार ये दर्शन ज्ञान और चरित्र अचेतन काय में भी कुछ नहीं है इसलिये उन कार्यों में भी आत्मा किसका क्या घात करे क्योंकि वहा भी घातने के लिये कुछ भी नहीं है । घात जो हुम्मा है वह तो दर्शन ज्ञान और चरित्र का हुम्मा कहा गया है पुद्गल द्रव्य का घात तो कुछ भी नहीं कहा गया है । क्योंकि जीव के जो कुछ गुण हैं वे निश्चय से परद्रव्य में नहीं हैं इसीलिये सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग नहीं होता है । राग, द्वेष और मोह ये सब भाव तो जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, जीव से अभिन्नरूप हैं और इसलिये रागादिक हैं वे शब्दादिक में नहीं हैं (अतः सम्यग्दृष्टि तो अपने उन अज्ञान भावरूप उन परिणामों का ही अभाव करता है) ॥३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६॥

तात्पर्यवृत्ति—दर्शनज्ञानचारित्र्य किमपि नास्ति । केषु शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयेषु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसु श्रौदारिकादिपञ्च शयेषु । कथंभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु । तस्मात्किं घातयते चेन्नयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि । किञ्च शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयामिलापरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबन्धकारणभूत कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घात कर्तव्यं ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरंगकारणभूतास्त्याग्याः— इति भावार्थः । तस्यैव पूर्वोक्ताधात्रयस्य विशेषविवरणं करोति—तच्चया **शास्त्रस्य दसरास्य य भगिणो घादो तद्वा चरित्तस्य** शब्दादिपञ्चेन्द्रियामिलापरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धनिमित्तमनतानुबध्यादिरागद्वेषरूप यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैश्वर्यो भविष्यति न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च । तस्यैव मिथ्यात्वचारित्र्यस्य च **रागि तद्वा कोवि पुगलवब्धे घादो दुःखिद्विद्वो** नच चेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निदिष्टः । किञ्च यथा घटावारभूते हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपञ्चेन्द्रियहतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवन्ति नचान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति । वस्मात् ? अतिप्रसंगादिति भावः । **जोवस्स जे गुणा केई रागिखे ते खलु परेसु दब्धेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्पत्कान्दादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न सति खलु स्फुटं तद्वा सम्मादित्तिस्स रागिखे रागो दुःखो बोसो विससेसु तस्मात्कारणाभिविषयस्वरगुणात्मभावनीत्यमुस्तत्तस्य सम्पददृष्टेविषयेषु रागो नास्तीति **रागो बोसो मोहो जीवस्स दुःखे अराणणपरिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानिजीवस्यानुद्विगच्छेनाग्निं परिणामा । **एद्वेए कारणेण दुःखहाविसु रागिखे रागादी** नैन कारणेन शब्दादिमनोज्ञानमनोऽपञ्चेन्द्रियविषयेष्वचेतनेषु यच्छास्त्रज्ञानी जीवो भ्रातिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न सन्ति । कस्मात् ? शब्दादीनामचेतनत्वात् । तत स्थित तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिर्गतमनो यावन्मनसि त्रिगुणस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान नास्ति । इति गाथापट्टकं गतम् ।

एवमेतदायानि शब्दादीन्द्रियविषया ग्रन्थनाश्चेतना रागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवति—

टीका—दर्शन ज्ञान, चारित्र्य इन तीनों में से कुछ भी नहीं है । कहा नहीं है ? शब्दादि रूप पञ्चेन्द्रियों के विषय में, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों में, श्रौदारिक आदि पाँच शरीरों में नहीं है क्योंकि शब्दादिक विषय ज्ञानावरणादि कर्म और श्रौदारिकादि शरीर अचेतन है । इसलिये चेतन आत्मा इन जड स्वरूप विषय, कर्म और शरीरों में से किसी का क्यों घात करे ? किन्तु शब्दादिक पञ्चेन्द्रिय विषयों के अभिलाष रूप जो भाव है जो कि शरीर के ममत्व रूप है और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के बन्ध के कारण भूत है एवं जो मिथ्यात्व व रागादि स्वरूप है ऐसे विभाव परिणाम इस आत्मा के मन में स्थान किये हुये हैं उनका घात करना चाहिये । हा, यह शब्दादिक भी उन्हीं रागादि विभावों के पैदा होने के बहिरंग कारणभूत है । इसलिये इनका भी त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य के कथन का तात्पर्य है । अब इससे आगे उपर्युक्त गाथा में कहे हुये विषय का ही और विशेष विवरण किया जाता है वह ऐसे है (शाणस्स दसरास्य य भगिणो घादो तद्वा चरित्तस्य) शब्दादि पञ्चेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा रूप और शरीर के साथ ममत्व रूप से होने वाला अनतानुबध्यादि राग द्वेष रूप मिथ्या ज्ञान है वह ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्धका निमित्त कारण है और इस आत्मा के मन में निवास करता है । उस मिथ्या ज्ञान का घात निर्विकल्प समाधि रूप हृष्यार से घात करना चाहिये ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है । हा, केवल मिथ्या ज्ञान का ही नहीं, किन्तु उसके साथ मिथ्या दर्शन और मिथ्याचारित्र्य का भी घात करना चाहिये । (रागि तद्वा कोवि पुगलवब्धे घादो दुःखिद्विद्वो) क्योंकि उस अचेतन शब्द आदि विषय रूप, व द्रव्य कर्म और शरीर रूप पुद्गल द्रव्य में कुछ भी घात नहीं कहा गया है । देवो, घडेका आधार भूत

जो कुछ भी है उसको नष्ट कर देने पर भी बड़ा नष्ट नहीं होता है वैसे ही रागादिभावो का निमित्त भूत जो पचेन्द्रियो के विषय शब्दादिक है उसके नष्ट कर देने पर भी मन में होने वाले जो रागादिक हैं उनका नाश नहीं होता है। क्योंकि अन्य के घात कर देने पर भी अन्य का घात नहीं होता ऐसा न्याय है, अन्यथा फिर अति प्रसंग दोष आता है कोई भी व्यवस्था नहीं बनती। (जीवस्स जे गुणा केई एत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु) क्योंकि जीव के जो सम्यक्त्वादि गुण हैं वे शब्दादिक पर द्रव्यो में नहीं हैं अर्थात् उनका उनके साथ वास्तविक कोई संबंध नहीं है यह बात स्पष्ट है। (तम्हा सम्मादिट्ठिस्स एत्थि रागो दु विसएसु) इसलिये विषयो से रहित अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो सुख उसी में तृप्त होने वाला जो सम्यग्दृष्टि है उसका विषयो में राग नहीं होता। (रागो दोसो मोहो जीवस्सेव दु अरण्णपरिणामा) क्योंकि राग, द्वेष, और मोह अज्ञानी जीव के परिणाम हैं जो कि अशुद्ध निश्चय से उससे अभिन्न है अर्थात् अशुद्ध अवस्था में जीव के साथ तन्मय होते हैं। (एएण कारणेण दु सद्दासि एत्थि रागादो) इसलिये यद्यपि अज्ञानी जीव अतः ज्ञान के वश होकर अचेतन रूप शब्दादिमय मनोश्च और अमनोश्च पांचो इन्द्रियो के विषय हैं उन्हीं में रागादिक की कल्पना करता है उन्हीं में रागादिक का आरोप करता है (कि अमुक वस्तु मे मेरा राग है) तो भी शब्दादिक में रागादिक नहीं होते हैं क्योंकि शब्दादिक तो स्वयं अचेतन हैं। इसलिये इस विवेचन से यह बात निश्चित हुई कि रागद्वेष ये दोनों तभी तक उत्पन्न होते हैं जब तक यह आत्मा बहिर्दृष्टि वाला रहता है और इसके मनमें त्रिगुप्तिरूप स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता। यह छह गाथाओं का अर्थ हुआ ॥३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६॥

विशेषार्थ — ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये आत्मा के गुण हैं। ये जहां स्वस्थ भाव में रहते हैं वहां आत्मा शुद्ध है किन्तु जहां ये विकृत हो वहां आत्मा ही विकृत होता है यह बात तो ठीक है। किन्तु ये आत्मा के गुण होने के कारण इनका आत्मा से ही संबंध है बाह्य शब्दादि विषयो से नहीं, क्योंकि इनके नष्ट होने पर भी इनका नाश नहीं होता और इनके बढ जाने पर इनकी वृद्धि नहीं होती। अतः जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह इनके लिये शब्दादि बाह्य विषयो को क्यों स्मरण करे? वह तो अपने उपयोग को इनको और जाने भी नहीं देता। हा, छपस्थ आत्मा के मन में इन बाह्य वस्तुओं को लेकर जो राग द्वेष मोह उत्पन्न होता है अर्थात् उस रूप उसका जो ज्ञान परिणत होता है उसी से उसके ज्ञान दर्शन और चारित्र्य गुण का घात होता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव तो इन राग द्वेष और मोह भावों को पैदा नहीं होने देता जिसके लिये वह त्रिगुप्ति रूप निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहता है यही उसका प्रयास है और इसी में उसका भला है।

आचार्य देव इसका निष्कर्ष निकालकर यह बतलाते हैं कि शब्दादि जो इन्द्रियो के विषय हैं वे तो स्वयं अचेतन हैं वे रागादिक की उत्पत्ति में वास्तव में नियमितरूप में कारण नहीं हो सकते —

अण्णदवियेण अण्णदव्वियस्स णो कीरदे गुणविधादो ।

तस्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७७॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणविधातः ।

तस्मात् सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥३७७॥

अर्थ—अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का विधात नहीं किया जा सकता इसलिये सर्व द्रव्य अपने अपने स्वभाव से ही उपजते हैं ॥ ३७७ ॥

तात्पर्यवृत्ति—अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविधादो अन्यद्रव्येण बहिरगनिमित्तभूतेन कु भकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेनं क्रियते स क ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । तस्मात्तु सत्त्वदव्या उपज्जते सहावेण तस्मात्कारणमृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तुं णि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायते नच कु भकारादिबहिरगनिमित्त-रूपेण । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणमदृश कार्यं भवतीति यस्मात् । तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पञ्चेन्द्रियविषय-रूपेण शब्दादीनां बहिरगनिमित्तभूतेनाज्ञानि जीवस्य रागादयो जायते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुन शब्दादि-रूपा अचेतना भवतीति भावार्थः । एव कोऽपि प्राथमिकशिष्यचित्तस्थानुरागादीन् जानाति बहिरगशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घात करोमीति निर्विकलामाधिलक्षणेभेदज्ञानाभावाच्चिन्तयति तस्य सबोधनार्थं पूर्वं गाथाषट्केन सह मूत्रसक्त गतः ।

अथ व्यवहारेण कर्तृ कर्मणोर्भेदं, निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तुं तदेव कर्मण्युपदिशति—

टीका—(अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुण विधादो) बहिरग निमित्त जो कु भकार आदि अन्य द्रव्य हैं उसके द्वारा उपादानरूप जो मिट्टी आदि अन्य द्रव्य हैं उसका चेतन का अचेतनरूप से और अचेतन का चेतनरूपसे इस प्रकार चेतन या अचेतन गुण का घात अर्थात् विनाश नहीं किया जा सकता (तस्मात्तु सत्त्वदव्या उपज्जते सहावेण) इसलिये मिट्टी आदिक सब द्रव्य जो घटादि के रूप में उपजते हैं वे सब मृत्तिकादिरूप अपने अपने उपादान कारण के रूप में उपजते हैं बहिरग निमित्त कारण कु भकारादिके रूप में नहीं उपजते क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा अटल नियम है । इस कथन से यह बात सिद्ध हुई कि यद्यपि अज्ञानी जीव के जो रागादि उत्पन्न होते हैं वे सब बहिरगमें निमित्त भूत से होनेवाले पञ्चेन्द्रिय के विषय रूप जो शब्दादि हैं उन्हीं के द्वारा उपजते हैं फिर भी वे (रागादि) शब्दादिरूप अचेतन नहीं होते किन्तु चेतनतामय जीवस्वरूप होते हैं ऐसा तात्पर्य है ।

इस प्रकार कोई नया शिष्य अपने चित्त में ठहरे हुये रागद्वेषादि भावों को तो जानता नहीं है किन्तु उन रागादिकों में निमित्त पडनेवाले बहिरगभूत शब्दादि विषयों का घात करने की चेष्टा करता है (क्योंकि वह मानता है कि इन शब्दादिकों ने ही मेरे रागादि पैदा किया है अतः इनको नष्ट करदू ऐसा सोचता है) क्योंकि उसके निर्विकल्प समाधि ही है लक्षण जिसका ऐसा जो भेदज्ञान है उसका अभाव है । उस शिष्य को संबोधन करने के लिये ही आचार्य देवने इससे पूर्ववाली ६ गाथाओं के साथ साथ यह सातवी गाथा कही है ।

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव रागद्वेष की उत्पत्ति को पर द्रव्य से मानकर परद्रव्य के ऊपर कोप करता है कि इस परद्रव्य ने मेरे रागद्वेष उपजा दिये अतः उस रागद्वेष को नष्ट करने के लिये इस परद्रव्य को ही नष्ट करू इस प्रकार व्यर्थ उलझन में पड़ जाता है । उसे समझाने के लिये ही आचार्यश्री ने यह बात कही है कि हे भाई! रागद्वेष की उत्पत्ति तो अपने अज्ञान भाव से अपने में ही होती है । यह सब रागद्वेष तेरे ही अशुद्ध परिणाम हैं, सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त हो और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो ऐसा प्रयत्न कर । इन शब्दादि को भला बुरा मानकर इनके पीछे क्यों पड़ा है अपितु इन्हें भुलाकर अपने आत्मस्वरूप के अनुभव करने में तल्लीन हो रह ।

प्राये कहते हैं कि व्यवहार से कर्ता धीरे कर्म का भेद हो परन्तु निश्चय से तो जो कर्ता है सो ही कर्म है ऐसा उपदेश करते हैं

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३७८॥
जह सिप्पिओ दु करणेहि कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहि कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३७९॥
जह सिप्पिउ करणाणिय गिह्मदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणिय गिह्मदि ण य तम्मओ होदि ॥३८०॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ॥३८१॥
एवं व्यवहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥३८२॥
जह सिप्पिओ दु चिट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणणो सो ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणणो सो ॥३८३॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि ।
तत्तोसेय अणणो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३८४॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥३७८॥
यथा शिल्पिकः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥३७९॥
यथा शिल्पिकस्तु करणाणि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणाणि च गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३८०॥
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥३८१॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्ष्यदर्शन समासेन ।
श्रुणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥३८२॥

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्य स्तस्याः ।
 तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥३८३॥
 यथा चेष्टां कुर्वानस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
 तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥३८४॥

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर कुण्डलादि आभूषण कर्म को करता है किन्तु वह आभूषण आदि के साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी पौद्गलिक कर्म को करता है फिर भी उससे तन्मय नहीं होता । श्रोग्र जैसे कारीगर हतोबा आदि उपकरणों के द्वारा कुण्डलादि कर्म करता है फिर भी उसके साथ तन्मय नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी मन, वचन, कायादि करणों के द्वारा कर्म करता है तो भी उसके साथ तन्मय नहीं होता । जैसे शिल्पी उन उपकरणों को ग्रहण करता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कायादि रूप करणों को ग्रहण करता है तो भी उनसे तन्मय नहीं होता । तथा जैसे शिल्पी कुण्डलादि कर्मों के फल को भोगता है तो भी वह उनसे तन्मय नहीं होता उसी प्रकार जीव भी कर्म के फल सुख दुःखादि को भोगता है परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता । इन प्रकार यह व्यवहारनय का मत है जो कि ससेष से कहने योग्य है । अब आगे निश्चय का वचन है उसे सुनो— जो कि अपने परिणामों के द्वारा किया हुआ होता है अर्थात् अपने रागादि विकल्पो के द्वारा सम्पादित होता है । जैसे कि शिल्पी अपने परिणामों की जैसी चेष्टा करता है तब वह उस चेष्टा से पृथक् नहीं होता तन्मय रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने परिणाम स्वरूप कर्म को करता है तो उस चेष्टा रूप कर्म से वह पृथक् नहीं रहता किन्तु तन्मय रहता है । तथा जैसे शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरत दुःखी होता है तो वह उस दुःख से मित्र नहीं रहता किन्तु तन्मय रहता है उसी प्रकार चेष्टा करता हुआ जीव भी दुःखी रहता है ॥ ३८८ से ३८४ तक ॥

तात्पर्यवृत्ति—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादि सुवर्णकुण्डलादिकर्म करोति, के कृत्वा ? हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः । हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन शुक्लानि, तथापि तैः सुवर्णकुण्डलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैव ज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियबोतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतसन् ज्ञानावराणादिविषयकर्मणि करोति । के कृत्वा ? मनोवचनवायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादकरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्नमनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकरण्युपकरणानि सत्त्वैरुपकरणैः व्यवहारनयेन शुक्लानि तथापि ज्ञानावराणादिविषयकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकरणैः सह टकोत्कीर्णत्रायकत्वेन मिश्रत्वात्तन्मयो न भवति । तथैव च न एव शिल्पी सुवर्णकारादि सुवर्णकुण्डलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यवनपानादिकं मूल्यं लभते भुङ्क्ते च तथापि तेनाशनपानादिना तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलबहिरगेषाशनपानादिरूपनिजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानन्दमुत्वास्वादमलममानो भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति । एव बह्वहारास्स दुःखस्य असौ समासेन एव पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मवर्तुस्वभोक्तृस्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्ट्वा उदाहरणं ह शिष्यः । वक्तव्य व्याख्येय कथनीय समासेन संक्षेपेण सुगुणित्ययस्य वयस्य परिणामं क्व तु जहवति इदं त्वये वक्ष्यमाणं निश्चयमप्यवचनं व्याख्यातं शृणु, कथंभूतं ? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति । जहसिपिप्यो दुःचेष्टं कुर्वति हवति य तद्वा प्रणयणोसौ यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुण्डलादिकमेवमेव करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तथा चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मय तद् जीवोऽपि कर्म कुर्वति हवति य प्रणयणोसौ तथैवाज्ञानी जीवः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽन्तो माचको निर्विकल्पसमाप्तिरूपकारणसमयमारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन श्रमुदोपादानरूपेण मिथ्यात्वात् रागादिरूपभावकर्मरानि तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्य इति भावकर्मकर्तृत्वभाषा गता । जह चेष्टं कुर्वतो दुःसिपिप्यो निश्चयं दुःखितो होति यथा न एव शिल्पी कुण्डलादिकमेवमेव करोमीति

मनसि चेष्टा कुर्वाणः सन् चित्तवेदेन नित्यं दुःखितो भवति । न केवलं दुःखितः । तत्तोसेयं अणुषो तस्माद्दुःखविकल्पा-
दनुभवरूपेणान्यथैव स स्यात् तह चेदु तो वही जीवो तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्य-
समयसारस्य माधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणमयसारः, तस्याभागे मुखदुःखमोक्षतृप्तकाले हर्षविषादरूपो
चेष्टा कुर्वाणः सम्मनसि दुःखितो भवति इति । तथा हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणान्यथैव
भवति इति । एष पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसवदेनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टातेन व्यवहारनयेन
द्रव्यकर्म करोति भुक्ते च । तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म वेति व्याख्यानमुख्यत्वेन पट्टस्थले गाथासप्तकं गत ।

अथ ज्ञान ज्ञेय वस्तु जानाति तथापि घबलकुण्ठेत्वेतन्मृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मय न भवति इति निश्चय-
मुख्यत्वेन गाथापचक । यथैव ज्ञेयत्वेतन्मृत्तिका कुड्पा ज्ञेय करोतीति व्यविद्व्यते तथैव च ज्ञान ज्ञेय वस्तु जानात्येव
व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापचक । एष समुदायेन दशक । तथा—

टीका—जैसे भूतलपर हम देखते हैं कि सुनार आदि कारीगर स्वर्ण के कुण्डलादि आभूषण को
बनाता है । किन से बनाता है ? कि हतोडे आदि उपकरणों के द्वारा बनाता है । उन हतोडे आदि
उपकरणों को अपने हाथ में ग्रहण करता है तो फिर उन सोने के कुण्डलादि आभूषणों से और हतोडे
आदि उपकरणों से वह तन्मय नहीं हो जाता । वैसे ही * ज्ञानी जीव भी निष्क्रिय वीतराग स्वसवेदन
ज्ञान से च्युत होता हुआ द्रव्य कर्मों को करता है । किन के द्वारा करता है ? कि कर्मों के उत्पादन करने
वाले मन वचन काय के उपकरणों द्वारा करता है । वैसे ही यह जीव भी कर्मोदय के वश होकर कर्मों के
उत्पादन करनेवाले मन वचन काय के व्यापार रूप कर्मों के उत्पादन करने वाले उपकरणों के साथ
तन्मय नहीं होता किन्तु अपने टकोत्कीर्ण जायकपने से यह जीव उनसे भिन्न ही रहता है । जैसे सुनारादि
कारीगर सोने के कुण्डलादि बन जाने पर उनका आहारपानादिरूप जो कुछ मूल्य प्राप्त करता है और
उसे भोगता भी है, फिर भी वह उस अशनपानादि से तन्मय नहीं होता है वैसे ही जीव भी अपनी शुद्धात्मा
की भावना से उत्पन्न हुये मनोहर आनन्दमई मुख के स्वाद को नहीं पाता हुआ बाह्य में दीखनेवाले
अशनपानादिरूप शुभ और अशुभ कर्म के फल को भोगता है फिर भी वह अशनपानादि रूप नहीं बन
जाता । (एव व्यवहारस्स उ वत्तव दसण समासेण) इस पूर्वोक्त रीति से चार गाथाओं द्वारा है भाई
द्रव्य कर्म के कर्तापन और भोक्तापन रूप जो व्यवहारनय है उसका मत या दृष्टात या उदाहरण
सक्षेप में बताया गया है । (मुणु णिच्छयस्स वयण परिणामकद तु ज हवदि) अब इसके आगे निश्चय-
नय का वचन रूप व्याख्यान कहा जाता है उसको सुनो—जो कि रागादि विकल्प के द्वारा सम्पादित एव
आत्माके परिणाम द्वारा किया होता है । (जह सिप्पिओ दु चेदु कुव्वदि हवदि य तहा अणुणो सो)
जैसे सुनारादि कारीगर अपने मन में जब इस प्रकार का विचार करता है कि मैं इस इस प्रकार के
कुण्डलादि बनाऊ तब वह उस विचार रूप ज्ञेष्टासे अभिन्न अर्थात् तन्मय होता है, (तह जीवोवि य
कम्म कुव्वदि हवदि य अणुणो सो) वैसे ही केवलज्ञानादि की अभिव्यक्ति होना है स्वरूप जिसका
ऐसा जो कार्य समयसार उसका जो साधक निर्विकल्प समाधि रूप कारण समयसार उसका अभाव हो
जाने पर यह अज्ञानी जीव अशुद्ध उपादानरूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा मिथ्यात्व रागादिरूप भावकर्म
को करने वाला होता है तब उस समय उस भाव कर्म के साथ अभिन्न होता है । यह भावकर्म के कर्तापन

ॐ सनातन जैन ग्रंथमाला से सम्पादित श्री वीर निर्वाण सक्त्सर २४४० में ज्ञानी पाठ है और ग्रंथिमा मन्दिर
प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित में अज्ञानी पाठ है—अर्थ की दृष्टि से दोनों ही पाठ ठीक बैठ जाते हैं

की गाथा हुई। (जह चेदु कुव्वतो दु मिप्पघो गिच्च दु खितो होदि) जैसे कि कारीगर अपने मनमें यह विचार करता है कि मैं अमुक अमुक प्रकार के कुण्डलादि बनाऊँ ऐसा विचार करता हुआ वह नियम से अपने चित्त में धातुल व्याकुलतरूप दुःख को प्राप्त होता है उस विचार से वह केवल दुःखी ही नहीं होता किन्तु (ततो सेय अगण्णो) उसके अनुभव में आनेवाले दुःख रूप विकल्पसे अभिन्न हो रहता है। (तह चेदुत्तो दुही जीवो) उमी प्रकार अज्ञानी जीव भी विशुद्ध ज्ञान दर्शनादि की अभिव्यक्ति रूप जो कार्य समयसार व उम कार्य समयसारका साधक जो निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसार है उसके लाभ में अर्थात् अभाव में सुख दुःखादि के भोक्तापन के काल में हर्ष विषादादि रूप चेष्टा को करता हुआ वह अपने मन में दुःखी होता है तब वह उस हर्ष विषादादि रूप चेष्टा के साथ अशुद्ध उपादान रूप अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा अभिन्न अर्थात् तन्मय होकर रहता है।

इस प्रकार पूर्व कथित रीति से सुनार आदि के हृष्टात द्वारा जैसे बताया गया है वैसे यह अज्ञानी जीव निर्विकल्परूप स्वसवेदन ज्ञान से च्युत होकर व्यवहारनय के द्वारा ता द्रव्य कम को करना है व उसे भोगता है उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय के द्वारा वह भावकर्म को करना है और भोगता है इस प्रकार के व्याख्यान को लेकर इस छठे स्थल में ये सान गाथाये पूर्ण हुई ॥३७८ से ३८४॥

विशेषार्थ—यहां आचार्य देव ने बताया है कि व्याकरण के द्वारा बोलने में कर्ता कर्म आदि की पदति भिन्न और अभिन्न रूप से होती है। जैसे बहई बसोले से रथ बनाता है यह तो भिन्न कर्ता कर्म का उदाहरण है। और दीपक अपने द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है यह अभिन्न कर्ता कर्म का उदाहरण है। सो छद्मस्थ आत्मा जब तक समाधिस्थ रहता है तब तक अपने आपका अनुभव करने हुये सहजानन्द का भोगने वाला रहता है किन्तु जब समाधि से च्युत होकर बाह्य दृष्टि पर आता है तो शुभाशुभ रूप करने लगता है और उनके फल स्वरूप सुख दुःख का भोगने वाला होता है।

इस प्रकार आत्मा के भिन्न कर्तृत्व और अभिन्न कर्तृत्व को बताकर आगे यह बतलाने है कि ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानना है फिर भी निश्चयनय में उसमें तन्मय नहीं होता। जैसे कि मफेद मिट्टी दीवाल को मफेद करती है फिर भी वह मिट्टी दीवाल में भिन्न रहती है। इस प्रकार निश्चय की मुख्यता से पांच गाथाओं में कह कर आगे की पांच गाथाओं में यह बतलाते हैं कि लडिया दीवान का मफेद कर देती है यह व्यवहार है वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेय वस्तु को जानना है यह व्यवहार है। इस प्रकार दोनों मिलाकर दश गाथायें हैं —

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।

तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३८५॥

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया य सा होदि ।

तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३८६॥

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।

तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सोदु ॥३८७॥

जह सेटिया दु ण परस्स सेटिया सेटिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३८८॥
एवं तु णिच्छयण्यस्स भासियं णाणदंसण चरित्ते ।
सुणु व्यवहारण्यस्सय वत्तव्वं से समासेण ॥३८९॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि णादा विसएण भावेण ॥३९०॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवोवि सएण भावेण ॥३९१॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विरमदि णादावि सएण भावेण ॥३९२॥
जह परदव्वं सेटदि हु सेटिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३९३॥
एसो व्यवहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥३९४॥ (दशकम्)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३८५॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३८६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३८७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३८८॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
श्रुणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३८९॥
यथा परद्वयं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्वयं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३९०॥

यथा परब्रह्मं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परब्रह्मं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥

यथा परब्रह्मं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परब्रह्मं बिजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६२॥

यथा परब्रह्मं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।

तथा परब्रह्मं भ्रष्टत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥

एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।

अणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६४॥

अर्थ—अब यहाँ अग्निन्न कर्ता कर्म रूप निश्चय कथन को और भिन्न कर्ता कर्म रूप व्यवहार कथन को पृष्ठान द्वारा समझाते हैं—जैसे सफेदी करने वाली खडिया मिट्टी अग्न्य भीत आदि वस्तु को सफेद करने वाली है इसलिये खडिया है ऐसी बात नहीं किन्तु वह तो अपने आप ही खडिया मिट्टी है भीत से भिन्न वस्तु है । इसी प्रकार जो ज्ञायक हैं जानने वाला है वह परब्रह्म को जानने वाला है इसलिये ज्ञायक है ऐसा नहीं है किन्तु वह तो सहज ज्ञायक रूप ही है । इसी प्रकार उपरोक्त उदाहरण के समान जो दर्शक है वह भी परब्रह्म को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु वह तो अपने सहज स्वभाव से ही दर्शक है । इसी प्रकार सयत भी पर को त्याग न से सयत नहीं हुआ है किन्तु अपने भाव से सयत है । इसी प्रकार दर्शन भी अर्थात् श्रद्धान भी पर वस्तु के यथार्थ श्रद्धान करने से दर्शन नहीं हुआ है किन्तु वह तो सहज स्वभाव से ही दर्शन अर्थात् श्रद्धान है । ऐसा यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विषय में निश्चयनय का कहा हुआ वचन है । अब जो व्यवहारनय का वचन है उसे सत्तेय से कहते हैं उसे सुनो । जैसे खडिया अपने स्वभाव के द्वारा भीत आदि परब्रह्मों को सफेद करती है उसी प्रकार जानने वाला भी अपने स्वभाव के द्वारा परब्रह्म को जानता है, उसी प्रकार दर्शक अपने स्वभाव के द्वारा परब्रह्म को देखता है, तथा सयत अपने स्वभाव के द्वारा परब्रह्म को छोड़ता है और श्रद्धान करने वाला अपने स्वभाव के द्वारा ही परब्रह्म का श्रद्धान करता है । यह ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय में व्यवहारनय का जो निर्णय है वह कहा गया है । इसी प्रकार और बातों में भी लगा लेना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्ति—यथा लोके श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका परब्रह्मस्य कुड्धादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकं स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एव ब्रह्मादित्वादिबन्धु—ज्ञान ज्ञेयरूपेण न परिणमति—इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातिन दर्शकभ्राता दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । एव सत्तावलोकनदर्शन दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन सयत भ्राता त्याग्यस्य परिग्रहादेः परब्रह्मस्य निश्चयेन त्यागको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? सयत सयत एव निर्विकारनिजमनो-हरानदलसणस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एव बीनरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारक न भवति, तन्मयो न भवती-

स्पर्शः । तर्हि किं भवति ? सम्म्यग्दर्शनं सम्म्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एव तत्कार्यश्च ज्ञानलक्षणसम्म्यग्दर्शन-
मुख्यत्वेन गान्धा गता ।

एव तु निष्कृष्टयस्य भासिदं एरणवसंज्ञपरिते एव पूर्वोक्तगान्धाचतुष्टयेन भावित व्याख्यानं कृत ।
कस्य सबधित्वेन ? निश्चयनयस्य । क्व ? विषये ज्ञानदर्शनचारित्र्ये । **सुणु बबहारणयस्य वसत्त्व** इदानीं हे शिष्य !
शृणु समाकर्ण्य किं वक्तव्यं व्याख्यातं । कस्य सबधित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य सबधिव्यवहारः ? ते तस्य
पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्र्यत्रयस्य केन ? **समाप्तेः संक्षेपेण** । इति निश्चयनयव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपत्रकं गत ।

अथ व्यवहारः कथ्यते—यथा येन प्रकारेण लोके परब्रह्म कुडधादिक व्यवहारनयेन श्वेतपते श्वेत करोति
न च कुडधादिपरब्रह्मेण सह तन्मयो भवति । का ? कर्ता श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका । केन कृत्वा श्वेत करोति ?
स्वकीयश्वेतभावेन । तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परब्रह्म घटादिक श्रेय वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परब्रह्मेण सह
तन्मयो भवति । कोऽसौ ? कर्ता ज्ञातात्मा^१ । केन जानाति ? स्वकीय ज्ञानभावेनेति, प्रथमगान्धा गता । तथैव च
तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन घटादिक दृश्य परब्रह्म व्यवहारेण पश्यति न च परब्रह्मेण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ
ज्ञातात्मा^२ । केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगान्धा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन परिग्रहादिक
परब्रह्म व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परब्रह्मेण सह तन्मयो भवति स क । कर्ता ज्ञातात्मा । केन कृत्वा त्यजति ?
स्वकीयनिर्विकल्प समाधिपरिणामेनेति तृतीयगान्धा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टातेन जीवादिक परब्रह्म
व्यवहारेण श्रद्धाघाति न च परब्रह्मेण सह तन्मयो भवति । स क ? कर्ता सम्म्यग्दृष्टि केन कृत्वा ? स्वकीय श्रद्धान-
परिणामेनेति चतुर्थगान्धा गता । **एसो बबहारस्स बु विणिण्डियो शाख सस्यचत्ति भण्डो** भणित कथित
कोऽसौ ? कर्मनापन्न, एष प्रत्यक्षीभूत, पूर्वोक्तगान्धाचतुष्टयेन^३ तिदिष्टो विनिश्चय, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थं
कास्य सबधो ? व्यवहारनयस्य । क्व ! विषये ज्ञानदर्शनचारित्र्ये । **अण्णेषु वि पज्जएसु एमेव नादब्बो** इदमोद-
नादिक मया भुक्त, इदमतिविषयकटादिक त्यक्त, द्रव गृहादिक कृत, तत्पूर्वं व्यवहारेण । निश्चयेन पुन स्वकीयरागा-
दिपरिणाम एव कृतो भुवत्तश्च । एवमित्याद्यन्येष्वपि पययिषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति । किञ्च यदि
व्यवहारेण परब्रह्म जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिक तन्मयो
भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्वैव्य न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः यदि पुन परकीय सुखादिकमात्मसुखादिक्तन्मयो
भूत्वा जानाति तर्हि तथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति
न च तथा । यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चय, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छापस्थ-
जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति । ननु सौगतोऽपि भूते व्यवहारेण सर्वज्ञ तस्य किमिति दूषणं दीयते भवतिरिति !
तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति ।
जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि
सत्यो न भवति तर्हि सर्वाऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रमग । एवमात्मा व्यवहारेण परब्रह्म जानाति
पश्यति निश्चयेन पुन स्मद्ब्रह्ममेवेति । ततएतदायाति ग्रामारामादि सर्वं खल्विदं ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति यद् ब्रह्माद्वै-
तवादिनो वदति तन्निषिद्ध । यदपि सौगतो^४ वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च जानाद्भूत ज्ञेय
किमप्यस्ति तदपि निराकृत । कथं ! इति चेत्, यदि ज्ञान ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभाव प्राप्नोति यदि वा
ज्ञेय ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्यमयशून्यत्व, स च प्रत्यक्षविरोधः । एव निश्चयव्यवहारव्याख्यायान-
मुख्यतया समुदायेन सप्तमस्यले सूत्रदशकं गत ।

१ अत्र क पुस्तक ज्ञानात्मेति पाठः । २ अत्रापि क ज्ञानात्मेत्येव पाठः । ३ चतुष्टये पाठोय ख. पुस्तके ।

४ सौगता वदति इति स पुस्तके पाठः । २ सूत्रसप्तक पाठोय क पुस्तके । ३ श्रवैत्यस्य पाठोय क भातव्यायातो ।

अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति—

टीका—जैसे ससार मे हम देखते हैं कि श्वेटिका अर्थात् सफेद खडिया मिट्टी निश्चय से परद्रव्यरूप भीत आदि की नहीं होजाती अर्थात् उससे लगकर भी भिन्न रहती है तन्मय नहीं होती किन्तु बाहर मे ही रहती है अर्थात् श्वेटिका तो श्वेटिका ही है और अपने आपके स्वरूप मे ही रहती है । इसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात द्वारा ज्ञानात्मा भी निश्चय के द्वारा घटपटादि ज्ञेय पदार्थों का ज्ञायक नहीं होता है अर्थात् उन्हे जानते हुए भी उनसे तन्मय नहीं होता । फिर क्या होता है ? कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही होता है अपने स्वभाव मे रहता है । इस प्रकार यहा पर आचार्यदेव ने यह बतलाया है कि ज्ञान ज्ञेयके रूप मे परिणमन नहीं करता जैसा कि ब्रह्म ब्रह्म तत्वादियों के यहा ज्ञान ज्ञेयरूप मे परिणमन कर जाता है । इस प्रकार की कथन करने वाली गाथा हुई । इसी प्रकार श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर दर्शक आत्मा भी निश्चय से दृश्यरूप जो घटपटादि पदार्थ है उनका दर्शक नहीं होता अर्थात् उनके साथ मे तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? कि दर्शक तो दर्शक ही होता है अपने स्वरूप मे रहता है । इस प्रकार सत्तावलोकनरूप दर्शन दृश्यमान पदार्थों के द्वारा पररूप मे परिणमन नहीं कर जाता, इस प्रकार के कथन की मुख्यता से दूसरी गाथा हुई । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर सयत आत्मा त्याज्य जो परिग्रहादि पर द्रव्य है उनका निश्चय से त्यागनेवाला नहीं होता अर्थात् उनके साथ मे तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? कि सयत तो सयत ही रहता है अर्थात् निविकार अपना मनोहर आनन्द है लक्षण जिसका ऐसे अपने स्वरूप मे ही रहता है । इस प्रकार चितराग चारित्र की मुख्यता से तीसरी गाथा हुई । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात द्वारा जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, वह श्रद्धान करने योग्य जो बहिर्भूत जीवादि पदार्थ है उनका श्रद्धान करने वाला निश्चय से नहीं होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नहीं होता । तो क्या होता है ? सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है अपने स्वरूप मे रहता है । इस प्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन ही मुख्यता से यह चौथी गाथा हुई ।

(एव तु रिणच्छयणयस्स भासिद एण दसण चरित्ते) इस प्रकार पूर्व की चार गाथाओं द्वारा ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय मे निश्चय सबधी कथन का व्याख्यान हुआ । (सुणु ववहारनयस्स य वत्तव्व से) अब हे शिष्य ! तुम व्यवहार के व्याख्यान को सुनो । जो कि व्यवहारनय का व्याख्यान पूर्वोक्त ज्ञान दर्शन चारित्र के विषयमे है । (समासेण) जिसको मे संक्षेप मे कहता हूँ । इस प्रकार निश्चयनय के व्याख्यान की मुख्यतासे पांच सूत्र कहे अब व्यवहार का कथन किया जाता है—जैसे लौकिक मे परद्रव्य भीत आदि है उनको श्वेत खडिया मिट्टी अपने श्वेत भाव के द्वारा सफेद करती है फिर भी उन भीत आदि परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं हो जाती । उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात से समझना चाहिये कि ज्ञाता आत्मा परद्रव्य घटपटादि जो ज्ञेय द्रव्य है उनको व्यवहार से जानता है फिर भी परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं हो जाता केवल मात्र अपने ज्ञान भाव के द्वारा उन्हे जानता ही है । यह पहली गाथा का अर्थ हुआ । उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर ज्ञान स्वरूप आत्मा दृश्यमान घटपटादि परद्रव्य को व्यवहार से देखता है किन्तु उम परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता अपितु केवलमात्र अपने दर्शन गुण के द्वारा उसे देखता है । यह दूसरी गाथा हुई । उसी प्रकार उसी श्वेत मिट्टी के दृष्टात को लेकर ज्ञाता आत्मा परिग्रहादिक जो परद्रव्य है उनको व्यवहार से त्यागता है किन्तु वह परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होता । तो फिर वह छोड़ता कैसे है ? कि अपने निविकल्प रूप समाधि

परिणाम के द्वारा उनसे उदासीन हो जाता है। यह तीसरी गाथा हुई। उसी प्रकार उस श्वेत मिट्टी के दृष्टांत को लेकर यह सम्यग्दृष्टि जीव जीवादिक पर द्रव्यों के व्यवहार से अर्थात् भेदरूप से श्रद्धान करता है किन्तु वह उनके साथ तन्मय नहीं हो जाता है। किसके द्वारा नहीं होता है? कि अपने श्रद्धान परिणाम के द्वारा वह सम्यग्दृष्टि जीव पर द्रव्य को पर द्रव्य समझते हुये अपने श्रद्धान में अपने से भिन्न मानता है इस प्रकार यह चौथी गाथा का अर्थ हुआ। (एसी व्यवहारस्स दु विणिच्छियो गाणदसण चरित्ते भणिदो) यह प्रसंग प्राप्त जो कि पूर्वोक्त चार गाथाओं से कहा गया है वह निश्चय अर्थात् व्यवहार अनुयायी निर्णय कहा गया है। किसके विषय में? ज्ञान दर्शन और चारित्र के विषय में अर्थात् व्यवहारनय के द्वारा उपर्युक्त प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र का निर्णय किया जाता है। (अप्पेसु वि पज्जएमु एमेव एादब्बो) जैसा व्यवहार ऊपर ज्ञान दर्शन चारित्र के विषय में बतलाया गया है वैसे और भी अवस्थाओं में लगा लेना कि जैसे यह भ्रातादि मेरे द्वारा खाय़ा गया, यह साप का विष ब कटकादि मेरे द्वारा छोड़ दिया गया, यह घर मेरे द्वारा बनाया गया यह सब तो व्यवहार है यदि निश्चय से कहे तो इस प्रकार कहना चाहिये कि इन श्रोदनादिक को खाने का मैंने अपना रागरूप परिणाम किया और उसी को भोगा। इसी प्रकार और सब स्थानों में भी निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग को समझ लेना चाहिये।

इस पर फिर भी प्रश्न होता है कि यदि पर द्रव्य का जानना व्यवहार से ही होता है तब फिर सर्वज्ञ भी व्यवहार से ही कहे जायेंगे, निश्चय से नहीं। ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि हे भाई! जिस प्रकार आत्मा अपने सुखादि को तन्मय होकर जानता है वैसे ब्रह्म द्रव्यों को तन्मय होकर नहीं जानता इसलिये उस जानने को व्यवहार से जानना कहा है। यदि दूसरे के सुखादि को भी यह आत्मा अपने सुखादि के समान तन्मय होकर जाने तब तो जैसे अपने सवेदन में सुखी होता है उसी प्रकार पर के सुख दुःख के सवेदन काल में भी सुखी दुःखी होना चाहिये सो वह होता नहीं है। यद्यपि सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीय सुख सवेदन की अपेक्षा तो निश्चय रूप है किन्तु परकीय सुख के सवेदन की अपेक्षा से वही सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवहार रूप है अर्थात् परकीय सुख को जानता है फिर भी उससे भिन्न है इसलिये उसे व्यवहाररूप कहा गया है, किन्तु छद्मस्थ को अपेक्षा तो दूसरे के सुख को जानने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान भी वास्तविक है—निश्चय है (काल्पनिक नहीं है)।

यहां पर शकाकार फिर शका करता हैं कि बौद्धमती भी ऐसा कहते हैं कि हमारे सौगत बुद्ध भगवान् व्यवहार से सर्वज्ञ होते हैं, फिर आप उनको दूषण क्यों देते हो? इसका परिहार करते हैं कि सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है वैसे ही व्यवहार से भी व्यवहार इनके यहाँ भूटा ही है, किन्तु जैन मत में तो व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है। यदि लोक व्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोक व्यवहार मिथ्या हो जाय ऐसा होने पर कोई भी व्यवस्था नहीं बने। इसलिये जैसा ऊपर कहा गया है वह ठीक ही है कि पर द्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता है देखता है किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म अद्वैतवादी जो कहा करते हैं कि ग्राम, बगीचा आदि जो वस्तुयें हैं वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं ब्रह्म के सिवाय कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस बात का यहाँ पर निषेध किया गया है। सौगत लोग जो कहते हैं कि ज्ञान ही घटपटादि रूप परिणामन कर जाता है, ज्ञान से भिन्न कोई भी ज्ञेय वस्तु नहीं है इस कहने का भी निराकरण हो जाता है क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञेय रूप में

परिणमन करता है तो ज्ञान के अभाव का प्रसंग आता है और ज्ञेय रूप से परिणमन करता है तो ज्ञेय के अभाव का प्रसंग आता है एव दोनों का अभाव ठहरता है सो प्रत्यक्ष विरोध है । इस प्रकार निश्चय और व्यवहार की मुख्यता से समुदाय रूप से इस सातव स्थल में दश सूत्र हुए ॥ ३८५ से ३९४ तक ॥

विशेषार्थ —आत्मा का निश्चयनय से एक चेतना भाव स्वभाव है, उसी को देखना, जानना, अद्धान करना, एव पर द्रव्य से निवृत्त होना यह उसी के रूपान्तर हैं । निश्चय नय से जब सोचे तो आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक कहा जा सकता और न श्रद्धाता (श्रद्धा करने वाला) और न त्याग करने वाला भी कहा जाता है क्योंकि निश्चयनयमें आत्मा का परद्रव्यके साथ कोई भी सबध ही नहीं है अतः परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धाता, एव त्यागकरनेवाला तो यह आत्मा व्यवहार से ही कहा जाता है, क्योंकि परद्रव्य के साथ में निमित्त नैमित्तिकादि सबध होता है वह व्यवहार का ही विषय होता है । यही बात आचार्यदेव ने ऊपर बताई है सो यह निश्चयनय का और व्यवहारनय का अपना अपना विषय है सो अपने अपने स्थान ठीक है । इसे भले प्रकार समझकर यथार्थ श्रद्धान करना यही पाठको का कर्तव्य है ।

अब इसके आगे निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय प्रालोचना के रूप में परिणत हुए प्रासंग्य तपोधन ही अभेदनय में निश्चय चारित्र्य होता है ऐसा व्याख्यान आगे की गाथा में करने हैं —

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३९५॥
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावेण बज्झदि भविस्सं ।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवे चेदा ॥३९६॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेय वित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा ॥३९७॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चपि जो पडिक्कमदि ।
णिच्चं आलोचेयदि सो ह्नु चरित्त ह्वदि चेदा ॥३९८॥ (चतुष्कम्)

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तरविशेषं ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥३९५॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३९६॥
यच्छुभमशुभमुदोषं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं ।
तं दोषं यश्चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥३९७॥

नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यमपि यः प्रतिक्रामति ।

नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥३६८॥

अर्थ—पहले के किये हुए कार्यों से ममत्व रहित होना प्रतिक्रमण है अर्थात् न करने का हृद्द सकल्प करना सो प्रत्याख्यान है किन्तु वर्तमान के कार्यों से भी दूर रहना आलोचना कहलाती है । यही चारित्र का विधान है सो ही बता रहे हैं कि अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत पूर्वकाल में किये हुये जो शुभाशुभ कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आपको छुड़ावेता है वह आत्मा ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है । आगामी काल में शुभ या अशुभ कर्म जिस भावके होने पर बन्धे उस अपने भाव से जो ज्ञानी दूर रहता है वह ज्ञानी ही प्रत्याख्यान होता है । अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तृत शुभ या अशुभ कर्म वर्तमान में उदयमें आ रहा है उसे भी जो ज्ञानी दोष मानता है अर्थात् उससे भी बचना चाहता है, मिटा देने योग्य भावना करता है वह आत्मा निश्चय से आलोचना स्वरूप होता है । एव जो इस प्रकार के प्रतिक्रमण को, प्रत्याख्यान को और आलोचना को निरन्तर करता रहता है वह ज्ञानी जीव निश्चयसे चारित्रवान होता है ॥ ३६४-३६६-३६७-३६८ ॥

तात्पर्यबुद्धि—गियस्तवे अर्थात् तु जो इहलोकपरलोकाकाक्षाख्यातिपूजाभट्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षालक्षणनिदानबबादिसमस्तपदद्रव्यालबनोत्पन्नशुभाशुभसकलविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वाभावतत्त्वसम्बन्ध-श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मकेनिविकल्परमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानन्दस्वाभावसुखरसास्वादसमरसी-भावपरिणामेन सालम्बने भरितावस्थे केवलज्ञानाखनतत्त्वतुल्यव्यक्तिस्वस्थ कार्यसमयसारस्त्योत्पादके कारणसमयमारे स्थित्वा य कर्ता आत्मान कर्मात्पन्न निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कस्मिं पुण्यकथं सुहासुहमणेयवित्थर-विसेस ततो शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृत यत्कर्म तस्मात् सो पडिक्कमण्णं स पुरुष एवा-भेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमण भवतीत्यर्थः । गियस्तवे जो अनतज्ञानादिवस्वरूपात्मद्रव्यसम्बन्धश्रद्धानज्ञानानुभूति स्वरूपाभेद-रत्नत्रयलक्षणे परममायायिके स्थित्वा य कर्ता आत्मान निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कस्मिं पुण्यकथं सुहासुहं-जह्मियभावेहि बज्जहि भविस्स ततो शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्निष्पत्त्याविरागादिपरिणामे सति बध्यते तस्मात् सो पञ्चक्खाराणं हूये चेदा स एवगुणविशिष्टस्तपोबन्ध एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यान भवतीति विज्ञेय जो वेदवि नित्यानदैकस्वभावशुद्धात्मसम्बन्धश्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखसुखीवितमरणादि-विषय सर्वोपेक्षासयमे स्थित्वा य कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । अं यत्कर्म तत् । केन रूपेण ? दोस दोषोय मम स्वरूप न भवति । कथं भूत कर्म ? उद्विण्णं उदयगत । पुनरपि कथंभूत ? सुहमसुहं शुभाशुभ । पुनश्च किस्मं अणेयवित्थरविसेस मूलोत्तरप्रकृतिभेदानेकविस्तरविस्तीर्णं । सपडिय सप्रति काले खलु स्फुट । सो आलोयणं चेदा स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचन भवतीति ज्ञातव्यः । गियत्तं पञ्चक्खाराणं कुब्बदि गियक्खपि जो पडिक्कमवि गियत्तं आलोचेदिय निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा य कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यान-प्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्य सर्वकाल करोति सोदु चरित्तं हवदि चेदा स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्र भवति । कस्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरण चारित्रमिति वचनात् । एव निश्चयप्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानानलोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थने गाथाचतुष्टयं यत् ।

अपेद्वियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीव करोतीत्याख्याति—

टीका—(गियस्तवे अर्थात् तु जो) जो कारण समयसार इस लोक और परलोक की आकाशामय ख्याति पूजा और लाभ तथा दण्ड श्रुत और अनुभूत जो भोग उनकी आकाशा रूप निदान बन्ध इत्यादि

समस्त परद्रव्यो का जो आलम्बन उसमें उत्पन्न जो शुभाशुभ सकल्प विकल्प से रहित तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्मतत्त्व उसके समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभवरूप जो अभेद रत्नत्रय सो ही है आत्मा अर्थात् स्वरूप जिसका ऐसी जो निविकल्प रूप परम समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानन्द स्वभावरूप मुखरस का आस्वाद वही हुआ समरसीभाव परिणाम इसके आलम्बन से भरा पूरा है और जो केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की अभिव्याक्त रूप कार्य समयसार का समुत्पादक है ऐसे उस कारण समयसार में स्थित होकर अपने आपको दूर कर लेता है । किससे दूर करता है ? कि (कम्म ज पुव्वकय सुहामुहमणो वित्थर विसस ततो) अनेक प्रकार के विस्तार से विस्तीर्ण जो पूर्वकाल के किये शुभाशुभ कर्म है उनसे दूर कर लेता है (सो पडिक्कमण) वह पुरुष ही अभेदनय से निश्चय प्रतिक्रमण होता है । तथा (णियसो जो) अनन्त ज्ञानादि स्वरूप जो आत्मद्रव्य, उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुभव स्वरूप जो अभेद रत्नत्रय, वह अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे परम सामायिक में स्थित होकर आत्मा को बचा लेता है । किसमें बचा लेता है ? (कम्म ज सुहमसुह जह्मि य भावहि वज्झदि भविस्स ततो) शुभ और अशुभरूप अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ भविष्यत्कालीन कर्म जिस मिथ्यात्व या रागादिरूप परिणाम के होने पर बन्धना है उस परिणाम से बचा लेता है दूर कर रखता है (सो पच्चक्खाण हवे चेदा) वह इस प्रकार के गुणवाला तपोधन ही अभेद नय में निश्चयरूप प्रत्याख्यान होता है ऐसा जानना चाहिये । तथा (जो वेददि) सदा बना रहने वाला जो आनन्द वही है एक स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रयवाले एव सुख और दुःख तथा जीवन और मरण आदि के विषय में समभाव रखने वाले सब और उपेक्षा रखने वाले समय में स्थित होकर वेदता है, अनुभव करता है जानता है । क्या जानता है ? कि (ज त) जो कोई कर्म है वह (दोम) मेरा किया हुआ दोष है किन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है । वह कोनमा कर्म ? (उद्दीण्ण) जो कि उदय में आ रहा है । फिर वह कैसा है ? कि (सुहमसुह) शुभ और अशुभरूप है । फिर कैसा है कि (अणोयवित्थर विसस) मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के फैलाव में फैला हुआ है (सम्पडि य) जा कि वर्तमान काल में स्पष्ट हो रहा है (सो आलोयण चेदा) सो वह उपर्युक्त प्रकार से जानने वाला आत्मा ही अभेदनय से आलोचना रूप होता है ऐसा जानना चाहिये । (णिच्च पच्चक्खाण कुव्वदि णिच्चपि जो दु पडिक्कमदि णिच्च आलोचेदिय) निश्चय रत्नत्रय है लक्षण जिसका ऐसा जो शुद्धात्मा का स्वरूप है उसमें स्थित होकर जा जीव उपर्युक्त निश्चय प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना रूप अनुष्ठान नित्य ही सदा काल करता रहता है (सो दु चरित्ता हवदि चेदा) वह सचेतन पुरुष ही अभेद नय से निश्चय चारित्र होता है क्योंकि शुद्धात्मा के स्वरूप में चरण करना तत्त्वीन होना सो चारित्र है इस प्रकार का आर्प वचन है ।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना और चारित्र के व्याख्यान रूप से इस आठवे स्थल में चार गाथायें पूर्ण हुई ॥ ३६५-३६६-३६७-३६८ ॥

विशेषार्थ—यह चार गाथाओं में निश्चय चारित्र का कथन किया गया है । चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विवरण आवश्यक है । वहां अपने चारित्रमें लगे हुये दोषों से आत्मा को निर्वर्तन करना तो प्रतिक्रमण है । आगे को दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है । और वर्तमान कालीन दोष से दूर रहना सो आलोचना है । वे तीनों चारित्रवान् आत्मा के गुण हैं जो कि उस आत्मा से अभिन्न हैं, उनको आत्मा से पृथक् रूप में वर्णन करना सो व्यवहार होता है । किन्तु

निश्चय से विचारा जावे तब तो इन्हीं कालों सबही बोधो से सदा बचते रहने वाला आत्मा तो प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है और वही आलोचनारूप है और तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव करना ही जारित्र है जैसा कि यहाँ बताया गया है इस । निश्चय चारित्र्य अर्थात् स्वरूपाचरणमय होने का नाम ही ज्ञान चेतना है जिससे कि आत्मा शुद्ध हो जाती है किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञान चेतना अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफल चेतना है वह बन्धकारक होती है जैसा कि श्री अमृचन्द्राचार्य ने निम्न वृत्ता में स्पष्ट कर बताया है —

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्ध ।

अज्ञान सचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बधः ॥२२४॥

अर्थात्—ज्ञान में रागद्वेष भावकी अर्थात् आतंरीय भावकी पुट न होना, ज्ञान का ज्ञान मात्र होना सो ज्ञानकी सचेतना कहलाती है इसी का दूसरा नाम निर्विकल्प समाधि दशा है । इसके द्वारा नित्य शाश्वत बना रहने वाला शुद्ध ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्रगट होता है । यदि वह अविच्छिन्न ज्ञान धारा प्रवाह रूप से एक सम्पन्न मुहूर्त्त मात्र काल तक बनी रह जाय तो केवलज्ञान हुए बिना न रहे । किन्तु छद्मस्थ का उपयोग तो मुहूर्त्त के भीतर ही या तो छद्मपने को दूरकर बताता है और नहीं तो फिर निर्विकल्प दशा से हटकर सविकल्पदशा पर आना ही पड़ता है जिसका नाम अज्ञान चेतना है जिससे ज्ञान अशुद्ध बनकर बन्ध होने लगता है ।

आये कहते हैं कि मिथ्याज्ञान में परिणमन करता हुआ यह जीव पाच-इन्द्रिय और मनके विषयोपे राग और द्वेष करता है —

णिंदिदं संशुदवयणाणि पोग्गला परिणमन्ति बहुगाणि ।

ताणि सुणिद्रूण रूसदि तूसदिय अहं पुणो भणिदो ॥३८६॥

पोग्गलदब्बं सदुत्तह परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।

तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससे अवुहो ॥४००॥

असुहो सुहोव सद्दो ण तं भणदि सुणसु मति सो चैव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदु विसयमागदं सद्दं ॥४०१॥

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणदि पेच्छ मन्ति सो चेव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥४०२॥

असुहो सुहो य गंधो ण तं भणदि जिग्घ मन्ति सो चेव ।

ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं ॥४०३॥

असुहो सुहो य रसो ण तं भणदि रसय मन्ति सो चेव ।

ण यदि ए विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं ॥४०४॥

असुहो सुहो य फासो ण तं भणदि फासमंति सो चेव ।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥४०५॥
 असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि वुज्झ मंति सो चेव ।
 ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ॥४०६॥
 असुहं सुहं च दव्वं ण तं भणदि वुज्झमंति सो चेव ।
 ण य यदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं ॥४०७॥
 एवं तु जणि दव्वस्स उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
 णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥४०८॥

निदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
 तानि श्रुत्वा रूष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥३६६॥
 पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
 तस्मान्न त्वां भणितः किञ्चिदपि किं रूष्यस्यबुद्धः ॥४००॥
 अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥४०१॥
 अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥४०२॥
 अशुभः शुभो वा गन्धो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं घ्राणविषयमागतं गन्धं ॥४०३॥
 अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥४०४॥
 अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥४०५॥
 अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥४०६॥
 अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
 नचेति विनिर्गृहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥४०७॥

एवं तु ज्ञातद्रव्यस्य उपशमं नैव गच्छति भूढः ।

विनिर्ग्रहमताः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवात्मप्राप्तः ॥४०८॥

अर्थ—बहुत प्रकार के निन्दा और स्तुति के बचन रूप में पुद्गल बर्णनाएँ परिणामती हैं उसको सुनकर भ्रजानी जीव ऐसा मानता है कि मुझे भला बुरा कहा गया है ऐसा जानकर या तो क्रोध करता है अथवा सतुष्ट होता है । इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि शब्द रूप में परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य है उसका गुण तो पुद्गलमय है तेरे से भ्रम्य है इसलिये हे भोले ! तुझे तो उसने कुछ भी नहीं कहा है तू भ्रजानी हुआ क्यों रोष करता है भादि । देख-अशुभ या शुभ शब्द है वह तुझे ऐसा कहता है क्या ? कि तू मुझे सुन अपितु नहीं कहता और ओंम इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता । इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ रूप भी तुझे ऐसा नहीं कहता है कि मुझे देख और चक्षु के विषय में आये हुये रूप को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता इसी प्रकार अशुभ या शुभ गंध भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि मुझे सूँघ और घ्राण इन्द्रिय के विषय में आये हुये गंध को ग्रहण करने के लिये आत्मा भी नहीं दौड़ता । इसी प्रकार अशुभ या शुभ रस भी तुझे नहीं कहता कि तू मुझे चक्षु और रसना के विषय में आए हुए रस के ग्रहण करने के लिए आत्मा वहाँ नहीं जाता । वैसे ही अशुभ तथा शुभ स्पर्श भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे छूने और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आए हुए स्पर्श के ग्रहण करने को आत्मा भी नहीं जाता । इसी प्रकार किसी भी बाह्य द्रव्य का गुण जो अशुभ तथा शुभ है वह तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान, बुद्धि के विषय में आये हुए गुण को ग्रहण करने के लिए आत्मा भी नहीं दौड़ता । इसी प्रकार अशुभ तथा शुभ द्रव्य है वह भी तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मुझे जान और बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य के ग्रहण करने को आत्मा दौड़ नहीं लगाता । ऐसा जानकर भी यह भूढ जीव उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता प्रत्युत पर के ग्रहण करने का ही मन करता है क्योंकि कल्याणकारी बुद्धि अर्थात् समुचित समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है ॥३६६ से ४०८ तक॥

तात्पर्यवृत्ति—**रूसवि त्सदिय** एकेंद्रियविबलेन्द्रियादिदुर्लभपरपरारक्रमेणातीतानतकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिध्या-
त्वविषयकयादाविस्मावपरिणामाधानतया अत्यतदुर्लभेन कथित्कालादिलम्बिबशेन मिध्यात्वादिसप्तप्रकृतीना तथैव
चारित्र्यमोहीन्यस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपचास्तिकायसप्ततत्त्वबन्धपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण
भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयमात्रेण साध्येन विशुद्धानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्-
श्रद्धानज्ञानानुबरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानतकालज्ञानादिचतुष्टयाभिन्नव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यो-
त्पादकेन निश्चयकारणसमयमात्रेण विना सत्त्वज्ञानिजीवो कथ्यति तुष्यति च । किं कृत्वा ? **मुनिऊन** श्रुत्वा । पुनः
पश्चात् केन रूपेण ? **अह भणितो** धनेनाह मणित इति । कानि श्रुत्वा ? **रिगिदिसयुवयराणि** निदितसस्तुतवच-
नानि ताणि तानि । किं विणिष्टानि ? **योगसापरिणमति बहुग्राणि** मापावर्गणायोग्यपुद्गला कर्तारो यानि कर्म-
तापनानि बहुविधानि परिणमति । ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गंभूत पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसार
ज्ञात्वा बहिर्योष्टानिष्टविषये रागद्वेषो न करोतीति भावार्थः । **पुगलदव्य सदुत्तहपरिणव** मापावर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य
कर्तृ त्रियस्वेति जीवत्वमिति रूपेण निदितसस्तुतवचरूपत्वपरिणत तस्य जदि गुणो अयणो तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धा-
त्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽप्यो भिन्नो जडरूपः, तर्हि जीवस्य किमायात ? न किमपि । तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहार-
कारणसमयसारनिश्चयसमयमात्रकारणरहितस्य संबोधन क्रियते । कथं ? इति चेत् यस्मान्निदितसस्तुतवचनेन पुद्गलाः
परिणमन्ति तस्मा एव तुम भणितो किंचिद्वि तस्मात्कारणात्स्व न मणित किंचिदपि किं रूससे अयुहो किं कथ्यते
अनुध ! बहिरात्मानिति । न चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसारमात्रा रहित पुनरपि संबोध्यते । हे भ्रज-
निम् ! शब्दरूपवगैरशस्पर्शरूपा मनोज्ञमनोज्ञपंचेन्द्रियविषया, कर्तार, त्वा कर्मतापन्न किमपि न मणति । किं न

भणति ? हे देवदत्त । मा कर्मतापम्न शृणु, मा पथ्य, मा जिघ्र, मा स्वादय, मा स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी भूते एते शब्दादय कर्तारो मा किमपि न भणति, पर किंतु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छति ? आचार्या उत्तरमाहु — हे मूढ ! नचायाति विनिर्गृहीतु — एते शब्दादिवचेन्द्रियविषया । कथभूता सत ? श्रोत्रेन्द्रियादिस्वकीयस्वकीयविषय-भावमागच्छत । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतस्त्वज्ञानी जीव स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारण-समयसाराभ्या बाह्याभ्यतररत्नत्रयलक्षणाभ्या सहित सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषो न करोति, किंतु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थ । यथा पचेन्द्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञे त्रियसकल्पवशेन रागद्वेषो करोत्यज्ञानी जीव । तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेदरूपे मनोविषयेऽपि रागद्वेषो करोति तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि सबाधन क्रियते तथा—परकीयगुण शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा । इवमपि परकीय कर्तृत्व कर्मतापम्न न भणति हे मनोबुद्धे ! हे भ्रष्टानिजचिन्त । मा कर्मतापम्न बुध्यस्व जानीहि । भ्रष्टानी वदति—एव न ह्येते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्य वा परिच्छित्सकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति । तत्रोत्तर दीयते—स चैव परकीयगुण परकीयद्रव्य धामनोबुद्धिविषयमागत विविर्गृहीतु नायाति । कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबन्धस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतो — यद्वाग-द्वेषकरा तदज्ञान । यस्तु ज्ञानी स पुन पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारण समयसार जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थ । एव तु एव पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिवचेन्द्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा । कथभूतस्य ? आशिद्धव्यस्त ज्ञातद्रव्यस्य पचेन्द्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थ । तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूप ज्ञात्वापि उच्यते—एव गच्छदे मूढो उपशमेनैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वय । कथभूत ? शिग्माहमस्या निग्रहमना, निवारणबुद्धि । कस्य संबन्धेन ? परस्सय परस्य पचेन्द्रियमनोविषयस्य । कथभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य । पुनरपि कथभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य । पुनरपि कि रूपज्ञानी जीव । सय च बुद्धि सिवमपत्तो स्वय च शुद्धात्मसवित्-रूपा बुद्धिमप्राप्त । वीतरागमहजपरमानन्दरूप शिवशब्दवाच्य मुख चाप्राप्त इति । किञ्च यथायस्कातोपलङ्घ्यता सूची स्वयदानाश्रयव्यायस्कातोपलपाषाणसमीप गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तकोषरूपविकृतिकरणार्थ जीवसमीप न गच्छति । जीवोऽपि तत्समीप न गच्छति निश्चयत किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति । एव वस्तुस्वभावे मत्पयि यदज्ञानी जीव उदामीनभाव मुक्त्वा रागद्वेषो करोति तदज्ञानमिति ।

हे भगवन् पूर्व बधाधिकारे भगिन—

एव नागो मुढो ए सय परिगममदि रायमादीहि ।

राडजदि भ्रणोहि हु मो रत्तादिर्ह मावेहि ॥ १ ॥

इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादय इत्युक्त । अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादय परेषा शब्दादिवचेन्द्रियविषयाणा दूषण नास्तीति पूर्वपरिवरोध ? अत्रोत्तर—माहृतत्र बधाधिकाराख्यास्थाने ज्ञानि-जीवस्य मुख्यत्वात् ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमिति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिता । अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता न चाज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभि परिणमिति, तेन कारणेन परेषा शब्दादिवचेन्द्रियविषयाणा दूषण नास्तीति भणित । तत कारणात् पूर्वपरिवरोधो नास्ति इति । एव निश्चयव्यवहार-माश्रयमागभूत निश्चयकारणमयसाध्यव्यवहारकारणसमयसाध्यमजानन् सन्नज्ञानी जीव स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभि परिणमिति । परेषा शब्दादीना दूषण नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादक्षक गत ।

अय मिथ्यास्वरगादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादक कर्मबन्ध जनयतीति प्रतिपादयति—

टोका — 'रूसादि तूसादि य' इत्यादि- एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदि की उत्तरोत्तर दुर्लभ परस्परा उसके क्रम से भूतकालीन अर्थात् वीते हुए अनन्त काल मे देखे, सुने और अनुभव किये मिथ्यास्व और

कषायादि रूप विभाव परिणाम उनके वशवर्तीपने से जो अत्यन्त दुर्लभ है, और जो कथञ्चित् कालादि लब्धि के वश से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से होने वाला षट्द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ आदि के श्रद्धान और ज्ञान के साथ साथ रागद्वेष के त्याग रूप ऐसा भेद रत्नत्रय तदात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग ही है नाम जिसका ऐसे व्यवहार कारण समयसार के द्वारा जो साध्य है और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्धात्म तत्त्व उसका समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप ऐसा जो अभेद रत्नत्रय तदात्मक जो निर्विकल्प समाधि स्वरूप है तथा जो अनन्त केवल ज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार का उत्पादक है ऐसे निश्चय कारण समयसार के हुए बिना यह अज्ञानी जीव रोष करता है और सतुष्ट होता है । क्या करके ? सुनकर, किनको सुनकर ? (ग्रह भणियो) इसने मुझे कहा इस प्रकार सुनकर (एण्डिय सथुय वयणाणि) निन्दा और स्तुति के वचनों को सुनकर । कैसे है वचन । (पोगसा परिणमति बहुयाणि) नाना प्रकार भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य से बने हुये नाना प्रकार के निन्दा और स्तुति के वचन रूप परिणमन करते हैं । परन्तु ज्ञानी तो व्यवहार मोक्ष मार्ग और निश्चय मोक्ष मार्ग जो पहले कह आये हैं उन दोनों स्वरूप जो दो प्रकार का कारण समयसार है उसको जानकर इन बहिरंग इष्ट अनिष्ट विषयो मे राग द्वेष नहीं करता है यह यहा पर इस कथन का भावार्थ है । (पुगल दव्व सद्धत्तपरिणद) मर जावो या जीते रहो इत्यादि रूप निन्दा और स्तुति को लिए हुए जो भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य हैं, (तत्स जदि गुणो अण्णो) उस पुद्गल द्रव्य का गुण धर्म यदि शुद्धात्मा के स्वरूप से पृथक रूप है जड़ता लिये हुए है तो फिर उससे जीव को क्या हानि लाभ है ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार कहकर फिर भी पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से रहित जो जीव है उसे सम्बोधन कर कहते हैं कि हे भाई ! जो निन्दा और स्तुति रूप मे परिणत हुए शब्द वर्गणा रूप पुद्गल स्वन्ध है (तद्वा तुम भणियो किञ्चि) उन्होंने तुमसे कुछ भी नहीं कहा है कि (कि रूससे अणुहो) हे अणु, बहिरात्मन् । तू क्यों रोष करता है इत्यादि । तथा फिर भी व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से रहित जो अज्ञानी जीव है उसी को सम्बोधन कर कहते हैं कि हे अज्ञानिन् ! शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शात्मक मनोज्ञ या अमनोज्ञ ऐसे जो पाचो इन्द्रियो के विषय हैं वे सब तो तुम्हे कुछ भी नहीं कहते हैं कि हे देवदत्त ! तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूँघ, तू मुझे चूँ, तू मुझे छूने । इस पर अज्ञानी जीव बोलता है कि यद्यपि ये शब्दादि तो मुझे कुछ नहीं कहते हैं किन्तु ये शब्दादि मेरे श्रोत्रादि इन्द्रियो के विषय बनने को आया करते हैं तो आचार्य इस पर उत्तर देते हैं कि हे मूढ़ ! ये पाचो इन्द्रियो के विषय भोग शब्दादि है सो तेरे पास चलाकर आते भी नहीं है किन्तु इनका तो ऐसा स्वभाव ही है कि अपनी २ श्रोत्रादि इन्द्रियो के विषय हुआ करते हैं (फिर भी तू इनको अच्छा बुरा मानकर इनमे राग द्वेष करता है यह अज्ञान है) बाह्य रत्नत्रय और अभ्यन्तर रत्नत्रय है क्रम से लक्षण जिसका ऐसे पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार इन दोनों से युक्त होता हुआ जो परम तत्त्वज्ञानी जीव है, वह तो आप्राप्त (आये) हुये इन अच्छे या बुरे शब्दादि रूप पाचो इन्द्रियो के विषयो मे रागद्वेष नहीं करता है अपितु वह तो स्वस्थ भाव के द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप का ही अनुभव करता रहता है ऐसा भावार्थ है । जैसे अज्ञानी जीव पचेन्द्रियो के विषय मे भले और बुरे का सकल्प करके रागद्वेष करता है वैसे ही अज्ञानी जीव दूसरे के गुण के बारे मे विचार करने रूप और दूसरे द्रव्य का विचार करने रूप मन के चिन्मय मे भी रागद्वेष करता रहता है । उस अज्ञानी जीवको यहा संबोधन किया जा रहा है कि हे भाई ! देख, दूसरे का शुभ या अशुभ तथा चेतन और अचेतन रूप गुण

है वह तथा पर का जो द्रव्य है वह तेरे मनको कभी ऐसा नहीं कहता है कि हे मनोबुद्ध ! हे अज्ञानिजन चित्त ! तू मुझे जानले, मानले । इस पर अज्ञानी प्राणी बोलता है कि ऐसा तो वह नहीं कहता है किन्तु मेरे मन में पर का गुण या द्रव्य जानकारी के रूप में प्रस्फुरित होता है प्रतिभासता है । तो इसका उत्तर यह है कि पर का गुण या द्रव्य जो तेरे मन के विचार का विषय हुआ है वह तुझे ग्रहण करने के लिये तो कुछ कहता ही नहीं है, हा, उसके साथ में तेरे मन का जो श्रेय ज्ञायक संबंध है वह तो दूर किया नहीं जा सकता है सो उसके जानलेने में तो कोई हानि नहीं है, किन्तु तू या तेरा मन वहां पर रागद्वेष क्यों कर लेता है ? यह रागद्वेष करना या उसे अच्छा बुरा मान लेना ही तेरा अज्ञान भाव है । हा, पूर्वोक्त व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार को जानने वाला ज्ञानी होता है, वह वहां हर्ष विषाद नहीं करता है यही तात्पर्य है । (एवतु) इस प्रकार जानने योग्य पचेन्द्रियों के विषय भले और बुरे शब्दादि तथा मन के विषय जो पर के गुण और द्रव्य उन (जाणिदवस्स) मन और इन्द्रियों के विषय को जानकर भी मूढ़ अज्ञानी जीव (डवसमणव गच्छदे) उपशम भाव को प्राप्त नहीं होता है, शान्त नहीं रहता है किन्तु (गिरगहमणा) वह तो अपने जानने में ध्राये हुए (परससय) दूसरे के शब्दादि गुण या द्रव्य रूप उन पचेन्द्रिय और मन के विषय भूत वस्तु का निग्रह करना चाहता है क्योंकि (सय च बुद्धि सिवमपत्तो) स्वयं शुद्धात्मा के सवदेन स्वरूप निर्दोष बुद्धि को प्राप्त नहीं हो रहा है अर्थात् शिव शब्द के द्वारा कहे जाने योग्य वीतराग और सहज परमानन्द स्वरूप सुख को नहीं पा रहा है ।

सारांश यह है कि चुम्बक पाषाण से खेची हुई लोह शलाका अपने स्थान से च्युत होकर चुम्बक पाषाण के पास पहुँच जाती है वैसे ही शब्दादिक इस जीव के चित्त को विकृत बनाने के लिए जीव के पास नहीं जाया करते हैं तथा जीव भी उनके पास नहीं जाता है अपितु अपने स्थानमें अपने ही रूप रहता है ऐसा वस्तुका का स्वभाव है । फिर भी यह अज्ञानी जीव अपने उदासीन भाव को छोड़ कर रागद्वेष करने लगता है यह इसका अज्ञान भाव है । इस पर कोई शका करता है कि हे भगवन् ! आपने बधाधिकार में तो यह बनाया था कि “एव ग्राणी मुद्रो ग सय परिणमदि रायमादीहि । राइज्जदि अण्णेहि दु सो रत्तादि एहि भावेहि ॥” अर्थात् ज्ञानी जीव रागादिको का करने वाला नहीं किन्तु रागादि भाव तो पर द्रव्य जनित होते हैं किन्तु आप ही यहाँ कह रहे हैं कि रागादि भाव इस आत्मा की अपनी ही बुद्धि के दोष से पैदा हुए हैं, इसमें दूसरो का किन्हीं का भी कोई दोष नहीं है, सो यह बात तो पूर्वपर विरुद्ध है । आचार्य देव इसका उत्तर देते हैं कि हे भाई ! वहां बन्धाधिकार के व्याख्यान में ज्ञानी जीव की मुख्यता है सो ज्ञानी जीव तो रागादिरूप में परिणमन करता नहीं है, इसलिये वहां पर उनको परद्रव्य जनित बना आये हैं । किन्तु यहाँ पर तो अज्ञानी की मुख्यता है जो कि अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि के दोष से परद्रव्य का निमित्तमात्र लेकर रागादि के रूप में परिणमन करता है इसलिये पर वस्तु जो शब्दादिरूप पचेन्द्रियों के विषय हैं उनका कोई दोष नहीं है ऐसा कहा है, इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है ।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग स्वरूप जो निश्चय कारण समयसार और व्यवहार कारण समयसार है उन दोनों को नहीं जानता हुआ अज्ञानी जीव अपनी ही बुद्धि के दोषसे रागादिके रूप में परिणमन करता है । पर पदार्थरूप जो शब्दादि है उनका इसमें कोई दोष नहीं है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यतासे नवमे स्थलमें दश गाथाएँ पूर्ण हुई ॥ ३६६ से ४०८ तक ॥

विशेषार्थ —यहाँ कार्य समयसार और कारण समयसार तथा व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग के विषय में कहा गया है । समयसार नाम ता परमात्मा का है, जिसके विषय में यह ससार का अज्ञानी

प्राणी भूला हुआ विषय कषायों में उलझा रहता है। वह किसी भी प्रकार से इन विषय कषायों को भुलाकर तथा परमात्मा को जान पहचानकर आप आत्मा से परमात्मा बन जाय यहा यह कर्त्तव्य है। परमात्मा बन जाने का नाम तो कार्य समयसार है, और परमात्मा से पूर्व की सन्निकट सबधित अवस्था का नाम कारण समयसार है, जिसको स्पष्ट अन्तरात्मा कहा जाता है। यह कारण समयसार ही मोक्षमार्ग है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रत्नत्रय स्वरूप है। यह व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। जब अनादिकाल का भूला भटका शरीर और आत्मा को एक समझने वाला अज्ञानी जीव भाग्योदय वश सद्गुरुओं के निकट पहुँचता है और सुनता है कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है क्योंकि शरीर तो जड़ और नाशवान है और आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। ऐसी दशामे शरीर को पुष्ट बनाये रखने के लिए पाप पाखण्ड करने की क्या आवश्यकता है? तब इस गुरु की वाणी पर विश्वास लाते हुए वह शरीर और आत्मा को भिन्न भिन्न सोच समझकर पापों से दूर हो जाता है। यह भिन्न रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग हुआ। इसके अनन्तर-फिर इस आत्मा का ससार की इन बाह्य बातों से वास्तविक सबध न होने के कारण आत्मा आत्मतल्लीन हो जाता है आत्मा को जानने, मानने और पहचानने में लग रहता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में तल्लीन हो जाता है यह अभिन्न रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग में पूर्वोक्त काल का भेद होकर परस्पर में साधन और साध्यपना पाया जाता है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है जो पूर्व में होता है किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग उस व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा साध्य होता है प्राप्त करने योग्य होता है। एव दोनों ही मोक्षमार्ग मुमुक्षु के लिए उपयोगी होते हैं किन्तु जो इन दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्गों से रहित होता है वह मोही जीव तो इन बाह्य के विषय कषायों में उलझा हुआ रहकर निरन्तर कर्मबन्ध करता रहता है।

प्राये कहते हैं कि मिथ्यात्व व रागादि परिणत जीव के अज्ञान चेतना होती है वह केवल ज्ञानादि गुणों को प्रच्छादन करने वाली कर्म बध को पैदा करती है —

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणवि कम्मफलं ।

सो तं पुणोवि बंधवि वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥४०६॥

वेदंतो कम्मफलं मयेकदं जो दु मुणदि कम्मफलं ।

सो तं पुणोवि बंधवि वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥४१०॥

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो दु ह्वदि जो चेदा ।

सो तं पुणोवि बंधवि वीयं दुक्खस्स अट्टविहं ॥४११॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं यस्तु करोति कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४०६॥

वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं यस्तु जानाति कर्मफलं ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥४१०॥

वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति चेतयिता ।

स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्यादृविषं ॥४११॥

अर्थ—उदय मे घाये हुए कर्म को भोगता हुआ जो जीव उस कर्म को या कर्म के उदय को भ्रपना लेता है वह दुःख के बीज रूप घाट प्रकार के कर्म बन्ध को फिर से करने लगता है । वह भ्रपनाना दो प्रकार से है एक तो यह है कि कर्म मेरा है मैंने किया है इत्यादि यह तो कर्म चेतना है, और दूसरा यह—कि मैं इस कर्म के उदय से सुखी हो रहा हूँ या दुःखी हो रहा हूँ ऐसा संवेदन करना सो कर्म फल चेतना है । यह दोनों प्रकार की चेतना भ्रजान चेतनामे गमित होती है जिसके होने से यह जीव ससार के बीज रूप घाट प्रकार के कर्म को फिर से बाधने लगता है ॥४०६-४१०-४११॥

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानज्ञानभेदेन चेतना तावद्विषया भवति । इय तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागत शुभाशुभ कर्म वेदयन्नुभवत् सन्नज्ञानिजीव स्वस्वभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीय कर्मेति भणति । मया कृत कर्मेति च ये भणति । स जीव पुनरपि तददृष्टविषय कर्म बध्नाति । कथंभूत ? बीज कारण । कस्य ? दुःखस्य । इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्म चेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थ ? इति चेत् मदीय कर्म मया कृत कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टकल्पेण निरुपरायशुद्धास्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरण यत्, साबधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते । उदयागत कर्मफल वेदयत् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञानमोक्षेद्विषयनिमित्तेन य सुखितो दुःखितो वा भवति स जीव पुनरपि तददृष्टविषय कर्म बध्नाति । कथंभूत ? बीज कारण । कस्य ? दुःखस्य । इत्येकगाथया कर्म-फलचेतना व्याख्याता । कर्मफलचेतना कोऽर्थ ? इति चेत् स्वस्वभावावरहितज्ञानभावेन यथासमय व्यक्ताव्यक्तस्वभावे-नेहापूर्वकमिष्टानिष्टकल्पेण हर्षविषादमय सुखदुःखानुभवन यत्, सा बधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इय कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बधकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयो कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूप यत्पूर्वं व्याख्यात तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनात्वेन कर्मचेतनास्यासमावना नाटयति । कर्मचेतनात्यागमावना कर्मबधविनाशार्थं करोतीत्यर्थः । तद्यथा—

यदहमकार्षं यदहमचीकर यदह कुर्वन्मप्यस्य प्राणिन समन्वज्ञासिष । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पट्टमयोगेनैकमग । यदहमकार्षं यदहमचीकर यदह कुर्वन्मप्यस्य प्राणिन समन्वज्ञासिष । केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पञ्चमयोगेन, एकैकापनयनेन भगवन् भवति । सयोगेनेत्याद्यक्षमचारेणैवोपपञ्चाशद्भूया भवतीति टीकाभिप्राय । अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यते । कथं ? इति चेत् कृत कारितमनुमनमिति प्रत्येक भगवन् भवति । कृतकारितद्वय कृतानुमनद्वय कारितानुमनद्वयमिति द्विसयोगेन च भगवन् जात । कृतकारितानुमनत्रयमिति त्रिसयोगेनैको भग इति सप्तमगी । तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकभगवन् भवति । मनोवचनद्वय मन कायद्वय वचनकायद्वयमिति द्विसयोगेन भगवन् जात । मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसयोगेनैको भग इयमपि सप्तमगी । कृत मनसा सह, कृत वाचा सह, कृत कायेन सह, कृत मनोवचनद्वयेन सह, कृत मन कायद्वयेन सह, कृत वचनकायद्वयेन सह, कृत मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तमगी जाता यथा । तथा कारितेऽपि तथाश्रानुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमनद्वयेऽपि, तथा कारितानुमनद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमनत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तमगी योजनीया । एव-एकोनपञ्चाशद्भूया भवतीति प्रतिक्रमणकल्प ममास ।

इदानीं प्रत्याख्यानकल्प कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कुर्वन्मप्यस्य प्राणिन समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् पट्टमयोगेनैको भग । यथा यदहं करिष्यामि

यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनः समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पचसयोगेन भगवयः भवति । एव पूर्वोक्तक्रमेण एकोनपञ्चाशद्गुणा ज्ञातव्याः । इति प्रत्याख्यानकल्प समाप्तः ।

इदानीमालोचनाकल्पः कथ्यते तद्यथा—यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनः समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्सयोगेनैकमगः । तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनः समनुजानामि केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति—एकैकापनयनेन पचसयोगेन भगवयः भवति । एव पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपञ्चाशद्गुणा ज्ञातव्याः । इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः । कल्पः पूर्वं परिच्छेदोऽधिकारोऽध्यायः प्रकरणादित्याद्येकार्था ज्ञातव्याः । एव निश्चयनिक्रमण-निश्चयप्रत्याख्यान-निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता । इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनावलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावना नाटयति करोतीत्यर्थः ।

तद्यथा—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थः । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । नाहं मनःपर्यङ्गज्ञानावरणीयफलं भुजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुजे । किं तर्हि करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये इति पञ्चप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दृशनावरणीयफलं भुजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । एव टीकाकथितक्रमेण—

पण णव दु षट्ठवीसा चउ तिय णउ दीय दुण्णि पचेव ।

आवण्णीरीए वियसय पदडिखिसासेए होति ते सिद्धा ॥१॥

इमा गाथाभाषित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्ये-त्यर्थः । किं जगत्त्रयकालत्रयसबधिमनोबचनकायकृतकारितानुमतव्यातिपूजानामहृष्टश्रुतानुभूतभोगाक्षाक्षरूपनिदान-वधादिमस्तत्परद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्प्रधानज्ञानानुचरणाक्षरभिदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंज्ञातवीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीमाशुभसलंबने भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्थोत्पादकेन निश्चयकारणसमय-साररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः । एव गाथाद्वय कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गार्थका कर्मफलचेतनासंन्यासभावना-मुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतः ।

प्रयेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टिकोत्कीर्णजायकैकपारमाधिकपदार्थसंज्ञं गच्छपद्यादिविचित्र-रचनारचितशास्त्रं शब्दादिपक्षेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरेहितं सदानंदैकक्षणसुखाप्त-रसास्वादेन भरितावस्थपरमात्मतत्त्व प्रकाशयति ।

टीका—ज्ञान और अज्ञानके भेद से चेतना दो प्रकार की होती है एक ज्ञान चेतना और दूसरी अज्ञान चेतना । अब यहाँ पर तीन गाथाओं से अज्ञान चेतना का वर्णन किया जाता है—उदय मे आये हुए शुभ या अशुभ कर्म को भोगता हुआ यह अज्ञानी जीव अपने स्वस्थ भावसे अष्ट होकर इस प्रकार कहता जानता है कि यह मेरा कर्म है तथा इसको मैंने ही किया है ऐसा सोचने वाला जीव फिर से आठ प्रकार

के ज्ञानावरणादि कर्म को बाधता है। कैसा है वह कर्म ? बीज है, कारण है, किसका ? कि दुख का। इस प्रकार दो गाथाओं में कर्म चेतना का व्याख्यान हुआ। कर्म चेतना का क्या अर्थ है ? कि यह मेरा है, मैंने ही इसे किया है इस प्रकार अज्ञान भाव के द्वारा बीतरागमय जो शुद्धात्मानुभूति है उससे च्युत हुए जीव का जो इष्ट अनिष्ट रूप से इच्छापूर्वक मन, वचन और काय की चेष्टा करना है वह कर्म चेतना कहलाती है जो नवीन बंध का कारण होती है। इसी प्रकार उदय में आये हुए कर्म के फल को भोगता हुआ अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं अनुभव करता हुआ जो जीव मनोहर अथवा अमनोहर रूप इन्द्रियों के विषयों के निमित्त से सुखी अथवा दुखी होता है वह जीव दुख के बीज या कारण भूत ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को फिर से बाधने लग जाता है। इस प्रकार एक गाथा से कर्म फल चेतना का व्याख्यान हुआ। कर्मफल चेतना का यह अर्थ है कि स्वस्थ भाव से रहित अज्ञान भाव के द्वारा यथा संभव व्यक्त अथवा अव्यक्त (अप्रकट) रूप से इच्छा पूर्वक इष्ट और अनिष्ट विकल्प के रूप में हर्ष विषादमय सुख या दुख का अनुभव होना सो कर्म फल चेतना कहलाती है जो बंध का कारण है। इस प्रकार कर्म चेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों प्रकार की चेतना बंध का कारण होने से त्यागने योग्य है वही कर्म चेतना और कर्मफल चेतना इन दोनों में पहले कर्म चेतना के सत्यास की भावना को नचाते हैं अर्थात् कर्मबंध का निवारण करने के लिये कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं सो निश्चय प्रतिश्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान और निश्चय आलोचना जिनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है उसमें स्थित होकर शुद्ध ज्ञान चेतना के बल के द्वारा उस कर्म चेतना के त्याग की भावना करते हैं (क्योंकि बिना ज्ञान चेतना के बल के कर्म चेतना के त्याग की भावना हाना असंभव है—संभव नहीं है) इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

जो मैंने पहले किया, मैंने पहले किसी से करवाया अथवा करते हुये को भला माना, मन से वचन से अथवा काय से किसी भी प्रकार वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह छोड़ो के सयोगरूप पहला भग हुआ। मैंने किया, अथवा किसी से करवाया और किसी भी करते हुये को भला माना, मन से और वचन से वह सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार यह पांच सयोग का एक भग हुआ। एक एक को हटा देने से तीन भग पांच सयोगी होंगे। इस प्रकार सयोग करने पर अक्ष सचार के द्वारा सारे उनचाम (४९) भग हो जाते हैं यही टीकाकार के कहने का अभिप्राय है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीकामें बताया है। अब यहाँ और भी सगल रूप से बताया जा रहा है। देखो कृत, कारित और अनुमत इस प्रकार प्रत्येक तीन तीन भग हुए, फिर कृत, कारित ये दोनों, कृत अनुमत ये दोनों, कारित अनुमत ये दोनों, इस प्रकार दो दो के सयोग से तीन भग हुए। और कृत कारित और अनुमत इन तीनों के सयोग में एक भग हुआ। इस प्रकार सब मिलकर एक सप्तभगी हुई। उसी प्रकार मन से, वचन में, कायम प्रत्येक को लेकर तीन भग हुए। फिर मन वचन ये दो, मन और काय ये दो, वचन व काय दा, इस प्रकार दो के सयोग से तीन भग हुए। मन वचन और काय इन तीनों के सयोग से एक भग हुआ। इस प्रकार यह दूसरी सप्त भगी हुई। मन के साथ करना, वचन के साथ करना, और काय के साथ करना, मन और वचन दोनों के साथ करना, मन और काय दोनों के साथ करना, वचन और काय दोनों के साथ करना, और मन, वचन, काय इन तीनों के द्वारा करना इस प्रकार कृत का निश्चय अर्थात् निषेध होने पर तीसरी सप्तभगी हुई। जिस प्रकार कृत की सप्त भगी बतलाई उसी प्रकार कारित पर, अनुमत पर, तथा कृत कारित इन दोनों पर, कृत और अनुमत इन दोनों पर, और कारित

अनुमति इन दोनों पर, तथा कृत, कारित और अनुमति इन तीनों पर भी प्रत्येक से इस क्रम से सप्तभगी लगा लेना चाहिए इस प्रकार ये सब मिलकर उनचास (४९) भग होते हैं यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ ।

अब प्रत्याख्यान कल्प का वर्णन करते हैं—जो मैं करूँगा, जो मैं कराऊँगा, करते हुए किसी अन्य को भला मानूँगा, मन से, वचन से, काय से, किसी भी प्रकार से यह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह यह छोड़ो के संयोग रूप पहले के अनुसार एक पहला भग हुआ । इसी प्रकार मैं करूँगा, मैं कराऊँगा और मैं करते हुए किसी अन्य को भला मानूँगा—मन से और वचन से सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होवे यह पंच संयोगी भग भी पूर्व कहे अनुसार एक एक को हटा देने पर तीन प्रकार का होता है । इसी प्रकार पहले कहे अनुसार इसको फला लेने से उनचास (४९) भग हो जाते हैं । यह प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब आलोचन कल्प को कहते हैं वह इस प्रकार है—जैसे कि जो मैं करता हूँ, कराता हूँ अथवा करते हुए, अन्य को अच्छा मानता हूँ मन से वचन से काय ये ये सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय यह पहले के के समान छोड़ो के संयोग रूप पहला भग हुआ । इसी प्रकार जो मैं करता हूँ, कराता हूँ, और करते हुये अन्य प्राणी को भला मानता हूँ मन से वचन से, सो सब मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय इस प्रकार क्रम से एक एक को कम करने पर पंच संयोगात्मक तीन भग होते हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त कहे अनुसार सारे मिलकर उनचास (४९) भग हो जाते हैं यह आलोचना कल्प समाप्त हुआ । कल्प कहो, पूर्व कहो, अधि-कार कहो, अध्याय कहो, परिच्छेद कहो इत्यादि सब एकार्थ नाम है ।

इस प्रकार निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, और निश्चय आलोचना रूप जो शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना उस शुद्ध ज्ञान चेतना भावात्मक इन दो बाधाओं के व्याख्यान से कर्म चेतना के त्याग को भावना समाप्त हुई । अब इसके आगे शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना के बल से ही कर्मफल चेतना के सन्यास अर्थात् त्याग की भावना को करते हैं —

जैसे कि मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ । तब फिर क्या करता हूँ ? कि मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वभावमय आत्मा को ही भले प्रकार अनुभव करता हूँ । मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । मैं अवधिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । मैं मन पर्यय ज्ञानावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार पांच प्रकार के ज्ञानावरणी कर्म के रूप में कर्मफल सज्ञा वाली भावना का वर्णन हुआ । मैं चक्षु दर्शनावरण कर्म के फल को भी नहीं भोगता । तब फिर क्या करता हूँ ? कि शुद्ध चैतन्य स्वभाववाली अपनी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ । इस प्रकार टीका में बताये हुए क्रम के अनुसार—

पराणवदुष्प्रवृत्तीसा चउतिय णउदीय दुण्णि पवेव ।

वाक्खण्होहो वियसय पयडिक्खिणासेण होति ते सिद्धा ॥१॥

पाच ज्ञानावरण कर्म की, नव दर्शनावरण की, दो वेदनीय की, अष्टादस मोहनीय की, चार प्रायु की, तरायाव (६३) नाम की, दो गोत्र की, व पाच अतराय की इस प्रकार सब मिलाकर भावन (५२) कम दोसो (२००) अर्थात् एक सौ अष्टतालीस (१४८) कर्म प्रकृतिये हुई इन सब प्रकृतियों का नाशकर सिद्ध होते हैं । इस गाथा का आशय लेकर १४८ सख्या वाली उत्तर कर्मकी प्रकृतियों के फल के त्याग की भावना करने योग्य है ।

भावार्थ यह है कि तीन लोक और तीनकाल से सबध रखनेवाले ऐसे जो मन, वचन, काय तथा कृत कारित और अनुमत तथा ख्याति, पूजा और लाभ एवं देखे मुने और अनुभव किये हुए भोगो की आकाशरूप निदानबध उसको आदि लेकर जो समस्त परब्रव्य हैं उनके आलम्बन से उत्पन्न जो शुभाशुभ सकल्प विकल्प है उनसे जो रहित हैं और चिदानन्द एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा तत्त्व के समीचीन श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप जो अभेद रत्नत्रय उस अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो वीतराग सहज परमानन्द सुख उसके रसका आस्वाद वही हुआ परम समरसोभाव उसके अनुभव के आलम्बन से जो भरापूरा है और जो केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के अभिव्यक्तिरूप साक्षात् उपादेयभूत कार्य समयसार का उत्पादक है और जिसमे शुद्ध ज्ञानचेतनाकी भावना का बल है ऐसे निश्चय कारण समयसार के द्वारा मोक्षार्थी जीव को कर्मचेतना के त्याग की भावना और कर्मफल चेतना के त्याग की भावना करनी योग्य है ।

इस प्रकार इस दसवे स्थल मे दो गाथाएं कर्म चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर और एक गाथा कर्मफल चेतना के त्याग की भावना को प्रधान लेकर इस प्रकार तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥४०६ ४१० ४११॥

विशेषार्थ—यहां यह है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना पर से जब तक यह आत्मा दूर नहीं होता, तब तक ज्ञान चेतना पर नहीं पहुँच पाता है । क्योंकि कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ये दोनों अज्ञानरूप है, किन्तु ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञानरूप है एवं ज्ञान और अज्ञान के परस्पर मे दिन और रात सरीखा विरोध है । तथा ज्ञान चेतना जब तक तक प्राप्त नहीं हो पाती तब तक नवीन कर्मों का उपाजन होता ही रहता है । अतः सुमुक्षु को नूतन कर्म बध से बचने के लिए कर्म चेतना और कर्मफल चेतना से दूर हटकर ज्ञान चेतना को प्राप्त करने का अर्थात् परम समाधि मे लगे रहने का यत्न करना चाहिये ।

अब यहां आगे उस परमात्म तत्त्व का प्रकाश करते हैं जो व्यवहारमय से कहे हुए जीव आदि नव पदार्थों से पृथक् रहने वाला है तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप जो पारमार्थिक पदार्थ ऐसा नामवाला है । तथा गद्य पद्य आदि विचित्र रचना से रचे हुए शास्त्रों से व शब्द आदि पावो इन्द्रियो के विषय को लेकर जो समस्त परब्रव्य हैं उनमे भी शून्य है तो भी रागद्वेषादि विकल्पो की उपाधि से रहित सदा आनन्दमई एक लक्षण को रखने वाले सुलाम्न रस के आस्वाद से भरा पूरा है ऐसे उम परमात्म तत्त्व का व्याख्यान करते हैं—

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विति ॥४१२॥

सहो णाणं ण हवदि जह्मा सहो ण याणदे किंचि ।

तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सहं जिणा विति ॥४१३॥

रूवं णाणं ण हवदि जह्मा रूवं ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विति ॥४१४॥
 वण्णो णाणं ण हवदि जह्मा वण्णो ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विति ॥४१५॥
 गधो णाणं ण हवदि जह्मा गंधो ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाण अण्णं गंधं जिणा विति ॥४१६॥
 ण रसो दु होदि णाणं जह्मा दु रसो अचेदणो णिच्चं ।
 तह्मा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विति ॥४१७॥
 फासो णाणं ण हवदि जह्मा फासो ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाणं अण्ण फासं जिणा विति ॥४१८॥
 कम्म णाणं ण हवदि जह्मा कम्मं ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाण अण्णं कम्म जिणा विति ॥४१९॥
 धम्मच्छिओ ण णाणं जह्मा धम्मो ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाण अण्णं धम्मं जिणा विति ॥४२०॥
 णहवदि णाणमधम्मच्छिओ जं ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विति ॥४२१॥
 कालोदि णत्थि णाणं जह्मा कालो ण याणदे किंचि ।
 तह्मा ण होदि णाणं जह्मा कालो अचेदणो णिच्चं ॥४२२॥
 आयासं पि य णाणं ण हवदि जह्मा ण याणदे किंचि ।
 तह्मा अण्णायासं अण्णं णाण जिणा विति ॥४२३॥
 अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं ।
 तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्ण ॥४२४॥
 जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी ।
 णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेरव्वं ॥४२५॥
 णाणं सम्मादिट्ठी दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
 धम्माधम्मं च तहा पव्वजं अज्झवन्ति बुहा ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना वदति ॥४१२॥
 शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना वदति ॥४१३॥
 रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना वदति ॥४१४॥
 वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना वदति ॥४१५॥
 गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्माज्ज्ञानमन्यदगंधं जिना वदति ॥४१६॥
 न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो अचेतनो नित्यं ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना वदति ॥४१७॥
 स्पर्शो ज्ञानं न भवति यस्मात्स्पर्शो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना वदति ॥४१८॥
 कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना वदति ॥४१९॥
 धर्मास्तिकायो न ज्ञानं यस्माद्धर्मो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना वदति ॥४२०॥
 न भवति ज्ञानमधर्मास्तिकायो यस्मान्न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना वदति ॥४२१॥
 कालोऽपि नास्ति ज्ञानं यस्मात्कालो न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मान्न भवति ज्ञानं यस्मात्कालोऽचेतनो नित्यं ॥४२२॥
 आकाशमपि ज्ञानं न भवति यस्मान्न जानाति किञ्चित् ।
 तस्मादन्याकाशमन्यज्ज्ञानं जिना वदति ॥४२३॥
 अर्धवसानं ज्ञानं न भवति यस्मादचेतनं नित्यं ।
 तस्मादन्यज्ज्ञानमर्धवसानं तथान्यत् ॥४२४॥
 यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
 ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥४२५॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।

धर्माधर्मं च तथा प्रवक्ष्यामम्युपयांति बुधाः ॥४२६॥ (पंचदशकम्)

धर्म—शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता (वह तो जड़ है) इसलिये ज्ञान धन्य भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते हैं। शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान धन्य है और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवानने कहा है। रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है रूप उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। वर्ण भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है और वर्ण उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। गंध भी ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध भी कुछ नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न वस्तु है गंध उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। रस भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रस तो नित्य अचेतन जड़ है इसलिये ज्ञान उससे धन्य है रस उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है स्पर्श उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। कर्म भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म भी कुछ नहीं जानता इसलिये ज्ञान भिन्न है कर्म उससे भिन्न है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। धर्म द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म द्रव्य कुछ नहीं जानता है, इसलिये ज्ञान धन्य है धर्म द्रव्य उससे धन्य है ऐसा जिन भगवानने कहा है। अधर्म द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म द्रव्य भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान धन्य है अधर्म द्रव्य उससे भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। काल द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल द्रव्य भी कुछ नहीं जानता है, इसलिये काल ज्ञान नहीं होता क्योंकि काल नित्य अचेतन है जड़ है। आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश भी कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान धन्य वस्तु है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। उसी प्रकार अध्यवमान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवमान अचेतन है इसलिए ज्ञान धन्य वस्तु है और अध्यवमान उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जीव जबकि सदा जानता है इसलिये जीव जायक है वह जानी है और ज्ञान उस जायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है और धर्म और अधर्म ज्ञान ही है और बीजा भी ज्ञान ही है ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते हैं ॥४१२ से ४२६ तक ॥

तात्पर्यवृत्ति—न श्रुत ज्ञान—अचेतनत्वात् ततो ज्ञानभूतयोर्भ्यतिरेक । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्भ्यतिरेक । न रूप ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्भ्यतिरेक । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्भ्यतिरेक । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगन्धयोर्भ्यतिरेक । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्भ्यतिरेक । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्भ्यतिरेक । न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मयोर्भ्यतिरेक । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्भ्यतिरेक । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्भ्यतिरेक । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्भ्यतिरेक । नाकाश ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्भ्यतिरेक । नाध्यवसान ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्भ्यतिरेक । इत्येव ज्ञानस्य सर्वत्र परद्रव्यं सह भ्यतिरेकः निश्चयसाधितो द्रष्टव्य । अथ जीव एवैको ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेक । न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेकः कश्चापि शक्नोति । एव सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमेव संयम, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्र, ज्ञानमेव धर्माधर्मो, ज्ञानमेव प्रवक्ष्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेकोनिश्चयसाधितो द्रष्टव्य ।

अथैव सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण व्यातिव्याप्तिमवस्थाति च परिहरमाणमनादि-विभ्रममूल धर्माधर्मरूप परसमयमुद्गम्य स्वयमेव प्रवक्ष्याम्यप्रासाद दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूप स्वसमयमावृत्त मोक्ष-

मार्गमात्मन्येव परिणत कृत्वा समवातसपूर्णविज्ञानबनभाव हानोपादानमून्य साक्षात्समयमारभूत परमार्थरूप शुद्ध-
ज्ञानमेकमेवावस्थित द्रष्टव्य ।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत विभ्रतृष्यवस्तुतामादानोपभनशून्यमेतदमन ज्ञान तथावस्थित ।
मध्याह्नतविज्ञानमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वर, शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥१॥
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् यदात्मन सहृतसर्वशक्ते पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२॥

तपश्चरुण च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञान मन्यते ? इति चेत् मिथ्याहृष्टपादिलीणकायापयतस्वकीयस्वकी-
यगुरुस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपायोगाविनाभूतविवाक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । तत स्थित शुद्धपारि-
णानिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्याधिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिक नवपदार्थेभ्योभिन्नमादिमध्यातमुक्त-
मेकमलङ्घ्रतिमासमय निजनिर्जनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधान सर्वप्रारोपादेयभूत शुद्धज्ञानस्वभाव शुद्धात्मतत्त्वमेव-
श्रद्धेय ज्ञेय ध्यातव्यमिति । एष व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तव स्थित इति
व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशमस्यने पञ्चदश गाथा गता ।

किञ्च—मत्वादिसंज्ञानपक्व पर्यायरूप निष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूप । जीवपदार्थो हि न च केवल
द्रव्य, न च पर्याय, किन्तु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधिमभूतो धर्मी । तत्र दानी केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—
केवलज्ञान तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अबधिमन पर्ययज्ञानद्वयच रूपिषववथे । तदनतभागे मन पयस्य इति
वचनात्-भूतवियमत्वादेव भूत मोक्षकारण न भवति । तत सामर्थ्यादेव बहिर्विषयमतिज्ञानभूतानसञ्चिकत्परहितत्वेन
स्वशुद्धात्मामिमुखपरिच्छिन्नित्तिसत्य निश्चयतिविकल्पमावरूपमानमतिज्ञानभूतज्ञान सत एवेद्विधाविषयत्वेनानीन्द्रिय
शुद्धपारिणामिकमावविषये तु या भावनातत्पुनर्विचारस्वमवेदनशब्दावच्य ससारिणा क्षायिकज्ञानाभावात् ।
क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञान मुक्तिकारण भवति कस्मात् ? इति चेत् समस्तमिथ्यास्वरगादिबिकल्पापाधिर्हिन-
स्वशुद्धात्मभावनोत्पत्परमाह्लादैकलक्षणमुवाभूतरसास्वादकारणपरममरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्यानतज्ञानसुखा-
दिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति । तथा—चोक्त

भेदविज्ञानत मिद्धा सिद्धा ये किं केचन ।

तरयैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किं केचन ॥१॥

अत परमेव मति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारी भविष्यत्युपदिशति—

टीका—शास्त्र भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र तो अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और शास्त्र मे भेद
है भिन्नता है । शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि वह भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और शब्द मे भिन्नता है
पृथक्पना है । रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञान मे और रूपमे परस्पर भेद
है । रूप भी ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे और वर्ण मे परस्पर भेद है । गंध
भी ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और गंध मे परस्पर भेद है रस भी ज्ञान नहीं है
क्योंकि रस भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और गंध मे परस्पर भेद है । स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श
अचेतन है इसलिये ज्ञान मे और स्पर्शमे भेद है । कर्म भी ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म भी अचेतन है इसलिये
ज्ञानमे और कर्म मे पृथक्ता है । धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे
और धर्मद्रव्य मे भिन्नता है अधर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमे

और अधर्मद्रव्य में भिन्नता है। कालद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि काल भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और काल में भिन्नता है आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश भी अचेतन है इसलिये ज्ञानमें और आकाश में पृथक्पना है। अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान भी अचेतन है इसलिये ज्ञान और अध्यवसान में भिन्नता है। इस प्रकार ज्ञान का सब ही द्रव्यों के साथ व्यतिरेक है। यह निश्चय के द्वारा सिद्ध किया हुआ है ऐसा मान लेना चाहिए। अब जो एक जीव है वह ज्ञान है क्योंकि वह चेतना है इसलिये ज्ञानमें और जीव में अभेद है। जीव का स्वभाव ही ज्ञानमय है इससे जीव की और ज्ञान की भिन्नता है ऐसी शका नहीं करनी चाहिये। जब यह बात निश्चित है तब फिर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही समय है, ज्ञान ही अगूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म और अधर्म है, ज्ञान ही दीक्षा है, इस प्रकार ज्ञान का जीव की प्रत्येक पर्याय के साथ अभेद है यह निश्चयसे सिद्ध किया हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

अब इस प्रकार सब परद्रव्यके साथ भेद होने से और जीव के जो दर्शनादि स्वभाव है उनके साथ अभेद होने से अतिव्याप्ति और अभ्याप्ति को दूर करता हुआ जो परसमय है जो कि अनादिसे होनेवाले विभ्रमका मूल कारण है और धर्म अधर्म स्वरूप है उसको दूर हटाकर और अपने आप प्रव्रज्यारूप प्राप्त होकर अपने आत्मा में ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और प्राप्त करली है संपूर्ण विज्ञान की सधनता को जिसने और जो छोड़ने और ग्रहण करनेसे रहित हो चुका है, और जो साक्षात् समयसार भूत है और परमार्थस्वरूप है ऐसा एक शुद्ध ज्ञान अवस्थित हुआ प्राप्त हुआ समझना चाहिये, यही बात दोनों कलशों में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तात्मनियत विभृत्यृष्वस्तुता-

मादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञान तदावस्थित ।

मध्याद्यतविभागमुक्तसहज स्फार प्रभाभास्वर,

शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदित स्तिष्ठति ॥२३५॥

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।

यदात्मन सहृतसर्वशक्ते पूर्णस्य सधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अर्थात्—यह शुद्ध ज्ञान उस तरह अवस्थित हुआ है जैसा कि उसकी महिमा निरन्तर बनी रहे, प्रतिपक्षों जो कर्म हैं वे उसे दबा नहीं सकते। ऐसा वह सदा उदयमान ज्ञान अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न अवस्थित हुआ है जो अपने आपमें ही निश्चित है, ससार की अन्य सभी वस्तुओं से पृथक् रूप है क्योंकि ससार की सब वस्तुएं अचेतन हैं यह चेतन है और जो ग्रहण त्याग से रहित है अर्थात् शुद्ध ज्ञान होने पर उसमें कुछ भी त्याग और ग्रहण नहीं होता है जो रागादि मल से रहित है ऐसे उस शुद्ध ज्ञान की महिमा नित्य उदयरूप है जो महिमा आदि मध्य अन्तर्पनेसे रहित स्वाभाविक विस्ताररूप हुए प्रकाश के द्वारा दैदीप्यमान है ॥२३५॥

जिस ज्ञानने जो कुछ छोड़नाथा वह सब कुछ छोड़ दिया है और जो कुछ लेने योग्य था वह सब कुछ लेलिया है और जिसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति समेटली है ऐसी आत्मा को आत्मा में ही लगा लिया है ऐसा वह शुद्ध ज्ञान अवस्थित हो ॥२३६॥

यहा कोई प्रश्न करता है कि यह सब तो तपश्चरण है सो इसे ज्ञान किस नयके द्वारा कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि को भादि लेकर क्षीण कषाय बारहवें गुणस्थान पर्यंत अपने अपने गुणस्थान के योग्य शुभ, अशुभ अथवा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव रखनेवाला जो विवक्षित अशुद्ध निश्चयनय है जो कि अशुद्ध उपादानरूप है उस अशुद्धनय के द्वारा यह सब ज्ञान माना जाता है । इस सब कथन से यह बात निश्चित हुई कि शुद्ध पारिणामिक रूप जो परमभाव उसका ग्रहण करनेवाला जो शुद्धद्रव्याधिक नय है वह शुद्ध उपादान स्वरूप है । उस शुद्ध द्रव्याधिकनय के द्वारा शुद्ध ज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसा शुद्धात्म तत्त्व ही श्रद्धान करने योग्य, जानने योग्य और ध्यान करने योग्य होता है । यह शुद्धात्मतत्त्व जीवादिक व्यवहारिक नव पदार्थों से भिन्न है और भादि मध्य भूत इन कल्पनाओं से रहित है । एक अखंड प्रतिभास रूप है, अपने निरजन सहज शुद्ध परम समयसार इस प्रकार के नाम वाला है । जो सब प्रकार से उपादेयभूत है उस शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान तथा ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार व्यवहारिक नव पदार्थों से भूतार्थनयसे वास्तवमे एक शुद्ध जीव ही स्थित है इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से इस ग्यारहवें स्थल मे इन पन्द्रह गाथाओं का कथन किया गया ।

प० जयचन्द्रजी का भावार्थ—सब परद्रव्यों से तो जुदा और अपने पर्यायों से अभेदरूप ऐसा ज्ञान एक दिखलाया । इसलिये अति व्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर होगये । क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग मे ज्ञान प्रधान है वह अन्य अचेतन द्रव्यों मे नहीं है इस कारण तो अतिव्याप्ति स्वरूप नहीं, और अपनी सब अवस्थाओं मे है इसलिये अव्याप्ति स्वरूप नहीं है । यहा पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना क्योंकि अभेद विवक्षा मे गुण और गुणी का आपस मे अभेद है इसलिये विरोध नहीं । यहाँ ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से सब पर द्रव्यों से भिन्न अनुभव गोचर होता है । यद्यपि आत्मा मे अनन्त धर्म है तो भी उनमे कोई तो छप्स्थ के अनुभव गोचर ही नहीं कि उसको कहे । (फिर) छप्स्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहचाने ? नहीं पहचान सकता । कोई धर्म अनुभव गोचर हैं उनमे कोई अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयादि है वे अन्य द्रव्यों से साधारण (समान) हैं उनके कहने से जुदा आत्मा नहीं जाना जाता । कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं उनको कहने से परमार्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छप्स्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है । इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान मे अनादि अज्ञान से शुभ अशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य मे प्रवृत्ति रूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग मे आत्मा को परिणामा के संपूर्ण ज्ञान को जब प्राप्त होता है तब फिर त्याग ग्रहण के लिए कुछ नहीं रहता । ऐसा साक्षात समयसार स्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थ भूतशुद्ध ठहरे उसको देखना । यहा पर देखना भी तीन प्रकार जानना । एक तो शुद्ध नय के ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना—यह तो अविरत भादि अवस्था मे भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है । दूसरा-ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रह का त्याग करना इसका अभ्यास करना । उपयोग को ज्ञान मे ही ठहराना । जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना श्रद्धान किया वंसा ही ध्यान मे लेकर एकाग्र चित्तको ठहराना बारबार इसीका अभ्यास करना । सो यह देखना अग्रमत्त दशा मे होता है । सो जहा तक ऐसे अभ्यास से केवल ज्ञान प्राप्त हो वहा तक यह अभ्यास निरतर करना—यह देखना दूसरा प्रकार है । यहा तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्ध नयके आश्रय परोक्ष देखना है । और तीसरा यह है कि केवलज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात देखना होता है । उस समय सब विभावों से रहित हुआ सबको देखने जाननेवाला ज्ञान होता है । यह पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है । यह ज्ञान है वही आत्मा है अभेद विवक्षा मे ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं जानना ।

अब (तात्पर्यवृत्तिकार के शब्दों में) विचार करते हैं—जीव में मत्वादि पाच प्रकार के ज्ञान होते हैं वे तो पर्यायरूप हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है, जीव पदार्थ न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप ही किन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य पर्यायरूप धर्मों का आधारभूत धर्मों है, वही अब मोक्ष कौनसे धर्म से होता है वह विचार किया जाता है—सो केवल ज्ञान तो फलस्वरूप होता है जो कि प्राप्ति जाकर होगा। अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान ये दो ज्ञान “रूपिण्यवचे और तद्वर्गताभागे मन पर्ययस्य” इन सूत्रों के अनुसार भूत पदार्थ को ही विषय करने वाले हैं इसलिये भूत हैं। अतः ये दोनों ज्ञान भी मोक्ष के कारण नहीं हो सकते। इसलिये सामर्थ्य से यह बात सिद्ध हुई कि बहिर्विषयक मतिज्ञान श्रुतज्ञान के विकल्पो से रहित होने के कारण जो ज्ञान अपने शुद्धात्मा के अभिमुखरूप परिच्छिन्नी (जानकारी) ही है लक्षण जिसका ऐसा तथा निश्चितरूप से निर्विकल्प भावनारूप मानस मतिज्ञान श्रुतज्ञान है नाम जिसका तथा पचेन्द्रिय का विषय न होने से अतीन्द्रिय है ऐसा और जो शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में जो भावनारूप होता है तथा निर्विकार स्वसवेदन शब्द के द्वारा जिसको कहा जाता है, एव सांसारिक जीवों को सायिक ज्ञान होता नहीं है इसलिये क्षायोपशमिकरूप है, ऐसा जो विशिष्ट भेदज्ञान होता है वही मुक्ति का कारण होता है। क्योंकि वह विशिष्ट भेदज्ञान ही सब प्रकार के मिथ्यात्व और रागादिरूप विकल्पो की उपाधि से रहित ऐसी जो अपने शुद्धात्मा उसकी भावना से उत्पन्न हुआ परम ब्रह्मा वह ही लक्षण जिसका ऐसा जो सुखामृत रस उसके आस्वादन के साथ एकाकररूप जो परम समरसी भाव परिणाम उस परिणाम के कार्यभूत जो अनतज्ञानादि सुखादि स्वरूप मोक्ष का फल है उसका विवक्षित एक (प्रधान) शुद्धनय के द्वारा शुद्धोपादान कारणरूप है। यही बात अमृताचन्द्राचार्य स्वामी ने कही है—

भेद विज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन, तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध होते हैं वे सब नियमपूर्वक भेद विज्ञान के द्वारा ही अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मध्यान के द्वारा ही होते हैं जब वह शुद्ध आत्मध्यान नहीं रह पाता उस समय फिर से कर्मबन्ध करने लगते हैं अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय एक निर्विकल्प शुद्धात्मा का ध्यान स्वरूप भेद विज्ञान ही है ॥ ४१२ से ४२६ तक ॥

जब कि परमात्मा शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाववाला है ऐसी हालत में जब परमात्मा के वेह ही नहीं है तो उसके आहार कैसे होगा ? यह बतलाते हैं—

अत्ता जस्स अमुत्तो ण्हु सो आहारओ हवदि एवं ।

आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्लमओ दु ॥४२७॥

णवि सक्कदि चित्तं जे ण मंचदे चेव जं परं दब्बं ।

सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिय विस्ससोवापि ॥४२८॥

तह्मा वु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिल्हे किचि ।

णेव विमंचदि किच्चिवि जीवाजीवाणं दब्बाणं ॥४२९॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं ।

आहारः खलु भूर्तो यस्मात्स पुगलमयस्तु ॥४२७॥

नापि शक्यते ग्रहीतुं यन्न भुञ्चति चैव यत्परं द्रव्यं ।

स कोऽपि च तस्य गुरोः प्रायोगिको वैलसो वापि ॥४२८॥

तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेत्यिता स नैव गृह्णाति किञ्चित् ।

नैव विभुञ्चति किञ्चपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४२९॥

अर्थ—जैसा कि ऊपर बता आये है कि ज्ञान या आत्मा सपूर्ण पर द्रव्योसे भिन्न है और अमूर्त है । उन गाथाओं के उल्लेखानुसार जिसके विचार में आत्मा अमूर्त है, वह नियम से आहार को ग्रहण नहीं कर सकता । क्योंकि आहार तो भूतिक है जो कि पुगलमय है, पर द्रव्य स्वरूप है, वह अमूर्त आत्मा के द्वारा ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता । यह कोई ऐसा ही आत्मा का गुरु है चाहे उसे वैलसिक कहा जाय या प्रायोगिक किन्तु यह उस आत्मा का अष्टल गुण है कि जा विशुद्ध आत्मा है वह जीव और अजीव जो पर द्रव्य है उनमें से किसी को न तो कभी ग्रहण करता है और न कभी किसी को छोड़ता है ॥४२७-४२८-४२९॥

तात्पर्यवृत्ति—अज्ञा जस्स अमूर्तो आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण भूर्तो न भवति एतद् सो आहारगो हवदि एव स एवममूर्तत्वे मति ह्युत्फुट तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति । आहारो खलु भूर्तो आहार कथंभूत ? खलु उत्फुट भूर्त । जह्मा सो पुगलमभो दु यस्मात् स नोकर्माआहार पुद्गलमय ।

सो कोऽपि तस्य गुरोः स कोऽपि तस्य गुरोऽभ्यात्मन । कथं पादग्निय विस्सो वापि प्रायोगिको वैलसिकश्चेति । प्रायोगिक कर्मसंयोगजनित । वैलसिक स्वभावज । येन गुरोः किं करोति ? एवमिदं सक्कदि धित्तु जे एव भुञ्चिषु चैव ज पर द्रव्य परद्रव्यमाहारादिकं ग्रहीतुं भोक्तुञ्च न शक्नोति । ग्रहो भगवद् ! कर्मजनित-प्रायोगिकगुरोः आहारं गृह्णाति तस्ते कथमनाहारका भवति इति ? हे शिष्य ! भद्रमुक्त त्वया परं किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारमय । इदं तु निश्चयव्याख्यानमिति ।

तद्वापु ओ विशुद्धो चेदा यस्मान्निश्चयनयेनानाहारकं तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चै-
तयितात्मा सो शेव गृह्णादे किञ्चि शेव विभुञ्चदि किञ्चि जीवाजीवाणद्वारा कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-
लेप्पाहार-भोजआहार-मानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहार नैव किञ्चिदगृह्णाति न भुञ्चति । तत्
कारणान्नोक्तोऽनाहारमयशरीर जीवस्वरूप न भवति । शरीरामावे शरीरमयद्रव्यविलगमपि जीवस्वरूप न भवति इति ।
एव निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति, इति व्याख्यानमुक्तत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रयं गत ।

अथैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमपदेहो नास्ति । देहाभावे देहम-
द्रव्यमिदं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादयति—

टीका—(अज्ञा जस्स अमूर्तो) शुद्धनय के अभिप्राय से जहा आत्मा अमूर्त होती है—मूर्त नहीं होती (ण ह्यु सो आहारगो हवदि एव) अमूर्तपना होने पर वह जीव स्पष्टरूप से शुद्धनय का अभिप्राय होने से आहारक नहीं हो सकता—आहार ग्रहण नहीं कर सकता । (आहारो खलु भूर्तो) क्योंकि आहार तो स्पष्टरूप से भूतिक होता है (जह्मा सो पुगलमभो दु) क्योंकि वह नोकर्मादि आहार पुद्गल-

मय होता है (इसलिये आत्मा को अमूर्तिक मानने वाला पुरुष उस आहार को ग्रहण नहीं कर सकता)। (सो को वि य तस्स गुणो) क्योंकि वह कोई उस आत्मा का गुण ही अर्थात् स्वभाव ही होता है। कैसा होता है? कि (पाउमिंग बिस्ससोवापि) वह या तो प्रायोगिक या वैक्सिक है अर्थात् कर्म सयोग जनित को प्रायोगिक कहते हैं और स्वभावजन्य को वैक्सिक कहते हैं। उस गुणसे वह आत्मा क्या करता है? (णवि सक्कदि घित्तु जे ण मुञ्चिदु वेव ज पर दव्व) परद्रव्य रूप आहारादि को वह न तो ग्रहण ही कर सकता है और न छोड़ ही सकता है। यहा पर शका करता है कि हे भगवन्! कर्मोक्ति निमित्त से जो उत्पन्न हुआ प्रायोगिक गुण है उससे जो आहार भी ग्रहण करते हैं ये सब अनाहारक कैसे माने जा सकते हैं? इसका आचार्य समाधान करते हैं कि हे भाई! तुमने जो कहा है सो ठीकही है किन्तु निश्चय के साथ जो तन्मय नहीं होता वहाँ व्यवहार नय है किन्तु यहा पर निश्चय का व्याख्यान किया जा रहा है। (तम्हा बु जो सो विसुद्धो वेदा) क्योंकि निश्चयनय के द्वारा जो आत्मा रागादि रहित विशुद्ध हो जाता है वह अनाहारक होता है। (सो णेव गिह्हेद्वे किञ्चि शेव विमुञ्चदि किञ्चि जीवा-जीवाण दव्वाण) वह कर्म आहार, नोकर्म आहार, कवलाहार, लेप आहार, भोज आहार, और मानस आहार के रूपमे जीव अजीव के भेदसे जितने भी द्रव्य है उनमे से सचित्त आहार तथा अचित्त आहार किसी भी प्रकार के आहारको न तो ग्रहण ही करता है और न छोड़ता है। क्योंकि नोकर्म आहाररूप जो शरीर है वह जीव का स्वरूप नहीं है और जब शरीर का अभाव है तो शरीरमय जो द्रव्य लिंग है वह भी जीव का स्वरूप नहीं है।

इस प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के आहार ही नहीं है इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से बारहवें स्थलमे तीन गाथाएँ हुई ॥ ४२७-४२८-४२९ ॥

विशेषार्थ—निश्चयनयसे देखाजाय तो आत्मा के साथ शरीर का कोई सबध नहीं है क्योंकि ससारी आत्मा के साथ भी शरीर का सयोग सबध है जो कि व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय तादात्म्य सबध को लेकर चलता है सो शरीर का तादात्म्य सबध आत्मा के साथ मे किसी भी दशामे नहीं है। आत्मा निश्चयनय की दृष्टि मे तो सदा शरीर रहित है। अब जो मुनि निश्चयनयपर आरुढ़ होते हैं अर्थात् आत्म समाधि मे लगकर अपने शुद्धात्मा का अनुभव करने लगते हैं तो वहा तो आत्मा अमूर्त है शरीर रहित है। और जब शरीर ही नहीं है तो फिर किसी भी प्रकार के आहार ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है। इसलिये आहार ग्रहण करना तो दूर रहा वहा इसकी बात भी नहीं है जिसका यहा वर्णन किया गया है। हा जब वे व्यवहार दृष्टि में आते है तब उन्हें शरीर के सयोग को लक्ष्यमे लेकर आहार ग्रहण करने की आवश्यकता होती है तो वहा आचार शास्त्र विधानानुसार समुचित आहार ग्रहण करते हैं, जिसका कथन यहा पर गीण है। हा, इस निश्चय और व्यवहार को ठीक नहीं समझने वाले कुछ भाई यहा ऐसा कह दिया करते है कि आहार करते हुये भी आत्मा आहार नहीं करता क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है, आहार तो शरीर ग्रहण करता है। सो शरीर तो जड़ है उसकी ओर से तो चाहे कैसा भी हो कोई बात नहीं है। ऐसा कहने वालो को यह सोचना चाहिये कि निश्चयनय मे शरीर वस्तु ही क्या है जो कि आहार को ग्रहण करता है। शरीर तो पुद्गल परमाणुओ का पिण्ड है जोकि सयोगात्मक होने से व्यवहारनय का विषय है। अत निश्चयनय मे तो आहार ग्रहण करने की बात ही नहीं बनती है। जब आत्मा व्यवहारनय पर आता है अर्थात् समाधि से च्युत होता है तो शरीर के साथ सयोग होने से शरीर की स्थिती रखने के लिये शरीर के द्वारा समुचित आहार ग्रहण करता है। ऐसा यहा

तात्पर्य है। किंच कर्माहार की अपेक्षा से देखे तो स्पष्ट शुद्धात्मा सिद्ध भगवान् ही अनाहारक है और सभी ससारी आत्मा सदा आहारक ही है। नोकर्म आहार की अपेक्षा विग्रहगती समापन्न जीव भी अनाहारक होता है, कवलाहार की अपेक्षा से सयत आत्मा जब अग्रमत्त दशामे होता है तब तक अनाहारक होता है किन्तु जब आहार ग्रहण करता है तब भी वह इन्द्रिय सपोषण के लिये नहीं करता किन्तु धर्म्य-ध्यान में लगे रहने के लिये करता है इसलिये उपचार से अनाहारक ही कहा जाता है।

उपयुक्त लिखे अनुसार विशुद्ध ज्ञान दशन स्वभाव वाले परमात्मा के नाकम आदि आहार के अभाव होने पर आहारमय देह नहीं है। देह के अभाव में देह मई द्रव्य लिंग भी नहीं होता जो कि निश्चय से मुक्ति का कारण नहीं है —

पाखंडिय लिंगाणि य गिहलिंगाणिय बहुप्पयाराणी ।

धित्तु वंदति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोति ॥४३०॥

ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।

लिंगं मुइत्तु दंसणणाचरित्ताणि से वंति ॥४३१॥

पाखंडीलिंगानि च गृहलिंगानि च बहुप्रकाराणि ।

गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्गं इति ॥४३०॥

न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हतः ।

लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥४३१॥

अर्थ—पाखंडी (बनावटी) साधुओं के और गृहस्थों के जो लिंग है—शरीर पर बनाये हुए जो भेष है—वे अनेक प्रकार के होते हैं उन्हीं को ग्रहण करके मूढ लोग ऐसा मानने लगते हैं कि यह भेष ही मुझे मोक्ष देने वाला है। इसको लक्ष्य में लेकर आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई ! यह धारण किया हुआ बाह्य भेष ही मोक्ष का कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अर्हत देव तो देह से निर्ममत्व होते हुए—इस बाह्य लिंग की उपेक्षा करके—दर्शन ज्ञान और चारित्र की सेवा करते हैं। (रत्नत्रय को ही अपनी आत्मा में प्रगट करते हैं क्योंकि वस्तुतः रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है)।

तात्पर्यवृत्ति—पाखंडीलिंगानि गृहस्थलिंगानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदन्ति मूढा । किं वदन्ति ? इदं द्रव्यमयलिंगमेव मुक्तिकारणम् । कथंभूता सत ? रागादिविबल्पोपाधिरहित परमसमाधिरूप भावलिंगमज्ञानतः **णय** होदि **मोक्खमग्गो लिंग** भावलिंगरहित द्रव्यलिंग केवल मोक्षमार्गो न भवति कस्मात् ? इति चेत् **जं** यस्मादकारणाद् **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हतो भगवतो देहनिर्ममा सत किं कुर्वन्ति ? **लिंगं मुइत्तु** लिंगाधार यच्छरीर तस्य शरीरस्य मन्मसत्वं तन्मनोवचनकार्यमुक्त्वा । पश्चात् **दंसणणाचरित्ताणि सेवन्ते** चिदानन्दस्वभावशुद्धात्म-तत्त्वविषये यानि श्रद्धानुष्ठानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवन्ते भावयन्तीत्यर्थः ।

अर्थतदेव व्याख्यान विशेषेण हृदयति ।

टीका—जो मोही हैं अर्थात् रागादि विकल्प की उपाधि से रहित परम समाधिरूप भावलिंग के विषय के जानकार नहीं है, वे नाना प्रकार के बनावटी साधुओं के भेष अथवा गृहस्थों के भेष लेकर मान

बैठते हैं कि यह द्रव्यमय मेरा भेष मुझे मुक्ति प्राप्त करा देगा । उसके लिये आचार्य कहते हैं कि (ण य होदि मोक्षमग्नौ लिंग) भाबलिंग से रहित अर्थात् अंतरंग शुद्धि से रहित केवलमात्र शरीर पर स्वीकार किया हुआ द्रव्य लिंग ही मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता क्योंकि (ज देह णिमममा ग्रहिहा) अर्हत भगवान् देह से निर्मत्त्व होते हुए और (लिंग मुदत्तु) लिंग का आधार जो शरीर उसके समत्व को मन वचन काय से छोड़कर (दसराणाणचरित्ताणि सेवति) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सेवा करते हैं । अर्थात् विद्वानद ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा जो शुद्धात्म तत्व उसके विषय में जो श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है उनको बार बार उपाजन करते हैं ॥४३०-४३१॥

विशेषार्थ —यहां पर आचार्यदेव ने बतलाया है कि वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही रत्नत्रय है उसी को मोक्षमार्ग बताकर बाह्य लिंग मोक्षमार्ग नहीं होता । किंतु बाह्य लिंग मोक्ष मार्ग नहीं होता ऐसा बताते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनेक प्रकार के गृहस्थों के और पाखंडी बनावटी साधुओं के लिंग उन सबका निषेध किया है, न कि यथाजात दिग्म्बर साधु के भेष को क्योंकि इन्हीं कुन्द कु आचार्य देवने अपने अष्ट पाहुड़ ग्रन्थ में 'णगो वि मोखमग्नौ सेसा उम्मगया सव्वे' बताया है कि छलरहित नग्नपना ही मोक्ष मार्ग है इसके विषय सब उन्मार्ग हैं, ऐसी दशा में ये स्वयं ही यथाजात दिग्म्बरभेष का निषेध कैसे कर सकते थे । अतः गृहस्थों के लिंग के साथ इन्होंने बनावटी पाखंडी छली साधुओं के लिंगों को लिया है न कि यथाजात नग्न दिग्म्बर लिंगों को । क्योंकि पाखंडी शब्द का अर्थ बनावटी छली साधु ही होता है जैसा कि रत्नकरण्ड आचकाचार में लिखा है —

“सप्रथारभ हिसाना ससारावत्तं वतिना, पाखण्डिना पुरस्कारो ज्ञेय पाखण्डि मोहनम् ॥

अर्थात् हिंसा आरन और परिग्रह से सहित एवं सासारिक उलभनों में ही फसे रहने वाले पाखंडी अर्थात् साधुपन से दूर होकर भी अपने आपको साधु कहने वाले लोगों का आदर सत्कार करना पाखंडी मूढता कहलाती है जिससे सम्यग्दृष्टि जीव दूर रहता है । इससे स्पष्ट है कि आचार्य ने यहां पर पाखंडी शब्द से बनावटी साधुओं को ही लिया है, वास्तविक साधुभेष को नहीं क्योंकि रत्नत्रय ही वास्तविक मोक्षमार्ग माना गया है वह भी किसी आधार विशेष में ही होगा । इस पनपते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आधार छलरहित यथाजात भेष ही है जिसको कि प्रत्येक ऋषभादि तीर्थकरने स्वीकार किया है । उसके बिना निराधार रूप से न तो किसी तीर्थ कर ने रत्नत्रय का सेवन ही किया और न हो सकता है । अतः प्रत्येक मुमुक्षु को अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को पनपलकर सम्पन्न करने के लिए यह निश्चल निर्ग्रन्थ दिग्म्बर भेष धारण करना ही चाहिये, ऐसा किये बिना रत्नत्रय सम्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु निश्चल यथाजात दिग्म्बर बनकर भी सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय को भूल नहीं जाना चाहिये ।

इसी बात को आचार्यदेव फिर विशेषरूप से और भी दृढ़ करते हैं —

ण वि एस मोखमग्नौ पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।

दंसणणाणचरित्ताणि मोखमग्नं जिणा विति ॥४३२॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखण्डिगृहमयानि लिंगानि ।

दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदन्ति ॥४३२॥

अर्थ —बनावटी छली साधु के द्वारा स्वीकार किये हुये और गृहस्थ के द्वारा स्वीकार किये गये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है (जो कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष में ही आधार आधेय मात्र से पाया जाता है) ऐसा जिन भगवानने कहा है ॥४३२॥

तात्पर्यवृत्ति —**एव एम मोक्षमार्गो न चैव मोक्षमार्ग एव क ? पाण्डिगिहमयाणि लिगाणि निवि-** कल्पसमाधिरूपभावालिगनिरपेक्षाणि रहितानि यानि पाण्डिगिहमयानि द्रव्यलिगानि । कथभूतानि निर्णयकोपीनग्रहण-
रूपाणि बहिरगारचिह्नानि । तर्हि को मोक्षमार्ग ? इति चेत् दसणणाणचरित्ताणि मोक्षमार्गो जिगा विति शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदति कथयति ।
यत एव —

टीका —(एव एम मोक्षमार्गो) यह मोक्ष का मार्ग नहीं है । कौन मोक्षका मार्ग नहीं है ? कि (पाण्डिगिहमयाणि लिगाणि) निविकल्प समाधिरूप भावालिग से संबंध रहित जो पाण्डिगि व अथवा गृहस्थो के द्वारा स्वीकार किये जो नाना भेष हैं वे मोक्षमार्ग नहीं है । ये भेष कौनसे कौनसे हैं ? कि (अतरग शुद्धि के बिना) बाह्यमे संबंधा निर्ग्रन्थ होकर रहना अथवा कोपीन धारण करना आदिरूप बहिरग आकारके चिह्नरूप है ये सब मोक्षमार्ग नहीं है । मोक्षमार्ग क्या है ? कि (दसणणाण चरित्तावि मोक्षमार्ग जिगा विति) शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव वाला जो परमात्मतत्त्व उसका श्रद्धान ज्ञान और अनुभव ही है स्वरूप जिनका ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥४३२॥

विशेषार्थ —आत्मा सब कर्मों से रहित हो रहे इस प्रकार के आत्मा के परिणाम का नाम ही मोक्ष है इसलिये उसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये क्योंकि कारण कार्य में परस्पर पूर्वोत्तर भाव होता है । एव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के परिणाम है जिनका कि फल मोक्ष होता है । बाह्य लिग तो देहमय है जो कि पुद्गल द्रव्य रूप है इसलिये उसके साथ आत्मा के मोक्ष का कोई वास्तविक संबंध नहीं है । हा, यह बात दूसरी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो चारित्र है वह विश्वभर के सम्पूर्ण पदार्थों से दूर हट कर आत्म तत्त्वीन होने का नाम है और बाह्य समस्त पदार्थों से स्पष्ट रूपसे पृथक् रहना ही नग्न दिगम्बर भेष है जिसके होने पर ही आत्म तत्त्वीनतारूप वास्तविक चारित्र सम्पन्न हो पाता है । अत आत्म तत्त्वीनतारूप निश्चय चारित्र का आधार होने से निश्चय दिगम्बर भेष भी कारण का कारण होने से उपादेय है किन्तु कोई केवल मात्र नग्नता को ही मोक्षमार्ग मानने उसका यहा निषेध किया गया है और बताया गया है कि भाई ! मुक्ति की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होने से ही होगी केवलमात्र बाह्य नग्न आदि भेष से नहीं । इसलिये आचार्य देव कहते हैं —

तस्मा दुहितु लिगे सागारणगारिण्हिं वा गहिदे ।

दसणणाणचरित्तो अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४३३॥

तस्मात्तु हित्वा लिगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि ।

वर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्व मोक्षपथे ॥४३३॥

अर्थ —जबकि केवल द्रव्यलिग मोक्षमार्ग नहीं है इसलिये आचार्य कहते हैं कि गृहस्थो के अथवा घरहीनो के द्वारा ग्रहण किये गये लिगो को छोड़कर अपने आपको दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में लगाओ ॥४३३॥

तात्पर्यवृत्ति—तस्या जहित्तु लिये सागारगणारिहृि वा गहिदे बस्यात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शन-
ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना प्रतिपादयति तस्मात्प्रयत्नत्वा कानि निर्विकारस्वसंवेदनस्वभावविमरहितानि सागारात्मगा-
रवर्गं समूहै—गृहीतानि बहिरगाकारद्रव्यलिगानि । पश्चात् किं कुरु ? दसगणान्तरितो अप्पाणं कुंज मोक्षपहे हे
मय्य । आत्मानं योजय सबध कुरुष्वकव ? केवलज्ञानाद्यन तत्तुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानुष्ठानानुष्ठानरूपाभेदरत्न-
त्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गं ।

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षाधिना गुरुवेण सेवितव्य इत्युपदिशति—

टीका—(तम्हा जहित्तु लिये सागारगणारिहृि वा गहिदे) जब कि ऊपर लिखे अनुसार सम्य-
ग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान प्रतिपादान करते हैं तो निर्विकार स्वस-
वेदनज्ञानरूप जो भाव लिग है उससे रहित होने वाले सागार गृहस्थ और अनगार त्यागी मुनियों के द्वारा
केवलमात्र बाह्यमे ग्रहण किये हुए द्रव्य लिगो को छोड़कर फिर क्या करो ? कि (दसगणान्तरितो
अप्पाणं जु ज मोक्षपहे) हे भव्य ! केवलज्ञानादि अनतचतुष्टय स्वरूप जो शुद्ध आत्मा उसका समीचीन
श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रय ही है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग मे अर्थात् मोक्ष
मोक्ष के उपाय मे अपने आपको युक्त करो अर्थात् तल्लीन बन जावो ॥ ४३३ ॥

प० जयचन्द्रजी का भावार्थ—यहा द्रव्यलिग को छुड़ाकर दर्शन ज्ञान चारित्र मे लगने का वचन
है सो यह सामान्य परमार्थ वचन है । कोई समझेगा कि मुनि श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश है ऐसा
नहीं है । जो केवल द्रव्यलिग को ही मोक्षमार्ग जान भेष रखे उसको उसका पक्ष छुड़ाया है कि भेषमात्र
मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम है वे ही हैं । व्यवहार
आचार सूत्र मे कहे अनुसार जो मुनि श्रावक के बाह्य व्रत है वे व्यवहार कर निश्चय मोक्षमार्ग के साधक
हैं । उनको छुड़ाते नहीं परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ परमार्थ मोक्षमार्ग मे लगने से ही
मोक्ष होता है, केवल भेषमात्र से मोक्ष नहीं है ऐसा जानना ।

अब प्राचार्य यह उपदेश करते हैं कि मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मानुभूति रूप लक्षणवाले निश्चय रत्नत्रयात्मक
मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिये—

मोक्षपहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि भायहि तं चेव ।

तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदब्बेसु ॥४३४॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय चेतयस्व ध्याय हि तं चंव ।

तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षोरन्यद्रव्येषु ॥४३४॥

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने आपको मोक्षमार्ग मे स्थापन कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और
उस आत्मा मे ही निरन्तर विहार कर और अन्य द्रव्यों मे बिहार मत कर ॥४३४॥

तात्पर्यवृत्ति—मोक्षपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य । आत्मानं स्थापय क्व ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्व-
सम्यक्श्रद्धानुष्ठानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । चेदयहि तमेव मोक्षपथ चेतयस्व परमसमरतीभावेन अनुभवस्व
भायहि त चेव तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । तत्थेव विहर णिच्चं तत्रैव विहर वर्तनापरिणति कुरु ।

नित्य सर्वकाल । मा बिहरसु अण्णदब्बेसु दृष्टभूतानुभूतभोगाकाशरूपनिदानबधादिपरद्रव्यावबनोत्पन्नशुभाशुभ-
सकल्पेषु मा विहार्षीं, मा गच्छ मा परिणतिं कुर्वति ।

अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिनक्षणभावलिङ्गरहिता ये द्रव्यलिङ्गे ममता कुर्वन्ति तेऽद्यापि समयसार न जानतीति
प्रकाशयति—

टीका.—(मोक्षवपह्ये अप्पण ठवेहि) हे भव्य ! शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले आत्मतत्त्वका समीचीन
श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो अभेद रत्नत्रय वही है स्वरूप जिसका ऐसे मोक्षमार्ग में अपने आपको
स्थापन कर । (चेदयहि) उसी मोक्षमार्गका अनुचितन कर अर्थात् परमसमरसी भाव के द्वारा उसी का
अनुभव कर । (आयहि त चेव) उसीका ध्यान कर अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लगकर उसकी बार बार
भावना कर । (तत्थेव विहर एण्च) उसी में नित्य पर्यटन कर (मा बिहरसु अण्णदब्बेसु) देखे हुये, सुने
हुए, अनुभव किये हुये भोगों की आकाशरूप निदान बधादि पर द्रव्यों के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले
शुभाशुभ सकल्प विकल्पों में मत जा, उन्हें स्मरण मतकर, उनरूप अपनी परिणति मत होने दे ॥४३४॥

विशेषार्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि निश्चयनय से आत्मा के परिणाम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान
और सम्यक्चरित्र हैं, उनमें आत्मा का स्थित रहना ही मोक्षका मार्ग है । अतः मुमुक्षु को चाहिये कि उस
मोक्षमार्ग में ही अपने आपको स्थिर करे, उसीका ध्यान करे, उसी का अनुभव करे, और ससार के सब
द्रव्यों को छोड़कर इसी में प्रवृत्त रहे तभी मोक्ष प्राप्त होगा अन्यथा नहीं ।

आगे कहते हैं कि जो सहज शुद्ध परमात्मानुभूति लक्षण वाले भाव लिङ्ग से तो रहित है । किन्तु
द्रव्यलिङ्ग में (बाहरी वेषभूषा में) ही ममता करते हैं वे आज भी समयसार को नहीं जानते —

पाखंडियलिङ्गेसु व गिहलिङ्गेसु व बहुप्पयारेसु ।

कुर्वन्ति जे ममत्तिं तेहिं ण णावं समयसारं ॥४३५॥

पाखंडिलिङ्गेसु वा गृहलिङ्गेसु वा बहुप्रकारेसु ।

कुर्वन्ति ये ममतां तेनं ज्ञातः समयसारः ॥४३५॥

अर्थ—जो लोग नाना प्रकार के पाखंडी लिङ्गों में और गृहस्थ लिङ्गों में ही ममत्व किये हुए हैं (कि हम्हे
यही भेष मोक्ष दिलावेगा) वे लोग समयसार को नहीं जानते ॥ ४३५ ॥

तात्पर्यवृत्ति—पाखंडियलिङ्गेसु व गिहलिङ्गेसु व बहुप्पयारेसु कुर्वन्ति जे ममत्तिं तेहिं ण णावं समयसारं जगत्त्रय कालत्रयत्रयिकातिपूजालाममिध्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनसमुत्पन्नशुभा-
शुभासकल्पविकल्परहित शून्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्पक्षज्ञानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प-
समधिज्ञातवीतरागमहजापूर्वपरमाङ्गादरूपमुत्तरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालम्बन पूर्णकलशवद्धरितावस्थः
केवलज्ञानाद्यनतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसार स
खलु तेनं ज्ञात इति ।

अथ निर्विकारशुद्धात्मसर्वित्तलक्षणभावलिङ्गमहित निश्चयनयनिर्लिङ्ग बौधिनकरणादिवहुभेदमहित गृहलिङ्ग चेति

द्वयमपि मोक्षमार्गौ व्यवहारनयो मन्यते । निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिङ्गानि न मन्यत इत्याख्याति—

टीका — (पाखण्डियलिङ्गेषु व विहङ्गिणेषु व बहुष्पयारेषु कुर्वति जे भवति) बीतरागस्वरूप स्वसं-
वेदन ज्ञान लक्षण वाले ऐसे भाव लिङ्ग से जो रहित हैं ऐसे निश्चयस्वरूप पाखण्डियों के द्रव्य लिङ्गो में और
कोपीन आदि चित्तवाले गृहस्थ के द्रव्य लिङ्गो में जो कि अनेक प्रकार के हैं उनमें जो भवता किये बैठे हैं
(तेहि ण गाद समयसार) वे लोग निश्चय समयसार को नहीं जानते । वह निश्चय कारण समयसार
कैसा है ? कि जो तीन लोक और तीन काल में होने वाले ख्याति, पूजा, लाभ, मिथ्यात्व, काम और
श्लोधादि समस्त परद्रव्यों के भ्रालम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभ तथा अशुभ सकल्प विकल्पो से रहित है
और चिदानन्दमई एक स्वभावरूप शुद्धात्म तत्व का समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तद्रूप जो अभेद
रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ बीतराग सहर्ष परम ब्राह्मण रूप सुखरसका
अनुभवन करना वही हुआ परम समरसीभाव रूप परिणाम उसके भ्रालम्बनसे पूर्ण कलश के समान भरा
पूरा है और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रकटतारूप साक्षात् उपादेयभूत कार्यसमयसार का उत्पादक
है ऐसा जो निश्चय कारण समयसार है, उसको नहीं जानते ॥४३५॥

अब इसके आगे आचार्य बतलाते हैं कि विकार रहित शुद्धात्मा का संवेदन ही है लक्षण जिसका
ऐसे भावलिङ्ग से युक्त जो निश्चय यति लिङ्ग होता है और कोपीन आदि से युक्त जो बहुत प्रकार का
गृहस्थ लिङ्ग होता है उन दोनों को व्यवहारनय मोक्षमार्ग मानता है किन्तु निश्चयनय तो सब ही द्रव्य
लिङ्गो को मोक्षमार्ग नहीं मानता—

व्यवहारिओ पुन णओ दोष्णिवि लिङ्गणि भणदि मोक्खपहे ।

णिच्छयणओ दु णिच्छदि मोक्खपहे सर्वलिङ्गणि ॥४३६॥

व्यावहारिकाः पुनर्नयो द्वे अपि लिङ्गे भणति मोक्षपथे ।

निश्चयनयस्तु नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिङ्गानि ॥४३६॥

अर्थ—व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों प्रकार के ही लिङ्गो को मोक्षमार्ग मानता है किन्तु
निश्चयनय सब ही बाह्यलिङ्गो में किसी को भी मोक्षमार्ग नहीं मानता ॥४३६॥

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारिओ पुण णओ दोष्णिवि लिङ्गणि भणदि मोक्खपहे व्यावहारिकनयो द्वे लिङ्गे
मोक्षपथे मन्यते । केन कृत्वा ? निर्विकारस्वभावितिलक्षणमात्रलिङ्गस्य बहिर्ग्य सहकारिकारणत्वेनेति । **णिच्छयणओ**
दु नेच्छदि मोक्खपहे सर्वलिङ्गानि निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुणितुल्यबलेन अहं निर्गन्धलिङ्गो, कोपीन-
धारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिङ्गविकल्प रागादिविकल्पवन्नेच्छति । कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्व-
भावत्वात् इति ।

किंच—अहो शिष्य । **पाखण्डोलिङ्गारिण** य इत्यादि भाषा सप्तकेन द्रव्यलिङ्ग निषिद्धमेवेति त्व मा जानाह कि
तु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूप भावलिङ्गरहिताना यतीना संबोधन कृत । कथं ? इति चेत् अहो तपोधना ।
द्रव्यलिङ्गमात्रेण सतीष मा कुर्वत, किं तु द्रव्यलिङ्गाकारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपमाधना कुर्वत ।

ननु भवदीयकल्पनेयं, द्रव्यलिङ्गनिषेधो न कृत इति अथे स्थितमास्तं **अथ होहि मोक्खसम्यगो लिङ्गमित्यादि ?**

नैव जयहोहि मोक्षमग्गो लिग मित्यादिवचनेन भावलिगरहित द्रव्यलिग निषिद्ध न च भावलिगसहित । कथं ? इति चेत् द्रव्यलिगाधारधृतो योऽपि देहस्तस्य भवत्व निषिद्ध । न च द्रव्यलिग निषिद्ध । केन रूपेण ? इति चेत् पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसगपरित्याग एव कृतो न च देहत्यागः । कस्मात् ? देहधारणध्यानज्ञानानुष्ठान भवति इति हेतोः । न च देहस्य पुण्यत्वं कर्तुं भाष्यति शेषपरिग्रहवदिति । वीतरागध्यानकाले पुनर्मंदीयो देहोऽहं लिगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः । देह निर्ममत्व कृत्वा कथं ज्ञायते ? इति चेत् ज वेहसिम्ममा भरिहा वंसणणाणवरिसाणि सेवते इत्यादि वचनेनेति । न हि शालितदुलस्य बहिरगतुषे विद्यमाने सत्यम्यतरतुषस्य त्याग कर्तुं भाष्यति । अग्न्यतर तुषत्यागे सति बहिरगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव । अग्नेन न्यायेन सर्वसगपरित्यागरूपे बहिरग द्रव्यलिगे सति भावलिग भवति न भवति वा नियमो नास्ति । अग्न्यतरे तु भावलिगे सति सर्वसगपरित्यागरूप द्रव्यलिग भवत्येवेति ।

हे भगवन् । भावलिगे सति बहिरग द्रव्यलिग भवतीति नियमो नास्ति साहाराणासाहारेणेत्यादि वचनादिति ? परिहृयमाह—कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन बन्धनवेष्टन कृत । आभरणआदिक वा कृत तथाप्यसौ निर्ग्रथ एव । कस्मात् ? इति चेत् बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाडवादिवत् । योऽपि घटिकादयेन मोक्ष गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रथरूपेणैव । पर किंतु तेषां परिग्रह त्याग लोका न जानति स्तोकाकालत्वादिति भावार्थः । एव भावलिगरहितानां द्रव्यलिगमात्र मोक्षकारण न भवति । भावलिगसहितानां पुन सहकारिकारण भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गायामसक गत ।

अत्राह शिष्य — केवलज्ञान शुद्ध छप्पस्थज्ञान पुनरशुद्ध शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारण न भवति । कस्मात् ? इति चेत्—

शुद्ध तु विद्यारतो शुद्धमेवप्पयं लह्वि जीवो इति वचनात् इति ? नैव छप्पस्थज्ञानस्य कपचिच्छुद्धाशुद्धत्वं । तथापि यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्ध न भवति तथापि मिथ्यास्वरगागारहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्ध । अभेदतयेन पुन छप्पस्थानां सबधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव तत् कारणात्तेनैकदेशव्यक्तित्वेणापि सकलव्यक्तिरूप केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः ।

अथ मत सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्ध न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति । कस्मात् ? छप्पस्थानां ज्ञान यद्यप्येकदेशेन निरावरण तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति । अद्याभिप्राय पारिणामिकभाव शुद्ध तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते । कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं पारिणामिकभावस्य शक्तिभावेन शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति—

तथाहि जीवत्वमव्यक्तामव्यक्तरूपेण त्रिविधोहि पारिणामिकः । तत्र तावदमव्यक्त्व मुक्तिकारण न भवति यत्पुनर्जीवत्वमव्यक्त्वद्वय तस्य द्वयस्य तु यदाय जीवो दर्शनचारित्रमाहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयभावेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्व । तच्च शुद्धत्व— औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य सबधि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गोणत्वेनेति । तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बधमोक्षस्य कारणरहितत्व पञ्चास्तिकायेनेन श्लोकेन मणितमास्ते—

मोक्ष कुर्वति मिथोपशमिकक्षायिकामिव ।

बधमोदयिको भावो निष्क्रिय पारिणामिक ॥१॥

तत एव स्थित निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षण वीतगगसम्यक्त्वचारित्राविनाश्रुतमभेदवयेन तदेव शुद्धात्म-गन्धवाच्यक्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञान मोक्षकारण भवतीति । शुद्धपारिणामिकभाव पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणाया

कथञ्चिद्भावेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां व्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति नच ध्यानपर्याय-
रूपेण, कस्मात् ? इयानस्य निश्चयवदत्वाद् इति ।

अथेदं शुद्धात्मतत्त्व निश्चिकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाकाशसुख प्राप्नोतीत्युपदिशति—

टीका — (व्यवहारिणो पुण एषो दोषिणश्चि लिगाणि भणदि मोक्षरूपहे) व्यवहारिक नय मोक्षमार्ग मे निग्रन्थ दिगम्बरलिग धीर उत्तम आचकका लिग इन दोनों लिगो को मोक्षमार्ग में उपयोगी मानता है क्योंकि वह निश्चिकार स्वसंवेदन लक्षणवाले भावलिग का बहिरंग सहकारी कारण है किन्तु (गिच्छय-
णमो दु एणच्छदि मुक्त्वपहे सव्वलिगाणि) निश्चयनय तो स्वयं निश्चिकल्प समाधिरूप है इसलिये निश्चि-
कल्प समाधिरूप होने से वह—मैं निग्रन्थ लिगी हूँ अथवा कोपीन धारक हूँ—इस प्रकार के मन मे पैदा होने वाले सभी द्रव्य लिगो के विकल्प को सर्वथा नहीं चाहता जैसे कि वह रागादि विकल्प को नहीं चाहता ॥४३६॥

अब यहाँ आचार्य शिष्य को संबोधन कर कहते हैं कि हे शिष्य ! यहाँ पर “पाखडी लिगाणि य” इत्यादि सात गाथाओं के द्वारा जो द्रव्यलिग का निषेध किया है उसे सर्वथा निषिद्ध ही मत मानलेना, किन्तु निश्चय रत्नत्रयात्मक निश्चिकल्प समाधिरूप भावलिग है उससे रहित होनेवाले यतियों को संबोधन किया है कि हे तपोधन लोगों ! तुम अपने इस द्रव्य लिग मात्र से ही सतोष मत कर बैठना किन्तु द्रव्य लिग के आधार से निश्चय रत्नत्रयात्मक निश्चिकल्प समाधिरूप भावना को प्राप्त करने की चेष्टा करना ।

इस पर शिष्य फिर कहता है कि यह घ्रापका कहना है ‘यहा द्रव्यलिग का निषेध नहीं किया है’ किन्तु यहाँ तो स्पष्ट रूप से “एण्य होदि मोक्खमग्गो लिगमित्यादि” लिखा हुआ है जिसका अर्थ होता है कि द्रव्यलिग मोक्ष मार्ग नहीं है इत्यादि । आचार्य कहते हैं कि तुम कहते हो सो बात नहीं है किन्तु “ण य होदि मोक्खमग्गो लिगमित्यादि” इस वचनसे भावलिग रहित द्रव्यलिग का निषेध किया है न कि भावसहित द्रव्य लिग का क्योंकि द्रव्यलिग का आधार भूत जो देह है उसके ममत्व का यहाँ निषेध किया है न कि द्रव्य लिग का । क्योंकि पहले जब दीक्षा ली गई उस समय सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया गया था तब वहाँ देहका त्याग नहीं किया गया, क्योंकि देहके आधार से ध्यान और अनुष्ठान होता है । और शेष परिग्रह के समान देह को पृथक् भी नहीं किया जा सकता, अतः फिर वीतराग रूप ध्यानके कालमें ही यह मेरा देह है मैं लिगी हूँ इत्यादि विकल्प व्यवहार के द्वारा भी नहीं करना योग्य है । इस कथन से देह का ममत्व छुड़ाया है यह कैसे जाना जाय ? इसका उत्तर यह है कि “ज देह रिग्गमा अरिहा दसएगाण चरित्ताणि सेवते” इत्यादि मूलग्रन्थकारका वचन, है इससे स्पष्ट जाना जाता है कि यहाँ देह का ममत्व छुड़ाया है और वह ठीक भी है । क्योंकि शाली तटुल के ऊपर बाहर मे जब तक तुप लगा रहे तब तक अंतरंग के तुसको नहीं छुड़ाया जा सकता । जहाँ अंतरंग तुसका त्याग होता है वहाँ उसके बहिरंग तुसका त्याग अवश्य होता हो । इस न्यायसे जहाँ सर्वसंग अर्थात् परिग्रह के त्याग स्वरूप बहिरंग द्रव्यलिग होता है वहाँ भाव लिग होता भी है और नहीं भी होता कोई एक नियम नहीं है, किन्तु अन्तरंग भाव लिग जहाँ होता है वहाँ सर्व परिग्रह त्यागरूप द्रव्यलिग अवश्य होता ही है ऐसा नियम है ।

यहाँ पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! जहाँ भावलिग होता है वहाँ बहिरंग (सर्व-
संग त्यागरूप) द्रव्य लिग भी होता ही है ऐसा भी नियम नहीं है क्योंकि “साहारणासाहारणे” इत्यादि

आगम वचन मिलता है। आचार्य इसका परिहार करते हैं कि बात ऐसी है कि कोई तपस्वी ध्यान लगाये बैठा है वहा कोई दुष्ट आकर दुष्ट भाव से उस ध्यान में बैठे हुए तपस्वी के कपडा लपेट जाय या उसे कोई आभूषण धादि पहना दे तो भी वह तो निग्रन्थ ही रहता है क्योंकि उसके बुद्धिपूर्वक ममत्व का प्रभाव है जिसके लिए पाण्डवादिक उदाहरण स्पष्ट है। तथा भरत चक्रवर्ती आदि भी दो घड़ी काल में ही मुक्त होगये हैं वे भी निग्रन्थ रूप धारण करके ही मुक्त हुये हैं परन्तु उनके परिग्रह के त्यागरूप अवस्था का काल स्वल्प होने से साधारण लोग उनके परिग्रह के त्यागको नहीं जानते हैं ऐसा यहाँ आशय है।

इस प्रकार भाव लिंग से रहित केवल मात्र द्रव्यलिंग से मोक्ष नहीं होता किन्तु जो भावलिंग सहित है उनका वहा द्रव्य लिंग सहकारी कारण है (उसके बिना भाव लिंग नहीं होता) इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहा तेरहव स्थल में सात गाथाय कही गई ॥

यहा पर शिष्य फिर प्रश्न करता है कि केवलज्ञान तो शुद्ध होता है और छद्मस्थो का ज्ञान अशुद्ध, वह छद्मस्थो का ज्ञान शुद्धरूप केवलज्ञान का कारण नहीं हो सकता क्योंकि "मुद्ध तु वियागतो मुद्धमेव-प्य लहदि जीवो" इस प्रकार इसी समयसारमें वचन आया है अर्थात् शुद्धको जानने वाला ही आत्मा शुद्ध बनता है ऐसा इस समयसार में लिखा है।

इसका आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि हे भाई! तुम जैसा वहते हो ऐसा नहीं है। अपितु छद्मस्थ का ज्ञान कथञ्चित् शुद्ध भी होता है तो कथञ्चित् अशुद्ध भी। केवलज्ञान की अपेक्षा तो छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध ही होता है किन्तु मिथ्यात्व और रागादि से रहित हो जाने के कारण और वीतराग सम्यक्त्व और चारित्र्यसे सहित होने के कारण वह शुद्ध भी होता है। अभेदनय से वह छद्मस्थ मबधित भेद विज्ञान आत्म स्वरूप ही होता है, इसलिये एक देश व्यक्तिरूप उस ज्ञान के द्वारा सकलदेश व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है इसमें कोई दोष नहीं है। इस पर भी यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि छद्मस्थो का ज्ञान तो सावरण और क्षायोपशमिक होता है इसलिये वह शुद्ध नहीं होता। ऐसा आशय लेनेपर तो फिर मोक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि छद्मस्थो का ज्ञान एक देश निरावरण तो होता है किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा वह नियमपूर्वक आवरण सहित और क्षायोपशमिक ही होता है। इस पर यदि तुम ऐसा कहो कि परिणामिक भाव शुद्ध है उससे माक्ष हो सकेगा। तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं बैठता क्योंकि केवलज्ञान होने के पहले तो पारिणामिक भाव भी व्यक्ति रूप से नहीं किन्तु शक्तिरूप से ही शुद्ध होता है। देवो, पारिणामिक भाव जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से तीन प्रकार का है। उसमें अभव्यत्व भाव तो मुक्ति का कारण नहीं हो सकता है। शेष दो जीवत्व और भव्यत्व, इन दोनों में शुद्धता तब होती है जबकि यह जीव दगन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयो-मशम को प्राप्त कर लेने से वीतराग सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य के रूप में परिणत होता है। वह शुद्धता वहा पर मुख्य रूप से ओपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव सबधी होती है। पारिणामिक भाव की तो वहा गौणता रहती है। दूसरी बात यह है कि शुद्ध पारिणामिक भाव तो बध मोक्ष का कारण ही नहीं होता ऐसा धी पचार्स्तकाय के निम्न श्लोक में कहा है—

मोक्ष कुर्वान मिश्रोपशमिकक्षायिकाभिधा।

बधमोदयिको भावो निष्ठिय पारिणामिक ॥

अर्थात् जीव के भाव औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक के भेदसे पांच प्रकार के हैं । उसमे से औदयिक भाव तो बंध करने वाला है, और औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और क्षायिक भाव मुक्ति देने वाले हैं । पारिणामिक भाव निष्क्रिय होता है ।

अतएव यह बात निश्चित होती कि मोक्ष का कारण तो क्षायोपशमिक रूप भाव श्रुतज्ञान ही है जो कि वीतराग सम्पत्क और चारित्र के साथ मे नियमसे होता है और जो निर्विकल्प रूप शुद्धात्मा की परिच्छिन्नतीरूप लक्षणवाला है । अतएव अभेदनय से वही शुद्धात्मा शब्द से कहा जाता है । ऐसा वह भाव श्रुतज्ञान जो कि क्षायोपशमिक होता है वही मोक्ष का कारण होता है शुद्ध पारिणामिक भाव कथञ्चित् भेदाभेदात्मक द्रव्य पर्याय स्वरूप जो जीव पदार्थ है उसकी एक देश अभिव्यक्ति वाला शुद्ध भावना रूप अवस्था मे ध्येरूप द्रव्यके रूपमे रहता है न कि ध्यान पर्याय के रूपमे कथिक ध्यान तो विनश्वर हुआ करता है ।

अब इस शुद्ध आत्मतत्त्व को निर्विकार स्वसवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा भाता हुआ आत्मा परमोत्तम अक्षय सुख को प्राप्त हो जाता है ऐसा आगे की गाथा मे कहते हैं या श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुए इसका जो फल होता है उसे बतलाते हैं—

जो समयपाहुडमिणं पडिहणं अत्यतच्चदो णाउं ।

अत्ये ठाही चेया सो पाववि उत्तमं सोक्खं ॥४३७॥

यः समयप्राभूतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।

अर्थं स्थास्यति चेतयिता स प्राप्नोत्युत्तमं सोख्यं ॥४३७॥

अर्थ — जो ज्ञानी जीव इस समयसार ग्रन्थ को पढ़कर अर्थ और तत्व से जानकर उसके अर्थ मे ठहरेगा अर्थात् इस ग्रन्थ के कहे अनुसार अपना परिणमन करेगा वह स्वयं उत्तम सुख को प्राप्त करेगा ॥४३७॥

तात्पर्यवृत्ति — श्री कु वकु दाचार्यदेवा समयसारग्रन्थसमाप्ति कुर्वंत फल दर्शयति—तद्यथा—**जो समय-पाहुडमिण पडिहणय** य. कर्ता समयप्राभूताव्यभिद शास्त्र पूर्व पठित्वा न केवल पठित्वा **अत्य तच्चदो णाहुं** ज्ञात्वा च कस्मात् ? अर्थात् न केवल प्रभाष्यत ? तत्त्वतो भावपूर्वेण **अत्ये ठाहि** पञ्चाहुपादेयरूपे शुद्धात्म-लक्षणेऽयं निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति **चेदा सो पाववि उत्तम सोक्ख** स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते । कि लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूप आत्मोपादानमिदं स्वयमतिशयबद्धीतबाध विनालवृद्धिह्लासव्यपेत विषय-विरहित नि प्रतिद्वन्द्वभाव ग्रन्थद्रव्यानपेक्ष निरूपम, अमित, शाश्वत सर्वकालमुक्तुष्टानतसार परमसुख सिद्धस्य जातमिति ।

अत्राह शिष्य — हे भगवन् ! अतीन्द्रियसुख निरतर व्याख्यात भवद्भिस्तच्च जर्जनं ज्ञायते ? भगवानाह कोऽपि देवदत्त स्त्रीसेवनाप्रभृतिपञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्यकुलचित्त, तिष्ठति स केनापि पृष्ट भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठति स्वमिति ? तेनोक्त सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रिय कस्मात् ? इति चेत् सात्त्विकसुख पञ्चेन्द्रियप्रभव । यत्पुनरतीन्द्रियसुख तत्पञ्चेन्द्रियविषयव्यापारान्नावेऽपि हृष्ट यत इह तावत्सामान्यनातीन्द्रियसुखमुपलभ्यते । यत्पुन पञ्चेन्द्रियमनोभवमस्तद्विकल्पजालरहितानां सभाषित्थपरमयोगिना स्वसवेदनमयमतीन्द्रियसुख तद्विशेषोति । यच्च

मुक्तात्मनामतीन्द्रियमुख तदनुमानगम्यमगम्य च । तथाहि—मुक्तानामिन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतीन्द्रियमुखमस्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनीन्द्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपशब्धिरिति हेतुः । एव पक्षहेतुरूपेण द्रष्टव्यमनुमानं ज्ञातव्यम् । आगम्ये तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादि बचनेन । अतः कारणात् अतीन्द्रियमुखे सदेहो न कर्तव्य इति । उक्तं च—

यदेवमुजा सर्वे सौख्यमक्षार्चमभव ।
निविशति निराबाध सर्वाक्षप्रोणनक्षम ॥१॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्त महद्भिक्ष ।
भाविनी ये च मोक्षयति स्वादिष्ट स्वातरजक ॥२॥
अनतगुणिन तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावज ।
एकस्मिन् समये भुक्त तत्पुनः परमेश्वर ॥३॥

एव पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकृतस्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकम् । तदनन्तरमन्यं करोति अन्योभुक्ने—इति बौद्धमनैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयम् । तत् परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति साध्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपञ्चकम् । तत् पर कर्मैव मुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि साध्यमनैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदशम् । तदनन्तरं चित्तस्वरागस्य घातं कर्तव्य इत्यज्ञानन्बहिरंगशब्दादिविषयाणां घातं करोतीति योऽक्षो चित्तयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकम् । तदनन्तरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकम् । तत् परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणामति इति कथनरूपेण सूत्रदशकम् । तदनन्तरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्र्यव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयम् । तदनन्तरं पञ्चेन्द्रियमनोविषयतिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकम् । तदनन्तरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । तत् परं शास्त्रे द्विविधविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण गाथापञ्चदशम् । तत् परं शुद्धात्मा कर्मनोक्तमहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । तदनन्तरं शुद्धात्मभावनारूपं मार्वालग्नरिपेक्षं द्रव्यनिगमं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकम् । तदनन्तरं मुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम् ।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतया ममयमार्गव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन

पट्टिकनर्वातगाथाभिस्तथोदगाधिकारं समयसार—

चूतिकाभिदानो भवविशुद्धज्ञाननामा दशमोऽधिकारः समाप्तः—

टीका—(जो समयपाठद्विमिण पठिदूणय) श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव इस समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुये इसका फल दर्शाते हैं कि कोई भी जीव इस समय प्राभूत नाम के ग्रन्थ को पढ़कर, केवल पढ़कर ही नहीं (अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त) अर्थ और तत्त्व से भी जानकर अर्थात् उसके भाव को भी समझकर (अर्थात् ठाहिर) पश्चात् शुद्धात्मलक्षण वाले उपादेय पदार्थ में अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लग रहेगा (वेदा सो पावदि उत्तम सोक्ख) वह आत्मा आगामीकाल में बीतरागरूप सहज अपूर्व परम ब्रह्माद रूप सुख को प्राप्त करेगा । वह सुख कैसा है—

आत्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशाल,
वद्विह्लासव्यपेत विषयविरहित नि प्रतिद्व द्विभाष ।

अन्यद्वयानपेक्ष निरुपमममित आश्वस्तं सर्वकाल-
मुत्कृष्टान्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥

अर्थात्—(इस समयसार के पढ़ने और अपने जीवन में उतारने से) जो सिद्ध होता है उसको वह परमसुख होता है जिसका कि आत्मा ही उपादान है अर्थात् आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अपने आप प्रतिशय सहित है, सभी प्रकार की बाधाओं से रहित है, विशाल है, अर्थात् उससे अच्छा सुख दूसरा कोई नहीं है, हानि और वृद्धि से रहित है, विषयो की वासना से रहित है, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं है, जो अन्य द्रव्यों की अपेक्षा रखने वाला नहीं है, निरुपम है अर्थात् जिसकी तुलना करने वाला दूसरा सुख नहीं है, अमित है अर्थात् सीमातीत है, सर्वकाल रहने वाला है, उत्कृष्ट है और अनन्तसार वाला है ।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! आपने अनेक बार अतीन्द्रिय सुख की बात कही है किंतु वह अतीन्द्रिय सुख कैसा है ऐसा लोग नहीं जानते ? भगवान् आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं— देखो, कोई व्यक्ति स्त्री प्रसंग आदि पचेन्द्रिय के विषय सुख व्यापार से रहित अवस्था में सभी प्रकार की आकुल व्याकुलता से दूर होकर बैठा हुआ है उसको किसी ने आकर पूछा कि कहो भाई देवदत्त ! सुख से तो हो ? इस पर वह उत्तर देता है कि मुझ से हैं, तो यह सुख अतीन्द्रिय है क्योंकि सांसारिक सुख विषयों के सेवन से पैदा होता है और यहाँ पचेन्द्रियों के विषय के व्यापार का अभाव होते हुये भी सुख दीख रहा है वह अतीन्द्रिय है । किन्तु यह जो सुख हो रहा है वह सामान्यात्मक साधारण सा अतीन्द्रिय सुख है । किन्तु जो पाँचो इन्द्रियो से और मन से होने वाले सभी प्रकार के विकल्प जालों से रहित ऐसे जो समाधिस्य परम योगीश्वर को स्वसवेष्टात्मक अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेष रूप से होता है (अर्थात् इससे भी और अपूर्व विशेषता लिये हुये होता है) । जो मुक्तात्माओं को अतीन्द्रिय सुख है, वह हम तुम सरीखे लोगों के या तो अनुमान गम्य है या आगम गम्य है । देखो, मुक्तात्माओं को इन्द्रिय विषयों के व्यापार के न होने पर भी अतीन्द्रिय सुख होता है, यह पक्ष हुआ । क्योंकि वर्तमान में होने वाला विषय व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में रत होकर रहने वाले परम मुनीश्वरों को स्वसवेष्टात्मक सुख की उपलब्धि होती है, यह हेतु हुआ । यह पक्ष और हेतु रूप दो अंगवाला अनुमान हुआ ऐसा जानना चाहिये । आगम में तो जैसा ऊपर “आत्मोपादानं सिद्धं” इत्यादि वचन से ऊपर कह आये है वह वचन अतीन्द्रिय सुखका वर्णन करने वाला प्रसिद्ध ही है । इसलिये अतीन्द्रिय सुख के विषय में सदेह नहीं करना चाहिये—यही बात और स्थान भी कही है—

यद्वैव मनुजा सर्वे सौख्यमक्षार्थं सम्भव, निर्विशति निराबाध सर्वाक्षप्रोणनक्षम ॥१॥

सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महद्विक, भाविनो ये च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वातरजक ॥२॥

अनन्तगुणिन तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावज, एकस्मिन् समये भुक्ते तत्सुख परमेदवर ॥३॥

अर्थात्—वर्तमान में जो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य हैं वे सब निरंगल रूप से अपने सभी इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला इन्द्रिय जन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त हुए सुख भोग रहे हैं । और जो सुख पहले भूतकाल में पुण्याधिकारी देव और मनुष्यों ने महद्विक सुख भोगा है तथा आगे होने वाले पुण्याधिकारी देव और मनुष्य इन्द्रियजन्य स्वादिष्ट और मनोरंजक सुखको भोगेंगे उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा सुख अतीन्द्रिय जन्य अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान् को एक समय में होता है ।

जैसा कि पूर्व में वर्णन कर आये हैं सात गाथाओं में विष्णु के कर्तापन का निराकरण किया है, उसके बाद चार गाथाओं में ब्रह्मो की इस मान्यता का निराकरण है कि कर्ता कोई दूसरा ही है और भोक्ता कोई दूसरा ही है। उसके आगे पांच गाथाएं आई हैं जिनमें परमात्मा रागादि भावों का कर्ता नहीं है इस प्रकार की साख्यमतवालों की जो मान्यता है उसका निराकरण है। उसके आगे तेरह गाथाएं ऐसी हैं जिनमें इन्हीं साख्यमतवालों की “कर्म ही मुखादि करता है आत्मा कुछ नहीं करता” इस मान्यता का निराकरण है। इसके पश्चात् सात गाथाएं ऐसी हैं जिनमें जो पुरुष, चित्त में होने वाले रागभाव का घात करना चाहिये, इस बात को नहीं जानकर बहिरंग शब्दादि विषयों का ही घात करने के लिए सोचता रहता है, उसको समझाया है। इसके बाद सात गाथाएं हैं, जिनमें यह बताया गया है कि आत्मा व्यवहार में द्रव्य कर्म का कर्ता है और निश्चय नय से भाव कर्म का कर्ता है। उसके भी आगे दस सूत्र ऐसे हैं, जिनमें बताया गया है कि ज्ञान गुण ज्ञेय रूप से परिणामन नहीं करता। उसके बाद चार गाथाओं में शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना रूप चारित्र का व्याख्यान किया गया है। उसके बाद दस सूत्र हैं, जिनमें पांचों इन्द्रिया और मन के विषयों के निरोध का कथन है। उसके बाद तीन गाथाएं हैं, जिनमें यह बताया गया है कि कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का नाश करना चाहिये। इसके पश्चात् पन्द्रह गाथाएं आई हैं, जिनमें बताया गया है कि शास्त्र और इन्द्रियों के विषय शब्दादिक ये सब ज्ञान नहीं, ज्ञान इन सबसे भिन्न वस्तु है। इसके बाद तीन गाथाएं हैं, जिनमें बताया गया है कि शुद्धात्मा निश्चय से कर्म और नोकर्म आदि आहार को ग्रहण नहीं करता। इसके बाद सात गाथाएं हैं, जिनमें मुख्यता से यह बताया गया है कि शुद्धात्मा की भावना रूप जो भावलिङ्ग है उस भावलिङ्ग से शून्य जो द्रव्यलिङ्ग है, वह युक्ति का कारण नहीं होता, और इन सबके अन्त में एक गाथा है, जिसमें मुख्यता से यह बतलाया गया है कि इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल मुक्त प्राप्ति है।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ की श्री जयसेनाचार्य कृत शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाली तात्पर्य नाम की व्याख्या के हिन्दी अनुवाद में सब मिलाकर छिनवे (९६) गाथाओं के द्वारा तेरह अन्तर अधिकारों में यह समय सार चूलिका है दूसरा नाम जिसका, ऐसा सर्वविशुद्धिज्ञान नामका दसवा अधिकार समाप्त हुआ।

अथ स्याद्वादधिकार

तात्पर्यवृत्ति —

अत्र स्याद्वादसिद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।

उपायोपेयभावश्च सनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥

विरपते विचार्यते कथयत मनाक् सत्तेषां भूय पुनरपि काऽनौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तु-
तत्त्वस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्यवस्था । किमर्थं ? स्याद्वादशुद्धयर्थं स्याद्वादनिश्चयार्थं । अत्र समयसार व्याख्याने समाप्ति-
प्रस्तावेन केवल वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चरत्यते । उपायोपेयभावश्च । उपायो माक्षमाणं उपेयो माक्ष इति ।

अतः परं स्याद्वाच्यशब्दार्थः कः ?—इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः—स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणाने-
कात्स्वरूपेण बबनं वावो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वाच्यं सच स्याद्वाचो भगवतोऽहं शासनमित्यर्थः । तच्च
भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु, धनेकातात्मकमित्यनुशास्ति । अनेकांत इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि
वस्तुत्वविषयादक—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादित्वस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यस्यस्य प्रतिपादने स्यादनेकातो भण्यते ।
सचानेकांतो किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थं शुद्धात्मा स तदतद्रूपं एकानेकात्मकं सदसदात्मको
नित्यानित्यादि स्वभावात्मको भवतीति कथयति । तथाहि ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति । ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति । द्रव्या-
धिकनयेनेकः । पर्यायाधिकनयेनानेकः । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः । परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः ।
द्रव्याधिकनयेन नित्यः । पर्यायाधिकनयेनाऽनित्यः । पर्यायाधिकनयेन भेदात्मकं द्रव्याधिकनयेनाभेदात्मकं भवतीत्याद्यनेक-
धर्मात्मकं इति ।

तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु ममतमद्वाच्यार्थदेवैरपि भणितमास्ते—

मदेकनित्यवस्तुस्यास्तद्विषयाश्च ये नया ।

सर्वं येति प्रबुध्यति पुष्पति स्यादितिह ते ॥१॥

सर्वंथानियमत्यागी यथाहृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्वयामात्मविद्विषा ॥ २ ॥

अनेकातोऽप्यनेकांतं प्रमाणनयसाधनं ।

अनेकानां प्रमाणात्ते तदेकातोऽपि ताभ्याम् ॥३॥

धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्मिणा न कथंचन ।

अनेकानोऽप्यनैकानां इति जैनमतं ततः ॥४॥

एव कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकातात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थः मत्पेक्षेण ज्ञातव्यः । तत्रैवमनेकात-
व्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको ज्ञातः । तस्मिन्नेकानेकात्मके ज्ञाते सति ज्ञानमात्रभावस्य जीव-
पदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं साधकरूपं घटते । मोक्षरूपेण
पुनरप्येवभूतं साध्यरूपं च घटते इति ज्ञातव्यः । अथ प्राभूताध्यात्मशब्दयोरर्थः कथ्यते । तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो
राजदशनाथं किञ्चित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभूतं भण्यते । तथा परमात्मा राजावकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मा राजदश-
नार्थमिवमपि शास्त्रं प्राभूतः । कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभूतशब्दस्यार्थः । रागादिपरद्रव्यनिरालंबनत्वेन निजशुद्धा-
त्मनिविशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम् । इदं प्राभूतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं ? सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं निर्विकल्पो-
ऽहं, उदासीनोऽहं निजनिर्जनशुद्धात्मसम्पत्कश्चिदज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंज्ञातीतराग-
सहजानन्दरूपमुत्तानुभूतिमात्रलक्षणोऽस्वसंवेदनेन मवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं । राग द्वेष-मोहः, क्रोध-मान-माया-
लोभ-पक्षे द्वयविषयध्यापार-मनोवचनकायध्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-क्याति-पूजा-लाभ- हृष्टधृतानुभूतभोगाकांक्षा-
रूपनिदानमाया-मिथ्याशक्त्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितं शून्योऽहं । जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यं कृतका-
रितानुमतेष्वच शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वं ज्ञेयम् । इति निरन्तरं भावना कर्तव्या । इति स्याद्वादोऽधिकारः ।

अत्र अथे प्रबुद्धेण पदानां सधिनं कृता वाक्यानि च मिश्रामिश्रानि कृतानि सुखबोधार्थं । तेन कारणेन विम-
बचन-क्रिया-कारक-समि-समास-विशेष्य-विशेष्येण वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकेभिः । शुद्धात्मादितत्त्वप्रति-
पादनविषये यदज्ञानात् किञ्चिदस्मृतं तदपि क्षमिष्यमिति ।

जय उरमि पउमणुदी जेण महातत्त्व पाहुडस्सेनो ।
 बुद्धिमिरेगुद्धमिओ सवप्पिमो अम्बलोयस्स ॥ १ ॥
 ज सेनीणा जीवा तरणि समार सायरस्सुत ।
 त सव्वजीवसरण सुदउ जिण सामण सुडर ॥ २ ॥

यश्चाम्यस्यति सशृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् ।
 तात्पर्यव्यभिचयि स्वरूपरसिकं सर्वणितां प्राप्नुत ।
 शश्वद्रूपमल विचित्रमकाल ज्ञानात्मक केवल ।
 सप्राप्याग्रपदेशपि मुक्तिललनारक्त सदा वर्तते ॥

इति श्रीकु वकु दवेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानप्रवृत्तसम्बन्धिनी
 श्री जयसेनाचार्य कृता दशाधिकारैरेकं नचत्वारिंशदधिकगाथा शतचतुष्टयेन
 तात्पर्यवृत्ति समाप्ता ॥

॥ इति सतात्पर्यवृत्तिसमयसारप्राभृत समाप्त ॥

टीका —अब थोड़ा फिर भी इस बात का विचार किया जाता है कि वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिति (व्याख्या) किस प्रकार की है ? यह विचार भी स्याद्वाद की सिद्धि के लिए अर्थात् उसके निर्णय के लिए किया जा रहा है। यहाँ इस समयसार के व्याख्यान में समाप्ति के अवसर पर केवल वस्तुतत्त्व की व्यवस्था का ही विचार नहीं किया जा रहा है किन्तु इसके साथ में, उपाय उपेय भाव का भी विचार किया जा रहा है। यहाँ उपेय तो मोक्ष है और उपाय उस मोक्ष का मार्ग है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि स्याद्वाद शब्द का क्या अर्थ है ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं—कि 'स्यात्' अर्थात् कश्चित् विवक्षित प्रकार से (अपनी विवक्षा को लिए हुए) अनेकात रूप से बोलना (कथन करना) सो स्याद्वाद है। यह स्याद्वाद भगवान् अरहत देवका शासन है। यह भगवान् का शासन सम्पूर्ण वस्तुओं को अनेकान्तात्मक बतलाता है। अब अनेकान्त का क्या अर्थ है ? सो स्पष्ट बतलाते हैं—एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व नामितत्व मरीखी दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों का जो प्रतिपादन किया जाता है उसका नाम अनेकान्त है। वह अनेकान्त यह बताता है कि 'ज्ञानमात्र जो भाव है अर्थात् जीव पदार्थ है शुद्धात्मा है वह तद्रूप या अतद्रूप या एकानेकात्मक अथवा सदसदात्मक किंवा नित्यानित्यादि स्वभावात्मक है।' इसका स्पष्टीकरण यह है कि आत्मा ज्ञानरूप से तद्रूप है, तो ज्ञेयरूप से वही अतद्रूप भी है। द्रव्याधिकनय से एक ही तो पर्यायाधिक नय से वही अनेक भी है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा जो सद्रूप है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय के द्वारा असद्रूप भी है। द्रव्याधिक नय से नित्य है तो पर्यायाधिक नय से अनित्य भी है। पर्यायाधिक नय के द्वारा भेदात्मक है तो द्रव्याधिक नय के द्वारा वही अभेदात्मक भी है इत्यादि अनेक धमवाला आत्मा है। श्री समतभद्राचार्य ने भी स्याद्वाद का स्वरूप ऐसा ही बतलाया है—

सदेकनित्यवयनव्याप्तद्विपधाश्च ये नया ।

सर्वथेति प्रदुर्गति पुप्यति स्यादितिहे ते ॥१॥

सत् - असत्, नित्य - अनित्य, एक - अनेक, और वक्तव्य - अवक्तव्य ये परस्पर विरुद्ध आठ नवों के चार जोड़ हैं। इनको यदि सर्वथा एकान्त दृष्टि में मान लें तो ये एक दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं किन्तु

यदि स्यात् अर्थात् कथञ्चित् रूप से इन्हे स्वीकार करने पर ये एक दूसरे के पोषक बने रहते हैं ।

सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षक ।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्यथामात्मविद्विषाम् ॥२॥

हे भगवन् ! 'स्यात्' शब्द आपके ही न्याय में है जो कि सर्वथा एकान्त का त्यागी है, जैसा प्रत्यक्ष देखने में आता है । एकानेकात्मक तत्त्व उस तत्त्व को लेकर चलने वाला है सो यह 'स्यात्' शब्द अपने आपका भी बिगाड़ करने वाले ऐसे अन्य लोगों के यहाँ नहीं है ।

अनेकातोप्यनेकात् प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकात् प्रमाणात् तदेकातोऽपितान्यथा ॥३॥

हे भगवन् ! यद्यपि आपका मत अनेकातात्मक है तो भी वह अनेकात् भी एकात् से नहीं है, किन्तु वहाँ भी कथञ्चित् एकात् और कथञ्चित् अनेकात् है जोकि प्रमाण और नय के द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है अर्थात् आपके यहाँ प्रमाण के द्वारा तो प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप है किन्तु अपेक्षित नय के द्वारा देखी गई जो वस्तु नित्य है वह उस नय से नित्य ही है और अनित्य है सो अनित्य ही है ।

धर्मिणोऽनतरूपत्वं धर्माणां न कथञ्चन ।

अनेकातोप्यनेकात् इति जैनमतं तत् ॥

जैसे कि धर्मों में अनन्तरूपता है किन्तु प्रत्येक धर्म पृथक् पृथक् एक एक है । इसीलिये अनेकात् में भी अनेकात्पना है यह जैनमत कहता है ।

इस प्रकार कथञ्चित् शब्द का वाचक व अनेकान्तात्मक वस्तुका प्रतिपादन करने वाले 'स्यात्' शब्द का अर्थ संक्षेप से कहा गया समझ लेना चाहिये । इस प्रकार अनेकात् के व्याख्यान से ज्ञानमात्र स्वभाववाला जीव पदार्थ भी अनेकान्तात्मक सिद्ध हुआ । उसके एकानेकात्मक रूप सिद्ध हो जाने पर ज्ञानमात्र स्वभाव वाले उस जीव पदार्थ का नयों के विभागद्वारा निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के भेद से जो दो प्रकार वाला है, जो भेदाभेद रत्नत्रयात्मक है, ऐसा उपायभूत साधकरूप घटित हो जाता है और मोक्षरूप से उपेयभूत साध्यरूप भी घटित हो जाता है ऐसा समझना चाहिए । अब इसके आगे प्राभूत शब्द का और अध्यात्म शब्द का अर्थ कहा जाता है, वह ऐसे है—जैसे कोई देवदत्त नाम का मनुष्य राजा को देखने के लिये जब जाता है तो उस राजा को भली वस्तु देता है, उसी को प्राभूत कहा जाता है वैसे ही परमात्मा का आराधक जो पुरुष है उसके पास निर्दोष परमात्मा के दर्शन करने के लिये यह शास्त्र प्राभूत है क्योंकि यह सारभूत है । इस प्रकार यह प्राभूत शब्द का अर्थ है । रागादि परद्रव्यों के झालबन से रहित जिसका आधार भी विशुद्ध है ऐसे अपने शुद्धात्मा में स्थित हो जाना सो अध्यात्म शब्द का अर्थ है ।

अब इस प्राभूत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य महा-राज कहते हैं कि इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि 'मैं तो शहज शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभावमय हूँ, निर्विकल्प हूँ, अर्थात् किसी प्रकार के रागद्वेष से प्रथवा मार्त्तरीद्रव्य से रहित हूँ, उदासीन हूँ अर्थात्

दूसरे द्रव्यो से अब मेरा कोई संबंध नहीं है, अपनी निरञ्जन जो शुद्धात्मा उसी के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान (आचरण) रूप जो निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न हुआ जो बीतराग सहजानन्द रूप सुख उसका अनुभव करना ही है लक्षण जिसका ऐसे स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा मैं सवेद्य हूँ, गम्य हूँ, प्राप्य हूँ, अर्थात् उसी अनुभव से भरा पूरा हूँ। रागद्वेष मोह श्लेष मान माया लोभ और पचेन्द्रियो के विषयो का व्यापार तथा मन वचन काय का व्यापार और भाव कर्म द्रव्यकर्म लोकर्म एवं क्लृप्ति पूजा लाभ तथा देखे हुये, सुने हुये, और अनुभव मे लाये हुये ऐसे भोगो की आकाक्षा रूप निदान तथा माया मिथ्या शक्त्य आदि और भी जो विभाव परिणाम है इन सबसे मैं रहित हूँ। मैं तो शुद्ध निश्चयनय के द्वारा तीनो लोको मे और तीनो कालो मे मन वचन काय के द्वारा और कृत कारित और अनुमोदना के द्वारा पूर्वोक्त विभाव परिणामो से सर्वथा शून्य हूँ जैसे ही निश्चयनय से और भी सब जीव है। यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

यहाँ इस ग्रन्थमे लोगो को सरलता से ज्ञान प्राप्त हो जाय इसलिये प्राय पदोकी सन्धि नहीं की गई है और वाक्य भी भिन्न भिन्न रखे गये हैं, इसलिए विवेकियो को यहा पर लिंग वचन क्रिया कारक सन्धि समास विशेष्य विशेषण और वाक्य परिसमाप्ति आदि विषय की कही कमी देख पड़े तो ध्यान नहीं देना चाहिये, तथा शुद्ध आत्मादि तत्वो के प्रतिपादन के विषय मे अज्ञान के कारण से कही कोई भूल रह गई हो तो क्षमा कर देने योग्य है।

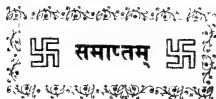
(अब टीकाकर अन्तिम मगलाचरण करते हैं) जिन महर्षि पद्मन्दी ने अपनी बुद्धिरूपी सिर से महातत्व पाहुड अर्थात् समयसार पाहुड रूप पर्वत को उठाकर भव्य जीवो के लिये अर्पण कर दिया वे पद्मन्दी महर्षि जयवन्त रहो ॥१॥ जिसका आश्रय लेकर भव्य लोग अनन्त संसार सागर को पार कर जाते है, वह सब जीवो के लिये शरणभूत हो रहने वाला जिन शासन चिरकाल तक जयवन्त रहे ॥२॥ (यहा वृत्तिकार आशीर्वाद सूचक मगलाचरण करते है) आत्म रस के रसिको के द्वारा वर्णन किया हुआ यह तात्पर्य नाम का प्राभूत शास्त्र है इसको जो कोई आदरपूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा और इसे फैलावेगा वह जीव सदा रहने वाला धन्युत सकल ज्ञानस्वरूप समर्थ केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे सदा के लिये मुक्तिरूपी स्त्री मे आसक्त हो रहेगा।

इस प्रकार श्री कुम्भकुम्भाचार्य के द्वारा रचे गये समयसार प्राभूत नाम के ग्रन्थ की श्री जयसेनाचार्य के द्वारा बनाई हुई चारसो उन्तालीस गाथाओ द्वारा दश अधिकार वाली इस तात्पर्यवृत्ति टीका का हिन्दी अर्थ श्री १०८ श्री आचार्य ज्ञानमूर्ति चारित्रभूषण ज्ञानसागरजी महाराज द्वारा समाप्त हुआ।

आचार्य श्री की ओर से लाघव प्रदर्शन

अक्षरमात्रापवादिहीनम् यद्विहितमस्त्यपराचीनम् ।

अन्तव्य साधुभिरक्षुब्धे को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्भे ॥१॥



टीकाकार श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति

धनान् तमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
 तत्प्रकाश समर्थयि नमोस्तु कुमुदेन्दवे ॥१॥
 सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंधेयि सत्तपाः ।
 नैर्घन्ध्यं पदवीं भेजे जातरूपधरोपि यः ॥२॥
 ततः श्री सोमसेनोद्भूतप्रणी गुणगणाश्रयः ।
 तद्विनैयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोमृते ॥३॥
 शोधं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
 सूनुस्ततः साधुपहोपतिर्यस्तस्मादयं चारुमटस्तन्नजः ॥४॥
 यः संततं सर्वविदः सपर्यमार्थक्रमाराधनया करोति ।
 स श्रेयसे प्रामृतनामग्रन्थ पुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपमीरः ॥५॥
 श्रीमन्त्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराक्षितायना चन्द्रम् ।
 प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधराम् ॥६॥
 जगत्समस्तसंसारिजीवाकारण बन्धवे ।
 सिधवे गुणरत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥७॥
 त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महासंयमोत्तमं शिरसा ।
 यत्प्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥८॥

अर्थ—प्रज्ञान कपीधन्वकार से यह रत्नत्रयनय मोक्षमार्ग लिप्त हो रहा है उसके प्रकाश करने को समर्थ श्री कुमुदचन्द या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो । इस मूलसंध में परम तपस्वी निर्घन्ध पदधारी नग्न मुद्रा से मुनीभित श्री वीरसेन नाम के आचार्य हो गये हैं । उनके शिष्य अनेक गुणों के धारी आचार्य श्री सोमसेन हुए । उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ । सदा धर्म में रत ब्रह्मिष्ठ मालु साधु नाम के हुए हैं उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है । उनसे चारुमट नाम का पुत्र उपजा है, उसे सर्व ज्ञान प्राप्त कर सदा आचार्यों के चरणों की प्राराधना पूर्वक सेवा करता है । उस चारुमट अर्थात् जयसेनाचार्य ने जो अपने पिता की भक्ति की विलोप करने से मयभीत था इस प्रामृत नाम ग्रन्थ की टीका की है । मैं श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूँ, जो जगत के सब सक्षारी जीवों के निष्कारण बन्धु हैं और गुरुरूपी रत्नों के समुद्र हैं । फिर मैं महा संयम के पालने में श्रेष्ठ चन्द्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूँ जिसके उदय से जगत के प्राणिमयी के अन्तरन का धन्वकार समूह नष्ट हो जाता है ।

नोट—यह श्री जयसेनाचार्य की प्रशस्ति प्रवचनसार में छपी है वहां से ली गई है ।

॥ समयसार आकारदि क्रमेण गाथा सूची ॥

अ

	गा. स श्राम- क्याति	गा. स तार्य- वृत्ति	पृ. स
अग्रभवसारु निमित्त	२६७	२८०	२३६
अग्रभवसारु गारा	४०२	४२४	३३६
अग्रभवसिदेण बधो	२६२	२७५	२३१
अट्टवियप्पे कम्मे	१८२	१६०	१६४
अट्टविहृण य कम्म	४५	५०	४३
अट्टवदिण्ण	३७२	३७७	३१३
अण्णालमयो भावो	१२७	१३५	११६
अण्णालमया भावा	१२६	१३७	११७
अण्णालमया भावा	१३१	१३६	११७
अण्णालमोहिदमदी	२३	२८	२७
अण्णालास्स स उवधो	१३२	१४१	१२०
अण्णाली कम्मफल	३१६	३३६	२८०
अण्णाली पुण रत्तो	२१६	२३१	२०१
अण्णो क रेदि अण्णो	३४८	३५२	२६६
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	४२७	३४५
अपडिककमए दुविह	२८३	३०६	२५५
अपडिककम्मए दुविह दब्बे	२८४	३०७	२५४
अपरिग्गहो अण्णिच्छो	२१०	२२३	१६५
अपरिग्गहो अण्णिच्छो	२११	२२४	१६६
अपरिग्गहो अण्णिच्छो	२१२	२२६	१६७
अपरिग्गहो अण्णिच्छो	२१३	२२७	१६७
अपरिणामतेहि सय	१२२	१२७	१०८
अप्यडिककमए अप्यडिसरए	३०७	३२७	२७३
अप्याणमप्याण क धिअए	१८७	१६५	१६८
अप्याणमयाएता	३६	४४	४०
अप्याणमयाएतो	२०२	२१३	१८५
अप्या रिण्णो	३४२	३६८	३०४
अप्याए भायतो	१८६	१६७	१६८
अरसमरूवगध	४६	५४	४८

	ग्रास	ग्रास	पृस
	ग्रास-	ग्रास-	पृस-
	ग्रास	ग्रास	पृस
अबरे अरुअवसाएगु	४०	४५	४०
अमुह सुह च दव	३८१	४०७	३८८
अमुह सुह च रुव	३७६	४०२	३८३
अमुहो सुहो य गवो	३७७	४०३	३८७
अमुहो सुहो य कामो	३७६	४०५	३८८
अमुहो सुहो व रवो	३७८	४०४	३८७
अमुहो सुहो य गुणो	३८०	४०६	३८८
अमुहो सुहो व सहो	३७५	४०१	३८७
अह जाएओ दु भावो	३४४	३७०	३०४
अह जीवो पयडी तह	३३०	३४६	३००
अह ए पयडी ए जीवो	३३१	३४७	३००
अह पुण अणो कोहो	११५	१२२	१०३
अहमिकको ललु सुहो	३८	४३	३८
अहमिकको ललु सुहो	७३	७८	६३
अहमेद एदअह	७०	२५	२५
अहवा एसो जीवो	३२६	३४५	३००
अहवा मण्णसि मरु	३४१	३६७	३०४
अह समयया परिणमदि	१२४	१२६	१०८
अह समयव हि परिणमदि	११६	X	X

	मा. स.	गा. स.	पृ. स.
आत्म- ख्याति	तात्पर्य- वृत्ति		
आधाकम्म उहेसिय	०	३००	२५०
आधाकम्मादिया	२८६	२४७	२४६
आधाकम्मादिया	०	२६८	२४६
अभिणिसुबोहि	२०४	२११	१६३
आयारादी एाण	२७६	२६५	२४०
आयास पि एाण	४०१	४२३	३३६
आसि मम पुब्बमेव	२१	२६	२५

इ

इणमण्ण जीवादी	२८	३३	३०
इय कम्मवघराण	२६०	३११	२५६
इयादु ण्णु विविहे	२१४	२२८	१६६

उ

उदयविवागो विविहो	१६८	२११	१८४
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	२२६	२००
उप्पादेदि करेदि य	१०७	११४	६८
उम्मास गच्छत	२३४	२५०	२१३
उवमोगस्स अण्णाई	८६	६६	८०
उवमोए उवमोगो	१८१	१८६	१६४
उवपाय कुब्बतस्स	२३६	२४५	२१८
उवपाय कुब्बतस्स	२४६	२६०	२२०
उवसेसेण परोक्ख	०	१६८	१७०
उवमोगमिदिसेहि	१६३	२०३	१०६

ए

एएण कारणेण दु	८२	८८	७२
एएणु य उवमोगो	६०	६७	८१
एएहि य सबधो	५७	६२	५१
एक्क च दोष्णि तिण्णि	६५	७०	५६
एकस्स दु परिणामो	१४०	१४८	१२४
एकस्स दु परिणामो	१३८	१४६	१२२
एदहि रदो णिच्च	२०६	२२०	१६२
एदाणि सारिय जेसि	२७०	२८८	२४०
एदे अचेदणाल्लु	१११	११८	१००

	मा. स.	गा. स.	पृ. स.
आत्म- ख्याति	तात्पर्य- वृत्ति		
एवेण कारणेण दु	१७६	१८४	१५६
एदेण दु सो कत्ता	६७	१०४	८६
एदे सब्बे भावा	४४	४६	४२
एदेसु हेतुभूदेसु	१३५	१४३	१२०
एदाहि य णिच्चत्ता	६६	७१	५५
एमेव कम्मपयडी	१४६	१५७	३३
एमेव जीव पुरिसो	२२५	२४१	२०६
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	३४७	२६२
एमेव य ववहारो	४८	५३	४५
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	२४३	२०६
एय तु अविक्खीय	१८३	१६१	१६४
एय तु जाणिऊण	३८२	४०८	३२८
एय त्तिच्छयगमो	३	३	५
एय तु अस्सभूदं	२२	२७	२५
एवमल्लिगे अदत्ते	२६३	२७६	२३३
एवमिहु जो दु जीवो	११४	१२१	१०३
एव हि सावराहो	३०३	३२४	२७०
एव जाणदि गाणी	१८५	१६३	१६६
एव ण कोवि मोक्खो	३२३	३४४	२६१
एव णारी सुद्धो	२७६	३०२	२५२
एव तु णिच्छयणयस्स	३६०	३८६	३१६
एव पराणि दब्बाणि	६६	१०३	८७
एव पुगलदब्ब	६४	६६	५५
एव बधो दु कुण्हि	३१३	३३३	२७८
एव मिच्छदिट्ठी	२४१	२५७	२१८
एव रसगवफासा	६०	६५	५२
एव ववहारणमो	२७२	२६१	२४३
एव ववहारस्स दु	३५३	३८२	३१५
एव विहा बहुविहा	४३	४८	४०
एव सल्लुवदेस	३४०	३६६	३०४
एव सम्मादिट्ठी अण्णाण	२००	२१०	१८३
एव सम्मादिट्ठी वट्ट तो	२४६	२६२	२२०
एव हि जीवराया	१८	२१	२१

	गा स	गा स	पृ स
	आत्म-	तात्पर्य-	
	क्याति	वृत्ति	
एसा दु जा मदी	२५६	२७२	२३०
एसो बवहारस्स दु	३६५	३६४	३ ६
क			
कणमया भावादो	१३०	१३८	११७
कत्ता आदा भण्णदो	०	८१	६८
कम्म ज पुव्वकम	३८३	३६५	३२४
कम्म ज सुहमसुह	३८४	३६६	३२४
कम्म खाण ण हवदि	३६७	४१६	३३६
कम्म पटुञ्ज कत्ता	३११	३३१	२७६
कम्म बद्धमबद्ध	१४२	१५०	१२६
कम्म हवइ किट्ठ	०	२३३	२०३
कम्मइयवग्गणासु	११७	१२४	१०६
कम्मणिमित्त सव्व	२५५	२६८	२२७
कम्ममसुह कुसील	१४५	१५३	१३१
कम्मस्सामावेण य	१६२	२०२	१७२
कम्मस्स य परिणाम	७५	८०	६७
कम्मस्सुदय जीव	४१	४६	४०
कम्मणेणकम्महि य	१६	२२	२२
कम्मोहि दु अण्णाराणी	३३२	३५८	३०३
कम्मोहि भमाडिज्जइ	३३४	३६०	३०३
कम्मोहि सुहाविज्जइ	३३३	३५६	३०३
कम्मोदयेण जीवा	२५६	२६६	२२७
कह एस तुञ्ज न हवदि	०	२०६	१८२
कह सो चिप्पदि अप्पा	२६६	३१७	२६४
कालोदि णटिय णारु	६००	४२२	३३६
कायेण दुक्खवेमिय	०	२२१	२३७
कायेण य वाया व	०	२८५	२३८
केहिचि दु पज्जयेहि	३४५	३४६	२६६
केहिचि दु पज्जयेहि	३४६	३५०	२६६
कोणाम भणिज्ज बुद्धो	२०७	२१८	१६१
को णाम भणिज्ज	३००	३२१	२६६
को विदिदच्छा साहु	०	१६६	१७१
कोहादिमु दट्ट तस्म	७०	७५	६०

	गा म	गा म	पृ स
	आत्म-	तात्पर्य-	
	क्याति	वृत्ति	
कोहुवजुत्तो कोहो	१२५	१३०	१०८
ग			
गघो णारु ण हवदि	३६४	४१६	३३६
गुणसप्पिण्णदा दु एदे	११२	११६	१०१
ज			
चलविह अणोवभेय	१७०	१७८	१५२
चारित्त पडिणिबद्ध	१६३	१७१	१४४
चेदा दु पयडियट्ट	३१२	३३२	२७८
झ			
छिददि मिददि य तहा	२३८	२५४	२१८
छिददि मिददि य तहा	२४३	२५६	२२०
छिज्जदु वा मिज्जदु वा	२०६	२१६	१६२
ञ			
जइ जीवेण सहच्चिय	१३६	१४७	१२४
जइ णवि कुणई छेद	२८६	३१०	२५६
जइया इमेण जीवेण	७१	७६	६१
जइया स एव सव्वो	२२२	२३७	२०४
ज कुणदि भावमादा	६१	६८	८२
ज कुणदि भावमादा	०	२४	२४
ज कुणदि भाव मादा	१२६	१३४	११५
ज भाव सुहमसुह	१०२	१०६	६४
ज सुहमसुहमुदिण	३८५	३६७	३२४
जदि जीवो ण सरीर	२६	३१	२६
जदि पुगल कम्ममिण	८५	६१	७६
जदि सत्तारत्थाण	६३	६८	५५
जदि सो पर दव्वाणि य	६६	१०६	६६
जदि सो पुगलदव्वो	२५	३०	२७
जया विमु चण वेया	३१५	३३५	२७६
जह कणयमगितविय	१८४	१६२	१६६
जह कोविणरो जपइ	३२५	३४६	२६२
जह चिट्ठ कुव्वतो	३५५	३८४	३१५
जह जीवस्स अणप्पगुवग्गो	११३	१०३	१२०
जह णवि सक्कमणजो	८	८	६

गा स गा स पृ स	आस्थ- तात्पर्य-	ख्याति	वृत्ति
जह लाम को वि पुरिसो	१७	२०	२१
जह लाम को वि पुरिसो	३५	४०	३५
जह लाम को वि पुरिसो	१४८	१५६	१३३
जह लाम को वि पुरिसो	२३७	२५३	२१८
जह लाम को वि पुरिसो	२८८	३०६	२५६
जह परदव्व सेडवि	३६१	३६०	३१६
जह परदव्व सेडवि	३६२	३६१	३१६
जह परदव्व सेडवि	३६३	३६२	३१६
जह परदव्व सेडवि	३६४	३६३	३१६
जह पुरा सो येय	२२६	२४२	२०६
जह पुण सो जेव णरो	२४२	२५८	२२०
जह पुत्तिणाहारा	१७६	१८७	१६१
जह फलिहमणो सुद्धो	२७८	३०१	२५१
जह बधे विलतो	२६१	३१२	२६०
जह बधे विलतण य	२६२	३१३	२६१
जह मज्ज पिवमारो	१६६	२०६	१७६
जह राया बवहारा	१०८	११५	६६
जह विममुवभु जतो	१६५	२०५	१७६
जह सखो पोम्मलदो	०	२३८	२०४
जह सिप्पिओ दु	३५२	३८१	३१५
जह सिप्पिओ दु कम्म	३५६	३७८	३१५
जह सिप्पिओ दु करणाणि	३५१	३८०	३१५
जह सिप्पिओ दु करणेहि	३५०	३७६	३१५
जह सिप्पिओ दु चिट्ठ	३५४	३८३	३१५
जह सेडिया दु	३५६	३८५	३१८
जह सेडिया दु	३५७	३८६	३१८
जह सेडिया दु	३५८	३८७	३१६
जह सेडिया दु	३५९	३८८	३१६
जह्मा कम्म कुब्बड	३३५	३६१	३०३
जह्मा मोदेवि पर	३३८	३६४	३०४
जह्मा जाणदि णिच्च	४०३	४२५	३३६
जह्मा दु भत्तमाव	८६	६२	७७
जह्मा दु जह्मावो	१७१	१७६	१५२

गा स. गा. स पृ. स.	आस्थ- तात्पर्य-	ख्याति	वृत्ति
जा एस पयडिडो भ्रु	३१४	२३४	२७६
जाव ण पववत्ताण	३८५	३०८	२५५
जाव ण वेदि विसेतार	६६	७४	६०
जा सकप्पवियप्पो	०	२८६	२४१
जिदमोहस्स दु जइया	३३	३८	३३
जीवसिबद्धा एए	७४	७६	६४
जीव परिलामहेदु	८०	८६	७२
जीवहिं हेदुभूदे	१०५	११२	६७
जीवस्स जीवकव	३४३	३६६	३०४
जीवस्स जे गुए केइ	३७०	३७५	३११
जीवस्स णत्थि केई	५३	५८	४७
जीवस्स णत्थि रागो	५१	५६	४७
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	५७	४७
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	५५	४७
जीवस्स दु कम्मए य	१३७	१४५	१२२
जीवस्सा जीवस्स दु	३०६	३२६	२७६
जीवादीसदृश	१५५	१६३	१४०
जीवे कम्म बद्ध	१४१	१४६	१२५
जीवे रा मय बद्ध	११६	१२३	१०६
जीवे व भजीवे वा	०	२३	२३
जीवो कम्म उहय	४२	४७	४०
जीवो चरित्तदस	२	२	३
जीवो जेव हिं एदे	६२	६७	५४
जीवो ण करेदि घड	१००	१०७	६२
जीवो परिणामयदे	११८	१२५	१०६
जीवो बवो य तहा	२६४	३१५	२६३
जीवो बधो य तहा	२६५	३१६	२६४
जो पुगलदव्वारा	१०१	१०८	६३
जो ग्रप्परा दु मण्णदि	२५३	२६६	२२६
जो आदभावराणिग	०	१२	११
जो ह दिय जिणिता	३१	३६	३२
जो कुणदि वण्णलल	२३५	२५१	२१४
जो चत्तावि वि पाए	२२६	२४५	२१०

गा स गा स आत्म- तात्पर्य- ख्याति वृत्ति	पृ. स.	
जो चेव कुण्ड	३४७ ३५१	२६६
जो जह्मि गुणे दब्ये	१०३ ११०	६५
जो ए करेदि दु गु छ	२३१ २४७	२११
जो ए कुणदि अवरारहे	३०२ ३२३	२१०
जो ए मरदि ए य दुहिदो	२५८ २७१	२२६
जो दुण करेदि कल	२३० २४६	२११
जो धम्म तु मुइत्ता	० १३३	११४
जो धेहि कदे जुद्धे	१०६ ११३	६८
जो पस्सदि अण्णए	१४ १६	१८
जो पस्सदि अण्णए	१५ १७	१८
जो पुण्णिरावरारहे	० ३३७	२८१
जो मण्णदि हिसामि	२४७ २६३	२२३
जो मरदि जो य दुहिदो	२५७ २७०	२२६
जो मोह तु जिणित्ता	३२ ३७	३२
जो मोह तु मुइत्ता	० १३२	१८७
जो वेवदि वेदिजदि	२१६ २१४	११३
जो सग तु मुइत्ता	० १३१	११३
जो समयपाहुडमिरा	४१५ ४३७	३५७
जो सव्वसगमुक्को	१८८ १६६	१६८
जो सिद्धमल्लिजुत्तो	२३० २४८	२१३
जो सुयएणए सव्व	१० १०	१०
जो सो दु ऐहमावो	२४० २५६	२१८
जो सो ऐहमावो	२४५ २६१	२२०
जो हवदि अस्समूढो	२३२ २४८	२१२
जो हि सुएणहिगच्छह	६ ६	१०
अ		
आए हवद अग्गी	० २३४	२०३
ए		
ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३१० ३३०	२७६
णत्ति दु आसववधो	१६६ १७६	१४८
एत्ति मम को वि मोहो	३६ ४१	३६
णत्ति धम धम्मआदि	३७ ४२	३७
ए उ नोइ मासखमग्गो	८०६ ४३१	३४८
ण सुएइ पयजिमग्गो	३१७ ३३८	३१७

गा स गा स आत्म- तात्पर्य- ख्याति वृत्ति	पृ. स.	
एणपरम्मि वण्णदे जह्म	३० ३५	३१
ए वि रायदोममोह	२८० ३०३	२५२
ए रमो दु हवद एणए	३६५ ४१७	३३६
ए वि एस मोक्खमग्गो	४१० ४३२	३४६
ण वि कुव्वइ कम्मणुणे	८१ ८७	७२
ण वि कुव्वइ एवि वेददि	३१६ ३४०	२८४
ए वि परिणमदि ए गिल्लिदि	७६ ८२	६८
ए वि परिणमदि ण गिल्लिदि	७७ ८३	६६
ए वि परिणमदि ण गिल्लिदि	७८ ८४	७०
ए वि परिणमदि ण गिल्लिदि	७९ ८५	७१
ए वि सक्कइ; चित्तु ज	४०६ ४२८	३४५
ण वि होदि अण्णमत्तो	६ ६	७
ए सय बद्धो कम्मे	१२१ १२६	१०८
एणकणीए भूल	० २३२	२०२
एणए मम्मादिट्ठि	४०४ ४२६	३३६
एणए सव्वे भावे	३४ ३६	३५
एणए गुणेण विहीणा	२०५ २२२	१६६
एणमयम्मो ए हवद	३६६ ४२१	३३६
एणमया भावाधो	१२८ १३६	११६
एणस्स दसरास्स य	३-६ ३१८	११
एणस्स पडिणिबद्ध	१६२ १७०	१४१
एणह्मि भावना खलु	० ११	११
एणावरणादीयस्स	१५५ १७३	१४७
एणो रागण्णजहो	२१८ २३०	२०१
एणो आसवाण	७२ ७७	६२
एणियसकुयवयणाणि	३७३ ३६६	३२७
एणच्च पच्चक्वाण	३८६ ३६८	३२४
एणच्चमणयस्म एव	८३ ८६	७४
एणव्वेयसमावण्णो	३१८ ३३६	१८२
एण य जीवट्ठाणा	५५ ६६	५५
एणो ठिदिबघट्ठाणा	५४ ६८	५५
त		
त एयत्तविमत्त	५ ५	६

गा. स	गा सं	पू. स.
आत्म- क्याति	तात्पर्य- वृत्ति	
त सखु जीवसिद्ध	१३६ १४४ १२०	
त शिष्ये न जुज्जदि	२६ ३४ ३०	
त जाण जोसउदय	१३४ १४२ १२०	
तत्थ मये जीवाण	६१ ६६ ५४	
तेयादि भ्रमराहे कुब्बदि	३०१ ३२२ २७०	
तह कीडे कम्माण	५६ ६४ ४२	
तह पाणिसिद्ध दु पुब्ब	१८० १८८ १६२	
तह पाणिसिद्ध वि विविहे	२२१ २३६ २०४	
तह पाणी बिहू जइया	२२३ २३६ २०४	
तह वि य सच्चे दरां	२६४ २७७ २३३	
तह्या उ जो बिमुद्धो	४०७ ४२६ ३४५	
तह्या दुहिलु लिंगे	४११ ४३३ ३५०	
तह्या न कोवि जीवो	३३७ ३६३ ३०४	
तह्या ए कोवि जीवो	३३६ ३६५ ३०४	
तह्या न मेसि रिण्णा	३२७ ३४८ २६३	
तह्या दु कुसीलेहि य	१४७ १५५ १३३	
तिविहो एसुवन्नो गो	६४ १०१ ८५	
तिविहो एसुवन्नो गो	६५ १०२ ८६	
तेसि पुणोवि य इमो	११० ११७ १००	
तेसि हेदु भणिदा	१६० २०० १७२	
ख		
दसणमाण चरित	१७२ १८० १५४	
दंसणमाण चरित किंवि	३६६ ३७१ ३१०	
दसणमाण चरित किंवि	३६७ ३७२ ३१०	
दसणमाण चरित किंवि	३६८ ३७३ ३१०	
दसणमाण चरित्तारिण	१६ १६ २१	
दवगुणस्स य धारा	१०४ १११ ६६	
दविय उ अप्पजइ	३०८ ३२८ २७६	
दब्बे उवमु जते	१६४ २०४ १७७	
दिट्ठी सयंणि भाण	३२० ३४१ २८४	
दुक्खिदसुहिदे जीये	२६६ २१६ २३६	
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६० २७३ २३०	
दोण्हि णयाण भणिय	१४३ १५१ १२७	

गा. स	गा सं	पू. स.
आत्म- क्याति	तात्पर्य- वृत्ति	
ख		
वम्मच्छि ब्रह्म	० २२५ १६६	
वम्मच्छिभो एण एण	३६८ ४२० ३३६	
वम्मच्छिभो व तहा	२६६ २८७ २३६	
प		
पथे सुस्त पस्सिदूण	५८ ६३ ५२	
पक्के कलहि पडिण	१६८ १७६ १५१	
पज्जतापज्जता	६७ ७२ ५७	
पडिकण ए पडिसरण	३०६ ३१६ २७३	
पण्णये चित्तो वेदा	२६७ ३६८ २६७	
पण्णए चित्तो जो णावा	२६६ ३२० २६६	
पण्णए चित्तो जो दट्ठा	२६८ ३१६ २६६	
परमदुक्खिहा जे	१५४ १६२ १३८	
परमदुक्खि दु ब ठिदो	१५२ १६० १३६	
परमदुक्खि सखु समभो	१५१ १५६ १३५	
परमप्याणं कुब्ब	६२ ६६ ८३	
परमप्याणं कुब्ब	६३ १०० ८४	
परमाणुमित्तयणि हु	२०१ २१२ १८५	
पारंढीलियाणि व	४०८ ४३० ३४८	
पाखडी लिनेसु व	४१३ ४३५ ३५२	
पुगल कम्मकोहो	१२३ १२८ १०८	
पुगल कम्ममिच्छ	८८ ६५ ८०	
पुगलकम्म रारो	१६६ २०८ १८१	
पुगल कम्म रिमित	७ ६३ ७८	
पुखी पिडसमाण	१६६ १७७ १५१	
पुरिसिच्छिदाहिलासी	३३६ ३६७ ३०४	
पुरिसो जह कोवि	२२४ २४० २०६	
पोगल दब्ब सट्ठपरिभय	३७४ ४०० ३२७	
फ		
फासो ण हवइ पाण	३६६ ४१८ ३३६	
ब		
बधाण च सहाव	२६३ ३१४ २६२	
बसुवन्नो गणिमि	२१७ २१५ १८८	

	गा. स.	गा. स.	पू. स.
आत्म- तात्पर्य- क्याति वृत्ति			
जुद्धी बचसाधो वि य	२७१	२६०	२४२
म			
भावो रागादि जुद्धी	१६७	१७५	१५०
भू अतस्स वि विविहे	२२०	२३५	२०३
भूयत्येणाभिगदा	१३	१५	१५
म			
मज्झ परिगहोअह	२०८	२१६	१६०
मणसाए दुक्खवेमिय	०	२७३	२३७
मारमि जीवावेमिय य	२६१	२७४	२३१
मिच्छत्तस्स दु उदधो	०	१४०	१२०
मिच्छत्त धविरमण	१६४	१७२	१४७
मिच्छत्त अह पयडी	३२८	३५३	२६६
मिच्छत्त पुण दुविह	८७	६४	७६
मोक्ख भसहृती	२७४	२६३	२४५
मोक्खपहे धप्पाण	४१२	४३८	३५१
मोत्तूण शिच्छयट्ठ	१५६	१६४	१४१
मोहणकम्मसुवया	६८	७३	५७
र			
रत्तो बवदि कम्म	१५०	१५८	१३५
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव	३७१	३७६	३११
रागो दोसो मोहो य	१७७	१८५	१५८
रायस्सि य दोसस्सि य	२८१	३०४	२५३
रायस्सि य दोसस्सि य	२८२	३०५	२५४
रामा ह्म शिग्गदोत्तिय	४७	५२	४८
रव गाण ण हवदि	३६२	४१४	३३६
ल			
लोमसमणामेव	३२२	३४३	२६१
लोमस्स कुण्ड विण्णु	३२१	३४२	२६१
व			
वदित सव्वसिद्धे	१	१	२
वण्णो गाण ण हवदि	३६३	४१५	३३६
वत्थस्स सेदमावो	१५७	१६५	१४२
वत्थस्स सेदमावो	१५८	१६६	१४२

	गा. स.	गा. स.	पू. स.
आत्म- तात्पर्य- क्याती वृत्ति			
वत्थस्स सेदमावो	१५६	१६७	१४२
वत्थु पडुच्च ज पुण	२६५	२७८	२३४
वदणियमाणि वरता	१५३	१६१	१३७
वदसमिदीमुत्तीघो	२७३	२६२	२४५
ववहारणधो मासदि	२७	३२	२६
ववहार भासिएण	३२४	३४५	२६२
ववहारस्स दरीसण	४६	५१	४३
ववहारस्स दु धादा	८४	६०	७५
ववहारिधो पुण राधो	४१४	४३६	३५२
ववहारेण दु धादा	६८	१०५	६१
ववहारेण दु एदे	५६	६१	५०
ववहारेणुवदिसदि	७	७	८
ववहारोऽभूयत्तो	११	१३	१२
वाचाए दुक्खवेमिय	०	२८२	२३७
विज्जारहमाक्खा	२३६	२४२	२१४
वेदतो कम्मफल धप्पाण	३८७	४०६	३३३
वेदतो कम्मफल मये	३८८	४१०	३३३
वेद तो कम्मफल सुहिदो	३८६	४११	३३३
स			
सति दु णिरुव भोगजा	१७४	१८२	१५५
ससिद्धि राधसिद्ध	३०४	३२५	२७२
सच्छेण दुक्खवेमिय	०	२८४	२३७
सन्ध गाण ण हवदि	३६०	४१२	३३८
सहृदि य पत्तियदि य	२७५	२६४	२४६
सद्दो गाण रा हवदि	३६१	४१३	३३८
सम्मत्तपडिणि बद्ध	१६१	१६६	१४४
सम्मत्ता जदि पयदि	०	३५४	२६
सम्मदिट्ठी जीवा	२२८	२४४	२०६
सम्महसण गाण	१४४	१५२	१२८
सव्वण्ड गाण दिट्ठो	२४	२६	२७
सव्वे करेह जीवो	२६८	२८६	२३६
सव्वे पुव्वणिवद्धा	१७३	१८१	१५५
मामण्य पचवया खलु	१०६	११६	१००

	गा. स.	गा. स	पृ. स
	ग्राम्य-	तात्पर्य-	
	क्याति	कृति	
सुख परिचिदाणुभूदा	४	१	५
सुख तु विवागतो	१८६	६४	६७
सुखो सुखावेसो	१२	१४	१२
सेवतो वि ण सेवह	१६७	२०७	१८०
सोवणिय पिणियस	१४६	१५४	१३२
सो सव्वणाणदरिसी	१६०	१६८	१४३
ह			
हेउ असावे णियमा	१६१	२०१	१७२
हेह वदु विदप्पो	१७८	१८६	१५८
हो वृण णिक्खमोज्जा	१७५	१८३	१५६

॥ संस्कृत टीका मे उद्धृत पद्य ॥

अ	पृष्ठ स.
अत्र स्याद्वाद	३६०
अद्वैतापि हि	२६७
अनन्तगुणित	३५८
अनेकान्ताप्य	३६१
अन्यम्यो व्यतिरिक्तम्	३४२
अपडिक्कमरा	२७२
अरकामार	१८८
आ	
आद्या सम्यक्त्व	१५६
इ	
इत्याति दुर्लभ	२१५
उ	
उन्मुक्तमुन्मोच्य	३४२
ए	
एकचित्चिन्मय	२६७
एकस्य बडो	१२६
क	
कक्षादि कलुषिदभूदो	१८८

ख	
खड्ड जिण समई	२१५
ख सेलीणा जीव	३६२
खय उरसि पउमणदी	३६२
ग	
गख कोडि कम्मसुखो	२५१
ग बलाउ साधु	१६८
गवि उपज्जइ गुविमरइ	२८६
व	
वोविध्यदाधमनसो	१८८
घ	
घमिराणोऽनन्तरूपत्व	३६१
प	
पडिक्कमरा पडिसररा	२७२
पुग्गलपिडो दम्ब	१७३
ब	
बधवषण्णेदाये	१८८
भ	
भेदविज्ञानतः	३४२
म	
मोक्ष कुर्वति	३५४
य	
य एव मुक्तता नयपक्षपात	१२६
यद्देव मनुजा	३५८
यश्चाम्भ्वस्यति	३६२
व	
वर्ग, शक्ति समूहो	४८
वावर सुहमेइदि	४६
स	
सदेकमित्य	३६१
सकल्पकल्पतरु	१८८
सस्मातीववसपिणि	२८४
सवेधो शिष्येधो	१५६

समयावसानकाले	१२६
संबंधा नियमस्यापी	३६१
सर्वेष्टतदीलकालेन	३५८
सिद्धांते द्वाद्वाणां	१५७
सोलसपणबीसणम	१४६
ह	
हेयोपादय तत्त्वे	१२६

। इति ।

॥ भाषा टीका में उद्धृत पद्य ॥

अजवित्तिरयण सुद्धा	२४५
अध्यास्य शुद्धनय	१६१
अभ्यद्रव्यानपेक्ष	३५६
आत्मोपादानसिद्ध	३५८
इदमेवाव	१६३
जानाति य स न करोति	२२२
अप्युत्थ शुद्धनयत	१६१
मित्रां सर्वमपि	२६६
वेद्यस्व वेदकत्व च	२०२
वेद्यवेदक विभाव	१८७
सप्रधारम	३४६
ज्ञानरूप सचेतनयैव	३२७
ज्ञानी करोति न	२८३

॥ विशेष शब्द अणुक्रमिका ॥

अ	
अध्यवसान	२४२, ३३६, ३४०
अध्यात्म	३६१
अनुपचरितासङ्कृत व्यवहारनय	२३, १२३
अनुभवन	१२६
अनुधूति	२३, २६३
अनेकान्त	३६१
अपदेश	१६
अपठयान	१८८
अपराध	२७२

असव्य	२४५, २४६, २८२, ३५४
अभेद रत्नत्रय	१०, ११, १२, २०, २१, ४५
	३२५, ३२६, ३३५, ३५२
अमूर्त	६६
अयं पर्याय	१८७
अगुह निश्चयनय	२३, २४, ६४, १०१, १२३
अगुम कर्म	१३३
अज्ञानी	१६, २२, २६, ८६, ११५, ११६, ११७
	१३७, १६६, १८१, २०१, २४१, २५६
	२७४, २८०, ३१२, ३२६,

आ

आराधना	२७२ २८१
--------	---------

उ

उपयोग	८१
उपादान	२७७

क

कषचित्	६४, ६५
कम चेतना	३३४
कर्मफल चेतना	३३४

ख

खारिष	३२५
खनिका	२८८

ज

जीव	४, ५, ६
-----	---------

द

द्रव्य नमस्कार	२
द्रव्यश्रुत	१६

ध

धम	१६५, २४६
----	----------

न

निमित्त	२७७, २७८, ३१४
निर्विकल्पसमाधि	१०, १२ १४, १६,
	१६, २१, २२, ४५, ११५, १२६, १३४
	१३८, १४७, १५३, १५५, २४८, २५०

	२५६, २६३, २७२, २८२, २८४, ३२१ ३२५, ३२६, ३३५, ३५१, ३५२
निष्पत्ति	२०६, २१०
निश्चयनय	१२, २३, ३२, ३६, ४३, ४४, ४५, ४६, ४६, ५०, ५६, ५७, ५८, ६८ ७१, ७४, ८०, ८४ १०१, १०२, १०८, १२३, १२५, ३०६, ३१५, ३१६ ३२०, ३२१, ६४०, २४८, ३२६
निश्चय रत्नत्रय	४, १२, १८
निश्चय श्रुत केवली	१०
निश्चय सम्पत्त्व	१५, १६, ६५, ७७, ११०

प

परमात्म	७
परसमय	३, ४, ३८१
पाखण्डोलिग	३४८, ३४६, ३५० ३५१, ३५२
पारिणामिक भाव	३५४
पुण्य	१६५
प्राभूत	३६१

भ

भरत	३५१
भण्ड	३५४
भावक	३३, ३४, ८५
भाव नमस्कार	२
भाव्य	३३, ३४, ८५
भावश्रुत	१०, १६
भेदरत्नत्रय	१०, १२, २०, २१
भेदज्ञान	११५, ११६, ११८, १३७, १३८, १६३ १६५, १६८, २१७, २४०, २४१, २५१ २६३, २६४, ३१४, ३५४

म

मूर्त	६६
मोक्षमार्ग	१४०

य

योग	२०
-----	----

र

रत्नत्रय	४, १०, ११, १२, ३२६, ३३५ ३५२
राघ	२७२

व

व्रत	१३७, १३८
व्यवहारनय	८, १२, १४, २३, ३२, ४४, ४५ ५०, ५२, ५६, ५७ ५८, ६८ ७५ ८४, १०१, १०२, १०६, १२३, १२५ १२६, २४८, २६४, ३०५, ३१५, ३१६ ३२१

व्यवहार मोक्ष मार्ग	१४०, १४५, २४७, २४८, ३२६
---------------------	----------------------------

व्यवहार श्रुतकेवली	१०
वीतराग चारित्र्य	२४६, ३२०
वीतराग धर्मध्यान	३६०
वीतराग सम्पत्त्व	१५, ८६ ११०, १४८, १५६, १६३, १७६, १८५

वेदक	१८७
वेद्य	१८७

श

शुद्धजीव	५
शुद्धात्मा	४, ५, ६, ७, १२
शुभ कर्म	१३१
शुभोपयोग	१४, ८१

स

समयसार	२, ३२६, ३३८, ३४२, ३५२, ३६०
सरागधर्म ध्यान	१४, १४६, १५६
सराग सम्पत्त्वष्टि	३६० ३६१
स्वादाद	

स्वसवेदन प्रत्यक्ष	७, २०२
स्वसवेदन ज्ञान	१०, ८८, १६६, २०२
स्वसमय	३, ४, ५,
सामान्य	१८४
सिद्ध	२
सूत्र	१६

ज्ञ

ज्ञानी	२६, ११५, ११६, १६२,, १६६, १७२, १७६, १८१ १८७, १८८, १६५ २०० २०१, २५०, २५६, २६६, २७४, २८० २८२ २८४, २६३, ३२६
ज्ञायक	३००



॥ समयसार शुद्धि पत्र ॥

पृ० संख्या	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२६	मन्वाधामिधेय	मन्वाधामिधेय
३	४	रहित है ।	रहित अर्थात् है ।
३	१७	रूप जो	अथवा
६	६	पूर्वमनशो	पूर्वमनतशो
६	१०	स्वसवेद्य	स्वसवेद्य
७	२४	प्रमत	प्रमत्तम्ब
१२	३	गत । अथ	गत ॥ १२ ॥ अथ
१२	४	॥ १२ ॥	×
१५	१६	अभेद	भेद
१३२	१४	बनाते हैं	बताते हैं
	२	द्वादशागवम	द्वादशागवम
१६६	८	अष्टम	अष्टम
२१५	१२	सम्यग्दृष्टे	सम्यग्दृष्टे
२४६	१४ १५	मे पङ्क्तिकर व्यवहार	×
२७०	२८	वक्ष्ये	वक्ष्ये
२७१	७	विभावपरिणाम	विभावपरिणाम
२७२	१४	अर्थ—	×
२८०	२६	तत्त्व	तत्त्व
२८१	१	भावेन	भावेन
२८५	२	के उदय	×
२८५	६	तथैवा वेदकमपि	तथैवावेदकमपि
२८८	३१	मुख्यो	मुख्यो
३१३	२८	रागादि की निमित्त रूप मे	चेतन रूप रागादि की उत्पत्ति मे
			निश्चय मे
३२१	२२	दित्तन्मयो	दिक तन्मयो
३६०	२६	शुद्धयर्थ	सिद्धयर्थ
३६२	३३	परस्पर	परस्पर

हिसाब १ श्री समयसार जी ग्रन्थ प्रकाशन का

गत मिति धावाढ शुक्ला ५ विक्रम स. २२५ को बाल-बहुचारी श्री विद्यासागरजी के मुनिदीक्षा समारोह के मंगल प्रसंग पर निकाली गई शोभा यात्राओं में समाज द्वारा व्यक्तिगत एवम हस्तेवार प्राप्त धन राशि का विवरण

२७४३) ८०	श्री १८८ श्री विद्यासागर जी महाराज की मुनि दीक्षा पर भेंट द्वारा प्राप्त
१०८१)	शोभायात्रा में श्री हुकमीचंदजी नेमीचंदजी दोसी के मारफत
५२०) ७५	शोभायात्रा में ,, जंसवाल जैनसमाज केसरगज धजमेर के मारफत
३०३)	शोभायात्रा में मेसर्स नेमीचंद शान्तिलालजी बडजात्या के मारफत
१६४)	शोभायात्रा में श्री पुसालाल जी गदिया बीर वाला के मारफत
१५०)	,, में श्री निहासचंदजी कैलासचंदजी लुहाडिया के मारफत
११३)	शोभायात्रा में श्री राजमल जी बूडवाल के मारफत
१०१)	,, में श्री हुकमीचंदजी लुहाडिया पुरानीमंडी धजमेर के मारफत
१०१)	,, में श्री छीतरमल दोसी
१०१)	,, में श्री गुप्त भेंट
१०६) ५	,, में मेरीज में धाया

२७४३) ८०

समयसार ग्रन्थ प्रकाशन हेतु प्राप्त भेंट निम्नलिखित महानुभावों द्वारा

- ५००) श्री हुकमीचंदजी लुहाडिया
- २५१) श्री दीनानाथ जी जैन बल्युकेसल
- २४५) श्री मयुरालालजी हीराचंद जी बज
- २३६) श्री सुमतचंदजी ज्ञानचंद जी जैन केसरगज
- २३५) श्री नेमीचंदजी जैन बाम्बे टेन्ट हाउस धजमेर
- २२१) श्री मलप्पा जी महाबीर जी द्रष्टये मु सदलगा
- २०२) श्री बीरजीलाल जी सोनी
- २०१) श्री रामस्वरूप जी जैन बल्युकेसल
- १७८) श्री कपूरचंद जी जैन जैनबादर्स पुरानीमंडी धजमेर
- १६६) श्री नत्थीलालजी कपूरचंदजी जैन

- ११४) श्री मबरलालजी पारसलालजी गदिया बीरवाले
 ११२) श्री मूलचन्दजी मोदीलालजी पाटनी मारोठ वाले
 १११) श्री मंगलचन्दजी करमचन्दजी जैन
 १०८) श्री माधुलालजी सादुलालजी गदिया बीर वाले
 १०७) श्री रीसबदासजी नेमीचन्दजी बड़जात्या
 १०४) श्री रामप्रसादजी (चरणदेवी) केसरगज
 १०४) श्री भोगीरामजी कैलाशचन्दजी केसरगज
 १०२) श्री यतिजी जैन केसरगज
 १०१) श्री सौभाग्यवती कनकलता धर्म पत्नि नथमलजी दोसी
 १०१) श्री गोरुलालजी रतनलालजी गदिया
 १०१) श्री माणुचन्दजी सोगाणी वकील
 १०१) श्री छीतरमलजी नोरतमलजी दोसी
 १०१) श्री फूलचन्दजी गुमेरमलजी पहाडिया तनसुलीवा
 १०१) श्री बीसम्बरदयालजी राजेन्द्रकुमारजी जैन **हामी भास्य**
 १००) श्री ताराचन्दजी लुहाडिया
 १०१) श्री गोरुलालजी छाबडा राणोली
 १०१) श्री गभीरनलजी सेठी नसीराबाद
 १०१) श्री गुप्त नाम से हस्ते श्री महेन्द्र कुमारजी बोहरा
 १०१) श्री ताराचन्दजी महेन्द्रकुमारजी गगवाल अजमेर निवासी
 ९७) श्री छगनलालजी मदनलालजी गोष्ठा
 ८१) श्री जैन ममाज जाटियाबास मदार गेट अजमेर
 ७२) श्री नरपीलालजी जैन टीकमगज (प्रेस वाले)
 ७२) श्री कन्हैयालालजी जैन म्यूहाडेंवेयर केसरगज अजमेर
 ६१) श्री भजनलालजी
 ५१) श्री करणसिंहजी जैसवाल
 ५१) श्री खोगीलालजी गुलाबचन्दजी राणोली
 ११८७) ५ फुटकर में धाये वगैर नाम के खेरीज के

